डा० सूर्यकान्त

वैदिक देवशास्त्र

प्रोफेसर ए. ए. मैक्डानल-रचित

वैदिक माइथोलोजी का स्वतन्त्र हिन्दी रूपान्तर

वेदों के आधार पर देवताओं का विशद विवेचन। वैदिक माइथोलोजी में संकेतित समस्त उद्धरणों को मूलरूप में सस्वर प्रस्तुत किया गया है जिसके फलस्वरूप अब इन उद्धरणों को विविध ग्रन्थों में से ढूंढने की कठिनाई दूर हो गई है।

प्रकाशक :
श्री भारत भारती (प्राइवेट) लिमिटेड
१ अनसारी रोड, नया दरियागंज, दिल्ली-६

मूल्य
साधारण संस्करण : ३० रुपया
लाइब्रेरी संस्करण : ४० रुपया

प्रथम संस्करण : जुलाई १९६१

मुद्रक :
बालकृष्ण, एम० ए०,
युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल, दिल्ली।

आचार्य श्री जुगलकिशोर जी, शिक्षा-मन्त्री, उत्तर-प्रदेश ।

आचार्य श्री जुगलकिशोर जी

शिक्षा-मन्त्री, उत्तर-प्रदेश सरकार

को

सादर समर्पित

—सूर्यकान्त

दो शब्द

प्रो० मैकडानल-रचित 'वैदिक माइथालोजी' छात्रों के लिये दुष्प्राप्य थी और इसे पढ़े बिना एक छात्र वेद का सच्चा छात्र नहीं बन पाता—इसी भावना से प्रेरित होकर हमने प्रस्तुत प्रयास किया है।

वैदिक माइथालोजी में अनेक ग्रन्थों के उद्धरणों के संकेत दिये गये हैं जोकि हज़ारों की संख्या में हैं। इन ग्रन्थों में से भी बहुत से दुष्प्राप्य हैं। साथ ही अनेक उद्धरणों के संकेत या तो अशुद्ध हैं या अशुद्ध छपे हैं। हमने सभी उद्धरणों को शुद्ध रूप में यथास्थान दे दिया है। निर्धन छात्रों के लिये यह सुविधा बड़ी है।

पुस्तक के बीच में आये योरपीय विद्वानों के मतों के संकेत पुस्तक के पीछे लगी सूची में दिये गये हैं। इस सुविधा ने पुस्तक को छात्रों के लिये अत्यन्त उपादेय बना दिया है।

भूमिका लिखने में अनेक विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है। Mythes, Reves et mysteres के लेखक Mircea Eliade विशेषतया धन्यवाद के पात्र हैं।

अनुवाद में हमारे प्रिय शिष्य सत्यप्रकाशसिंह ने और उद्धरणों को ढूंढने में रामाधार पाठक ने हमारी सहायता की है। हम दोनों के कृतज्ञ हैं।

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी
16-7-61

—सूर्यकान्त

भूमिका

वर्तमान से खेद और अतीत से प्रेम

देवकथा मानवीय मन की वह प्रवृत्ति है जिसमें मानव वर्तमान से खिन्न रहने के कारण अतीत में सुख ढूंढ़ता है और उसकी ओर चलता-चलता उसके उस सुदूर शिखर पर जा पहुंचता है जहां से सर्ग-रचना का आरंभ हुआ था और जो देशकाल की परिधि से बाहर है। सभी जानते हैं कि मानव अपनी वर्तमान परिस्थिति से खिन्न रहता है और उससे बचने के लिये वह पीछे की ओर ऐसे अतीत पर पहुंचने का प्रयत्न करता है, जो वर्तमान से बहुत दूर है और इतिहास की परिधि से बाहर होने के कारण काल की परिधि से भी सुतरां बाहर है।

मनुष्य देखता है कि उसका काय और उसका सकल क्रिया-कलाप परिवर्तनशील है और इसीलिये वह अनित्य एवं असत्य है। इस असत्य एवं अनित्य जगत् से पीछे की ओर चलता-चलता मानव काल के उस आदि-बिन्दु पर पहुंच जाता है जो परिवर्तन से पूर्ववर्ती होने के कारण नित्य है और इसीलिये पवित्र एवं उदात्त है। इस उदात्त-पवित्र की पूजा में ही मानव-जाति प्राचीन काल से शान्ति-लाभ करती आ रही है।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि देवकथा पवित्र इतिहास होने के नाते सत्य है। यह उन तथ्यों का इतिहास है जो सर्ग के आदि-बिन्दु पर घटित हुए थे और इसीलिये सर्ग-प्रवृत्ति के उपरान्त आनेवाले मानव-समाज के लिये उसके कर्तव्य की कसौटी संपन्न हुए हैं। सर्ग के आदि में उद्‌भूत हुए देवी-देवताओं के चरित का अनुगमन करके मानव अपने-आपको वर्तमान की झकझक से छुड़ा लेता है और आदि-कालीन देवता के यातु-रञ्जित चरित के माध्यम द्वारा महाकाल में प्रवेश पा जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि आज के सुसभ्य मानव की दृष्टि में देवकथा एक कल्पित कहानी-मात्र है। किंतु परंपरा में पगे धर्मप्रवण नर-नारियों के लिए यह शाश्वत सत्य का मनोरञ्जक विकास है। देवकथा के पात्र देवताओं के अनुगमन में ही नर-नारियों का कल्याण है।

परंपरा में आस्था रखनेवाले समाज में देवकथा एक कालक्रमागत सामुदायिक विचार-धारा है, जो अनायास ही आगे की ओर बढ़ती रहती और उस-उस समाज के जीवन को फलसंपन्न बनाती रहती है। दुर्भाग्य से आज का भूतपूजक मानव अपनी इस क्षेमकरी सामुदायिक विचार-धारा को भुला बैठा है, और इसीलिये वह ऐश्वर्य के तुङ्ग पर विराजता हुआ भी आन्तरिक आधार के न रह जाने के कारण कांदिशीक बनकर इधर-उधर भटकता फिरता है।

यह सच है कि वर्तमान मानव-समाज की परंपरीण देव-कथाओं में निष्ठा नहीं रह

गई है, तो भी इस बात में संदेह नहीं है कि व्यक्तिगत रूप से उसके जीवन में देवकथाएं आज भी अपना काम कर रही हैं। हम मानते है कि देवकथा का रूप भी आज बहुत कुछ बदल गया है, फिर भी समाज पर पड़नेवाले उसके प्रभाव में कोई मौलिक अन्तर नहीं आने पाया है। उदाहरण के लिये लीजिये—हम सब आज भी नव-वर्ष के उदय पर उत्सव मनाते हैं और पुत्रोत्पत्ति जैसे शुभ अवसरों पर तो हमारी खुशियों का ठिकाना ही नहीं रह जाता। नवीन घर में प्रवेश के समय भी हम धूमधाम करते हैं; यहां तक कि जीवन में तनिक-सी नवीनता आ जाने पर भी हम आमोद-प्रमोद का तांता लगा देते हैं। हमारे इन सब आमोद-प्रमोदों का लक्ष्य यह होता है कि हम अपने जीवन की वर्तमान नीरसता को नष्ट करके उसमें नवीनता का संचार कर दें; या यों कहिये कि हम इन अवसरों पर वर्तमान से दूर हटकर अतीत महाकाल में प्रवेश पाना चाहते हैं जो इतिहास की परिधि से बाहर होने के कारण शिवमय है और इसीलिये सौख्य का अखण्ड स्रोत है। निश्चय ही हमारे ये उत्सव पुराण-देवकथाओं से बहुत दूर हैं; फिर भी वर्तमान का निरास और जीवन का पुनर्निर्माण इनमें भी उसी प्रकार बना हुआ है जैसा कि देवकथाओं में था। भेद केवल इतना है कि पुराण देवकथा का स्वरूप धार्मिक था जब कि आज की देवकथा बहुत कुछ लौकिक बन गई है।

कहना न होगा कि आज के भौतिक युग में हम पुराने हिन्दू नहीं रह गये; और आज के बौद्ध, ईसाई एवं मुसलमान भी परंपरागत बौद्ध, ईसाई एवं मुसलमान नहीं रह गये। आज तो जीवन का लक्ष्य बदल जाने के कारण सभी धर्मों के अनुयायी मूलतः बदल गये हैं क्योंकि, सच पूछिये तो एक सच्चा वैष्णव वह है जो अपने जीवन-काल में ही विष्णु का समसामयिक बन जाय। एक यथार्थ बौद्ध वह है जो अपने जीवन में बुद्ध का समकालीन बन जाय। और यही बात लागू होती है एक ईसाई और एक मुसलमान पर। इन धर्मों की अपनी-अपनी देवकथाएं तभी चरितार्थ होनी संभव है जब कि इनके अनुयायियों में इनकी देवकथाओं के पात्रों के साथ एकरूपता उत्पन्न हो जाय। किंतु ऐसा तो होता दिखाई नहीं देता। फिर भी इतना तो है ही कि अपनी पूजा-परिचर्या के समय थोड़ी देर के लिए तो एक वैष्णव वर्तमान से मुक्ति पाकर उस अतीत पर जा लगता है जबकि स्वयं विष्णु भगवान् इस धराधाम पर लीलावान् हुए थे। इसी प्रकार क्रिस्मस मनाते समय थोड़ी देर के लिए तो एक ईसाई वर्तमान से नजात पाकर अतीत की उस सौख्यदायिनी घड़ी पर जा लगता है जब कि ईसा इस धराधाम पर उतरे थे और उन्होंने मेरी के पुत्ररूप में अपनी लीला का अनावरण किया था। फलतः हम कह सकते हैं कि यद्यपि आज के युग में देवकथा का स्वरूप बदल गया है तथापि सदा की भांति मानव के क्लिष्ट जीवन में रसासार बहाकर वह उसे सरस एवं पल्लवित बनाती ही रहती है।

उक्त विचार-धारा से व्यक्त होता है कि देवकथा का परिणाम हमारे जीवन में प्रकट होता है: अनुसरणीय जीवन-प्रणाली के उदय में, जीवन के पुनः-पुनः नवीकरण में, और धर्मप्रतीपी वर्तमान से आज़ाद होकर आदि महाकाल के दर्शन में।

किसी भी देश या समाज के चरित्र एवं शिक्षा-पद्धति का मानदण्ड उसकी अपनी

देवकथाएं होती हैं। समाज के अपने देवी-देवताओं की चरितावलि ही उस समाज के चरित का आदर्श बना करती है; और इन देवी-देवताओं के पदचिह्नों पर चलनेवाले शूरों की चरित-संतति ही उस समाज के युवकों की प्रशंसा का पात्र बनती है। शिक्षा-पद्धति की जो कड़ियां समाज के नर-नारियों को उस समाज के आदि देवों तक पहुंचा दें, वे ही उस समाज के लिये क्षेम का प्रसव बनती हैं। इसीलिये किसी समाज की शिक्षा-प्रणाली में उस समाज के शूरवीरों की जीवनियों का जितना महत्त्व है उतना महत्त्व अन्य किसी भी पाठ का नहीं होता। कारण इसका स्पष्ट है : समाज के ये करिष्ठ नरनारी अपने जीवन को परंपरीण आदर्श में खचित करके समाज के संमुख फिर से उस आदियुग को प्रदर्शित करते हैं जबकि एक मानव मानव न होकर एक देवता था—फिर देवताओं का तो कहना ही क्या ? जर्मनी के गोइथे कहाकवि के जीवन में हम इसी बात का निदर्शन पाते हैं। उन्होंने अपने बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न जीवन द्वारा अपने देशवासियों के संमुख जीवन की वे परंपराएं प्रस्तुत की थीं जो एक दिन वहां के आदिदेवों में उद्भूत हुई समझी जाती थीं।

हम अभी कह आये हैं कि नव वर्ष पर मनाये जानेवाले उत्सवों का आधार वह देवकथा है जिसके द्वारा हम अपने जीवन को वर्तमान के क्लेशभरित जीवन से उभारकर उसे फिर से नवीन बनाते हैं, या यों कहिये कि पुराने जीवन को नष्ट करके उसकी जगह हम नया जीवन उत्पन्न करते हैं। जीवन के इस पुनर्नवीकरण पर बहुत कुछ कहा जा सकता है।

खोये हुए स्वर्ग की कथाएं तो आज भी हर व्यक्ति को तरसाती रहती हैं। उस स्वर्गीय उपवन की गाथाएं जहां पाप का प्रवेश नहीं था, जहां नियमोपनियमों के पाश नहीं थे, जहां समय चलता नहीं था, या यों कहिये कि जहां समय एक बिन्दु पर ठहरा रहता था। इस प्रकार के स्वर्ग की कथाओं द्वारा हम महाकाल के आदिबिन्दु पर जा पहुंचते है और इतिहासो-पहत वर्तमान के चंगुल से हमें चन्द क्षणों के लिये मुक्ति मिल जाती है। इस बार-बार के पश्चगमन में ही देवकथाओं की सौख्यकारिता संनिहित है।

पोलीनेशिया के नाविकों की एक प्रशंसनीय आदत है। वे जब भी किसी महती नौ-यात्रा पर निकलते हैं तब उसे नवीन न मानकर समझते हैं कि ऐसी यात्राएं तो वे सदा से करते ही आ रहे हैं। उनकी इस भावना का परिणाम यह होता है कि उनके मन से वर्तमान की झकझक दूर हो जाती है और वे सहज ही काल-समष्टि में प्रवेश पा जाते और अवच्छिन्न काल की अरुंतुद उपाधियों से स्वतन्त्र बने रहते हैं। फल इसका यह होता है कि उनका जीवन बराबर नव-नव होता चला जाता है और वे अनारत आनन्द में मस्त बने रहते हैं।

अवच्छिन्न काल की इतिहासोपहत उपाधि से स्वतन्त्र होकर अनवच्छिन्न महाकाल की झांकी लेने के लिये आज का मानव दो उपाय काम में लाता है : एक साहित्यानुशीलन और दूसरा दृश्य-दर्शन। दृश्य में सभी प्रकार के नाटक, सभी प्रकार की प्रतियोगिताएं—जैसे कि बलीवर्दों अथवा सांडों आदि की मुठभेड़, मुक्कामारों के दंगल—सम्मिलित हैं; क्योंकि इन सभी मनोरञ्जक तमाशों में उस-उस दृश्य का काल एक अजीब प्रकार का काल बन जाता है। इसमें प्रेक्षकों की उत्सुकता पराकोटि को पहुंची होती है और यह काल यातु-मिश्रित धर्म से अभिषिञ्चित होने के कारण महाकाल का प्रतिनिधि वन जाता है।

इस प्रसंग में साहित्य के दो व्यापार होते हैं : पहला देवशास्त्रीय साहित्य का सृजन और दूसरा पाठकों के हृत्पटल पर देवशास्त्रीय तत्त्वों का प्रतिफलन। साहित्यिक क्षेत्र में पहले-पहल देवकथाओं का प्रसव हुआ, फिर पुराण-गाथाओं का, उसके बाद आर्षी कविता बनी और इन सब के पश्चात् आज के साहित्य का उदय हुआ है। साहित्य कितना भी आधुनिक क्यों न बन जाय वह देवशास्त्रीय तत्त्वों से अछूता नहीं रह सकता, क्योंकि कविता की बात जाने दीजिए, आज के उपन्यासों तक में देवशास्त्रीय तत्त्व स्पष्ट रूप से झलकते रहते हैं। और ऐसा होना है भी उचित; क्योंकि प्रत्येक परिपक्व उपन्यास में उत्कृष्ट और अपकृष्ट का पारस्परिक संघर्ष आवश्यक होता है और हर विदग्ध कथा में परिक्लेशित रमणी, उसका उद्धार, और अप्रत्याशित रक्षक द्वारा प्रणयपीड़ित रमणी का परित्राण आदि घटकों का होना वांछनीय होता है; और ये ही बातें हैं—एक देवकथा के प्रमुख घटक।

इस दृष्टि से भावप्रधान साहित्यिक कविता का तो कहना ही क्या? उसका तो प्रमुख लक्ष्य ही देवकथा का नवोदय करना रहता है। सच पूछो तो यथार्थ कविता है ही वह जो भाषा में नवजीवन डाल दे; जो प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा को नष्ट करके उसके स्थान में एक नवीन व्यक्तिगत भाषा का निर्माण कर दे। हम इस काव्यमयी भाषा को स्फोट या गुप्त भाषा के नाम से पुकार सकते हैं। कहना न होगा कि एक उच्चकोटि की कविता के निर्माण के समय काल का घटक लुप्त हो जाता है और हम आदिकालीन अवस्था की ओर अग्रसर हो जाते हैं; उस अवस्था की ओर जहां हर प्रकार की रचना इच्छामात्र पर निर्भर रहती है; जबकि भूत की भावना होती ही नहीं, क्योंकि उस समय तक समय की भावना नहीं बन पाई थी। और सचमुच यह किसी ने ठीक ही कहा है कि "एक रससिद्ध कवि के लिए भूतकाल नहीं होता।" क्योंकि इस कोटि का कवि तो जगत् को इस प्रकार टटोलता है मानो वह स्वयं सर्ग-प्रवृत्ति के आदिमूल में बैठा हुआ सर्गरचना को देख रहा हो, मानो वह सर्गरचना के आरम्भिक क्षण में आंख खोले सब कुछ देख रहा हो। और थोड़ी-बहुत मात्रा में यह बात सभी कवियों में पाई जाती है; क्योंकि हर कवि थोड़ी-बहुत मात्रा में जगत् का नव-निर्माण किया ही करता है, क्योंकि वह जगती को ऐसी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है जिसमें समय का घटक खुल जाता है और इतिहास की ग्रन्थियां टूट जाती हैं।

भद्र बर्बर अथवा आरम्भ की मोहनी शक्ति

किसी ने ठीक कहा है कि "खोजने से पूर्व भद्र बर्बर का आविष्कार किया जाता है।" इतिहास बताता है कि १६वीं, १७वीं, और १८वीं सदी में योरपीय मानव ने एक ऐसे भद्र बर्बर की कल्पना की थी जो आगे चलकर वहां की राजनीतिक एवं सामाजिक विचारधारा का प्रवर्तक बना और जिसका नमूना सामने रखकर वहां के विचारकों ने योरप के आचार-विचार की प्रतिष्ठा की। योरपीय विचारकों का यह भद्र बर्बर स्वर्ग की झांकियां ढूंढनेवाले आदर्शवादी तरुण नर-नारियों का आदर्श बना और ये लोग उसकी स्वच्छन्द वृत्ति पर अश-अश करने लगे, उसके धन और श्रम के समञ्जित विभाजन की दाद देने लगे और प्रकृति की गोद में फलने-फूलने वाले उसके जीवन पर कविताएं रचने लगे। किंतु याद रहे

इस भद्र बर्बर के आविष्कार के पीछे वह परंपरीण देवकथा काम कर रही थी जिसका स्वर्ग के साथ संबन्ध अटूट रहता आया है।

भद्र बर्बर के पुजारी योरपियनों ने अपने महाद्वीप से दूर-दूर जाकर नव-नव द्वीपों और महाद्वीपों को खोजा और वहां बसने वाले स्वच्छन्दचारी आदिवासियों से प्रेम बढ़ाया; क्योंकि योरपीय नर-नारियों की दृष्टि में इन भद्र बर्बरों को समय की बाधा नहीं सताती थी और इनके खेतों में बीज बिखरते ही धनधान्य से झोली भर देते थे। सच पूछिए तो योरपीय गवेषकों ने भद्र बर्बरों के देशों को स्वर्ग के नाम से पुकारा है, और वहां रहनेवाले मांसाशियों के गुणगान में सहस्रों ग्रन्थ लिख डाले हैं।

किंतु ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि इन भद्र बर्बरों की अपनी कथा-कहानियों में भी विगत समय की स्मृतियां काम कर रही थीं; उस समय की स्मृतियां जबकि जगती अपने शैशव में खड़ी आगे की ओर निहार रही थी। योरप के गवेषकों को इन बर्बरों के जंगलों में स्वयं ईडन गार्डन लहलहाता दीख पड़ा, उनके देशों में उन्हें स्वयं स्वतन्त्रतादेवी खिलखिलाती दीख पड़ी और उनके समाज में उन्हें सामाजिक एवं राजनीतिक जगत् की वे सभी वदान्य भावनाएं चरितार्थ होती दीख पड़ीं जिनके लिये ये गवेषक स्वयं अपने महाद्वीप में लालायित रहते आ रहे थे।

किंतु योरप को छोड़ अब जरा इन भद्र बर्बरों की ओर आइये और निहारिये कि स्वयं उन्हें अपनी अवस्था कैसी लगा करती थी। निश्चय ही जिस प्रकार योरप के निवासी अपने आपको स्वर्ग से बहुत दूर च्युत हुआ समझते थे उसी प्रकार उनके भद्र बर्बर भी अपने आपको स्वर्गखण्ड से दूर गिरा हुआ माना करते थे। क्योंकि इन भद्र बर्बरों की दृष्टि में भी अतीत काल ही सुनहला था, और इन लोगों में यह भावना जागरूक थी कि ये लोग अतीत के आदर्श स्वर्णिम खण्ड से गिरकर बहुत दूर धरती पर आ पड़े हैं। क्योंकि स्वर्ग-संबन्धी देवकथाएं जैसी योरप के देशों में प्रचलित थीं वैसी ही इन भद्र बर्बरों के देशों में भी आम थीं। निःसंदेह देश-देश की इन देवकथाओं में भेद था, किंतु कुछ बातें सब देवकथाओं में समान पाई जाती थीं। उदाहरण के लिये, यह भावना सभी जगह काम कर रही थी कि स्वर्ग का आदमी अमर था और वह देवताओं को अपनी आंखों से देखा करता था। वह प्रसन्न एवं संतुष्ट था और उसे भोज्य आदि की प्राप्ति के लिये हाथ नहीं हिलाना पड़ता था। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि इन भद्र बर्बरों के भी अपने भद्र बर्बर रहे थे, जिनकी ये लोग अपने आपको दूर की संतति बताया करते थे। उनके ये भद्र बर्बर स्वर्ग में विचरते थे और सर्वात्मना स्वच्छन्द थे। हर प्रकार के श्रम से ये लोग बरी थे, और किसी भी फल के लिये इन्हें अंगुली नहीं हिलानी पड़ती थी। किसी कारण ये आदि मानव स्वर्ग से खिसककर दूर जा पड़े और उनके इस पतन में ही मानव-जाति के पतन का असली रहस्य छिपा हुआ है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि योरपीय गवेषकों के भद्र बर्बरों की दृष्टि में भी जीवन का आनन्द अतीत में संनिहित था।

योरपीय गवेषकों के भद्र बर्बर आदिम काल की स्मृति में पगे थे और तरह-तरह के उत्सव करके उसकी झांकियां लिया करते थे। कह सकते हैं कि उन्हें अपने स्वर्ग की

सनक जैसी सवार रहती थी और वे तरह-तरह से अपने उन आदि-पुरुखाओं की झांकी लिया करते थे जो कि उनकी दृष्टि में स्वर्ग के ईडन में विचरते थे—भले ही उनकी ये झांकियां चन्द मिनटों के लिये ही क्यों न रहा करती हों।

सार इन बातों का यह निकलता है कि स्मृति द्वारा अतीत की उद्‍भावना करना ही मानव की अपनी बड़ी विशेषता है; इस प्रक्रिया के द्वारा जब मानव अतीत के उस तुङ्ग पर जा पहुंचता है जहां से क्रिया का स्रोत फूटा था, तब वह समय एवं इतिहास की परिधि से परे पहुंच जाता है और तब वह उसी मौलिक आनन्द का लाभ कर लेता है जो कि मुक्ति में मिला करता है।

भारतीय-दर्शन के अनुसार मानव के क्लेश-जाल का कारण उसका समय द्वारा परिच्छिन्न हो जाना है और समयावच्छेद के आते ही जन्म-मरण की अविच्छिन्न संतति चल जाने का कारण मानवीय कर्म है। जब तक मानव का कर्म सशक्त रहता है तब तक वह जन्म-मरण के जंजाल में तड़पता रहता है। इस जंजाल से वह तभी छूट पाता है जब वह अपनी कर्मशृंखला को तोड़ डालता और माया के आवरण को फाड़ डालता है। भारत में बुद्ध भगवान् को सब भिषजों का मूर्धन्य माना गया है और उनके संदेश को 'नवतम भेषज' के नाम से पुकारा गया है। बुद्ध भगवान् के संदेश का सार कर्मगति के चक्र को रोक देने में है और कर्मचक्र का उपरोध होता है अतीत की ओर अव्ययी प्रगति से; उस प्रगति से जोकि साधक को काल के आदि तुंग पर पहुंचा कर उसे महाकाल के साथ तदात्म कर दे। योगसूत्र (३-१८) को यह प्रक्रिया ज्ञात है और बुद्ध भगवान् के अनुयायियों की इसमें आस्था रही है।

इस प्रक्रिया को सफलता के साथ व्यवहार में लाने वाला व्यक्ति अपने आपको वर्तमान से छुड़ा लेता और वहां से प्रतिलोम चलकर अपने पिछले जन्म पर, फिर उससे पहले जन्म पर, और फिर उससे भी पूर्व के जन्म की ओर बढ़ता-बढ़ता समय के उस बिन्दु पर जा पहुंचता है जब कि सत्ता प्रवृत्ति की ओर सर्वप्रथम उन्मुख हुई थी; जब समय की कल्पना साकार न हो पाई थी, क्योंकि उस समय तक किसी भी पदार्थ का आविर्भाव न हो पाया था। अपने अतीत जन्म-जन्मान्तरों में पहुंच कर एक अन्तर्दर्शी साधक अपने कर्म-चक्र को निरुद्ध कर देता और उसके द्वारा कर्मजन्य भव-बन्धन से मुक्ति पा जाता है। इससे भी अधिक रुचिकर बात जो इस प्रक्रिया से हाथ लगती है यह है कि इस प्रक्रिया को बरतते-बरतते एक साधक समय के उस आदि-बिन्दु पर जा लगता है, जो कि समयाभाव का ही दूसरा नाम है, जोकि मानव के पतन से पहले का समय है, जो वस्तुस्थित्या महाकाल है और सब प्रकार की देशकालज उपाधियों से सुतरां स्वतन्त्र है।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार बुद्ध-भगवान् को अपने विगत जन्म याद थे और ऋषि वामदेव ने तो ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में कहा ही है कि "मैंने माता के गर्भ में रहते हुए ही देवताओं के सभी जन्मों को देख लिया था"। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वामदेव अपनी माता के गर्भ में रहता हुआ भी समय के उस आदि-बिन्दु पर विराजमान था, जब कि सर्ग-रचना आरम्भ हुई थी; अर्थात् वह शाश्वत महाकाल के दर्शन कर चुका था, और देशकालानवच्छिन्न सत्ता के साथ तदात्म बन चुका था।

कहते हैं कि ग्रीस का परम दार्शनिक पाइथागोरस जब चाहता था अपने जन्म-जन्मान्तरों को देख लेता था। ग्जेनोफोन और एम्पिडोकल्स के कथनानुसार यह दार्शनिक अपने मन को एकत्र करके इस बात को देख लेता था कि अपने विगत २०-३० जन्मों में वह क्या-क्या था और उन जन्मों में उसने क्या-क्या किया था। इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाइथागोरस द्वारा प्रवर्तित दर्शन में स्मृति के समुचित विकास पर अत्यधिक बल दिया जाता है।

विद्वान् लोग इस बात पर सहमत हैं कि प्लेटो का पुरा-स्मृति-संबन्धी सिद्धान्त वस्तुतः पाइथागोरस की देन है। किंतु प्लेटो इसे जन्म-जन्मान्तरों की व्यक्तिगत स्मृति न मान कर इसे सामूहिक स्मृति-समष्टि के रूप में स्वीकार करता है, जोकि हर व्यक्ति के अन्तरतम में निगूढ़ रहती है और जो उस काल की स्मृतियों का एक निकाय है जब कि आत्मा साक्षात् विचारों (Ideas) पर उतराती रहती थी। इस सिद्धान्त के अनुसार हम सब विचारों (Ideas) को स्मरण करते हैं, और व्यक्तियों में दीख पड़ने वाले भेद का आधार उनकी स्मृतियों की अपूर्णता पर निर्भर है।

प्लेटो का अव्यक्तीभूत तत्त्व-निकाय की स्मृति के सिद्धान्त में हमें परंपरीण विचारधारा का प्रतिफलन स्पष्ट दीख पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि प्लेटो और आदि मानव के बीच का समय एक बहुत बड़ा अन्तर है फिर भी इन दोनों की विचारधारा में एक प्रकार की संततता बनी हुई है। प्लेटो के विचार-विषयक सिद्धान्त में मानव को उस देशकालानवच्छिन्न समय की स्मृति सजीव करनी होती है जो कि सब देशों के सब जनों में एक समान संमान्य है और जिसका उद्भावन सत्य एवं सत्ता के सद्बोध के लिये सुतरां आवश्यक है। प्लेटो की न्याईं आदि मानव भी व्यक्तिगत स्मृतियों को महत्त्व न देकर सार्वजनिक देवकथा को महत्त्व देता है; वह व्यक्तिगत इतिहास को महत्त्व न देकर आदर्श इतिहास की उद्भावना करता है।

आदि-परंपरा में स्वर्ग की ललक

अफ्रीकन लोगों की आदिकालीन सर्ग-विषयक देवकथाओं का सार ब्राउमान के शब्दों में यों है : उस युग का मानव मृत्यु से अछूता था; वह पशु-पक्षियों की बोली समझता था और उनके साथ मिल-जुलकर रहता था; उसे काम नहीं करना पड़ता था, और भोज्य उसे अनायास मिल जाता था।

अफ्रीकन लोगों की सर्ग-विषयक यह धारणा थोड़े-बहुत भेद के साथ सभी लोगों में पाई जाती है। अफ्रीकन देवकथा के दो पक्ष ध्यान देने योग्य हैं : पहला, धरती और स्वर्ग का सामीप्य, और दूसरा धरती से स्वर्ग तक पहुंचने का एक साधन—जैसे कि सीढ़ी या कोई वृक्ष अथवा कोई ऊंचा पर्वत। अफ्रीका का शमन धरती से उठ कर स्वर्ग पहुंचने के लिये और वर्तमान से उन्मुक्त हो सुदूरातीत में प्रवेश पाने के लिये भांति-भांति के प्रयत्न करता है। दारुण यातनाएं सह-सह कर वह अपने शरीर को लोहा बना लेता और अपने मन को वश में कर लेता है। तदुपरान्त भावनाप्रवण प्रहर्ष के उन्माद में उठता-उठता वह अभिलषित स्वर्ग पर जा पहुँचता है। अपनी उस मस्ती की झूम में वह पशु-पक्षियों की बोली बोलता और उसे

भलीभांति समझता है। और क्योंकि पशुपक्षी जीवन के रहस्य को भांपते, अमरता के तत्त्व को देखते और प्रकृति के अन्तरात्मा को चीन्हते हैं इसलिये इनका प्रेमी शमन भी इनके संसर्ग से इन सब बातों को अनायास ही पा लेता है। पशुपक्षियों के प्रेम की सीढ़ी पर चढ़कर एक शमन सहज ही स्वर्ग की परिधि में जा पहुंचता है, जहां कि एक दिन पशुपक्षियों एवं मानव का निकट संपर्क सक्रिय था और जहां स्वेच्छाचारिता एवं स्वातन्त्र्य सही मानों में बिखरा पड़ा था। दूसरे शब्दों में एक शमन भावना-भरित प्रहर्ष के उल्लास में उड़कर धरती को नीचे छोड़ देता और एक सीढ़ी अथवा वृक्ष द्वारा स्वर्ग में जा पहुंचता है। यह सीढ़ी और तरु स्वर्गीय स्तम्भ अथवा वृक्ष के प्रतीक हैं। हमारा वेद यज्ञिय वेदी एवं यज्ञिय काष्ठ को भूमि की नाभि बताता है; यह यज्ञिय काष्ठ अथवा यूप भूमिमध्यस्थित एक सीढ़ी है, जिसके द्वारा एक याजक स्वर्ग में पहुंच जाता है। सर्ग-संबन्धी यह ऊर्ध्वमूल और अधःशाख तरु भूमि के मध्य में लहलहाता है और धरती को स्वर्ग के साथ मिलाता है।

निःसंदेह जगत् की प्रायः सभी आदिम जातियों में स्वर्ग की स्मृति और उसकी ललक समान रूप से पाई जाती है और इससे चेतना पाकर हर व्यक्ति स्वतन्त्र, स्वैर विहार की स्वर्गिक दशा को प्राप्त करना चाहता है और मौलिक पतन के उपरान्त अपने और स्वर्ग के बीच पैदा हुए अन्तर को पाट देना चाहता है।

एक बात और; जिस प्रकार जगत् की सभी आदि जातियों में और आजकल के सुसभ्य समाज में स्वर्ग-विषयक भावना समान रूप से पाई जाती है उसी प्रकार यह धारणा भी एक सार्वत्रिक है कि स्वर्ग में प्रवेश पाने के लिए मानव को अग्नि में से गुजरना पड़ता और उस पर आधिपत्य प्राप्त करना होता है। इसी धारणा के कारण एक शमन को भी अग्नि पर आधिपत्य प्राप्त करना होता है; और इस लक्ष्य के लिये वह ज्वलन्त अंगारों पर चलता, ज्वलन्त कोयलों को मुट्ठी में पकड़ लेता और कभी-कभी जलते कोयलों को खा तक जाता है। स्मरण रहे कि आदि मानव की दृष्टि में प्राणात्माओं (Spirits) का अग्नि पर आधिपत्य होता है; और अग्नि पर आधिपत्य पा लेने के उपरान्त एक शमन भी प्राणात्माओं में संमिलित हो जाता है।

उक्त बातों का सार निकलता है कि क्या आदि मानव और क्या आज के सुसभ्य वैज्ञानिक स्वर्ग के प्रति लालसा सभी में एक समान जागरूक रहती है और सभी समान रूप से वर्तमान के चंगुल से बचकर कालानवच्छिन्न महाकाल में प्रवेश पाना चाहते और उसके द्वारा क्लेशजंजाल से मुक्त होना चाहते हैं।

आदिम समाज का भावनामय अनुभव

आदिम समाज के कतिपय व्यक्ति प्रहर्षोल्वण अनुभवों में विशेषता प्राप्त करके अपने-अपने समाज को भांति-भांति के करिश्मे दिखाते रहे हैं। ये व्यक्ति शमन होते, झाड़ने वाले भगत होते और अलमस्त अवधूत होते हैं और ये अपने अपने समाज के नेता माने जाते हैं।

इस कोटि के अलमस्तों का रवैया अजीब प्रकार का होता है। ये बहुधा एकान्त भजते, भांति-भांति के स्वप्न देखते, अनहोनी बातें निहारते, यहां तक कि सोते समय भी गाने गाया

करते हैं। कभी-कभी ये लोग उन्मत्त होकर हिंसा के काम कर डालते, तरुवल्कलों को खाने लगते, अपने आपको नदी-तालाबों मे फेंक देते, आग पर पड़ जाते, और अपने शरीर को घायल कर डालते हैं। अपनी दैवी मस्ती में झूमते हुए कभी-कभी ये शाश्वत तत्त्व की झांकियां तक ले लेते हैं ; और तब ये वर्तमान की परिधि से छूटकर कालानवच्छिन्न महाकाल की झांकी लेते और व्यक्ति के पीछे छिपी समष्टि का दीदार पा जाते हैं। तब ये अपने वर्तमान जीवन से नज़ात पा जाते और तब ये एक नया चोला पहर लेते हैं, जिसपर अतीत के जन्मजन्मान्तरों की छाप लगी होती है।

संक्षेप में किसी भी अवधूत सन्त की अलबेली मस्ती का राज़ उसके अपने वर्तमान जन्म को नष्ट करके नवीन जन्म धारण कर लेने में है, ऐसा जीवन जिसमें कि इन्द्रियाँ यातुरञ्जित धर्मदर्शी इन्द्रियों में बदल जाती हैं। योगी की ये सिद्धियां उसे जन-समाज से पृथक् करके एक नवीन स्तर पर ला बिठाती हैं। प्राणायाम, आसन और समाधि से इन सिद्धियों की परिपुष्टि होती है और एक योगी अपनी इच्छा से मर सकता और मन-चाहा चोला धारण कर सकता है।

कहना न होगा कि इन सभी सिद्धियों का प्रमुख लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति करना रहता है। अपनी समाधि के ज्वलन्त शिखर पर बैठा हुआ योगी चन्द्रमा, सूर्य एवं अन्य सभी ग्रहोपग्रहों की यात्रा कर सकता और वहां बिखरे स्वर्ग का आनन्द लूट सकता है। दूसरे शब्दों में वह अपनी उद्दीप्त इन्द्रियों द्वारा ऐसे लोक में पहुंच जाता है जो हमारी चर्मेन्द्रियों से परे है और जिसे हम स्वर्ग के नाम से पुकारते हैं। ऐसा योगी शरीर में बंधकर भी शरीर के बाहर रहता और अनायास ही लक्षों और कोटियों कोस उड़ जाता है।

सभी देशों के शमनों और अलमस्त सन्तों की परा विभूति आकाश में स्वर्ग की ओर उड़ना होती है। इसीलिये योगियों और सिद्धों को बहुधा पक्षी कहा जाता है। हमारी आख्यायिकाओं में बार-बार आनेवाली उड़ानों का रहस्य इसी बात में है।

शमनों और योगियों की इस प्रकार की उड़ान का और उनके ऊपर की ओर चढ़ने का आशय उनका इन्द्रियातीत विषयों का परिज्ञान है। तभी तो ऋग्वेद (6.9.5) मन को सब से तेज़ उड़ने वाला पक्षी बताता है और तभी पञ्चविंश ब्राह्मण (IV. 1.13.) कहता है कि जो "व्यक्ति ठीक-ठीक समझता है उसके पर होते हैं।" बौद्धों के अर्हत् और जैनियों के तीर्थंकर इसी आत्मिक ज्ञान से संपन्न हैं और हमारे कामचारी योगियों की तो निधि ही इस प्रकार की सिद्धि रहती आई है। चुटकी में अन्तर्धान हो जाना और लहमे में वर्तमान चोले को उतारकर नवीन शरीर में प्रवेश कर जाना इनके बाएं हाथ का काम होता है। कामचारी होने के कारण ही हमारे ब्रह्मद्रष्टा ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से प्राण छोड़ते बताये जाते है; और याद रहे कि यहां ब्रह्मरन्ध्र से जगत् की नाभि, अथवा आकाश का मध्यवर्ती उच्चपद, अथवा कालातीत महाकाल अभिप्रेत हुआ करता है।

उड़ने और ऊपर आरोहण करने का आशय परम स्वातन्त्र्य एवं सर्वातीतता (transcendence) को प्राप्त करना होता है। और यही भाव है बुद्ध के उन सप्त पदों का जो कि उसने उत्तर की ओर भरे थे। अपने इन सात पदों को भरकर बुद्ध सत्ता के परम तुङ्ग पर

जा पहुंचे थे और वहां खड़े होकर वे बोल उठे थे "मैं जगत् के तुंग पर हूं, मैं जगत् में सर्वश्रेष्ठ हूं" (मज्झिम निकाय III. P. 123)। अपने सात पगों द्वारा बुद्ध सात आसमानों को पार कर जाते और तब वे एक ऐसे बिन्दु पर पहुंचते हैं जो उच्चता की पराकोटि है और जो देश-काल की उपाधि से सुतरां उन्मुक्त है। स्वर्गलाभ के पश्चात् सर्वातीतना का अनुभव बुद्ध से बहुत पहले ब्राह्मण तापस कर चुके थे; तभी तो शतपथ-ब्राह्मण (VI 2.5.10) यज्ञ को स्वर्ग की ओर जाने वाला पोत बताता और यज्ञ-प्रक्रिया को 'दूरोहण' अर्थात् कठिनता से चढ़ने योग्य बताता है। तैत्तिरीय संहिता (1. 7. 9) में याजक यज्ञ करने के उपरान्त घोषणा करता है "मैं स्वर्ग में पहुंच गया हूं, मैं देवताओं में मिल गया हूं और मैं अमर बन गया हूं। उसी संहिता में आगे आता है (VI. 6. 4. 2) कि याजक स्वर्ग पहुंचने के लिए एक सीढ़ी लगाता है; वह वहां पहुंचने के लिये एक पुल बनाता है।" ऋग्वेद का वह मन्त्र तो सर्वविदित है ही जिसमें ऋषि कहता है : "मैंने सोम पी लिया है और मैं अमर बन गया हूं।"

स्वर्ग की ओर ले जाने वाले बुद्ध के सात पद विश्व के सभी आदि मानवों की पुराण गाथाओं में मिलते हैं। उदाहरण के लिये लीजिये : साइबेरिया का शमन स्वर्ग तक पहुंचने के लिए भूर्जवृक्ष के तने में सात घावड़े खोदता है और उनमें पैर टेकता-टेकता स्वर्ग में जा पहुंचता है। इस प्रकार की परिपाटियां अन्य देशों में भी मिलती हैं, जहां कि सात पदों से जगती की सात स्टेजें अथवा सात स्तर अभिप्रेत रहते हैं, जो कि एक दूसरे के ऊपर हैं और जो सात ग्रहीय स्वर्ग हैं, जिनका उच्चतम तुंग उत्तर दिशा में अथवा ध्रुवतारा में माना जाता है; और यही संभवत: जगती का केन्द्र भी है और यहीं से संभवत: कालानवच्छिन्न महाकाल से सर्ग रचना की पौ फूटी थी। सर्ग-रचना के उसी उच्चतम शिखर पर पहुंचकर बुद्ध भगवान् ने घोषणा की थी "यह मैं हूं जो कि जगती के शिखर पर हूं। मैं ही सबसे पहला हूं; क्योंकि सर्ग-प्रक्रिया के पूर्व्य बिन्दु पर पहुंच कर बुद्ध पूरी तरह जाग उठते और सर्ग-प्रक्रिया के आदि बिन्दु के समकालीन बन जाते हैं। तब वे समय की परिखा को पारकर जाते और सर्ग-रचना के उस महाकाल पर आ लगते हैं जो कि सभी प्रकार की क्रियाओं से पहले का है। बुद्ध की मुक्ति यही है और एक जीवन्मुक्त की मुक्ति इसी प्रकार की हुआ करती है।

सत्ता के उच्चतम शिखर से सर्ग-रचना होने का भाव भारत तक ही सीमित न रहकर अन्य देशों में भी आमतौर से पाया जाता है। सेमेटिक विचारधारा के अनुसार जगत् का आरम्भ नाभि से हुआ है; और निश्चय ही जगत् की नाभि अथवा उसका केंद्र उसका सबसे अधिक प्राचीन भाग है; और इस प्रसंग में प्राचीनता से हमारा अभिप्राय है महाकाल से। उसी भावना के अनुसार बुद्ध के वार्धक्य से अभिप्रेत है बुद्ध का सत्ता के उस बिन्दु पर जा उपस्थित होना जहां से सर्ग-रचना होने जा रही थी और जहां खड़े होकर बुद्ध ने इसे प्रवृत्त होते हुए अपनी आंखों देखा था।

यज्ञ-प्रक्रिया के द्वारा स्वर्गारोहण भी हमेशा केन्द्र से होता बताया गया है और वेद ने इसीलिये जगह-जगह यज्ञ को जगत् की नाभि बताकर उसका गुणगान किया है और यज्ञिय यूप को जगत् की नाभि में निमित अर्थात् गड़ा हुआ बताया है। कालावच्छिन्न वर्तमान काल को छोड़कर कालानवच्छिन्न महाकाल में प्रवेश पा जाने में ही मानव-कर्तव्य की इति-श्री है।

दूरोहण एवं जाग्रत् स्वप्न

सभी जानते हैं कि मानव बहुधा स्वप्न में अपने आपको कहीं चढ़ता हुआ पाता अथवा ऐसी हरकतों में व्यापृत हुआ देखता है जिनका ऊपर की ओर उड़ान के साथ या ऊपर की ओर आरोहण के साथ संबन्ध रहा करता है। फ्रायड के मत में इनका मूल अन्तस्तल में छिपी यौन संसर्गेच्छा में रहता है। फ्रायड का विचार ठीक हो या गलत, इतना तो निश्चित ही है कि योरप के बहुत से चिकित्सक अपने रोगियों में ऊपर की ओर पहुंचने की समष्टि इच्छा को उद्बुद्ध करके उनका उपचार करने में सफल होते बताये जाते हैं। ऊपर पहुंचने की निलीन इच्छा जब रोगी के भीतर व्यापृत हो उठती है तब वह अपने रोगोपहृत देह को तज देता और ऊपर की ओर उठता-उठता उस शिखर पर जा पहुंचता है जो देशकाल से अनवच्छिन्न है और इसी लिये रोगादि से भी सुतरां परे है। इस इच्छापूर्वक मर जाने और फिर जीवन धारण करने में ही मानव के ऐतिह्य की पराकाष्ठा है।

धर्म के इतिहास में शक्ति और पावनता

१९१७ में मार्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक रुडल्फ़ ओटो ने 'दास हाइलिगे' नाम की एक पुस्तक लिखी थी जो समय पाकर अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई और जिसकी पाश्चात्य विचारधारा पर सदा के लिये अमिट छाप पड़ गई।

इस पुस्तक में रुडल्फ ओटो ने बताया है कि एक साधक का भगवान् दार्शनिकों के ब्रह्म से और प्लेटो के विचार या Idea से मूलतः भिन्न प्रकार का होता है। वह एक दारुण शक्ति होती है जो परमात्मा के क्रोध में और उसके भय में विकसित हुई है—क्योंकि हर साधक उस पावन शक्ति के सामने थर्राता और उसकी महनीयता से दहशत खाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भक्त के भगवान् से भय अथवा धाक की किरणें फूटा करती हैं जिनके संमुख एक साधक बलात् झुक जाया करता है। वह पावन शक्ति हम से सुतरां भिन्न प्रकार की है; वह हम से हर तरह अलग है। उसमें और हममें किसी भी प्रकार की समता नहीं है। उसके संमुख मानव एक नाचीज़ है; जेनेसिस (18. 27) के शब्दों में वह 'निरी खाक और राख है।'

ओटो के अनुसार वह महनीय शक्ति अपने आपको मानवीय एवं प्राकृतिक सभी शक्तियों से सुतरां भिन्न प्रकार से प्रकट करती है। यह सही है कि उसके वर्णन में हम अपनी मानवीय भाषा का प्रयोग करके उसे अपने समीप-सी, अपने से मिलती-जुलती-सी दिखाने लगते हैं—किंतु सच पूछो तो वह हमारी भाषा की पहुंच के बाहर है—क्योंकि वह हम से मूलतः भिन्न प्रकार की है।

वह पावन तत्त्व अपने आपको शक्ति, ऊर्जा, अथवा विभूति के रूप में प्रकट करता है—और विश्व के सभी धर्मों का इतिहास उस तत्त्व से विकसित हुए भ्राजमान तत्त्वों के इतिहास के सिवाय और क्या है? वह शक्ति एक पाषाण के रूप में, एक वृक्ष के रूप में, और सब से बढ़-चढ़कर एक मानवीय अवतार के रूप में प्रकट हुआ करती है।

उस पावन तत्त्व के विकसित रूप भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते

हैं। किंतु एक बात जो इन सब में समान रूप से पाई जाती है, यह है कि हैं ये सभी उसी एक दारुण परम तत्त्व के प्रदर्शन, जो हमसे मूलतः भिन्न प्रकार का है और जो इन विकासों के द्वारा और इनके रूप में अपने आपको देशकाल द्वारा परिसीमित किया करता है। असीमित का इस प्रकार सीमा में बंधना ही आश्चर्य की परा कोटि है; किंतु इस प्रसंग में इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि भले ही उस परम शक्ति ने अपने आपको कृष्ण के रूप में प्रकट किया था, फिर भी हमारा कृष्ण उस शक्ति का सीमित विकास होने के कारण उसकी अपेक्षा कम शक्ति वाला है।

माना

ओटो के सिद्धान्त से मिलता-जुलता दूसरा सिद्धान्त 'माना' का है, जिसके अनुसार जगत् का हर पदार्थ 'माना' ही की शक्ति का विकास है। कालक्रमात् मानावाद के ऊपर दार्शनिकों की आस्था इतनी अधिक बढ़ी कि उन्हें धर्म का मूल ही माना के सिद्धान्त में उद्भूत हुआ दीख पड़ने लगा।

माना के विषय में दो-एक बातें कह देना अप्रासंगिक न होगा। १९वीं सदी के अन्तिम चरण में अंग्रेज पादरी कोड्रिंग्टन ने बताया कि मेलानेशियन लोग एक 'माना' तत्त्व की माला-सी जपा करते हैं, जो एक अव्यक्तीभूत शक्ति अथवा प्रभाव है और जो भौतिक नहीं है। यह शक्ति प्रकृति से बाहर है, फिर भी यह सदैव प्रकृति के किसी रूप में या मानव अथवा किसी अन्य प्राणी के भ्राजमान रूप में प्रकट हुआ करती है। यह 'माना' किसी भी वस्तु विशेष के साथ बंधी हुई नहीं है। फिर भी यह किसी भी वस्तु के रूप में या उसके द्वारा अपने आपको प्रकट कर सकती है। मेलानेशियन लोगों के अनुसार सर्ग-प्रसार भी मौलिक-तत्त्व की 'माना' ही का परिणाम है। किसी जाति या देश का नेता भी इस 'माना' ही के कारण उस जाति या देश का नेता बना करता है।

और क्योंकि माना अपना विकास किसी भी रूप में अथवा किसी भी प्रकार से कर सकती है इसलिये उसे अव्यक्तिक माना गया है और कहा गया है कि वह अशेष जगती में व्याप्त है। और इस बात का समर्थन इस तथ्य द्वारा किया गया है कि इरोकुओइस की ओरेण्डा, हुरोन की ओकि, और अफ्रीकन पिगमीज़ की मेगबे माना से मिलती-जुलती शक्तियां हैं; और इन बातों का स्वारसिक परिणाम यह हुआ कि धर्म का आदि-मूल अब 'माना' को माना जाने लगा। ध्यान रहे कि इस मानावाद का स्थान धार्मिक विकास में प्राणनवाद से पहले स्तर पर है। प्राणनवाद का आधार आत्मा है जो कि जीवित, मृत, भूत-प्रेत सभी के आत्मा के रूप में प्रकट होता है। टेलर के शब्दों में तो धर्म का आदिमूल ही प्राणनवाद में है—क्योंकि उस विद्वान् के अनुसार धर्म के आदि रूप में जगत् को प्राणित रूप में देखा जाता था और इसके पीछे और इसके भीतर अगणित आत्माएं व्याप्रियमाण मानी जाती थीं। किंतु अब दार्शनिकों को कोड्रिङ्गटन की 'माना' हाथ लग गई, जोकि अव्यक्तिक थी और जगती में यहां-वहां हर जगह विकसित हुई दीख पड़ती थी। परिणाम इसका यह हुआ कि दार्शनिकों ने धर्म के मूल को प्राणनवाद के बजाय अब 'माना' में मानना आरंभ कर दिया।

किंतु बाद में विद्वानों के अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि स्वयं मेलानेशिया के लोग भी एक शक्तिशाली स्रष्टा परमात्मा में आस्था रखते हैं, जो अपनी असीम शक्ति से इस जगत् को बनाता और अपनी महनीय शक्ति द्वारा अनेक देवी-देवताओं का सृजन करता है। इन सभी देवी-देवताओं में उसी आदि स्रष्टा की शक्ति काम करती है। वह स्वर्गिक देव समस्त विश्व को निहारता और अशेष जगती का नियंत्रण करता है। वह अमित ज्ञान, सत्ता एवं शक्ति का भण्डार है। स्वयं हमारे यहां ऋग्वेद वरुण को जगत् का परम अधिष्ठाता बताता और कहता है कि वह जगती के भले-बुरे सभी पथों को देखता और हमारे निमेषोन्मेषों तक को गिनता रहता है। उसके ज्ञान का अन्त नहीं और उसकी सत्ता का छोर नहीं है।

वरुण जैसे एक जगत्-स्रष्टा में अन्य देशों के आदि-मानवों की भी आस्था रहती आई है। किंतु कालक्रमात् वरुण की कोटि के देवता अपनी शक्ति एवं ज्ञान के असीम होने के कारण मानवीय पूजा-अर्चा की परिधि से दूर होते गये—और अब मानव करने लगा ऐसे देवी-देवताओं की ऊहा और वन्दना, जोकि उसके निकट थे और जिनसे वह अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताएं पूरी करा सकता था। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि आदिकाल के प्रभूत देवता धीरे-धीरे धरती से उठते गए और अपनी जगह वे अपने से छोटे देवी-देवताओं को बिठाते गए, जोकि हैं तो उनके अधीन और उनसे छोटे, पर हैं मानव के अधिक पास और इसीलिये उसकी पूजा-अर्चा के विषय। उदाहरण के लिये—हेरेरोस लोगों का परम-देव न्यामबी अब धरती को छोड़ स्वर्ग में जा विराजा है और अपने अनुयायियों को अपने से छोटे देवताओं की देखरेख में छोड़ गया है। परिणाम इसका यह हुआ कि हेरेरोस अपने परमदेव की पूजा करना छोड़ बैठे है और उसकी जगह वे छोटे-मोटे रोज के देवताओं की पूजा करने लगे हैं। इसी प्रकार तुम्बुक लोगों का परम-देव आज उनसे कहीं दूर जा पड़ा है और अब उसका उनकी दिनचर्या से किसी प्रकार का संबन्ध नहीं रह गया है। एक्वेटोरियल अफ्रीका-वासियों के निम्न गीत में देवताओं की इस निर्माण-प्रक्रिया का साफ़ तौर से प्रतिफलन है :—

"(न्यामबी) परमात्मा ऊपर है और आदमी नीचे।
परमात्मा परमात्मा ही है और आदमी आदमी ही।
हर एक अपनी जगह है, हर एक अपने घर में है।"

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान देने पर पता चलेगा कि सभी आदिम धर्मों में उनके परम-देव पीछे की ओर सरकते चले गये हैं, और शनैः-शनैः उनका जनता से संपर्क छूटता गया है। अलबत्ता गाढ़ा दिन आ पड़ने पर जनता एक बार फिर अपने परम-देव ही की शरण लेती है। उदाहरण के लिये—खुश्की लम्बी चल जाने पर अथवा कठोर अकाल पड़ने पर आर्त जनता अपने परम-देव को याद किया करती है। क्योंकि प्रतिदिन के सामान्य देवताओं की पूजा से ऐसे मौकों पर काम नहीं सरता। टियेरा डेलफ़ियेगो के निवासी संतान न होने पर अथवा मरणान्तक रोग आ पड़ने पर स्वर्ग में रहने वाले सेल्कनाम परम-देव को स्मरण करते हैं। अन्य देवताओं की मिन्नत-समाजत करने पर भी जब काम नहीं सरता तब ओरओन लोग अपने परमात्मा धर्मेश के सामने यह कहकर घुटने टेक देते हैं—'हमने सभी कुछ कर लिया—अब तो धर्मेश! तेरा ही सहारा है।' तब वे धर्मेश का नाम लेकर एक सफ़ेद मुर्गे की बलि

देते और कहते हैं—'ओ देव ! तू हमारा सिरजनहार है। हम पर दया कर।'

सार इन बातों का यह है कि कालक्रमात् महान् देव पीछे की ओर सरकते चले जाते हैं और उनका स्थान मानव के अधिक निकटवर्ती अवर देवता लेते चले जाते हैं, जोकि परम-देव की अपेक्षा कहीं अधिक विग्रहवान् और करिष्ठ होते है, जैसे कि सौर देवता, प्रभूत देवियां और पुराण पुरखा। और यह देखा गया है कि ये अवर देवता उस-उस जाति अथवा उस-उस देश के समस्त धार्मिक क्षेत्र पर छा जाते हैं। किंतु दारुण विपद् आ पड़ने पर सभी देशों की जनता उसी परम देव का आराधन करती है, जिसने कि उन्हें सिरजा है। यह बात आदि-जातियों तक ही सीमित नहीं है। इतिहास में एक बार ऐसा समय आया था जब कि यहूदी लोग समृद्धि के मद में बौराकर अपने परम-देव को भुला बैठे थे और उसकी जगह पड़ौसियों के देव बाल्स और अस्टार्टेस को भजने लगे थे। किंतु जब उनपर ऐतिहासिक आपदाएं घिर आईं तब बाल्स और अस्टार्टेस की पूजा से काम न चलता देख यहूदी लोग फिर से अपने परमात्मा की शरण आये और तब जाकर कहीं यह्वेह ने उनकी टेर सुनी।

एक बात और—आदि-जातियों में जो देवी-देवता परमात्मा का स्थान लेते हैं वे बहुधा उर्वरत्व, धन-संपत्ति, एवं जीवन में मनोरमता के देवता होते हैं। ये देवता जीवन को प्रभूत एवं धन-संपन्न बनाते, सर्ग में बहार लाते और वनस्पति, शस्य, पशु एवं धनधान्य में प्राचुर्य पैदा करते हैं। देखने में सारे ही देवता बलवान् और शक्ति-सम्पन्न है ; और यह इसलिये कि धर्म में उनकी महत्ता का आधार उनकी शक्ति थी, उनकी ऊर्जा थी, उनकी प्रभावशाली उर्वरकता थी। यह सब कुछ होने पर भी सभी आदि-जातियों का, विशेषतः यहूदियों का विश्वास था कि दारुण विपत्ति में उनके ये देवी-देवता, उनके ये सौर एवं कृषि-देवता, ये पुरखा, भूत और प्रेत उनकी रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। क्योंकि भले ही ये देवता जीवन को फिर से बनाते थे, सर्ग के ढीले चूलों को कसते थे, उसके बिगड़े तारों को मिलाते थे—फिर भी ये सर्ग के स्रष्टा नहीं थे, ये मानव-समाज के निर्माता नहीं थे; और इसी बात में उनकी न्यूनता छिपी हुई थी।

आदि स्रष्टा का स्थान लेनेवाले देवता विशेष-विशेष प्रकार की शक्ति के निधान थे—संक्षेप में वे जीवनी शक्ति के निधान थे। और क्योंकि वे एक विशेष प्रकार की शक्ति के निधान थे इसलिये उनका वह शिवमय धार्मिक पहलू धीरे-धीरे नष्ट होता चला गया, जोकि आदि स्रष्टा परमात्मा का अपना था। और ज्यों-ज्यों मानव जीवन की चारुता एवं उसके प्राचुर्य की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों वह जीवन के उर्वरक देवताओं के जाल में फंसता चला गया और उनसे जीवन को सरस एवं सम्पन्न बनाने की प्रार्थनाएं बढ़ाता गया। जीवन को प्रभूत बनाने की धुन में वह जीवन के आदि स्रोत की ओर से पराङ्मुख हो गया और उसकी इसी बात में उसके पतन का रहस्य छिपा हुआ है।

शक्ति-संपन्न देवता

कहना न होगा कि ज्यों-ज्यों मानव का मन भौतिक विकास की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों वह आदि-स्रष्टा को भूलता गया और उसकी जगह जीवन को सबलाने एवं सरसाने

वाले देवी-देवताओं की उद्भावना करता गया—यहां तक कि एक समय ऐसा आ गया जब कि वह वरुण जैसे जगत्-स्रष्टाओं को सुतरां भूल बैठा और उनकी जगह उन देवी-देवताओं को भजने लगा जो कि जीवन को उर्वर बनाने वाले थे और उसमें बहार लाने वाले थे। इस विकास में जहां और बहुत-सी बातों ने भाग लिया वहां कृषि ने सबसे अधिक हाथ बंटाया—क्योंकि कृषि का विकास होते ही उभर बैठे वे देवी-देवता, जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से खेती के साथ संबन्ध था—जैसे कि प्रभूत देवियां, दैवी माताएं और उनके दैवी पति ; और अब बन गये मानवीय पूजा के ये ही देवता अग्रय भोक्ता। स्वयं वेद में ही देखिये—वह पुराना भारत-ईरानी देवता 'द्यौस्' पीला पड़ गया है। बहुत पुराने युग में उसका स्थान वरुण ने और झंझा के देवता पर्जन्य ने ले लिया था। वरुण और पर्जन्य को इनके पश्चात् उभरने वाले इन्द्र-देव ने पीछे धकेल दिया, और अब बन गया इन्द्र ही वैदिक आर्यों का सबसे अधिक मन-चाहा देवता; क्योंकि वह शक्ति, ऊर्जा, वैभव और प्रभव सभी का स्रोत था। इन्द्र में जीवन की सारी ही सरस लहरियां विद्यमान हैं ; वह जलों को प्रवाहित करता, बादलों को टकराता और सलिल एवं रुधिर में संचार पैदा करता है। वह रसों का स्वामी है और उर्वरता का स्रोत है। फलत: वेद ने उसे सहस्र-मुष्क कहकर पुकारा है; वेद उसे क्षेत्रों का पति बताता, धरती का वृष कहता और क्षेत्रों, पशुओं एवं स्त्रियों का सेचक बताता है। चाहे हम उसके वृत्रदारक वज्र पर ध्यान दें और चाहे उसकी झंझा पर जो कि वर्षा से पहले आया करती है, चाहे उसके मनभर सोम पीने को देखें और चाहे उसके खेतों को उर्वर बनाने और स्त्रियों को पुरंध्री करने को, उसमें हमें जीवन की सारी ही प्रभूतियां दीख पड़ती हैं। उसके हर श्वास में पूर्णता है, उसकी हर डींग से हेकड़ी झलकती है। जीवन में संभाव्य सभी संपत्तियों का इन्द्र सबसे बड़ा निधान है।

एक उदाहरण और लीजिए—मेसोपोटामिया के सबसे अधिक पुराण देवताओं में से एक था अनु, जिसका अर्थ द्यौस् है। ईसा से 4000 वर्ष पहले तक मेसोपोटामिया में उसी की पूजा प्रचलित थी। किंतु बाद के ऐतिहासिक युग में अनु एक भावरूप-सा सूक्ष्म देवता बन गया और उसकी पूजा उठ गई। उसका स्थान उसके पुत्र एनलील (अथवा बेल) ने लिया, जो कि झंझा और प्रजनकता का देवता है और उस प्रभूत माता का पति है जो कि विशाल गौ के नाम से ख्यात है और बेलतू अथवा बेलित नाम से न्यौती जाती है। मेसोपोटामिया में और उससे भी अधिक मध्यपूर्व में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां ऊर्जस्वी देवताओं के पीछे की ओर धकेले जाने के साथ-साथ उनका स्थान उर्वरक देव लेते चले गए हैं, जो कि उस प्रभूत माता के पति होते हैं, जिसका नाम कृषि-देवी है। यह सही है कि उर्वरकता का यह देवता प्राचीन द्यौस् जैसे देवता की तरह एक-प्रभुता-सम्पन्न नहीं होता और साथ ही यह वैवाहिक बन्धन में भी बंधा रहता है। उस सर्गशक्ति का स्थान, जो कि पुराण देवता द्यौस् का प्रमुख लक्षण था, अब दैविक विवाह ले लेता है, और उर्वरकता का यह देवता जगत् का रचयिता न रहकर उसका उर्वरक-मात्र बन जाता है। कतिपय संस्कृतियों में तो उर्वरकता का यह पुं-देवता स्त्री-उर्वरक देवी का अनुषंगी बनकर हमारे सामने उभरता है—क्योंकि इन संस्कृतियों में जगती के भीतर रसासार प्रवाहित करना स्त्री-देवी का काम है। पुं-देवता

तो उसका प्रेरक या सहायक-मात्र रहा करता है—ठीक वैसे ही जैसे कि सांख्य में पुरुष और प्रकृति। कालक्रमात् इस पुं-देवता का स्थान उसका पुत्र ले लेता है और अब यह पुत्र अपनी माता का प्रणयी बन जाता है। इस श्रेणी के देवता तम्मुभ, अत्तिस, और एडोनिस आदि से पाठक लोग भली-भांति परिचित हैं—इन देवताओं का प्रधान लक्षण है (बलि के रूप में) मर जाना और मरकर फिर से नवजीवन धारण करना।

ओउरनस (वरुण) की गाथा से यह बात सुव्यक्त हो जाती है कि किस प्रकार शक्ति-प्रधान देवता द्यु-सम्बन्धी देवताओं को पीछे की ओर धकेलते रहे हैं। ओउरनस्—जिसका अर्थ है—द्यौस् और जिसने अपनी पत्नी गेइया से देवताओं को, साइक्लोप्स को और उन्हीं के समान अन्य दैत्यों को जन्म दिया था, अन्त में अपने पुत्रों में से एक क्रोनोस (काल) के हाथों वधिया बना दिया जाता है। ओउरनस के वधियापन से उसकी कालागत प्रभावहीनता अभिप्रेत है, जिसका दूसरे शब्दों में आशय हुआ द्यु-सम्बन्धी देवता की कालक्रमात् बल-हीनता। बाद में ओउरनस का स्थान ज़ीयस ने ले लिया, जिसमें एकच्छत्री सम्राट् एवं झंझा के देवता दोनों ही के लक्षण विद्यमान थे।

यह सच है कि कतिपय द्यु-देवता अपना महत्त्व बनाये रखने में सक्षम सिद्ध हुए हैं, किंतु इसके लिये इन देवताओं को अपने आपको एकच्छत्री सम्राट् के रूप में प्रकट करना पड़ा है। निःसंदेह एकच्छत्रता में एक विशेष प्रकार की शक्ति है जो कि एक देवता को देववर्ग में निरिक्त स्थान प्राप्त करने और उसे बनाये रखने में सक्षम बनाती है। ज़ीयस, जूपिटर, चीनी तियेन, और मंगोल लोगों के देवताओं के बारे में ऐसा ही हुआ है। एकच्छत्रता की भावना अहुर-मज्दा में भी काम करती रही है, जिसने कि उसे अन्य सभी तद्देशीय देवताओं की अपेक्षा अधिक उन्नत पद दिलाया था। यही बात किसी सीमा तक यह्वेह के विषय में भी कही जा सकती है; किंतु यह्वेह का व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार का प्रकीर्ण व्यक्तित्व है और उसके विषय में यहां कुछ अधिक लिखना अप्रासंगिक-सा प्रतीत होता है।

भारत में शक्ति-पूजा

हम अभी कह आये हैं कि आदि-स्रष्टा परमात्मा का स्थान कालक्रमात् उसी के हाथों रचे गये अवर देवताओं ने ले लिया था—क्योंकि आदि-स्रष्टा अत्यन्त ऊंचा था और द्यु-सम्बन्धी था, जब कि ये देवता उससे निम्न थे, पर थे शक्ति-सम्पन्न। सार इसका यह हुआ कि मानव-विकास के साथ-साथ ऊंचाई का स्थान शक्ति ले लिया करती है।

शक्ति की यह पूजा भारत में शाक्त मत के रूप में विकसित होकर तन्त्रों में फलभरित हुई है। तंत्रों के अनुसार शिव निष्क्रिय है, सांख्यों के पुरुष की न्याई वह क्रिया से सुतरां अलिप्त है, जबकि शिव की शक्ति, जो सर्गरचना के उपरांत उससे पृथक्-सी हो गई थी सभी प्रकार की क्रियाओं एवं शक्तियों का अखण्ड स्रोत है। इस परिस्थिति में एक तांत्रिक का लक्ष्य होता है—शक्ति की पूजा करना और इस पूजा के द्वारा शक्ति को शिव से युक्त कर देना। किंतु शिव और उसकी शक्ति तो तांत्रिक की पहुंच के सर्वथा बाहर हैं। फलतः वह अपने शरीर के भीतर चल रही सर्ग-प्रक्रिया को उद्भावित करके अपने भीतर की कुंडलिनी को

जगाता है, और जब वह जागकर ऊपर की ओर चढ़ती और चढ़ते-चढ़ते मस्तिष्क-स्थित शिव से आ मिलती है तब तांत्रिक को एक अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है ; और तब उसके शरीर का निम्न भाग बर्फ़ की तरह शीतल पड़ जाता और उसका ऊपरी भाग आग की तरह प्रदीप्त होकर दमकने लगता है। संक्षेप में एक तांत्रिक शिव और शक्ति की आदिम सर्ग-रचना का नमूना अपने ही शरीर के भीतर खड़ा करता और उसके द्वारा सर्ग के आदि-बिंदु पर पहुंचकर स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि तन्त्रविद्या में भी शक्ति के देवता द्वारा शक्ति से विहीन हुए आदि-देवता को फिर से सबल बनाना होता है।

माता पृथिवी और सर्गीय देवों का विवाह

उमलिल्ला जाति के स्मोहल्ला नामक अमेरिकन इंडियन ने धरती पर हल चलाने से यह कहकर इनकार कर दिया था कि ऐसा करना दारुण हिंसा होगी। खेती के लिए हल चलाकर अपनी माता की छाती को छेदना महापाप है। खेती के लिये अधिक जोर देने पर वह बोल उठा था : "तुम्हारा मतलब है कि मैं अपनी माता की छाती में चाकू घुसा दूं। यदि मैंने ऐसा किया तो मरने के बाद वह मुझे अपनी छाती में स्थान नहीं देगी और तब मैं उसके पेट में प्रवेश न पा सकूंगा और इसका मतलब यह होगा कि मैं कभी भी नया जन्म न ले पाऊंगा। तुम मुझे घास खोदकर पैसा कमाने के लिये कहते हो—पर तुम्हीं बताओ कि मैं अपनी माता के बाल अपने ही हाथों कैसे काट डालूं ?"

ये शब्द एक अमेरिकन इंडियन ने आज से लगभग ९० वर्ष पहले कहे थे ; किंतु इनमें अतीत की अगणित सदियों के धार्मिक दृष्टिकोण का निचोड़ भरा हुआ है। इनसे ज्ञात होता है कि किस प्रकार एक ग्रामीण मानव धरती को अपनी माता कहकर उसकी पूजा करता है। क्योंकि उसका विश्वास है कि उसके आदि पुरखा धरती में से जन्मे थे और मरने के बाद वे फिर उसी के भीतर पहुंच गए हैं और स्वयं उसे भी मृत्यु के उपरान्त इस धरती ही के पेट में समा जाना है।

आदि-मानव पत्थरों को धरती की अस्थियां समझता था और वृक्षों को उसके बाल मानता था। उसकी दृष्टि में धरती जगत् के सभी पदार्थों की माता थी। उसकी देवकथा के अनुसार उसके पुरखा धरती के पेट में कहीं बहुत नीचे रहा करते थे। वहां उनका जीवन अर्ध पाशविक-सा था—और वे बहुत कम विकसित हो पाये थे। उन्हें धरती में से बाहर आने में बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ी थीं किंतु अपने अनथक परिश्रम से वे धरती के पेट से बाहर आ गये और तब धरती के ऊपर जन्म की प्रक्रिया प्रवर्तित हो गई।

आदि-मानव धरती की उदर-दरी से बाहर कैसे आया—इस विषय में आदि मानवों में भांति-भांति की कहानियां प्रचलित हैं। किंतु सार उन सब का इस बात में है कि आदमी धरती के पेट में से आया है और मृत्यु के उपरान्त उसे फिर उसीके भीतर चले जाना है। स्वयं हमारी रामायण में सीता माता रामचन्द्र के हाथों अपमानित होने पर माता धरती के पेट में अन्तर्हित हो जाती हैं ; और ऐसे अन्य उदाहरणों से हमारे आर्षकाव्य एवं पुराण

भरे पड़े हैं जहां आविष्ट व्यक्ति धरती को माता कहते और उससे तरह-तरह की दुआएं मांगते हैं। चीर-हरण के समय स्वयं द्रौपदी ने धरती-माता से रक्षा की भीख मांगी थी।

धरती को माता कहने की प्रवृत्ति इतनी अधिक सबल एवं व्यापक है कि बहुत सी भाषाओं में तो मनुष्य का नाम ही धरती के नाम पर पड़ गया है। बहुत सी जातियों में यह विश्वास आम है कि बच्चा धरती में से उसकी खोहों में से, या उसकी छिपी दरारों में से आता है। धरती के मातृत्व की भावना ही में देशप्रेम के बीज संनिहित हैं और इसी में संनिहित हैं उस भावना के भी बीज जिसके आकर्षण से मनुष्य सदा अपनी ही धरती पर मरना चाहता और मृत्यु के उपरान्त उसी में समा जाना चाहता है। तभी तो ऋग्वेद (X. 18. 10) कहता है कि "चला जा फिर उसी धरती में जो तेरी माता है।" अथर्ववेद (XVIII. 4. 48) इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त करता है : "तुम, जोकि धरती हो, मैं तुम्हें धरती ही में फिर से रखता हूं।" चीनियों के यहां भी कहावत है कि : "तेरा मांस और हड्डियां धरती में लौट जायं।"

एक समय था जब कि मानव धरती को सजीव समझता था। तभी तो ड्यूकालियन ने "अपनी माता की हड्डियों को अपने कन्धे पर से इस निमित्त फेंका था कि वह उनके द्वारा फिर से जगत् में जीवधारी पैदा कर दे। माता की ये हड्डियां धरती के पत्थर थे ; और उसका विश्वास था कि इन पत्थरों से जीवधारी पैदा होंगे। पत्थर फेंक कर ड्यूकालियन वास्तव में धरती पर मानवता के बीज बखेर रहा था।

अब यदि धरती सजीव है तो इससे पैदा हुआ भूतजात भी सजीव है और परस्पर भाई-भाई की तरह संबद्ध है। इस अवस्था में किसी भी पदार्थ का दुरुपयोग करना या उसे क्षति पहुंचाना भाई को क्लेश देना है। हमारी वैदिक कहावत—

'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' का इसी भावना में रहस्य छिपा हुआ है।

बेबिलोनियन शब्द 'पू' का अर्थ 'नदी का उद्भव' और 'योनि' है। मिश्री भाषा में 'बी' शब्द का अर्थ होता है 'योनि' और 'खान का मुंह'। सुमीरियन शब्द 'बुरू' का अर्थ भी 'योनि' और 'नदी' है। अब यदि नदी के स्रोत को जन्म देने वाला धरती का उत्स धरती की योनि है तो धरती की खोहें और उसकी दरारें उसका उदर होंगी—इन दरारों ही में प्राचीन काल के लोग शवाधान किया करते थे और इन दरी-गृहों ही में प्राचीन काल का मानव अपना जीवन बिताया करता था और इन्हीं के निलीन भागों में वह अपनी पूजा का सामान सजाया करता था। इन दरी-गृहों के भीतरी भागों में ही वह अपने देवी-देवताओं की तसवीरें खींचा करता था। बुरु आदि शब्दों से धरती के स्त्रीत्व पक्ष पर तीव्र प्रकाश पड़ता है।

पृथ्वी-स्त्री और आकाश-पुरुष के विवाह की बात प्राचीन काल से चलती आ रही है ; और वेदों में जगह-जगह इन दोनों के युग्म की रुचिर उत्थानिका की गई है। ओउरनस (आकाश) का उसकी पत्नी गेइया (पृथ्वी) से संसर्ग होता है और उससे उत्पन्न होते हैं देवता, साइक्लोप्स तथा विविध प्रकार के दैत्य-दानव। एशिलस अपने दानाइड्स में कहता है कि "पावन आकाश अपनी प्रियतमा धरती के शरीर में प्रविष्ट होने के

लिये वातूल हो रहा है।" जगती में जो भी कुछ है सबकी उत्पत्ति धरती और आकाश के संसर्ग से हुई है।

अत्यन्त व्यापक होने पर भी धरती-आकाश के विवाह की बात सर्व-व्यापक नहीं कही जा सकती। उदाहरण के लिये आस्ट्रेलियन और फ्युजीयन लोगों की देवकथाओं में जगत् की रचना एक द्यु-सम्बन्धी परमात्मा करता है और कभी-कभी तो इस रचयिता को शून्य में से सब कुछ बनाने वाला समझा और बताया जाता है। इन बातों से ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में धरती-आकाश के विवाह की बात नहीं उभर पाई थी और लोगों की धारणा यह थी कि जगती को परमात्मा ने अकेले ही अपने आप रचा है, उसने उसे स्वयं अपनी ही शक्ति से सिरजा है। कुछेक आदिमानवों का परमात्मा सर्वशक्तिमान् था। वह अविभक्त था, स्त्री और पुमान् दोनों का समवाय था, वह स्वयं ही आकाश था और स्वयं ही धरती था। ऐसी धारणा में देव-विवाह की आवश्यकता नहीं पड़ती और परमात्मा स्वयं अपनी ही अविभक्त शक्ति से अशेष सर्ग-प्रक्रिया को प्रवर्तित कर देता है। दूसरे शब्दों में भगवान् की अखंडता उसकी 'सर्वता' का बोधक है और सब प्रकार के विरोधों के एकत्र समन्वय का ख्यापक है। लिंगभेद से पहली स्टेज होने के कारण यह दशा देशकाल के अवच्छेद से भी परे की है। हमें जब किसी दैत्य या दानव की महिमा ख्यापित करनी होती है तब उसे भी हम अखंडरूप बताया करते हैं—जैसे कि स्वयं आदम को। बेरेशित रब्बा कहा करता था कि "वह दक्षिण भाग में पुमान् था और वाम भाग में स्त्री, और परमात्मा ने उसे दो भागों में विभक्त कर दिया था।" अत्तिस, एडोनीस, और डियोनिसस तो अविभक्त थे ही, साइबेल देवी भी अविभक्त थी। और यह बात है भी सही, क्योंकि जीवन तो तभी प्रवाहित होता है जब उसका प्रभव लबालब भर चुका हो और जब उसमें एक बूंद भी और अधिक आने की गुंजाइश न रह गई हो। निःसंदेह माता के रूप में धरती की पूजा अत्यन्त प्राचीन है और आकाश की भी पिता के रूप में पूजा उसी समय से चलती आ रही है। किंतु आदिम देव, जिससे कि यह सर्ग-रचना प्रवृत्त हुई है स्त्री और पुमान् इस लिंग-भेद से परे था; या यों कहिये कि ये दोनों ही लिंग उसमें एक होकर समवेत पड़े थे। इस समष्टि को हम "एक नपुंसक उत्पादक-सामर्थ्य" इस नाम से पुकार सकते हैं; और यही कारण है कि हमारा ब्रह्म नपुंसक लिंग में आता है, जबकि हमारे अन्य परमात्मबोधक शब्द पुल्लिंग में आया करते हैं? हमें जब भी कर्तृत्व की आदिम स्थिति का बोध कराना होता है तब हम अपने शब्दों को नपुंसक लिंग में रख लेते हैं।

इझनगी और इझनमी

ऊपर के तत्त्वों पर निम्नलिखित जापानी सर्गकथा के विश्लेषण से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस कथा का सम्बन्ध धरती-आकाश के विवाह से और माता-पृथ्वी के बलिदान से उत्पन्न हुए वनस्पति-पौधे आदि की रचना से है। जापानी देवकथा का सार इस प्रकार है :

आरंभ में आकाश और पृथिवी—इझनगी और इझनमी—पृथक्-पृथक् नहीं थे; उन दोनों का समवेत रूप अखण्ड प्रकृति जैसा प्रशान्त पड़ा था। यह एक अण्डे जैसा था, और

इसके बीच में एक जीवाणु था। जब आकाश और धरती इस प्रकार समवेत थे तब स्त्री और पुमान् का भेद भी नहीं था। फलतः वह अवस्था परिपूर्ण सामस्त्य की अवस्था थी। समय आया और आकाश पृथ्वी से पृथक् हो गया। उनका यह पृथक् होना ही सर्ग-रचना के बटन का दबना था। इसी रचना से आदिम एकता में क्षोभ उत्पन्न हुआ था।

सर्ग-रचना इस प्रकार हुई थी ; सबसे पहले एक छोटा-सा द्वीप था, जो अस्थिर था, आकारहीन था और समुद्र से परिवेष्टित था—इस द्वीप के मध्य में एक बेंत या नड खड़ा था। इस नड से ही देवता उत्पन्न हुए। यह नड ही पृथ्वी का सबसे प्राचीन रूप था। ज्यों ही आकाश और पृथिवी एक दूसरे से पृथक् हुए त्यों ही उन्होंने पुरुष और स्त्री का रूप धारण कर लिया।

तीन देवता इभनमी और इभनगी को सर्ग-रचना करने का आदेश देते हैं। वे स्वयं सर्ग-रचना में भाग नहीं लेते ; किंतु वे उसकी प्रक्रिया पर आंख लगाये रहते और देखते रहते हैं कि कहीं किसी से तनिक-सी भी भूल न हो जाय। उदाहरण के लिये—जब आकाश और पृथ्वी का विवाह होता है और विवाह-मन्त्र का उच्चारण पृथ्वी पहले करती है तब ये तीन देवता उसे रोकते और कहते हैं कि वैवाहिक मन्त्र पहले आकाश को—जो कि पुरुष है—बोलना चाहिये। उनसे उत्पन्न हुआ पहला बालक छुईमुई होने के कारण त्याग दिया जाता है—क्योंकि इसे उत्पन्न करते समय वैवाहिक मन्त्र पहले पृथ्वी ने पढ़ा था। किंतु जब इस मन्त्र को पहले आकाश पढ़ता है तब आकाश और धरती के संसर्ग से जापानी द्वीप की और देवताओं की उत्पत्ति होती है। अन्त में अग्निदेव का आविर्भाव होता है जो गर्भ में रहते हुए ही अपनी माता इभनमी को जला देता है और वह मर जाती है। अपनी यातना के अन्तिम दौरान में इभनमी अपने शरीर से अन्य देवताओं को उत्पन्न करती है—विशेषतः अप्य जगत् को और कृषि के देवताओं को।

मृत्यु के उपरान्त इभनमी धरती के भीतर चली जाती है। उसका पति इभनगी उसकी खोज में निकलता है। किंतु धरती के भीतर गहरा अंधेरा है और हाथ मारे हाथ नहीं मिलता ; फिर भी इभनगी अपनी पत्नी को खोज निकालता और उसे ऊपर लाने का प्रयत्न करता है। इभनमी उसे दरवाज़े पर ठहरने को कहती और प्रकाश दिखाने से रोकती है। किंतु पति का धीरज टूट जाता है और वह टार्च जलाकर अपनी पत्नी के शरीर को सड़न की अवस्था में देख लेता और उसे देखते ही भाग निकलता है। उसकी मृत पत्नी उसका पीछा करती है। किंतु इभनगी उसी मार्ग से बाहर निकल आता है जिससे कि वह धरती के भीतर गया था ; और बाहर निकलते समय पत्थर से उस रास्ते को बंद कर देता है। पत्थर बीच में आ जाने पर भी पति-पत्नी कुछ देर आपस में बात करते हैं। इभनगी विच्छेद का मन्त्र बोल कर स्वर्ग में चला जाता है और उसकी पत्नी इभनमी सदा के लिये धरती में समा जाती है। वहां रहते हुए वह मृतात्माओं की देवी बन जाती है। इसके साथ ही वह उर्वरता की, मृत्यु की, और जन्म की देवी भी बन जाती है।

जापानी कथा कई दृष्टियों से महत्त्व की है : (१) इसके अनुसार आदिम अवस्था में विषम तत्त्व सम होकर एक स्थान पर समवेत पड़े थे; वे एक थे और अखण्ड थे। (२) यह सामस्त्य

आकाश और पृथिवी के विवाह से पहले की अवस्था थी । किंतु इसमें विविधता के बीज संनिहित थे ।(३) सर्ग-रचना आकाश और धरती के पृथक् होने के साथ प्रारम्भ हुई; और आदिम बीज ने एक नड का रूप धारण किया जिसमें से देवता उत्पन्न हुए । (४) विवाह की कल्पना उनके पार्थक्य के बाद उत्पन्न हुई, जब कि दो भिन्नलिंगी देवता आपस में मिले ; उनके संसर्ग से देवता पैदा हुए और जगत् की रचना हुई (५) और अन्त में इभ्‌नमी माता अग्निदेव को जन्म देते समय स्वयं मर जाती है और उर्वरकता के देव उसके मरे शरीर से जन्म लेते हैं । इस कथा का अन्तिम तत्त्व हमारे लिये महत्त्व का है, क्योंकि इसके अनुसार वीरुधों की उत्पत्ति इभ्‌नमी के वास्तविक शरीर से होती है, न कि उसके इभ्‌नगी के साथ होने वाले संसर्ग से । यह सर्ग-रचना इभ्‌नमी के शारीरिक बलिदान से होती है और इस बलिदान में ही जीवन-प्रक्रिया का सार संनिहित है ।

इस कथा पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि सर्ग-रचना दो प्रकार से होती है : एक लैंगिक संसर्ग से और दूसरी शारीरिक बलिदान से ; विशेषत: उस बलिदान से जो कि अपनी इच्छा से दिया जाता है ।

हमारी वैदिक गाथा में सर्ग-रचना की दोनों ही विधाएं दिखाई गई हैं । सब से पहले आदि पुरुष, जो कि सहस्राक्ष एवं सहस्रपात् था, अपने आपको बलि चढ़ाता है और उससे जगत् की उत्पत्ति होती है । बाद में लैंगिक प्रक्रिया चल पड़ती है और सर्ग की प्रगति अबाध बन जाती है ।

उक्त वर्णन से सार निकलता है कि "रचना एक प्राणी को बलि चढ़ाए बिना नहीं हो सकती ; फिर चाहे यह प्राणी एक दैत्य हो, सर्गिक पुमान् हो, माता देवी हो और या एक युवती स्त्री हो ।" सर्ग-विषयक यह बात उसके हर स्तर पर लागू होती है : यह लागू होती है सर्ग-रचना पर, मानव-निर्माण पर, मानव-समाज की जाति-विशेष के निर्माण पर, वनस्पति-वर्ग के भेद-विशेष पर और प्राणिजात अथवा प्राणि-विशेषों के निर्माण पर । रचना का रहस्य उसी एक तत्त्व, अर्थात् जीवित के बलिदान में संनिहित है । इसीलिए सर्ग-रचना कहीं-यिमर, कहीं पान-कु और कहीं पुरुष की बलि से बताई गई है । बलि के लिये की गई हिंसा हिंसा न होकर उलटी उत्पादक बन जाती है । या यों कहिये कि वध के समय वध्य के अभ्यन्तर सर्ग-शक्ति इतनी अधिक प्रोद्‌भूत हो चुकती है कि वह उसके घात द्वारा उसमें से फटकर इधर-उधर सक्रिय हो उठती है और उससे रचना-संतति प्रवृत्त हो जाती है ।

बलिदान से सर्ग-रचना होने की भावना विश्वजनीन है ; विशेषत: समाज के उन वर्गों में, जिनका कृषि के साथ सीधा सम्बन्ध है । भारत के आदिवासी खोण्ड लोगों में मेरिया और अझटेक्स लोगों में युवती की बलि उदाहरण के लिये पर्याप्त हैं ।

मेरिया अपनी इच्छा से वध्य बनता है । उसे विवाह करने और संतान उत्पन्न करने की अनुमति होती है और वह जीवन की अशेष सुविधाएं भोग सकता है । किंतु उसे आरम्भ से ही उस देवता का स्वरूप मान लिया जाता है जिसको कि बलि चढ़ाई जानी होती है । लोग मेरिया की पूजा करते हैं, उसके चारों ओर नृत्य करते हैं और रंगरलियां मनाते हैं । बाद में वे भूदेवी से प्रार्थना करते हैं—"ओ देवी ! हम तुम्हें यह बलि चढ़ाते हैं ।" और तब

वे वध्य मेरिया से कहते है—"हमने तुम्हें खरीदा है, जबर्दस्ती नहीं पकड़ा। अब हम तुम्हें वलि चढ़ाते हैं; हमें पाप नहीं लगना चाहिये।" बलि के दिनों भरपूर नाच-रंग चलता है। समय आने पर वध्य को अफ़ीम देकर बेहोश कर दिया जाता है और तब उसे मार दिया जाता और उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं। ये टुकड़े हर गांव में बांट दिये जाते हैं, जोकि उन्हें अपने खेतों में गाड़ देते हैं। शेष भाग को जला दिया जाता और उसकी राख को जमीन पर बखेर दिया जाता है। साफ़ तौर से इस बलि में आदि-पुरुष की उस बलि के लक्षण मिलते हैं, जिससे कि इस सर्ग की रचना हुई थी।

अझटेक लोगों में खिलोनन नाम की युवती को बलि चढ़ाया जाता था, जोकि मक्का और ज्वार आदि की प्रतीक होती थी। लक्ष्य उसका भी वही था जोकि आदि-पुरुष की बलि का; भले ही उसका प्रकार एवं स्तर कितना ही ओछा एवं क्षुद्र क्यों न रहा हो।

स्मरण रहे कि धरती जहां सौख्यदायिनी अन्नपूर्णा माता है वहां साथ ही वह भयावह देवी भी है और अपने उस भयावह रूप में वह मृत्यु की देवी है। अपने मृत्युरूप में भी धरती-देवी भूत-जात की जननी है, क्योंकि भूत-मात्र का गर्भ उसी में है। एक बात और; भले ही हम लोगों की दृष्टि में मृत्यु एक भयावह देवता हो; किंतु आदि-मानव की दृष्टि में मृत्यु जन्म ही का दूसरा नाम था, क्योंकि उसकी दृष्टि में मृत्यु में से गुज़रे बिना नवीन जन्म पाना असंभव था। आदि-मानव की दृष्टि में तो मृत्यु जन्म का ही दूसरा पक्ष था। फलतः जहां धरती सब भूतों की जननी होने के कारण पूजा की पात्र थी वहां वह प्राणिमात्र की मृत्यु-देवता होने के कारण भी मानवमात्र की पूजनीय समझी जाती थी।

यहां तक हमने देवकथा के उद्भव और उनके मूल तत्त्वों एवं घटकों पर विचार किया है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार मानव स्वर्ग की स्मृति में तड़पता हुआ फिर उसी की ओर लौट जाना चाहता है और किस प्रकार वह स्वर्ग में बसनेवाले देवताओं की कथाओं को कहता, सुनता और उनके माध्यम से एक बार फिर स्वर्ग में पहुंच जाना चाहता है। और क्योंकि स्वर्ग द्यु-स्थानीय है, इसलिये मानव ने द्यु-संबन्धी देवताओं की कल्पना की, जिन्होंने कि इस जगत् को रचा था और जो इसे आज भी संभाल रहे हैं। किंतु द्यु-स्थानीय देवता मानव की पहुंच से बाहर थे, इसलिये उसने अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप शक्ति के देवताओं की कल्पना की, और कालक्रमात् इन देवताओं ने द्यु-स्थानीय देवताओं को पीछे धकेल दिया। दूसरी श्रेणी के इन देवताओं से ऐसे देवताओं का आविर्भाव हुआ जो कि मानव के बहुत पास थे और जिन्हें वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जब चाहता था, बुला लेता था। वैदिक देवशास्त्र के अन्त में आनेवाले देवता इसी कोटि के हैं। भूतमात्र की माता होने के कारण धरती को भी देवी माना जाता था और जहां वह एक ओर अन्नपूर्णा देवी थी वहां दूसरी ओर वह मृत्यु की भी देवी समझी जाती थी।

वैदिक देवशास्त्र में देवताओं के उत्थान का क्रम कुछ इसी प्रकार का रहा है: और यद्यपि उसमें अनेक द्यु-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय एवं पृथिवी-स्थानीय देवताओं का विवेचन हुआ है, फिर भी उसी प्राचीन युग में वैदिक ऋषि इन अनेक देवताओं के पीछे एक व्यापक देवता की कल्पना कर चुके थे, जो वास्तव में एक था, किंतु नाम जिसके अनेक थे। इस प्रकार

वैदिक ऋषि अनेकता से चलकर एकता के बिन्दु पर आ पहुंचा था और इस तत्वज्ञान के द्वारा उसने एकता को खण्डित करने वाली माया (मा अवखण्डने) का निराकरण कर लिया था। उसकी दृष्टि में शिव से पृथक् हुई शक्ति शिव से जा मिली थी और इस शिव और शक्ति के संमिलन के दर्शन में ही मानवीय जीवन की इतिश्री है।

पुरातत्त्व के प्रकाश में देवकथा

किंतु पुरातत्त्वानुसंधान की दृष्टि से देवकथा का आरम्भ द्यु-स्थानीय देवताओं से न होकर पृथ्वी-स्थानीय धरती-देवी के साथ हुआ है, जो कि भूतमात्र की जननी एवं धात्री है और जिसमें भूतमात्र को मृत्यु के उपरांत समा जाना है। पुरातत्त्व के अनुसार द्यु-स्थानीय देवताओं का विकास बाद में होता है और कुछ काल तक स्त्री और पुमान् दोनों कोटि के देवता चलते और बाद में एक पुमान् देवता ही सबका मूर्धन्य बन जाता है, यहां तक कि वह अन्य सभी देवताओं को आत्मसात् कर लेता है; जैसा कि यहूदी यह्वे ह, अहुर-मज्दा और मिथ्रास की कथाओं से व्यक्त होता है।

इस प्रसंग में निकट-पूर्व एवं उसके आसपास के क्षेत्रों में विकसित हुए देवी-देवताओं के विकास पर एक विहंगम दृष्टि दौड़ा लेनी आवश्यक प्रतीत होती है।

इस बात पर आज के विद्वान् सहमत हैं कि उन सभी सभ्यताओं का जन्म मेसोपोटामिया, एशिया माइनर, सीरिया, ईरानी प्लेटो और मिश्र में हुआ था, जिनसे कि आगे चलकर, ईसा से ५००० बरस पहले उत्तर-पाषाण युग एवं ताम्रपाषाण युग में, जब कि मानव शनैः-शनैः पाषाण को छोड़कर धातुओं के प्रयोग पर आ रहा था, ऐतिहासिक एवं अर्ध-ऐतिहासिक सभ्यताएं निकली थीं। जेरिखो एवं उत्तरी ईराक के कलात जरमो नामक स्थानों के निरीक्षण से तो ज्ञात होता है कि पलस्तीन और मेसोपोटामिया में ईसा से ६००० बरस पहले एक प्राङ्मृत्पात्र उत्तर-पाषाणयुगीय सभ्यता उभर चुकी थी, जिसमें शव-संस्कार एवं उर्वरता से संबद्ध कर्मकाण्ड का पर्याप्त रूप से विकास हो चुका था।

हाल के कुछ बरसों में मेसोपोटामिया, मिश्र एवं पश्चिमी एशियाई सभ्यता के विषय में हमारे ज्ञान की पर्याप्त वृद्धि हुई है और इस बात का निश्चय हो गया है कि धर्म का विकास कृषि के माध्यम से और उसी के चहुं ओर हुआ है; विशेषतः मानवीय विकास के उस स्तर पर जब कि वह शिकार से हटकर खेती पर आ रहा था और उसके साथ-साथ पशुपालन का धंधा भी किया करता था। और उस परिस्थिति में जब कि जीविका का आधार शिकार था, मछली पकड़ना था और फल एवं कन्दमूल थे। यह बात स्वाभाविक थी कि मानव का ध्यान जीवन में दीख पड़ने वाली मातृता, जनन, एवं वर्धन की ओर आकृष्ट होवे और इन सबसे बढ़कर मृत्यु की ओर जिसे वह प्रतिदिन आती देखता था किंतु जिसके आने पर वह हैरत में पड़ जाया करता था।

प्रतिदिन सामने घटने वाली इन प्राकृतिक एवं मानवीय घटनाओं के चहुं ओर जादू-टोना-रञ्जित कर्म-काण्ड का उभर आना स्वाभाविक था, जिसके द्वारा मानव इन घटनाओं पर अपना नियन्त्रण रखना चाहता था।

संक्षेप में निकट-पूर्वीय प्राचीन सभ्यता की प्राक्-पाषाणयुगीय पृष्ठभूमि को देखकर

कहा जा सकता है कि उस काल के मानव का कर्म-काण्ड उर्वरता एवं जन्म-मरण के आधार पर खड़ा हुआ था।

मानव की जीवन-संबन्धी यह उत्कट भावना जीवन-प्रसविनी माता की प्रतिमा के रूप में अथवा उसके विविध अंगों, गुणों एवं कृत्यों की पूजा के रूप में प्रकट हुई। ईसा से लगभग ७००० बरस पहले विकसित हुई कृषि एवं पशुपालन के स्तर पर जनन आदि की देवी ने ईश्वरवाद का जामा पहरना आरम्भ कर दिया था। बाद में जब, संभवतः स्टाक-जनन के कारण, जनन-क्रिया में पुमान् को अधिकाधिक महत्त्व मिलने लगा तब मातृ-देवी को पत्नी के रूप में पुमान् की सहायिका समझा जाने लगा और कालक्रमात् आकाश-पिता को धरती-माता का पति समझा जाने लगा।

मिश्र में फेरोआह के (आकाश) पिता के रूप में पुमान् सूर्यदेव ने अपना महत्त्व अक्षुण्ण बनाए रखा और कभी भी उसे देवी के हाथों निर्बल न होने दिया—क्योंकि मिश्र में जीवन का स्रोत सूर्य को माना जाता था न कि किसी देवी को। फलतः सूर्यदेव और फेरोआह अपना-अपना काम अपने निजी बल से करते थे न कि मेसोपोटामिया की तरह किसी देवी के माध्यम से। यहां तक कि हथोर भी, जो कि गो-देवी है, होरस ज्येष्ठ की माता और उसकी पत्नी के रूप में उभरती है। जन्म की प्रमुख देवी होने के नाते पहले-पहल हथोर होरस ज्येष्ठ की माता थी; पत्नी वह उसकी तब बनी थी जबकि उसे ओसिरिस का तदात्म माना जाने लगा था।

मिस्र में जीवन के पुनर्भाव को मातृ-देवियों का काम समझा जाता था, किंतु मेसोपोटामिया की तरह वहां उन्हें जीवन का प्रभव नहीं माना जाता था। इसी प्रकार सर्ग-रचना भी मिस्र में पुरुष-देवों से, अर्थात् रे-अनुम, प्ताह, अथवा रनुम से मानी जाती है; नुत और हथोर देवियों के हिस्से में तो जीवन को पुनः-बनाना-मात्र रहा है। इसके विपरीत पश्चिमी एशिया में, मेसोपोटामिया, एजियन और ग्रीस में जीवित-मात्र का प्रभव पृथिवी-माता को माना जाता था—और पतझड़ का कारण इस बात को बताया जाता था कि धरती-माता ने अपना पुत्र मर जाने के कारण दुनिया की ओर से अपना हाथ खींच लिया है। सीरिया और क्रीट में भी मातृ-देवी का महत्त्व अक्षुण्ण बना रहा। समस्त एजियन एवं पूर्वी भूमध्य-सागर में भी देवी-संप्रदाय बराबर चलता रहा।

मध्यभूमि पर झीयस ने योरपा को क्रीट ले जाने के उद्देश्य से वृष का रूप धारण किया, जहां पहुंचकर योरपा मिनोस की माता बनी। उसकी पत्नी पसिफए ने वृष के साथ संसर्ग के लिये अपने आपको गोचर्म में ढक लिया और वृष के संसर्ग से मिनोटोर को जन्म दिया। चन्द्र की देवी सेलन को, जोकि सूर्य की पुत्री है और जिसके साथ पसिफए का संबन्ध है, शृंग वाली गो-देवी के रूप में प्रदर्शित किया गया है, और कथा में आने वाला वृष आकाश-देव है जो कि उर्वरता का देवता है। संक्षेप में ग्रीस में मैथुन-प्रदर्शन के द्वारा जीवनदायी शक्तियों को सक्रिय बनाने की परिपाटी थी और इसी मैथुन के प्रतीक हैं—गौ और वृष, धरती और आकाश, चन्द्रमा और सूर्य। प्रतीकोत्थान की इस प्रक्रिया के माध्यम से उर्वरण एवं परि-वर्धन से संबद्ध कर्मकाण्ड का उत्थान एशिया माइनर, सीरिया, बेबिलोनिया, मिस्र, पूर्वी

भूमध्यसागर, क्रीट और एजियन प्रदेश में विकसित हुआ। क्रीट-माइसिनी प्रदेश में पुं-देव बहुत कम दीख पड़ते हैं, जबकि स्त्री-देवियां प्रचुर संख्या में पाई जाती हैं। सच पूछिये तो विश्व-जनीन मातृ-देवी यहां अनेक रूपों में मिलती है, किंतु युवा पुं-देव उसका भाई, पति, अथवा पुत्र बनकर सामने आता है।

निःसंदेह उत्पादक शक्ति का केन्द्र पुं-देव को मानने के साथ-साथ देवी के महत्त्व में कमी आती गई, किंतु पश्चिम एशियाई पूजा-परिपाटी फिर भी निकट-पूर्ववर्ती दोला-खण्ड से एनातोलिया और एजियन में और वहां से आइबीरियन पेनिनसुला और उत्तर-पश्चिम की ओर योरप में फैलती ही गई, जहां कि इसका सम्बन्ध महापाषाण संस्कृति के साथ हुआ। टाइग्रीस से सिन्ध तक के अपने प्रसार में पश्चिमी ईरान की उपत्यका एवं घाटियों के साथ-साथ के टिब्बों पर से एलबुर्भ, मकरान और बलूचिस्तान के उच्च क्षेत्रों पर होती हुई सिन्ध और पंजाब के प्रदेशों में धरती-माता के रूप में स्त्री-देवी अपने महत्त्व को अक्षुण्ण बनाए रहीं; और प्राग्-आर्यन परिवर्धन-पूजा ग्राम-देवियों की पूजा के रूप में समस्त भारत में फैली और बनी रही; और वह भी बहुत कुछ उसी तरह जैसे कि वह पश्चिमी एशिया में उभरी और प्रचलित हुई थी, जिसमें कि पुं-देव प्रायः द्यौष्पितर् के रूप में धरती-माता के साथ सक्रिय हुआ करता था।

और ज्यों-ज्यों मातृ-देवी की यह पूजा प्राचीन कृषि-सभ्यता में दक्षिण-पश्चिमी एशिया से मिस्र, पश्चिमी योरप और भारत की ओर फैलती गई त्यों-त्यों मातृ-देवी एक समन्वयात्मक देवी का रूप धारण करती गई और मातृत्व, जनन एवं उर्वरण की सभी देवियों का स्थान लेती गई। आइसिस देवी इस बात का उदाहरण है, जिसने कि साइट और ग्रीक युग में देवताओं की माता बन जाने के साथ-साथ तत्तद्देशों की अशेष देवियों को आत्मसात् कर लिया था और कालक्रमात् वह देवी-मात्र की प्रतिनिधि बन गई थी; और उसके नाम पर ग्रीक और रोमन जगत् में, माल्टा, सार्दीनिया, फ़ोनीशिया और दक्षिणी इटली में, यहां तक कि स्वयं रोम में भव्य मन्दिर उभर आए थे।

समन्वय वृत्ति की आदर्श यह देवी कालक्रमात् एक साथ अत्यन्त आकर्षक एवं अत्य-धिक पराक्षेपक रूप में जगत् के संमुख उभरी। फलतः जहां एक ओर भिन्न-भिन्न देशों की जनता माता के रूप में उसकी पूजा करती थी वहां वे सभी लोग उसके भयावह रूप को देख-कर उससे भय भी खाया करते थे। हमारे देश में काली माता इस बात का सुन्दर निदर्शन है।

और यदि एक ओर जनन, संवर्धन एवं मरण की आधार-भूमि पर खड़ी हुई मातृ-देवी संसार की सभी देवियों को आत्मसात् करती हुई एक अतुल देवी के रूप में प्रभ्राजित हुई तो दूसरी ओर जगत् की रचना पर ध्यान जाते ही आदमी ने इस जगत् के आदि-स्रष्टा परमात्म-देव की उद्भावना कर डाली; और अब विकसित हुए जगती के अधिष्ठाता वरुण जैसे पुमान् देव, जिन्हों ने अपनी शक्ति से इस जगत् को रचा था और जो इसके अनिशित अधिष्ठाता थे। पुं-देव की महत्ता में धीरे-धीरे चार चांद लगे; फलतः अब मातृ-देवियों के सभी लक्षण और उनकी सारी ही विशेषताएं इस कोटि के पुं-देवों में समाती चली गई; यहां तक कि आकाश के अधिपति होरस को सृजन, जनन, पुनरुद्भावन आदि सभी बातों का देवता माना

जाने लगा और पीरामिड-लेखों में उसी को जीवन, वर्षण, प्रजनन और पुनर्जन्म का और फेरोग्राह की पवित्रता का उद्भव बताया गया। किंतु मूलतः वह आकाश का देवता था। और यद्यपि आदि मानव-समाज का ध्यान पहले-पहल अपनी भोज्य-सामग्री एवं उसके उपकरणों पर गया और उनके प्रसंग में उसने अनेक देवियों की उद्भावना कर डाली, तथापि भोज्य की ओर से निश्चिन्त हो जाने पर ज्योंही उसका ध्यान जगत् के सृजन की ओर गया त्योंही उसने उसके स्रष्टा एक परमात्म-देव की कल्पना कर डाली।

सभी जानते हैं कि हेलियोपोलस में प्रथम राजवंश से पूर्व रे की सूर्य-देव के रूप में पूजा चल पड़ी थी, किंतु जब उसका अतुम के साथ समन्वय हो गया तब उसे प्रकृति की अशेष शक्तियों, विभूतियों एवं उत्पादक शक्तियों का स्रोत माना जाने लगा, यहां तक कि काल-क्रमात् वह सभी देवताओं का मूर्धन्य बन गया।

मिस्र की अपेक्षा मेसोपोटामिया का इतिहास कहीं अधिक छितरा हुआ है—क्योंकि यहां एक के बाद दूसरी जातियां आती रहीं और अपनी-अपनी संस्कृतियों को लाती रहीं। ईसा से ३००० बरस पहले सुमेरियन लोग इस देश में आये और अनु के अधीन एक देव-वर्ग को साथ लेते आये। अनु का अर्थ 'आकाश' है; और नाम इसके वही हैं जो ग्रीस में झीयस के और रोम में जूपिटर के थे। नम्मू, जो कि आदि-समुद्र का नाम है, उसने जगत् को रचकर धरती और आकाश को सिरजा, जिनका अनु ने तुच्छ में से उद्धार किया और इसके द्वारा जगत् में समञ्जन पैदा किया—क्योंकि आकाश में उसकी सत्ता परम थी, वह देवी-देवताओं का पिता था और अशेष जगती के राजा-रानियों का आदर्श था। उसका स्थान बाद में माडूक ने ले लिया और तब सारे देवताओं ने अपनी शक्तियां उसे सौंप दीं। एनलील, जो कि झंझा का देवता था, तूफ़ान पैदा करके मानव-समाज से परमेश्वरीय नियमों का पालन कराता था।

एआ अथवा एनकी, जो कि धरती और पाताल का स्वामी था, मानव का उपकारी देवता था। सलिल और समझदारी का देवता होने के नाते वह प्रतिभा, विद्वत्ता, दूरदर्शिता आदि का अधिष्ठाता था और उसी ने उतनपिश्तम को भावी महा-जल-प्लावन की सूचना दी थी और एक नौका बनाकर उसमें बैठ अपने आपको बचा लेने की सलाह दी थी। एआ ने अपनी बुद्धिमत्ता माडूक को दे दी और माडूक ही आगे चलकर देवताओं का मूर्धन्य बना।

इजराइल में यह्वेह सत्ता एवं शक्ति का परम अधिदेव बनकर उभरा, जो कि बादलों पर उड़ता, वर्षा बरसाता, बिजली में चमकता, तन्यतु में गरजता, और इतर देवताओं और दैत्यों से युद्ध करता है। धरती को उसी ने रचा है और विश्व में ऋत का प्रसार भी उसी ने किया है। युद्ध में उसने मृत्यु पर भी विजय पाई है। इज़राइल के लोग अन्य देवताओं की भी पूजा करते थे, किंतु जातीय मुसीबत आ पड़ने पर वे सदा यह्वेह ही की शरण लेते थे, जैसा कि ईसा से ६०० बरस पूर्व देश-निकाले के समय उन्होंने किया था। पलस्तीन ने यह्वेह के रूप में एक-देववाद की प्रतिष्ठा की और बाद के युगों में मानव को एक देवता की पूजा करना सिखाया, भले ही वह देव यह्वेह हो, अहुर-मज्दा हो, अथवा सूर्य हो। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि यहूदी, ग्रीक और रोमन देवताओं में एकता आ गई और इन देशों के देवता या तो एक बन गये और या उनमें मौलिक समञ्जन पैदा हो गया।

यह हुई निकट-पूर्वीय देवी-देवताओं के उद्भव और विकास पर एक ऐतिहासिक विहंगम दृष्टि, जिसके अनुसार मानव ने पहले-पहल देवियों की कल्पना की और बाद में देवताओं की, जो अन्ततोगत्वा सत्ता एवं शक्ति के परम अधिष्ठाता संपन्न हुए। किंतु संभव है देवताओं की कल्पना में क्षेत्र-विशेष के आदमी पहले देवियों की कल्पना करते रहे हों और इतर क्षेत्रों के आदमी पहले पुं-देवता की कल्पना करते रहे हों। कुछ भी हो वेद में प्रधानता पुं-देवताओं को दी गई है और उनमें भी द्यु-स्थानीय देवताओं को। परिणाम इसका यह निकल सकता है कि वैदिक देवशास्त्र का अभ्युदय ऐसे काल में हुआ था जब कि आर्य लोग देवी-पूजा से हटकर पुं-देवताओं की पूजा पर आ चुके थे—और निश्चय ही यह काल मेसोपोटामिया, बेबिलोनिया आदि देशों के देवशास्त्रीय विकास को देखते हुए ईसा से २००० बरस पहले के आसपास का ठहरता है।

वैदिक देवताओं के चारित्रिक स्तर की उच्चता से भी इस बात की पुष्टि होती है। क्योंकि जहां एक ओर निकट-पूर्वीय देशों के देवी-देवताओं का चरित्र आज के मानदण्ड से देखने पर कुछ ढीला-ढाला सा प्रतीत होता है वहां वैदिक देवताओं का चरित्र आज के मानदण्ड की दृष्टि से भी अत्यन्त उच्च कोटि का ठहरता है।

हमारी समझ में वैदिक देव-विकास का काल ऐसे युग में रखा जाना चाहिये जब कि देवियों की पूजा ह्रास पर थी और पुं-देवताओं की पूजा उत्कर्ष पर।

सूर्यकान्त

विषय-सूची

IV गाथेय पुरोहित और वीर

V पशु और अचेतन पदार्थ

VI असुर और राक्षस

VII मृत्यु-विषयक सिद्धान्त

लघुरूप-सूची

अजफि=अमेरिकन जर्नल आफ फिलोलोजी
अफो=आरिश्शे फ़ोर्शुङ्गन
अवे=अथर्ववेद
आइले=त्सिमर-रचित आल्तिन्दिश्शे लेबन
आगृसू=आश्वलायन-गृह्यसूत्र
आप=आपस्तम्ब
आश्रौसू=आश्वलायन-श्रौतसूत्र
इफो=इण्डोजर्मानिश्शे फ़ोर्शुङ्गन
इस्तू=इंदिश्शे स्तूदियन
इस्त्रा=इंदिश्शे स्त्राइफ़न
उप=उपनिषद्
ऋवे=ऋग्वेद
ऐब्रा=ऐतरेय ब्राह्मण
ऐंरि=मैक्समूलर-रचित ऐंथ्रोपोलोजिकल रिलिजन
ऐंसंलि=मैक्समूलर-रचित हिस्ट्री ऑफ़ ऐंशियण्ट संस्कृत लिटरेचर
ओओ=बेनफ़े-रचित ओरियण्ट उन्द ओक्सिडेंट
ओग्रोरि=मैक्समूलर, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ़ रिलिजन
ओरिवे=ओल्डनबर्ग, दी रिलिजन देस वेद
ओलिस्ट=ह्विटनी, ओरियण्टल एण्ड लिंग्विस्टिक स्टडीज़
ओसंटे=म्यूर, ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स
काश्रौसू=कात्यायन-श्रौतसूत्र
कुत्सा=कुह्न का त्साइतश्रिफ़्त
कुहेफा=कुह्न, हेराबकुम्फ़्त् देस फ़ियूर्स उन्द देस गोत्तरत्राङ्क्स
केऋवे=केगी, ऋग्वेद
कौसू=कौशिक-सूत्र
गृसू=गृह्यसूत्र
गेगेरा=गेल्डनर, केगी, राथ, जीवनत्सिग लीदर देस ऋग्वेद
गोगेआ=गोतिङ्गर गेलेहेर्ते आन्त्साइगन
ग्राऋवे=ग्रासमान, ऋग्वेद-अनुवाद
ग्रावो=ग्रासमान, वोर्तेरबूख
ग्रीगोहे=श्राडर, ग्रीशिश्शे गोत्तर उन्द हेरोन
जअओसो=जर्नल ऑफ़ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
जराएसो=जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी
जूए=जूर्नाल एशियातिक
ताब्रा=ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तैआ=तैत्तिरीय आरण्यक
तैसं=तैत्तिरीयसंहिता
तैब्रा=तैत्तिरीयब्राह्मण
त्सादामौगे=त्साइतश्रिफ्त फ्यूर दायत्शेज़ आल्तरतुम
त्सादामौगे=त्साइतश्रिफ्त देर दायत्शेज़ मौर्गनलान्दिशन गेज़लशाफ्त
त्साफो=त्साइतश्रिफ्त फ्यूर फोकेर प्सिशोलोगी
दाफिवे=दायसन-रचित फ़िलासफ़ी देस वेद
धसू=धर्मसूत्र
नेरि=मैक्समूलर, नेचुरल रिलिजन

पब्रा=पञ्चविंशब्राह्मण
पागृसू=पारस्कर-गृह्यसूत्र
पिवैस्तू=पिशल, वैदिश्शे स्तूदियन
पीवो=पीटर्सबर्ग वोर्तेरबूख
प्रोअग्रोसो=प्रोसीडिङ्ग्स ऑफ़ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
प्रोराएसोबे=प्रोसीडिंग्स ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल
फेरा=फ़ेस्तग्रुस आन रॉथ
फेवे=फ़ेस्तग्रुस आन वेबर, गुरुपूजा-कौमुदी
फेबो=फ़ेस्तग्रुस आन बोह्तलिङ्क
फिरि=मैक्समूलर, फ़िज़िकल रिलिजन
बेग्रोरि=बेबिलोनियन एण्ड ओरियण्टल रिकोर्ड
बेबाइ=बेत्सनबेर्गर बाइत्रागे
बेरिवै=बेर्गेन्य, ला रिलिजियों वैदिक
ब्रा=ब्राह्मण
ब्राद्यौअ=ब्राडके, द्यौस् असुर
मागृसू=मानव-गृह्यसूत्र
मैमू=मैक्समूलर
मैसं=मैत्रायणीसंहिता
यवे=यजुर्वेद
यानि=यास्क, निरुक्त
लुऋफो=लुडविग, उबर दी नोयेस्तेन आर्बाइतन आउफ़ देम गेबीते देर ऋग्वेद-फ़ोर्शुङ्ग (१८९३)
लुऋवे=लुडविग, ऋग्वेद-अनुवाद
लेसालै=मैक्समूलर, लेक्चर्स ऑन दि साइंस ऑफ़ लैंगवेज़
वाको=वालिस, कोस्मोलोजी ऑफ़ दि ऋग्वेद
वाल=वालखिल्य
वासं=वाजसनेयिसंहिता
वीत्साकुमौ=वियानेर त्साइतश्रिफ्त फ्यूर दी कुन्दे देस मोर्गनलान्देस (वियाना ओरियण्टल जर्नल)
वेवैबाइ=वेबर, वैदिश्शे बाइत्रागे (ज़ित्सुंग्स बेरिश्ते देर बर्लिनेर अकादमी
शब्रा=शतपथ-ब्राह्मण
शांश्रौसू=शांखायन-श्रौतसूत्र
शेफिहि=शेरमान, फ़िलोसोफ़िश्शे हिम्नन
शेविलि=शेरमान, विज़ियोन लितरात्यूर
श्गीअपी=श्गीगल, दी अरिश्शे पीर्योद
सारि=मैक्समूलर, साइकोलोजिकल रिलिजन
सावे=सामवेद
सेबुई=सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट
हावैब्रापी=हार्डी, वैदिश्शे ब्राह्मणिश्शे पीर्योद
हिगृसू=हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र
हिवैमि=हिलेब्रान्द्त, वैदिश्शे मिथालोगी
होरिइ=होपकिन्स, रिलिजन ऑफ़ इंडिया

वैदिक देवशास्त्र

भूमिका

धर्म और देवशास्त्र—

धर्म के अन्दर, उसके अत्यन्त व्यापक अर्थ में एक ओर तो मानव द्वारा समादृत दिव्य अथवा अतिभौतिक शक्तियों के विषय में उसकी भावनाएं आती हैं, और दूसरी ओर मानव-कल्याण के उन शक्तियों पर निर्भर होने की उसकी भावना, जिसकी अभिव्यक्ति पूजा के विविध रूपों में होती है। देवशास्त्र का संबन्ध धर्म के प्रथम पक्ष के साथ है; क्योंकि यह शास्त्र उन सभी गाथाओं अथवा कहानियों को प्रस्तुत करता है जो देवताओं एवं वीरों के विषय में कही गई हैं और जिनमें उनके स्वरूप एवं उद्भव, उनके कृत्य एवं परिस्थितियों का विवरण उघड़ता है। इस प्रकार की गाथाओं का उद्भव विज्ञानशून्य आदि-काल में उत्पन्न हुए मानव के उन प्रयासों में निहित है जो उसने अपने संमुख प्रवर्तमान प्राकृतिक शक्तियों एवं दृश्यों की व्याख्या के रूप में किये थे। सच पूछो तो इन गाथाओं को आदि-काल के मानव का मन-गढन्त विज्ञान कह दें तो अनुचित न होगा; क्योंकि वे उक्तियाँ, जो एक सुविकसित मानव के लिए रूपक के अतिरिक्त और कुछ नहीं होतीं, आदिकालीन मानव के लिए दृश्यमान घटनाओं की यथार्थ व्याख्या बन जाती हैं। और वे बौद्धिक समस्याएं जोकि गगन-पिण्डों के पथ, बादलों की गर्जन, और सुदूर स्थित जगत् के उद्भव एवं उसकी रचना के विषय में की गई ऊहापोह से पैदा होती हैं, इन कहानियों के रूप में अपना हल पाती हैं। इन गाथाओं का मूल मानव-मन के उस आद्यकालिक अभिवेग में है, जिससे वह अशेष प्रकृति को चेतन इकाइयों का एक निकाय समझता आया है। सच पूछो तो एक गाथा का जन्म होता ही तब है जबकि मानव अपनी कल्पना से एक प्राकृतिक घटना को मानव जैसे शरीरी देव का कार्य बताकर उसकी व्याख्या करता है। उदाहरण के लिए लीजिए इस बात को—हम देखते हैं कि चन्द्रमा सूर्य के पीछे भागता है; किंतु वह उसे पकड़ नहीं पाता। यही बात एक गाथा के रूप में बदल जाती है, जबकि चन्द्रमा को हम एक कुमारी और सूर्य को एक मानव समझें और कहें कि एक कुमारी एक मानव का

पीछा करती है और वह मानव उसका तिरस्कार करता है। ज्योंही इस प्रकार की गाथा कल्पना-भरित मानव-वर्ग की संपदा बनती है, त्योंही वह काव्य-अलंकार के स्तर पर आ लगती है; और जैसे-जैसे यह गाथा एक मुंह से दूसरे मुंह पहुंचती है, तैसे-तैसे आख्यायक की सूझ से उपजी छटाएं उसमें मिलती जाती हैं। नई-नई छटाओं में मिलकर गाथा के आधारभूत प्राकृतिक दृश्य धूमिल पड़ते जाते हैं और उनका स्थान मानवीय कल्पना का विस्तृत एवं मनोरंजक निरूपण लेता जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान में जब एक गाथा का प्राकृतिक आधार स्मृति से उतर जाता है, तब उसके मौलिक तात्पर्य से सुतरां असंबद्ध नई बातें उस गाथा में जोड़ दी जाती हैं और कभी-कभी तो ऐसी नवीन बातें दूसरी गाथाओं से लेकर इस पर लाद दी जाती हैं जिनका असल में प्रस्तुत गाथा के साथ कोई भी संबन्ध नहीं रहा था। और जब एक गाथा अपने इस प्रकार से बढ़े-चढ़े रूप में हमारे संमुख आती है तब हो सकता है कि उसमें आनुषङ्गिक प्रक्षेप इतनी अधिक मात्रा में डाल दिये गये हों कि उस गाथा का उचित विश्लेषण करना हमारे लिए न केवल अत्यन्त कठिन अपितु असंभव ही बन जाय। उदाहरण के लिए—यदि हमें यूरिपिडीज़ के नाटकों में आये नृरूपधारी देवताओं ही का ज्ञान हो तो हमारे लिए ग्रीक देवताओं के स्वरूप और उनके कार्यकलाप के मूल आधार—प्राकृतिक तत्त्वों को खोज निकालना कठिन होगा।

वैदिक देवशास्त्र की विशेषताएं—

धार्मिक इतिहास के अध्ययन में वैदिक देवशास्त्र का अपना निराला ही महत्त्व है। इसके प्राचीनतम स्रोत (ऋग्वेद) में हमें प्रकृति के मानवीकरण और उसकी उपासना पर आधृत धार्मिक विश्वासों का, विश्व के अशेष साहित्यिक स्मारकों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन स्तर प्राप्त होता है। और इसी प्राचीनतम भून से हमें वर्तमान भारतीयों की विशाल बहुसंख्या के धार्मिक विश्वास-बीजों का अनवच्छिन्न रूप से प्रस्फुटन होता दीख पड़ता है। स्मरण रहे कि भायोरपीय जाति की भारतीय शाखा ही ऐसी शाखा है, जिसकी परंपरागत मौलिक पूजा-प्रक्रिया को कुछ सदियों पहले तक विदेशी एकेश्वरवाद न दबा सका था। ध्यान रहे कि भरसक प्रयत्न करके भी वैदिक देवशास्त्र का प्राचीनतम स्तर उतना अधिक आदिकालीन नहीं बन पाता है, जितना कि किसी समय इसे समझा जाता था; किंतु इस बात में संदेह नहीं कि यह इतना आदिकालीन अवश्य है कि इसमें हमें मानवीकरण की वह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से काम करती दीख पड़ती है जिसके द्वारा प्राकृतिक दृश्य देवताओं के रूप में परिणत हुए थे। यह प्रक्रिया अपने इस रूप में हमें विश्व के अन्य किसी भी साहित्य में नहीं मिलती। वैदिक देवशास्त्र, और उसी के साथ वैदिक भाषा, इतनी स्वच्छ और पारदर्शक है कि उसमें हमें बहुधा एक देवता का उसके भौतिक आधारवाले नाम के साथ संबन्ध स्पष्ट दीख जाता है। इतना ही नहीं, अनेक स्थलों पर तो इस मानवीय-रूप-रचना का आरम्भिक रूप तक हमारे सामने

आ जाता है। उदाहरण के लिए लीजिए उषा को—यह एक ऐसी देवता है जिसका मानवीकरण-रूप-परिधान अभी तक ढीला-झीना है। और जब अग्नि शब्द से देवता का बोध होता है, तब अग्नि देवता का व्यक्तित्व चहुं ओर के प्राकृतिक तत्त्वों से सुतरां घुला-मिला रहता है।

वैदिक देवशास्त्र का मूल प्राचीनकाल से वैदिक युग तक अविच्छिन्न चलते आये उस विश्वास में है, जो मानव के समक्षवर्ती पदार्थों एवं प्राकृतिक दृश्यों को चेतन एवं दैवी मानता रहा है। ऐसी कोई भी वस्तु जो मन में भय पैदा कर सकती थी, अथवा जिसके विषय में यह भावना बन जाती थी कि उसका मानव पर भला या बुरा प्रभाव पड़ सकता है न केवल मानव के लिए आराधना का विषय बन जाती थी अपितु वह उसकी प्रार्थना के योग्य भी हो जाया करती थी। फलतः आकाश, पृथिवी, पर्वत, नदी और पौधों तक की उपासना दिव्य शक्तियों के रूप में चल पड़ी थी और घोड़ा, गौ, शकुन-पक्षी एवं अन्य पशुओं का आह्वान किया जाने लगा था। यहां तक कि मानव के अपने हाथों बनाये पदार्थ, शस्त्र, युद्ध-रथ, ढोल, हल, एवं कर्मकाण्ड के उपकरण—सवन-पाषाण, एवं यज्ञस्तम्भ आदि सभी की उपासना सामान्य बन गई थी।

किंतु उपासना के इस निम्न रूप का वैदिक धर्म में नाममात्र के लिए ही स्थान है। वेद के अपने देव तो यशःसंपन्न मानवी प्राणी हैं जो मानवीय उद्देश्यों एवं भावनाओं से प्राणित हैं और जो मानव की भांति उत्पन्न तो होते हैं पर मरते कभी नहीं। वे, बिना किसी भी अपवाद के, प्रकृति की एजेंसियों अथवा प्राकृतिक दृश्यों के दिव्यीकृत प्रतिरूप हैं। किंतु मानवीकरण की कोटियां उनकी अपनी अलग-अलग हैं। जब देवता का नाम वही रहता है, जोकि उसके प्राकृतिक आधार का है, तब व्यक्तीभाव अपनी प्राथमिक अवस्था में रहता है। द्यौ, पृथिवी, सूर्य और उषस् इसी कोटि के देवता हैं—क्योंकि इन देवताओं के नामों से एकसाथ प्राकृतिक दृश्यों एवं उन दृश्यों में विराजमान देवताओं का बोध होता है। ठीक यही अवस्था कर्मकाण्ड के दो बड़े देवता—अग्नि और सोम की भी है। यहां भी मानवीकरण की प्रक्रिया अग्नि तथा यज्ञिय पेय के दृश्य एवं स्पर्श्य रूपों द्वारा अवरुद्ध हो गई है, जिनके कि ये दोनों देवता दैवी रूप हैं। जब एक देवता का नाम उसके भौतिक आधार के नाम से भिन्न होता है तब वह (मूलभूत) भौतिक पदार्थ से दूर सरकता चला जाता है; क्योंकि ऐसी दशा में मानवीकरण की प्रक्रिया आसानी से आगे बढ़ चुकी होती है। उदाहरण के लिए लीजिए मरुद्गण को—ये वायु की अपेक्षा अपने मूल से कहीं अधिक दूर जा पड़े हैं, यद्यपि वैदिक कवियों को उनके पारस्परिक संबन्ध का ज्ञान अन्त तक भी बना रहा है। और यदि इस नाम-भेद के साथ एक देवता वैदिक काल के पहले युग से चलता आया है तब तो यह पार्थक्य पूरा हो जाता है। उदाहरण के लिए वरुण को लीजिए। वरुण के विषय में इसके प्राकृतिक आधार का, वेदों की अपेक्षा अधिक प्राचीनकाल से आई गाथाओं की विशेषताओं से अनुमानमात्र हो सकता

है; क्योंकि वरुण के विषय में भावात्मकता की प्रक्रिया इतनी अधिक आगे जा पहुंची है कि वरुण का स्वरूप समुन्नत एक-देववाद के दैवी राजा जैसा बन गया है। फिर भी व्यक्तिरूप धारण करने की प्रक्रिया वैदिक देवशास्त्र में कहीं भी ग्रीक देवताओं में मिलनेवाले व्यक्तिभूत मानवीय रूप की अवस्था को नहीं प्राप्त कर पाई है। वैदिक देवताओं को एक दूसरे से अलग करनेवाली विशेषताएं इनी-गिनी हैं; बहुसंख्यक गुण और शक्तियां तो सब देवताओं में एक समान हैं। इस बात का एक कारण तो यह है कि प्रकृति के वे विभाग या इकाइयां जिनके ये देवता प्रतिरूप हैं, अनेक बातों में समान हैं जबकि अभी ये देवता मानव के रूप में पूरी तरह विकसित नहीं हो पाये हैं। फलतः विद्युत् के देवता का (विद्युत् के रूप में), अग्नि देवता का और तूफानों के देवता का वर्णन समान भाषा में संभव है; क्योंकि वैदिक कवि की दृष्टि में इन सब का प्रमुख व्यापार पानी बरसाना है। साथ ही यह भी याद रखिए कि विभिन्न वदिक देवताओं का यथार्थ स्रोत एक ही है, किंतु उन देवताओं में उस उस संज्ञा के कारण विभेद आ गया है, जोकि किसी ऐसे गुण-विशेष का बोध कराती है जिसने शनैः शनैः अपना स्वतन्त्र रूप बना लिया है। साथ ही देवताओं के क्रिया-कलाप के विषय में वैदिक कवियों की उक्तियां भी अस्पष्ट-सी हैं—क्योंकि ऋग्वेद में इसके अपने स्वरूप के कारण, गाथाओं की ओर संकेतमात्र किया गया है, उनका विस्तार से वर्णन नहीं। साथ ही जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि वैदिक सूक्तों की रचना में अनेक कवियों का हाथ रहा है और इनकी रचना बहुत लंबे काल तक चलती रही है, तब हमें वैदिक देवताओं के विषय में मिलनेवाली उक्तियों के एकरूप होने की आशा करना वृथा मालूम पड़ता है।

वैदिक देवशास्त्र के स्रोत—

वैदिक देवशास्त्र का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत भारतीय साहित्य की प्राचीनतम रचना—ऋग्वेद है। इसकी गाथाओं में विभिन्न महत्त्व के अनेक परस्पर-मिलित प्रकृति-देवताओं का विवरण मिलता है। यह बहु-देववाद ऋग्वैदिक काल के अन्त में उभरती हुई भावात्मकता से प्रभावित होता हुआ इस वेद के दशम मण्डल में, एक प्रकार के एकदेववाद, अथवा यों कहिए कि सर्वदेववाद (अद्वैतवाद) में बदल जाता है। और चूंकि इस संग्रह का लक्ष्य यज्ञ-प्रक्रिया, और उसमें भी विशेषतः सोमयाग हैं, इसलिए इसमें अपने काल की देवशास्त्रीय सामग्री का अनुपात-विहीन प्रतिपादन हुआ है। उन महान् देवताओं को, जिनका सोमयागों में प्रमुख स्थान है, अथवा जो धनवानों की पूजा के भागी हैं, इस संग्रह में ऊंचा स्थान मिला है; किंतु उन देवताओं को, जिनका संबन्ध प्रेतात्माओं, जादू एवं मरणोत्तर जीवन के साथ है, इसमें अपेक्षाकृत न्यून स्थान मिला है; क्योंकि इस कोटि के मानव-विश्वास का सोमयाग के साथ कोई संबन्ध नहीं है। साथ ही जहां

इन ऋक्सूत्रों में—जोकि देवताओं के प्रति आह्वानरूप हैं और जिनमें देवताओं के गुणों का वर्णन है—देवताओं के स्वरूप का निदर्शन पूरी तरह हुआ है, वहां इनमें इन देवताओं के इने-गिने विशिष्ट विजयकृत्यों को छोड़ इनके इतर क्रिया-कलाप की झांकी अत्यन्त धुंधली अवस्था में हमारे सामने आई है। और यह स्वाभाविक है कि एक याज्ञिक रचना में, जिसमें कि वर्णनात्मक सामग्री न्यून रहती है, देवशास्त्र के इस पहलू का प्रतिनिधान त्रुटित अवस्था में मिले। ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों में प्रेतात्माओं, छोटे भूतों और भावी जीवन के विषय में अत्यन्त विकल सूचना मिलती है; किंतु यह कमी, किसी सीमा तक, उसके दशम मण्डल में पूरी हो जाती है। दसवें मण्डल में भी, मरने के बाद दुरात्माओं के भाग्य में क्या बदा होता है—इस बात के बारे में बहुत कम संकेत मिलते हैं। देवताओं की स्तुति के साथ-साथ, प्रेत-पितृ-पूजा और किसी सीमा तक अचेतन पदार्थों का देवीकरण भी ऋग्वैदिक धर्म में मिलता है।

वैदिक देवशास्त्र के अध्ययन में सामवेद का महत्त्व नहीं के बराबर है, क्योंकि इसमें केवल ७५ मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं आये हैं। अथर्ववेद की समाजप्रिय सामग्री का संबन्ध पारिवारिक रीति-रिवाजों एवं जादू के साथ है। इसके अन्तिम भाग में और कौशिक गृह्यसूत्र में प्रेतों एवं भूतों के विषय में भरपूर सामग्री उपलब्ध होती है। धर्म के इस निम्न स्तर पर ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद कहीं अधिक प्राचीन विश्वासों का विवरण प्रस्तुत करता है, किंतु साथ ही धर्म के उच्च स्तर पर भी यह उसके अधिक विकसित रूप का परिचायक दीख पड़ता है। व्यक्तिक देवताओं में उत्तरकालीन विकास की छवि प्रत्यक्ष है, जब कि कुछ और अभिनव 'भाव' देवता समझे जाने लगे हैं और धर्म सर्वदेववाद (अद्वैत) का रूप धारण करके हमारे संमुख आता है। व्यक्तिभूत देवताओं के स्तवन-सूक्त अपेक्षाकृत कम हैं, जबकि अनेक देवताओं का एकसाथ आह्वान—जिसमें कि उनके असली स्वरूप पर कम प्रकाश पड़ पाता है—आम हो जाता है। देवताओं के क्रिया-कलाप का वर्णन उसी लचर ढर का है जैसाकि ऋग्वेद में। कह सकते हैं कि अथर्ववेद में देवशास्त्र का कोई ही ऐसा पहलू मिलेगा जिसका संकेत ऋग्वेद में न आ चुका हो। यजुर्वेद में तो अथर्ववेद से भी कहीं अधिक बाद की दशा का प्रतिफलन है। और चूंकि इस वेद की रचना कर्मकाण्ड के लिए हुई है, इसलिए इसके मन्त्रों का सीधा लक्ष्य देवता नहीं हैं। देवताओं का व्यक्तित्व इस वेद में धुंधला पड़ गया है, क्योंकि यज्ञ-प्रक्रिया के साथ उनका संबन्ध बहुत ढीला-ढाला रह गया है। हां, यजुर्वेद के देवशास्त्र का सबसे प्रमुख पहलू है—प्रजापति का मुख्य देव के रूप में उत्थान, विष्णु के महत्त्व में उत्कर्ष, और ऋग्वेद के एक प्राचीन देवता का शिव के रूप में अभ्युदय। किंतु, चूंकि इस वेद में यज्ञ की अपेक्षा देवताओं का स्थान गौण है इसलिए इस वेद में देवशास्त्रीय सामग्री बहुत कम हाथ लगती है।

यजुर्वेद में तथा ब्राह्मणों में—जिनमें ऐतरेय एवं शतपथ प्रमुख हैं—

तात्त्विक भेद नहीं है। और चूंकि मानवीय आकर्षण का विषय अब यज्ञ बन गया है इसलिए देवताओं की व्यक्तिगत विशेषताएं छितराकर धुंधली पड़ गई हैं। कतिपय देवताओं के स्वरूप में परिवर्तन आ गया है और कुछ-एक देवताओं के महत्त्व में उत्कर्ष या अपकर्ष आ गया है। शेष बातों में ब्राह्मणों का देव-वर्ग वैसा ही है जैसाकि ऋग्वेद या अथर्ववेद में मिलता है; और अचेतन पदार्थों की स्तुति यहां भी पूर्ववत् जारी है। ऋग्वेद और ब्राह्मणों के देवशास्त्र में मुख्य भेद यह है कि ब्राह्मणों में प्रजापति को प्रधान देवता के रूप में स्वीकार कर लिया गया है और साथ ही ब्राह्मणों का देव-वर्ग सुतरां स्पष्ट बन गया है। इस प्रकार प्रजापति का 'सर्व' अथवा "सब कुछ और हर कुछ" कहकर स्तवन किया गया है।[1]

और चूंकि देवताओं के अपने-अपने विशिष्ट गुण भुलाये जा चुके हैं इसलिए अब उन्हें वर्गों में विभक्त करने की प्रवृत्ति बलवती बन गई है। फलतः इस युग की एक विशेषता यह हो गई है कि इसमें अति प्राकृतिक शक्तियों को दो विरोधी दलों में बांट दिया गया है—एक वर्ग की शक्तियां देवता हैं और दूसरे की असुर या राक्षस। पुनः देवता के भी तीन वर्ग कर दिये गये हैं—पृथिवीस्थ वसुगण, अन्तरिक्षस्थ रुद्रगण और द्युःस्थ आदित्य। वर्गों में सब से अधिक महत्त्वशाली वर्ग है—अग्नि, वायु और आदित्य की त्रिकुटी। ये रचनाएं औपचारिक हैं और इनमें व्यक्तिक देवताओं के भिन्न-भिन्न गुणों को मानवीकरण के द्वारा अलग-अलग कर दिया गया है। उदाहरण के लिए इनमें अग्नि का वर्णन—भोजन का स्वामी 'अग्नि' और मन्त्र का स्वामी 'अग्नि' इन रूपों में किया गया है।

अपने प्रधान विषय का उद्द्योतन करने के लिए ब्राह्मण भांति-भांति की गाथाओं का सहारा लेते हैं। इनमें आनेवाली कुछ-एक गाथाओं के संकेत संहिताओं में नहीं मिलते। किंतु जब कभी प्राचीनतर साहित्य में वे मिलती हैं, तब स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणों में वे अपने उस पुराने रूप से विकसित होकर आई हैं। फलतः ब्राह्मणों में आई गाथाओं से उनके पूर्ववर्ती रूप पर नया प्रकाश कम पड़ता है; किंतु इतना अवश्य है कि वे प्राचीनतम वैदिक और पश्चवैदिक युगों की गाथाओं में एक संयोजक कड़ी का काम देती हैं।

प्रतिपादन-प्रक्रिया—

वैदिक देवशास्त्र की उत्पत्ति ऐसे युग, ऐसे देश, और ऐसी सामाजिक एवं जलवायवीय परिस्थितियों में हुई है जोकि यूरोप से बहुत दूर हैं और वहां की परिस्थितियों से सुतरां भिन्न हैं। साथ ही हमारे प्रस्तुत विवेचन का विषय प्रत्यक्षतः तथ्यों का विवरण नहीं, अपितु उन कवियों की कल्पना-भरित रचनाएं हैं जो प्रकृति को आज के मनुष्यों की दृष्टि से न देख किसी और ही दृष्टि से देखा करते

1. सर्वं वै प्रजापतिः। श० ब्रा० 1.3.5.10, 4.5.7.2.

थे। इस प्रकार की जटिल एवं विचार की इतनी अधिक प्राचीन कोटि का प्रतिनिधान करनेवाली सामग्री का विवरण और भी कठिन हो जाता है जब हम उस कवित्वपूर्ण रचना पर ध्यान देते हैं जिसमें कि वे विचार अन्तर्निहित हैं। और अनुसंधान की वैज्ञानिक प्रक्रिया के योग्य शायद ही ऐसा कोई दूसरा विषय हो जिसमें प्रतिभा के साथ-साथ सजगता और प्रशान्त विचार की इतनी अधिक आवश्यकता हो। कहना न होगा कि इस प्रकार की वैज्ञानिक प्रक्रिया को, जिसकी उपयोगिता के विषय में दो मत नहीं हो सकते, वैदिक देवशास्त्र के अनुसंधान में बहुधा नहीं के बराबर बरता गया है। ऐसा न करने के कारण, और साथही प्रतिपाद्य सामग्री की नैसर्गिक दुरूहता के कारण विद्वानों में वैदिक देवताओं के स्वरूप, और उनके आधार के संबन्ध में पर्याप्त मतभेद उत्पन्न हो गया है।

वैदिक अध्ययन के आरम्भिक युग में अनुसंधान को ग़लत पक्ष से आरंभ करने की प्रवृत्ति बलवती थी। तब अनुसंधान का आधार तुलनात्मक देवशास्त्र के देव-नामों के व्युत्पत्ति-संबन्धी साम्य को बनाया जाता था। इन अभिज्ञाओं का—यद्यपि आज इनमें से बहुत-सी छोड़ी जा चुकी हैं—वेद के देवशास्त्रीय सूक्तों की व्याख्या पर अब तक अवाञ्छनीय प्रभाव पड़ता रहा है। व्युत्पत्ति-संबन्धी विचार-विमर्श के साथ-साथ बहुधा व्याख्याता लोग वेद के विषय में पहले से बना ली गई अपनी धारणाओं के बल पर अटकलें लगाते रहे हैं न कि वेद में प्राप्त होनेवाले साक्ष्य की उचित छानबीन पर। परिणाम इसका यह हुआ है कि जहां-तहां मौलिक विशेषताओं के साथ-साथ, आनुषङ्गिक एवं एकाकी विशेषताओं को भी उन्हीं-के-जैसा महत्त्व दे दिया गया है। साथ ही व्याख्या करने की प्रणाली-विशेष के प्रति या उसके विरुद्ध पक्ष-पात बरता जाता रहा है। उदाहरण के लिए—देव-शास्त्र के पात्रों की बहुसंख्या का व्याख्यान उनकी उद्भूति उषा, विद्युत्, सूर्य, अथवा चन्द्रमा से बताकर किया गया है। इस प्रकार के पक्षपात का परिणाम यह होता है कि प्राप्य साक्ष्य की छानबीन उचित प्रकार से नहीं हो पाती और वह छानबीन एकदेशीय रह जाती है।

कहना न होगा कि ऐसी अवस्था में अध्येताओं को अधिक सावधानी वाली प्रक्रिया को अपनाना चाहिए। इस बात के कुछ संकेत यहां दे देने वाञ्छनीय हैं। सभी जानते हैं कि अन्वेषण की दिशा ज्ञात से अज्ञात की ओर चलनी चाहिए; इस सिद्धान्त के अनुसार प्रस्तुत गवेषणा का आधार—जिसका उद्देश्य वैदिक देवताओं के सही स्वरूप को और उनके सही क्रियाकलाप को प्रस्तुत करना है—तुलनात्मक गाथाशास्त्र के अपेक्षाकृत न्यूनसंख्यक, साथ ही अनिश्चित निगमों को न बनाकर, भारतीय साहित्य में उपलब्ध होनेवाली सामग्री को बनाना उचित होगा; क्योंकि भारतीय साहित्य में हमें इस देश के देवशास्त्र की, ऋग्वेद से लेकर आज तक की अटूट परंपरा हाथ लगती है। किसी देवता के विषय में किसी भी प्रकार का निर्णय करने से पूर्व उस देवता से संबद्ध सकल सामग्री एकत्र करनी चाहिए। उसका समुचित वर्गीकरण करना चाहिए, और संगत संदर्भों की तुलना के द्वारा उसकी जांच करनी

चाहिए। साथ ही उन मौलिक विशेषताओं को—जिनके आधार पर कि उस देवता का मानवीकरण संपन्न हुआ है—बाद में मिले प्रक्षेपों से पृथक् कर लेना चाहिए; और ज्योंही मानवीय कल्पना में किसी प्राकृतिक शक्ति के स्थान पर एक व्यक्ति आ बैठता है, काव्य की उड़ान आनुषङ्गिक गाथा का बाना बुनने लगती है; इसमें काल-क्रमात् ऐसी सामग्री को मिला देती है जिसका कि मौलिक रचना के साथ कोई संबन्ध नहीं था, और जो असल में दूसरी जगह से उधार लेकर उस पर लाद दी गई है। फिर भी आधारभूत तात्त्विक विशेषताएं—यदि इस प्रकार की सामग्री अत्यधिक सीमित न हुई हो तो—बार-बार की आवृत्ति के द्वारा खिल उठती हैं। उदाहरण के लिए इन्द्र-गाथा में, इन्द्र-वृत्र-युद्ध पर—जो इस गाथा की एक मौलिक विशेषता है—लगातार और बार-बार ज़ोर डाला गया है, जबकि वह एकाकी उक्ति जिसमें कहा गया है कि इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्र की माता को मारा[1] साफ़ है कि बाद की मिलावट है, जिसे नाटकीय प्रभाव में जान डालने के लिए किसी कवि ने जोड़ दिया है। किंच, वृत्रहन् विशेषण, जोकि आरंभ में एकमात्र इन्द्र ही के लिए प्रयुक्त होता आया था, ऋग्वेद में कभी-कभी सोम के लिए भी आ गया है। किंतु इस विशेषण का इन्द्र से सोम पर संक्रमण हुआ है—यह बात इतने ही से स्पष्ट हो जाती है कि सोम को 'वृत्रघाती मादक रस'[2] बताया गया है, जिसे युद्ध पर जाने से पहले इन्द्र मन-छूट पीता है। विशेषणों का इस प्रकार एक देवता से दूसरे देवता पर संक्रमित हो जाना ऋग्वेद में सुकर है; क्योंकि ऋग्वेद के कवि देवताओं के जोड़े बनाकर उनका स्तवन करने के शौकीन हैं; विशेषतः उस अवस्था में जबकि दोनों देवताओं में एक दूसरे के विशिष्ट गुण और वीर-कृत्य समान रूप से पाये जाते हों (§ 44)। स्पष्ट है कि इस प्रकार संक्रमित हुए गुणों को मौलिक विशेषताओं से पृथक् कर लेना होगा। कुछ इसी प्रकार की बात उन विशेषताओं और विश्व-शक्तियों के विषय में भी कही जा सकती हैं, जो समान रूप से बहुत से देवताओं के विशेषण के रूप में कही गई हैं। इन्हें किसी एक देवता के विषय में साक्ष्य बनाकर प्रस्तुत करना अनुचित है। इन्हें साक्ष्य के रूप में तभी रखना चाहिए जबकि उक्त प्रकार के गुण और शक्तियां प्रभूत रूप से किसी एक देवता के विषय में दिखाई गई हों; क्योंकि हो सकता है कि उनका आरंभ उस एक देवता-विशेष के साथ हुआ हो और बाद में वे अन्य देवताओं पर फैल गई हों। इस संबन्ध में इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि कुछ देवताओं का स्तवन अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक-संख्यक सूक्तों में किया गया है; फलतः विभिन्न देवताओं के साथ लगाये जानेवाले विशेषणों के पौनःपुन्य का मीज़ान लगा लेना वाञ्छनीय प्रतीत होता है। इस प्रकार एक विशेषण, जिस का प्रयोग वरुण के लिए

1. नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार। ऋ० 1.32.9.
2. पृषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै॥ ऋ० 6.17.11.

भी इतनी ही बार हुआ है जितनी बार कि इन्द्र के लिए, संभवतः इन्द्र की अपेक्षा वरुण के ऊपर अधिक उपयुक्त बैठे; क्योंकि इन्द्र का आह्वान वरुण की अपेक्षा दस-गुने सूक्तों द्वारा किया गया है। साक्ष्य के रूप में किसी वाक्य के मूल्य पर उस सूक्त की आपेक्षिक प्राचीनता का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है जिसमें कि वह आया है। यह संभव है कि एक सूक्ति, जोकि बाद के संदर्भ में आई है, अपेक्षाकृत प्राचीन विचार का प्रतिनिधान करती हो; किंतु यदि इसका एक ऐसी उक्ति के साथ विरोध पड़ता है जो उसी विषय में प्राचीनतर सूक्त में आई है, तो बहुत अधिक संभव है कि यह बाद के विकास का प्रतिनिधान करती हो। और इस दृष्टि से ऋग्वेद के दशम मण्डल में और प्रथम मण्डल के बहुतर भाग में अन्य मण्डलों की अपेक्षा बाद में विकसित हुए विचारों की परंपरा उघड़ती दीख पड़ती है। साथ ही नवम मण्डल का एकमात्र सोम पवमान के साथ संबद्ध होना उसकी गाथा-सामग्री को एक विशिष्ट प्रकार का रूप दे देता है जैसे विवस्वान् और त्रित को। इस मण्डल में सोम को एक विशेष ही प्रकार से बनाते दिखाया गया है (दे० § 18, 23)। रही ब्राह्मणों की बात—इनमें ऐतिहासिक दृष्टि से आदिम विचारों को खोजते समय विशेष सतर्कता बरतनी आवश्यक है; क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थ ऊंची उड़ानों, मानसिक अभिवेगों, और अभिज्ञा तथा तादात्म्यों से भरे पड़े हैं।

साक्ष्य के रूप में किन्हीं दो तुल्य संदर्भों को प्रस्तुत करते समय प्रकरण का ध्यान रखना अत्यावश्यक है। बहुधा उनके मूल्य का निर्धारण उनके परिपार्श्व के सूक्ष्म एवं जटिल विचारों को देखकर और उन विचार-विन्दुओं की संगति लगाकर करना उचित है, जोकि उनसे पहले और उनके बादमें आये हैं। वेद के आभ्यन्तर साक्ष्य का उचित आलोचन करके, और बाद के साहित्य में मिली सामग्री द्वारा इसका उपोद्बलन करके इसके साथ बहुत अधिक मिलनेवाले ईरानी देवशास्त्र का पर्यालोचन करना चाहिए। इस तुलनात्मक अध्ययन से संभव है कि भारतीय सामग्री से उपलब्ध हुए आधुनिक विद्वानों के निष्कर्षों की पुष्टि हो जाय; और यदि भारतीय साक्ष्य पूरी तरह निश्चायक न भी हुआ तो या तो इससे हमें इस बात का पता चल जायगा कि दोनों में पुराना कौन है और बाद का कौन, और या इससे हमारे वेदविषयक विचार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित बन जायंगे। उदाहरण के लिए—अवेस्ता की सहायता के बिना मित्र-देवता के मौलिक स्वरूप के विषय में किसी प्रकार के निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन है।

इसके उपरान्त तुलनात्मक देवशास्त्र के निष्कर्षों पर ध्यान देना होगा। ऐसा करने से हमें इस बात का पता चल जायगा कि भायोरपीय युग से वेद को इस क्षेत्र में कौनसी देन मिली है और वह कितनी है, और इस देन का अपना महत्त्व क्या है। इसके साथ ही नृजाति-विद्या के मन्तव्यों की छानबीन भी अपेक्षित है; विशेषतः उस अवस्था में जबकि इस बात का निर्धारण करना आवश्यक हो कि मानवीय विकास के इससे भी पुराने युग के कौन-कौन से तत्त्व अब अवशिष्ट हैं। इस

प्रकार के वेदबाह्य साक्ष्य के पर्यालोचन का एक लाभ तो यह होगा कि हमारी यह धारणा दूर हो जायगी कि देवशास्त्र की विविध सामग्री का जन्म एकमात्र भारत में हुआ है, और दूसरे हमारी यह भावना भी दूर हो जायगी कि देवशास्त्रीय ऊहापोहों का उदय सब से पहले भायोरपीय युग में हुआ है। स्मरण रहे कि हमारी दूसरी धारणा भी सत्य से इतनी ही दूर है जितनी कि हमारी यह भावना कि आर्य भाषा का सब से प्रथम प्रारंभ-बिन्दु भायोरपीय भाषा है।

अवेस्ता और वैदिक देवशास्त्र—

हम देख चुके हैं कि वैदिक देवशास्त्र का विद्यार्थी अपने अध्ययन में अवेस्ता के साक्ष्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। अवेस्तन भाषा के प्राचीनतम रूप की वैदिक बोली के साथ वाक्य-रचना, शब्द-समूह, रीति, छन्द और काव्य-शैली की दृष्टि से इतनी अधिक समता है कि कुछ-एक ध्वनि-नियमों के अनुसार छोटे-मोटे परिवर्तन करके हम सारे ही अवेस्तन मन्त्रों का शब्दशः वैदिक छन्दों में अनुवाद कर सकते हैं और वह भी ऐसा कि ये परिवर्तित मन्त्र न केवल रूप में अपितु काव्यात्मकता में भी सोलह आने वैदिक उतरें। किंतु देवशास्त्र के क्षेत्र में यह समानता उतनी नहीं रह पाती। इसका कारण यह है कि झाराथुस्ट्रा ने धार्मिक क्षेत्र में जो सुधार किये थे उनके कारण देवशास्त्रीय विचारों में से बहुत-से तो नष्ट हो गये और कुछ-एकों के रूप में परिवर्तन आ गया। फिर भी यदि आज हमारे सामने अवेस्तन साहित्य का भी उतना ही पुराना रूप आ जाय जितना कि वैदिक साहित्य का है, तब इस क्षेत्र की समानता भी उतनी ही अधिक सबल बनकर हमारे सामने आ जायगी। फिर भी विवरण की समानता धार्मिक क्षेत्र की अपेक्षा देवशास्त्र के क्षेत्र में कम बहुल नहीं है। यज्ञ-संबन्धी अनेक समान शब्दों में से यहां कुछ की ओर ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा :—

वैदिक	अवेस्तन
यज्ञ	यस्न
होता	झओतर
अथर्वन्	आथर्वन
ऋत	अश्र

इन सबकी अपेक्षा अधिक सोम=हओम, जिसका अर्थ है 'मादक सोम का रस', जिसे दोनों ही धर्मों में हवन में डाला जाता, पीसा जाता, चलनी में छाना और दूध के साथ मिलाया जाता था, वनस्पतियों का राजा था। यह पर्वतों पर उगता था और इसे एक गरुड या बहुत-से गरुड नीचे लाये थे (दे० § 37)। किंतु हमारे संमुख लक्ष्य तो इस समय देवगन एकरूपनाएं हैं। दोनों ही धर्मों में असुर=अहुर उन सब से बड़े देवों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनका वर्णन दोनों में बलवान् राजाओं के रूप में किया गया है, जो अन्तरिक्ष में आशुगामी अश्वों के द्वारा

खींचे जानेवाले सामरिक रथों में चलते हैं, जिनका स्वभाव उदार है, और जो छल अथवा हर प्रकार की अनैतिकता से कोसों दूर हैं। भारतीय और ईरानी दोनों ही धर्मों में अग्नि की पूजा समान रूप से प्रचलित थी; हां, वेद में इसका नाम अग्नि था और अवेस्ता में आतर। जल का (आपः=आपो) आह्वान बहुत बार न सही पर हुआ दोनों धर्मों में जरूर है। वैदिक 'मित्र' अवेस्ता में 'मिथ्र' है, और यह सूर्य का देवता है। आदित्य भग अवेस्ता में 'बघ' है, जोकि सामान्य देवता है। वायु, जिसका अवेस्तन रूप वयु है, हवा के देव हैं; अपां नपात् 'जलपुत्र'=अपां नपात्, गंधर्व=गन्दरेव; और कृशानु=केरेशानि दैवी प्राणी हैं, जिनका सोम=हओम के साथ निकट संबन्ध है। त्रित आप्त्य की टक्कर के अवेस्तन देवता हैं थ्रित और आथ्व्य; और इन्द्र वृत्रहन् के समकक्षी हैं 'इन्द्र देव' और 'वेरेथ्रघ्न' जोकि विजय के अधिष्ठातृ देव हैं। यम, जो विवस्वान् के पुत्र हैं और प्रेतों के राजा हैं, अवेस्ता में यिम के रूप में मिलते हैं जो वीवंह्वन्त के पुत्र हैं और स्वर्ग के अधिष्ठाता हैं। स्वरूप और क्रियाकलाप में 'वरुण' और 'अहुर मज्द' समान हैं, यद्यपि दोनों के नाम अलग-अलग हैं। दुरात्माओं के अभिधान द्रुह्=द्रुज् और 'यातु' भी दोनों धर्मों में समान हैं।

तुलनात्मक देवशास्त्र—

किंतु जब हम भारत-ईरानी धरातल पर से उठकर, भायोरपीय धरातल पर आते हैं तब हम अपने को अनिश्चय के क्षेत्र में सरका पाते हैं। नामों के अनेक साम्य, जिन्हें गवेषणा की पहली सूझ में स्वीकार कर लिया था, बाद में छोड़े जा चुके हैं, और जो बचे हैं वे भी पक्के नहीं दीख पड़ते। द्यौस्=झीयस यही एक साम्य संदेहकोटि से परे है। वरुण=ओउरनोस में यद्यपि ध्वनि-नियम-संबन्धी कठिनाइयां बनी हुई हैं, तो भी इसे ठीक माना जा सकता है। वर्षादेव 'पर्जन्य', यद्यपि अर्थ की दृष्टि से लिथुएनियन पेर्कुनास (Perkunas) से मिलता है, पर ध्वनि-नियमगत कठिनाइयां इसमें वरुण की अपेक्षा अधिक हैं। 'भग' यह नाम यद्यपि स्लावोनिक बोगु (Bogu) और ईरानी बघ से मिलता-जुलता है; किंतु चूंकि बोगु और बघ इन दोनों शब्दों का अर्थ केवल "देवता" है, इसलिए हो सकता है कि भायोरपीय 'भग' किसी देव-विशेष का वाचक न रहा हो। उषस् यह नाम मूलतः ओरोरा (Aurora) और होस (Hōs) का समकक्ष है, तो भी कहा जा सकता है कि उषा की उपासना भारत का अपना घरेलू विकास है। भायोरपीय परिवार की विभिन्न शाखाओं में मिलनेवाले विद्युत्-देवताओं के देवशास्त्रीय लक्षणों की समता के आधार पर अनुमान किया गया है कि किसी सामान्य नाम के न मिलने पर भी भायोरपीय युग में सब का साझा एक विद्युत्-देव रहा होगा। इनके सिवाय दो-एक और ऐसी समताएं हैं जिनका आधार केवल चरित्र की तद्रूपता है। उन उदात्तचरित देवताओं के विषय में, जिनका संबन्ध प्रकाश (√दिव्=प्रकाशित

होना) और आकाश (दिव्=आकाश) से है, भायोरपीय युग में ही भावनाएं उभर चुकी थीं। इस बात की पुष्टि दइवोस (Deivos) (संस्कृत० देव-स्, लिथ्यु० देव-स्, लै० देउ-स) 'देवता' इस नाम-साम्य से होती है। प्रतीत होता है कि माता के रूप में पृथिवी की (जोकि वैदिक एवं ग्रीक देवशास्त्र में समान है) और पितर के रूप में आकाश की (सं० द्यौष्पितर्, ग्रीक० ज़ेउ पटेर (Zeu Páter) लै० जूपिटर) कल्पना इससे भी पहले हो चुकी थी, क्योंकि आकाश और पृथिवी के विषय में पिता-माता की भावना चीन और न्यूज़ीलैण्ड के देवशास्त्र में भी मिलती है। और मिश्र में तो इस भावना की जड़ें स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। यातु-विद्या और अचेतन पदार्थों की पूजा, जो वेद में पाई जाती है, मानव जाति के मानसिक विकास की इससे भी कहीं अधिक प्राचीन सतह से आई दीख पड़ती है, यद्यपि संभावना यह भी हो सकती है कि आर्य विजेताओं ने भारत में आने पर इस देश के आदिवासियों से ये बातें उधार के रूप में ले ली हों।

२. विश्व और उसकी उत्पत्ति के विषय में वैदिक धारणाएं

देवताओं के लीला-क्षेत्र जगत् को वैदिक कवियों ने पृथिवी, वायु अथवा अन्तरिक्ष और द्युलोक—इन तीन में बांटा है। जब आकाश से, पृथिवी से ऊपर का सारा ही अवकाश अभिप्रेत होता है तब पृथिवी के साथ प्रयुक्त होकर यह ऊर्ध्व और अधोलोकों से बने समग्र संसार को बोधित करता है। आकाश के गुम्बद (नाक) को एक सीमा के रूप में समझा गया है, जोकि दृश्यमान ऊर्ध्व जगत् को उससे ऊपर के अदृश्यमान द्युलोक से विभाजित करता है; प्रकाश और देवताओं का निवास-स्थान वहीं है। द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी ऋग्वेद की यह प्रिय त्रिलोकी है, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बार-बार गुणगान किया गया है[1]। सौर-मण्डल के क्रिया-कलाप का स्थान, जोकि आकाश-गुम्बद पर होता दीख पड़ता है, स्वर्ग में बताया गया है, जबकि विद्युत्, वर्षा एवं वायु का स्थान अन्तरिक्ष में बताया है। किंतु जब 'द्यु' शब्द से पृथिवी के ऊपर का अशेष लोक-जात अभिप्रेत होता है तब दोनों ही कोटि के देवों का क्रिया-कलाप द्युलोक में ही होता समझा जाता है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में[2] आकाश-गुम्बद को पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक की त्रिकुटी के और स्वर् अथवा प्रकाश-मण्डल के मध्य में माना गया है, जिसके अनुसार एक चौथा क्षेत्र और बन जाता है। फिर हर जगत् के अपने-अपने अलग-अलग विभाग हैं। उदाहरण के लिए—कहीं-

1. यदन्तरिक्षे पतथः पुरुभुजा यद् वेमे रोदसी अनु। ऋ० 8.10.6.

2. पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ अ० 4.14.3=पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ वा० सं० 17.67.

कहीं तीन पृथिवी, तीन अन्तरिक्ष और तीन स्वर्गों का वर्णन मिलता है; किंतु जब विश्व का दो अर्धों में विभाग किया जाता है तब हमें ६ 'मण्डल' अथवा 'रजस्' (=अवकाश) मिलते हैं। इस उपविभाग का आधार संभवतः पृथिवी शब्द का बहुवचन में हुआ लचर प्रयोग है[1], जैसाकि 'पितरौ=दो पिता' इस द्विवचन का है जिस से नियमतः 'माता और पिता' इन दोनों का बोध होता है।

पृथिवी को अनेक नामों से पुकारा गया है जैसे: भूमि, क्षम्, क्षमा, ग्मा, मही (=बड़ी) पृथिवी अथवा उर्वी (=विस्तृत) उत्ताना (फैली हुई), अपारा (असीमित) और 'इदम्' (यह सामने की) और ऊर्ध्वलोक से[2] विपरीत।

समुद्र से परिवेष्टित एक गोल के रूप में पृथिवी की कल्पना संहिताओं में नहीं पाई जाती। अलबत्ता वृत्ताकार इसे अवश्य बताया गया है और इसकी तुलना चक्र[3] से की गई है और शतपथ में तो इसे साफ़ शब्दों में 'परिमण्डल' कह कर पुकारा गया है।

पृथिवी के विस्तार की चार दिशाओं का संकेत ऋग्वेद[4] में क्रिया-विशेषण द्वारा और अथर्ववेद[5] में विशेष्य द्वारा दिया गया है। इस प्रकार चार दिशाओं

---

1. यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ ऋ० 1.108.9.
यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः। ऋ० 1.108.10.
परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः। ऋ० 7.104.11.

2. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। ऋ० 1.22.17.
विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ ऋ० 1.154.1.
प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः॥ ऋ० 1.154.3.

3. इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक् तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम्॥ ऋ० 10.89.4.

4. आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात्।
आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया.........................॥ ऋ० 7.72.5.
सविता पश्चातात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात्तात् सविताधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिम्.........................॥ ऋ० 10.36.14.
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु॥ ऋ० 10.42.11.

5. स उदतिष्ठत् स प्राचीं दिशमनु व्यचलत्। अ० 15.2.1. स उदतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्यचलत्। अ० 15.2.2. स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत्। अ० 15.2.3. स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत्। अ० 15.2.4.

का (प्रदिशः) उल्लेख तो मिल जाता है[1]। 'प्रदिशः' पद समस्त पृथिवी का भी बोधक है[2] और पृथिवी का उल्लेख चतुर्भृष्टि (चार तरफ़ों वाली) पद द्वारा भी किया गया है।[3] कहीं-कहीं ५ प्रदिशाएं भी बताई गई हैं[4] जहाँ उस भव्य दिशा को, जिस पर कि वक्ता खड़ा हुआ है,[5] पांचवीं प्रदिशा बताया गया है। अथर्ववेद में तो ६ और ७ प्रदिशाओं का भी संकेत मिलता है। ऋग्वेद में आई सात[6] दिशाओं और सात[7] धामों का अभिप्राय भी संभवतः ये प्रदिशाएं ही रही हों।

स्वर्ग अथवा दिव् को सामान्यतया 'व्योमन्' अर्थात् प्रकाश से व्याप्त अथवा 'आकाश-मण्डल' कहा गया है और साथ ही इसे 'रोचन' नाम से भी पुकारा गया है। विभाजक आकाश के लिए 'नाक' शब्द के साथ-साथ 'सानु' (शिखर), विष्टप् (उपरिभाग) और 'पृष्ठ' शब्दों का प्रयोग भी हुआ है, जब कि 'नाकस्य पृष्ठे' आदि शब्द-बन्ध भी जहां-तहां प्रयुक्त हुए हैं। स्वर्मण्डल के 'तृतीय पृष्ठ'[8] का संकेत भी मिलता है। जहां तीन द्युलोकों में भेद किया गया है वहां उन्हें तीन प्रकाशमान अवकाश (त्री रोचना) कहा गया है; और उत्तम, मध्यम और अवम[9] कहकर इन्हें चीह्ना गया है। उच्चतम द्युलोक के लिए 'उत्तर' और 'पार्य'[10] शब्द भी आये हैं; तृतीय अथवा उच्चतम द्युलोक में (परमे रोचने अथवा व्योमन्) देवता, पितर् और सोम बसते हैं।

आकाश और पृथिवी के युग्म को रोदसी, क्षोणी, द्यावापृथिवी आदि कह

---

1. भूम्याश्चतस्रः प्रदिशस्ताभ्य एना नि वर्तय। ऋ० 10.19.8.
2. तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः। ऋ० 1.164.42.
3. यत् ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम्। ऋ० 10.58.3.
4. त्वं समुद्रो असि विश्ववित् कवे तवेमाः पञ्च प्रदिशो विधर्मणि।
   त्वं द्यां च पृथिवीं चाति जभ्रिषे तव ज्योतींषि पवमान सूर्यः॥ ऋ० 9.86.29.
   इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः। अ० 3.24.3.
5. बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
   इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु॥ ऋ० 10.42.11.
6. सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः। ऋ० 9.114.3.
7. पृथिव्याः सप्त धामभिः॥ ऋ० 1.22.16.
8. नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति। ऋ० 1.125.5.
   वैश्वानरः प्रत्नथा नाकमारुहद् दिवस्पृष्ठं भन्दमानः सुमन्मभिः। ऋ० 3.2.12.
   असश्चतः शतधारा अभिश्रियो हरिं नवन्तेऽव ता उदन्युवः।
   क्षिपो मृजन्ति परि गोभिरावृतं तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः॥ ऋ० 9.86.27.
9. यदुत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद् वावमे सुभगासो दिवि ष्ठ। ऋ० 5.60.6.
10. दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय। ऋ० 4.26.6.
    यदिन्द्र दिवि पार्ये यद् ऋधग् यद् वा स्वे सदने यत्र वासि। ऋ० 6.40.5.

कर (§ 44) उन्हें दो अर्ध बनाया है[1]। अर्ध-मण्डलाकार आकाश के साथ जोड़ देने से धारणा होती है कि धरती का आकार बदल सकता है, जबकि दोनों को एक-दूसरे की ओर घूमे हुए दो महान् चम्मच (चम्वा) भी बताया गया है[2]। एक बार तो उनकी उपमा अक्ष के दो ओर लगे पहियों से दी गई है[3]।

ऋग्वेद में द्युलोक और पृथिवी के मध्यस्थ अन्तराल को यह कहकर आँका गया है कि उड़नेवाले पक्षी भी विष्णु के पद तक नहीं पहुंच सकते[4]; किंतु अथर्ववेद[5] के अनुसार 'हरित हंस' (सूर्य) के पंखों को स्वर्ग तक पहुंचने में १००० दिन लगते हैं। इसी प्रकार की एक उक्ति ऐतरेय ब्राह्मण[6] में आती है, जिसके अनुसार यहां से स्वर्ग तक पहुंचने में एक घोड़े को 1000 दिन लगने चाहिएं। पञ्चविंश ब्राह्मण[7] के अनुसार 1000 गौएं यदि एक दूसरी पर खड़ी कर दी जायं तो वे स्वर्ग तक पहुंच सकेंगी।

वायु अथवा अन्तरिक्ष-लोक तो कठिनता से ही मानवीकरण के भीतर आता है। कुहरा और बादल का लोक होने के साथ-साथ इसे 'रजस्' भी कहा गया है, और इसे जलपूर्ण[8] बताया गया है। कभी-कभी इसे कृष्ण कहा गया है।[9] तीन प्रतिभागों का निर्देश तीन 'आकाश' अथवा तीन 'रजस्' द्वारा किया गया

---

1. उभे अस्मै पीपयतः समीची दिवो वृष्टिं सुभगो नाम पुष्यन्।
   उभा क्षया वाजयन् याति पृत्सूभावर्धौ भवतः साधू अस्मै ॥ ऋ० 2.27,15.
2. मही समैरच्चम्वा समीची उभे ते अस्य वसुना न्यृष्टे। ऋ० 3.55.20.
3. यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक् तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥ ऋ० 10.89.4.
4. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
   तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः ॥ ऋ० 1.155.5.
5. सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्। अ० 10.8.18.
6. सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः। ऐत० ब्रा० 2.17.8.
7. यावद्वै सहस्रं गाव उत्तराधरा इत्याहुस्तावदस्मात् लोकात्स्वर्गो लोक इति।
   तां० म० 16.8.6.
   तद् यावदितः सहस्रस्य गौर्गावि प्रतिष्ठिता तावदस्माल्लोकादसौ लोकः। तां० म०21.1.9.
8. पूर्वे अर्धे रजसो अप्न्यस्य गवां जनित्र्यकृत प्र केतुम्। ऋ० 1.124.5.
   हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्व१ग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ। ऋ० 5.85.2.
9. आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ॥ ऋ० 1.35.2.
   आस्थाद् रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः। ऋ० 1.35.4.
   हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
   अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥ ऋ० 1.35.9.
   कृष्णा रजांसि पत्सुतः प्रयाणे जातवेदसः। अग्निर्यद् रोधति क्षमि ॥ ऋ० 8.43.6.

है[1]; और तब उन्नततम प्रविभाग को उत्तर[2], परम[3], अथवा तृतीय[4] कहकर पुकारा गया है। जल और सोम यहीं रहते हैं और अग्नि की उत्पत्ति इसी में होती है। नीचे के दो आकाश तो हमें आंखों से दीखते है, किंतु विष्णु का आवास तीसरे आकाश[5] में है। परतम स्वर्ग एक रहस्यमय अवकाश प्रतीत होता है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद[6] में हुआ है। अन्तरिक्ष का दो खण्डों में विभाजन अपेक्षाकृत सामान्य है, और तब निम्न (उपर) अथवा पार्थिव लोक के प्रतीप में दिव्यम् या दिवः को दिखाया गया है[7]। सबसे ऊंचे अधिष्ठान को, जिसे दो और तीन विभागों वाले स्वर्ग से लगा हुआ बताया गया है, असावधानी के कारण स्वर्ग का पर्याय ही मान लिया गया है। इस प्रकार की बातों में विभिन्न कवियों की उक्तियों में अथवा एक ही कवि की उक्तियों में किसी प्रकार के निश्चय अथवा संगति की आशा करना वृथा है।

विश्व के तीन खण्डोंवाले विभाजन में वायु-लोक की स्थिति पृथिवी के ऊपर है; फलतः इसके विभाग चाहे दो हों अथवा तीन, इनकी स्थिति भी पृथिवी के ऊपर ही मानी-जानी चाहिए; और कम से-कम एक मन्त्र में तो साफ़ तौर से पार्थिव

---

1. त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना ।
   तिस्रो दिवः पृथिवीस्तिस्र इन्वति त्रिभिर्व्रतैरभि नो रक्षति त्मना ॥ ऋ० 4.53.5.
   त्री रोचना वरुण त्रीँरुत द्यून् त्रीणि मित्र धारयथो रजांसि । ऋ० 5.69.1.
2. एते पृष्ठानि रोदसोर्विप्रयन्तो व्यानशुः । उतेदमुत्तमं रजः ॥ ऋ० 9.22.5.
3. न ते दूरे परया चिद् रजांस्या तु प्र याहि हरिवो हरिभ्याम् । ऋ० 3.30.2.
4. सहस्रधारेऽव ता असश्चतस्तृतीये सन्तु रजसि प्रजावतीः । ऋ० 9.74.6.
   समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन् ।
   तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन् ॥ ऋ० 10.45.3.
   द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन् ।
   भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥ ऋ० 10.123.8.
5. परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति ।
   उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से ॥ ऋ० 7.99.1.
   उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः । ऋ० 7.99.2.
   द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति ।
   तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः ॥ ऋ० 1.155.5.
   जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी । स नो देवः सविता शर्म यच्छतु । ऋ० 4.53.6.
6. वव्रे यश्चक्रे सुहनाय दस्यवे हिरीमशो हिरीमान् ।
   अरुतहनुरद्भुतं न रजः ॥ ऋ० 10.105.7.
7. वि भूम्या अप्रथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरमस्तभायः । ऋ० 1.62.5.
   आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे ॥ ऋ० 4.53.3.

रजस्[1] की स्थिति ऐसी ही बनाई गई है। ऋग्वेद[2] के तीन मन्त्रों से परिणाम निकलता है कि निम्न तल धरती के नीचे स्थित था जिस पर से रात्रि के समय सूर्य यात्रा करता है। इन तीनों मन्त्रों में से सबसे कम अनिश्चितार्थ मन्त्र में बताया गया है कि सूर्य रात्रि के दोनों ओर यात्रा करता है (उभयतः)। किंतु इसका आशय यह भी तो हो सकता है कि रात्रि के एक ओर सूर्योदय और दूसरी ओर सूर्यास्त होता है और इन दोनों से रात्रि अभिवेष्टित है। सूर्य के रात्रिपथ के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण[3] का मत यह है कि रात्रि के समय सूर्य की चमक ऊपर की ओर होती है और फिर यह इस प्रकार गोल घूम जाता है कि दिन में इसकी चमक नीचे की ओर हो जाती है। कुछ इसी प्रकार की भावना ऋग्वेद की एक उक्ति में भी मिलती है जिसके अनुसार सूर्य का प्रकाश कभी 'रुशत्' अर्थात् चमकनेवाला और कभी 'कृष्ण'[4] होता है, किंतु दूसरे मन्त्र[5] में बताया गया है कि पूर्व की ओर सूर्य के साथ चलनेवाला 'रजस्' उस प्रकाश से भिन्न है, जिसके साथ कि वह उदय होता है। सूर्य धरती के नीचे से होकर यात्रा करता है, इस बात का और स्पष्ट संकेत न मिलने के कारण संभावना इसी बात की अधिक रहती है कि सूरज पूर्व दिशा की ओर उसी रास्ते से लौटता है जिससे कि वह वहां से आया था; अलबत्ता अपनी लौट में वह पूर्णतः 'कृष्ण' बन जाता है। दिन में तारों का क्या होता है, इस संबन्ध में एक जिज्ञासा[6] तो अवश्य उठी है किंतु इसके विषय में कोई पक्का अनुमान नहीं लगाया गया।

अन्तरिक्ष को बहुधा 'समुद्र' कहा गया है और इसमें दिव्य जलों का निवास बताया गया है। इसे भी पृथिवी के समान बताया गया है, इस पर भी पर्वत[7] देखे गये

---

1. आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि । ऋ० 1.81.5.
   मधुमत् पार्थिवं रजः । ऋ० 1.90.7 B.
2. अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः । ऋ० 6.9.1.
   प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन् ।
   विवर्तयन्तीं रजसी समन्ते आविष्कृण्वतीं भुवनानि विश्वा ॥ ऋ० 7.80.1.
   उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि ।
   उत रात्रीमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः ॥ ऋ० 5.81.4.
3. रात्रीमेवावस्तात्कुरुतेऽहः परस्तात् । ऐत० ब्रा० 3.44.4.
4. तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
   अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥ ऋ० 1.115.5.
5. न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरै रथर्यसि ।
   प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य ॥ ऋ० 10.37.3.
6. अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुहचिद् दिवेयुः । ऋ० 1.24.10.
7. अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष । ऋ० 1.32.2.

हैं और यहां भी सात नदियां प्रवाहित होती हैं[1] जब इन्द्र देव खुश्की के अधिराट् दैत्य-राज के साथ युद्ध करते हैं। पर्वतों और मेघों की पारस्परिक समानता के कारण ऋग्वेद में 'पर्वत' शब्द से बहुधा बादल लिये गये हैं, क्योंकि ऐसे स्थलों पर रूपक अत्यन्त स्पष्ट दीख पड़ता है। अद्रि (चट्टान) शब्द भी देवशास्त्रीय अर्थ में 'बादल' के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि बादल में गौएं घिरी रहती हैं; और यहां से इन्हें इन्द्र एवं अन्य देवता छुड़ाकर लाते हैं।

वरसने वाले बादल पानी-भरे होते हैं; वे बूंदें बरसाते, और गरजते घूमा करते हैं; इसलिए पशू-करण की प्रक्रिया के द्वारा ये अनायास ही गौएं बन जाते हैं और इनका दूध बरसने वाला पानी कहाता है।

विश्व में परिव्याप्त सर्गनियम को 'ऋत' कहा गया है; और उदात्ततम देवता इसके अधीन बताये गये हैं। यही शब्द आगे चलकर नीति-क्षेत्र में 'सत्य' और 'सम्यक्' का और धर्म-क्षेत्र में यज्ञ-यागादि का वाचक बन गया है।

सर्ग-सिद्धान्त—

ऋग्वेद का सर्ग-संबन्धी देवशास्त्र दो सिद्धान्तों के मध्य लटकता दीख पड़ता है। किंतु ये दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के प्रतीपी नहीं, अपितु एक ही मन्त्र में एक-साथ मिले दीख पड़ते हैं। पहले सिद्धान्त के अनुसार सर्ग-रचना मशीनवत् है और इसके पीछे बढ़ई अथवा लुहार का हाथ काम करता दीख पड़ता है। दूसरे सिद्धान्त में सर्गरचना प्राकृतिक प्रक्रिया से हुई बताई गई है।

ऋग्वैदिक कवि सृष्टि-रचना का वर्णन करते समय एक भवन का रूपक खड़ा करते हैं। नाप-तोल की बात बार-बार चलती है। उदाहरणार्थ इन्द्र ने ६ प्रदेशों को मापा है और उसने पृथिवी के विस्तृत तल को और आकाश के गुम्बद को घड़ा है[2]। विष्णु ने तीनों पार्थिव लोकों को मापा और अपने आवास को ऊंचे बिन्दु पर पक्का किया[3] है। माप का साधन कभी-कभी[4] सूर्य को बताया गया है; इस फीते से वरुण[5]

---

1. अवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्। ऋ० 1.32.12.
2. अयं षडुर्वीरमिमीत धीरो न याभ्यो भुवनं कच्चनारे। ऋ० 6.47.3.
   अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः।
   अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु सोमो दाधारोर्व१न्तरिक्षम्॥ ऋ० 6.47.4.
3. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
   यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ ऋ० 1.154.1.
4. सद्मेव प्राचो वि मिमाय मानैर्वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्। ऋ० 2.15.3.
   नि षीमिदत्र गुह्या दधाना उत क्षत्राय रोदसी समञ्जन।
   मं मात्राभिर्ममिरे येमुरुर्वी अन्तर्मही समृते धायसे धुः॥ ऋ० 3.38.3.
5. मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण। ऋ० 5.85.5.

अपना काम करता है; पितरों ने भी मापदण्डों (मात्राभिः) द्वारा दोनों लोकों को मापा और उन्हें फैलाकर ठीक जगह बिठाया था[1]। माप का यह फीता अथवा जरीबें स्वभावतः पूरब से डाली जाती हैं। उदाहरणार्थ, कहा गया है कि इन्द्र ने सामने की ओर जरीबों के द्वारा एक घर को मापा है[2]। इसी से मिलता-जुलता दूसरा विचार पृथिवी के विस्तृत करने का है। इस काम को अग्नि, इन्द्र, असत् एवं अन्य देवता करते हैं। और चूंकि वैदिक घर-द्वार लकड़ी के बनाये जाते थे, इसलिए काष्ठ को एक दो बार सृष्टि का भी उपादान माना गया है। उदाहरण के लिए कवि एक जगह पूछता है—वह कौनसा वन था, वह कौनसा वृक्ष था जिससे कि देवताओं ने द्युलोक और भूलोक की रचना की थी[3]? इस प्रश्न का उत्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण में यों आता है—यह वन अथवा वृक्ष ब्रह्म था[4]। द्युलोक एवं भूलोक को बहुधा खंभों पर टिका बताया गया है; किंतु आकाश को बिना बल्ली के टिका हुआ कहा गया है[5]। पर बिना बल्ली के टिका होने पर भी यह धड़ाम से गिर नहीं पड़ता, यह एक अचरज की बात है[6]। किवाड़ के परिवेश (चौकटे) का नाम 'आता' है। इस प्रकार के परिवेश (चौकटे) में इन्द्र ने वायु[7]

---

1. नि षीमिदत्र गुह्या दधाना उत क्षत्राय रोदसी समञ्जन्।
   सं मात्राभिर्ममिरे येमुरुर्वी अन्तर्मही समृते धायसे धुः॥ ऋ० 3.38.3., दे 190.2.
2. सद्मेव प्राचो वि मिमाय मानैर्वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्।
   वृथासृजत् पथिभिर्दीर्घयाथैः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ऋ० 2.15.3.
   न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप।
   उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः॥ ऋ० 7.99.2.
3. किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
   संतस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त॥ ऋ० 10.31.7. = 10.81.4.
4. ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्। तै० ब्रा० 2.8.9.6.
5. अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
   स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ऋ० 2.15.2.
   स इत् स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान।
   उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत्॥ ऋ० 4.56.3.
   सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्।
   अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥ ऋ० 10.149.1.
6. अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ्ङुत्तानोऽव पद्यते न।
   कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम्॥ ऋ० 4.13.5.
   पप्राथ क्षां महि दंसो व्युर्वीमुप द्यामृष्वो बृहदिन्द्र स्तभायः।
   अधारयो रोदसी देवपुत्रे प्रत्ने मातरा यह्वी ऋतस्य॥ ऋ० 6.17.7.
7. वि यत् तिरो धरुणमच्युतं रजोऽतिष्ठिपो दिव आतासु बर्हणा।
   स्वर्मीळ्हे यन्मद इन्द्र हर्ष्याहन् वृत्रं निरपामौब्जो अर्णवम्॥ ऋ० 1.56.5.

को जड़ रखा है। अमित विश्व-भवन के दरवाजे में से होकर प्रातःकालीन प्रकाश[1] धरती पर उतरता है। कभी-कभी नींव का संकेत भी आ जाता है। उदाहरणार्थ, सविता ने यन्त्रों द्वारा पृथिवी को स्थिर किया[2]; विष्णु ने इसे खूंटियों से कसकर पक्का किया[3] और बृहस्पति इसके छोरों को थामे हुए हैं[4]। सर्ग के रचयिता या तो सामान्यतया देव-समष्टि है अथवा अनेक देव-व्यष्टियाँ; किंतु जहां-कहीं हाथ की सफ़ाई की बात आती है तब त्वष्टा अथवा सुपाणि ऋतुओं का नाम जीभ पर आ जाता है। सर्ग-रचना में देवताओं का प्रयोजन क्या था; इस विषय में संकेत नहीं मिलते। फिर भी जिस प्रकार मानव अपने घर का निर्माण अपने निवास के लिए करता है, वैसे ही और कोई देवता न सही तो विष्णु तो जरूर ही लोकों का माप और उनका विस्तार मनुष्यों के बसने के लिए करते हैं।[5]

जगत् में जनकता का भाव, विशेषतः प्रातःकाल सूर्य के जन्म से और अवर्षण के बाद वर्षा के अवतरण से संबद्ध प्रधानतः तीन प्रकार से आया है। पहला काल-संबन्धी है, जिसमें पूर्वापर भाव संनिहित है। एक घटना किसी दूसरी घटना से पहले होने पर उसकी जनयित्री बन जाती है। इस दृष्टि से उषाएं सूर्य और प्रातःकालीन यज्ञ की जननी हैं[6], किंतु वे स्वयं रात्रि से जन्म लेती हैं[7]। किंतु दृष्टिकोण के बदलने से इस प्रकार का भेद आ जाना स्वाभाविक है। (दे० § 48)। जिन मन्त्रों

---

1. भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः। ऋ० 1.113.4.
अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः॥ ऋ० 4.51.2.
विदा दिवो विष्यन्नद्रिमुक्थैरायत्या उषसो अर्चिनो गुः।
अपावृत व्रजिनीरुत् स्वर्गाद् वि दुरो मानुषीर्देव आवः॥ ऋ० 5.45.1.
2. सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्। ऋ० 10.149.1.
3. व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः। ऋ० 7.99.3.
4. यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण। ऋ० 4.50.1.
इन्द्रं स्तवा नृतमं यस्य मह्ना विबबाधे रोचना वि ज्मो अन्तान्।
आ यः पप्रौ चर्षणीधृद्वरोभिः प्र सिन्धुभ्यो रिरिचानो महित्वा॥ ऋ० 10.89.1.
5. यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद् विष्णुर्मनवे बाधिताय। ऋ० 6.49.13.
इन्द्राविष्णू तत् पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे।
अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि॥ ऋ० 6.69.5.
यः पार्थिवानि त्रिभिरिद् विगामभिरुरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे॥ ऋ० 1.155.4.
6. एता उ त्याः प्रत्यदृश्रन् पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातीः।
अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निमपाचीनं तमो अगादजुष्टम्॥ ऋ० 7.78.3.
7. जानत्यह्नः प्रथमस्य नाम शुक्रा कृष्णादजनिष्ट श्वितीची।
ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती॥ ऋ० 1.123.9.

में उषा का उत्थान पितरों के यज्ञ से बताया गया है, वहां उसका आधार इसी प्रकार की 'पूर्वता' है। दूसरा; स्थान में भी जनकता का भाव संनिहित है। वह देश, जिसमें कोई वस्तु निहित है या उत्पन्न होती है, उस वस्तु का जनक कहा जाता है। इसके उदाहरण आलंकारिक संदर्भों में मिलते हैं। उदाहरणार्थ, 'इषुधि' को तीरों का जनक माना गया है[1] और सूर्य के चमकीले अश्वों को उस के रथ के पुत्र बताया गया है[2]। देवागत जनकता का भाव विशेष रूप से आकाश और पृथ्वी पर लागू होता है। द्यौस् के मानवीकरण में जनकता के भाव का महत्त्वपूर्ण स्थान है (दे० § 11) और उषा को सदा द्युलोक की पुत्री कहा गया है। इसी प्रकार धरती, जोकि अपने प्रभूत वक्ष पर वनस्पतियों को जनमाती है[3], माता[4] कहाती है। आकाश और पृथ्वी बहुधा जगत् के पिता-माता के रूप में एक युग्म में आते हैं। इसका कारण यह है कि द्युलोक नमी और रोशनी के द्वारा धरती को उर्वर बनाता है; और साथ ही ये दोनों जीव-जगत् का भरण-पोषण करते हैं : द्युलोक वर्षा बरसा कर और धरती वनस्पति उपजा कर। वे खासतौर से देवताओं के माता-पिता हैं (§ 44,)। दूसरी ओर एक स्थान पर देवताओं को आकाश-पृथ्वी का रचयिता बताया गया है, जिसका निष्कर्ष यह हुआ कि वैदिक कवियों की दृष्टि में बच्चे भी अपने माता-पिता के मां-बाप बन जाते हैं। उदाहरण के लिए देखिए—इन्द्र के विषय में कहा गया है कि उसने अपने माता-पिता को अपने शरीर से उत्पन्न किया[5]। किंच, वर्षा देनेवाली पर्जन्य-गौ को विद्युत्-वत्स की माता कहा गया है; साथ ही अन्तरिक्षस्थ अग्नि के बीज को धारण करने वाले दिव्य जलों को विद्युत् की माता बताया गया है; क्योंकि अग्निदेव का एक स्वरूप 'जल-पुत्र' भी है (§ 24)। अथर्ववेद[6] में विद्युत् का एक नाम 'प्रवतो नपात्' भी आता है। तीसरा; जनकत्व

---

1. बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य ।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ॥ ऋ० 6.75.5.
2. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ ऋ० 1.50.9.
3. दृळ्हा चिद् या वनस्पतीन् क्ष्मया दर्धर्ष्योजसा ।
यत् ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः ॥ ऋ० 5.84.3.
4. तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः ॥ ऋ० 1.89.4.
5. ते सूनवः स्वपसः सुदंससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये ।
स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः ॥ ऋ० 1.159.3.
क उ नु ते महिमनः समस्यास्मत्पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः ।
यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः ॥ ऋ० 10.54.3.
6. नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥

का उसके एक और सामान्य अर्थ में भी प्रयोग हुआ है : उदाहरणार्थ गिरोह के मुखिया और सब से दबंग व्यक्ति को गिरोह के सदस्यों का मां-बाप कहा जाता है। इस दृष्टि से वायु उत्पात-देवताओं का मां बाप है[1]। इसी प्रकार रुद्र मरुतों का अथवा रुद्रों का, सोम वनस्पतियों का, और सरस्वती सभी नदियों की माता है।

ऋग्वेद में जनकत्व के दो गौण प्रयोग भी हैं, ठीक वैसे ही जैसेकि अरबी भाषाओं में। पहला तब जबकि किसी गुण को आलंकारिक अर्थ में उन पुत्रों का पिता कहा जाता है, जिनमें कि वह गुण बहुत अधिक मात्रा में मिलता है अथवा जो उस गुण के वितरक हैं। उदाहरणार्थ आम तौर से देवताओं को अमरत्व अथवा दक्ष का पुत्र[2] समझा जाता है। (दे० § 19); अग्नि शवस् (=शक्ति) का पुत्र है (§ ३५) और पूषा उन्मुक्ति का पुत्र है। इन्द्र सत्यका पुत्र है[3]। गो-प्राप्ति[4] का और शक्ति का पुत्र है[5]। इन्द्र की माता को शवसी[6] कहा गया है। मित्र और वरुण महती शक्ति के सूनु हैं। दूसरा प्रयोग अपेक्षाकृत कम आता है। जिस प्रकार पिता के गुण पुत्र में संक्रान्त होते हैं वैसे ही कभी-कभी उसका नाम भी उस पर संक्रान्त हो जाता है। इस प्रकार त्वष्टा का एक विशेषण "विश्वरूप" त्वष्टा के पुत्र का नाम बन जाता है। इसी सादृश्य के आधार पर विवस्वान् का नाम उसके पुत्र मनु के लिए पैतृक नाम के रूप में वैवस्वत[7] बनकर प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वेद के सबसे बाद बने सूक्तों में से एक पुरुषसूक्त[8] में सर्ग का आलंकारिक निरूपण मिलता है। इसमें न तो तक्षण प्रक्रिया की ओर ही संकेत है और न जन्म-प्रक्रिया की चर्चा ही। यद्यपि इस सूक्त के कुछेक विवरण ऋग्वेद के सबसे बाद के काल की ओर संकेत करते हैं, तथापि इसकी मुख्य विचारधारा अत्यन्त आदिम-कालीन है; क्योंकि इसमें सर्ग की रचना एक दैत्य के शरीर से हुई बताई गई है। देवताओं ने दैत्य का एक यज्ञ किया। हविष् रूप पुरुष का सिर आकाश बन गया, उसकी नाभि वायु बन गई और उसके पैर धरती बन गये। उस के मन से चन्द्रमा,

---

प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः। अ० 1.13.2,3.

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः। अ० 1.26.3.

प्रवत् ते अग्ने जनिमा पितूयतः साचीव विश्वा भुवना न्यृञ्जसे ॥ ऋ० 10.142.2.

1. अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिव आ वक्षणाभ्यः। ऋ० 1.134.4.
2. नपाता शवसो महः सूनू दक्षस्य सुक्रतू। ऋ० 8.25.5.
3. सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ऋ० 8.69.4.
4. प्र ते बभ्रू विचक्षण शंसामि गोषणो नपात्। ऋ० 4.32.22.
5. का सुष्टुतिः शवसः सूनुमिन्द्रमर्वाचीनं राधस आ ववर्तत्। ऋ० 4.24.1.
6. प्रति त्वा शवसी वदद् गिरावप्सो न योधिषत् ॥ ऋ० 8.45.5.
7. यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम्। वालखिल्य 4.1.
8. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ऋ० 10.90.2.

चक्षु से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि, और प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई। उसका मुख ब्राह्मण बना, उसकी भुजाएं राजन्य, उसके ऊरु वैश्य और उसके पैर शूद्र बने। सूक्त में मिलने वाले विवरण से सर्वदेववाद की-सी गन्ध आती है; क्योंकि इसमें साफ तौर से कहा गया है कि यह सब कुछ पुरुष[1] ही है; भूत और भविष्य दोनों पुरुष ही हैं। अथर्ववेद[2] और उपनिषदों[3] में सर्वदेववादी दृष्टि से पुरुष को विश्व से अभिन्न बताया गया है। उसका ब्रह्म[4] के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। शतपथ[5] के अनुसार पुरुष वही है जोकि स्रष्टा प्रजापति है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में कुछ सूक्त आते हैं, जिनमें सृष्टि की उत्पत्ति आलंकारिक ढंग से नहीं अपितु दार्शनिक ढंग से दिखाई गई है। अनेक मन्त्रों से झलकता है कि ऋग्वेद के सृष्टि-रचना-विषयक विचारों में सूर्य को एक महत्त्वपूर्ण सृष्टि-कर्ता माना जाता था। फलतः उसे चर और अचर सभी का आत्मा कहा गया है[6]। इस प्रकार की उक्तियों से, जैसेकि "वह है तो असल में एक, पर नाम उसके अनेक हैं"[7] ज्ञात होता है कि उसके मूर्त रूप को एक सर्वातिशायी भावरूप देवता में बदला जा रहा था, जो कि बाद के समय में विकसित ब्रह्मा से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। इस दृष्टि से एक बार सूर्य को भी हिरण्यगर्भ कहकर विश्व की प्रभविष्णु शक्ति के रूप में उसकी बन्दना की गई है[8]। हिरण्यगर्भ आकाश-मण्डल को नापता है; और वही उस बिन्दु पर भासमान होता है जहां सूर्य उदित होता है[9]। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र

1. ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्। अ० 10.2.25.
2. ऊर्ध्वो नु सृष्टा३ंस्तिर्यङ् नु सृष्टाः३ सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३। अ० 10.2.28. etc.
   The whole Sūkta deals with पुरुष
3. पुरुष एवेदं विश्वम्। मुण्डकोपनिषत् 2.1.10.
4. अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म।
   छान्दोग्य उप० 1.7.5.
5. ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः॥ श० 11.1.6.2.
6. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ० 1.115.1. D.
7. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
   एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० 1.164.46.
   सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
   छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्सोमस्य मिमते द्वादश॥ ऋ० 10.114.5.
   एकं एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।
   एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥ बालखिल्य. 10.2.
8. यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
   य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ० 10.121.3.
9. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।

में उसे प्रजापति कहा गया है; और यही नाम ब्राह्मणों में मुख्य देवता का पड़ गया है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ऋग्वेद के इस अकेले पुराने मन्त्र में, जिसमें कि प्रजापति[1] शब्द आया है, वह सूर्य का विशेषण है जिसे उसी सूक्त के पञ्चम मन्त्र में चराचर का शासक बताया गया है।

सर्ग-संबन्धी दो सूक्त और हैं, जिनमें असत् से सत् की उत्पत्ति बताई गई है। ऋग्वेद[2] में आया है कि ब्रह्मणस्पति ने एक लुहार की न्याई इस जगत् को एक-साथ धौंका। असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। उससे क्रमशः पृथिवी, आकाश और अदिति हुए और अदिति के साथ दक्ष जन्मे और अदिति के बाद देवता जन्मे। देवताओं ने सूर्य को सिरजा। अदिति के आठ पुत्र हुए किंतु आठवें पुत्र मार्तण्ड को उसने दूर फेंक दिया। असल में उसने उसे जन्मने और मरने के लिए रचा। इस सूक्त में तीन स्तर प्रत्यक्ष हैं—पहले सृष्टि बनी; फिर देवता बने और अन्त में सूर्य की रचना हुई।

ऋग्वेद[3] में, जोकि अत्यन्त उदात्त एवं सूक्ष्म भावों से भरा सूक्त है, यह भांपा गया है कि आरम्भ में कुछ भी नहीं था और तब केवल शून्य था। वह अविविक्त जल अंधकार से परिच्छन्न था[4]। एक आदि तत्त्व तपस् से उत्पन्न हुआ। उसके बाद मन का प्रथम बीज काम पैदा हुआ। यह सत् और असत् के मध्य की एक

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० 10.121.5.
यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।

1. यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० 10.121.6.
दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशङ्गं द्रापिं प्रति मुञ्चते कविः।
विचक्षणः प्रथयन्नापृणन्नुर्वजीजनत् सविता सुम्नमुक्थ्यम् ॥ ऋ० 4.53.2.
जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी। ऋ० 4.53.6.

2. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ ऋ० 10.72.2.
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥ 3.
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥ 4.
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥ 5.
अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।
देवाँ उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् ॥ ऋ० 10.72.8.

3. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ ऋ० 10.129.1.

4. तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥ ऋ० 10.82.6.

कड़ी थी। इस आविर्भाव से देवता हुए। किंतु इतना कहते ही कवि असमञ्जस में पड़ जाता है और सृष्टि-रचना को अनिर्वाच्य बताकर मौन हो जाता है। तीन मन्त्रों का एक सूक्त[1] उक्त विकास का परिशेष बन कर आया है। इसके अनुसार तपस् से ऋत हुआ; तदुपरान्त रात्रि, समुद्र, एवं संवत्सर का आविर्भाव हुआ। धाता ने यथापूर्व सूर्य, चन्द्र, द्युलोक और पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश को सिरजा।

ऋग्वेद के १०. १२६वें सूक्त के समान ही उदात्त स्वर में तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] कहता है कि आरंभ में कुछ नहीं था, न स्वर्ग, न धरती और न अन्तरिक्ष। इन्होंने असत् से सत् बनने का इरादा किया। ब्राह्मणों की सर्ग-विषयक भावना के अनुसार सृष्टि-रचना के लिए एक कर्ता की अपेक्षा है, भले ही वह कर्ता आरम्भ-बिन्दु न हो। ब्राह्मण प्रजापति या मानवीय ब्रह्मा को कर्ता मानते हैं, जोकि देव-दानवों और मानवों का केवल स्रष्टा ही नहीं अपितु उनका सभी-कुछ है। यह प्रजापति ऋग्वेद में संकेतित काम-बीज का मानवीय प्रतिरूप है। इन सभी वर्णनों में सर्ग का आरम्भ-बिन्दु पुत्रेच्छुक स्रष्टा प्रजापति है; अथवा वह आदि-सलिल जिस पर कि रचना का मूर्त सुवर्ण अण्ड (हिरण्यगर्भ) तैर रहा था जिससे कि उस जीवन का विकास हुआ जो इच्छा का निधान और सृष्टि का रचयिता है। प्रजापति और आदि-सलिल के पौर्वापर्य में मिलनेवाला विरोध संभवतः रचना और विकास के दो सिद्धान्तों को मिला देने से पैदा हुआ है। इसके अतिरिक्त और बहुत-से उक्ति-विरोध भी सामने आते हैं। उदाहरणार्थ, देवताओं ने प्रजापति को उत्पन्न किया और प्रजापति ने देवताओं को। छान्दोग्य ब्राह्मण[3] में कहा गया है कि असत् सत् बन गया। सत् एक अण्डे में बदल गया ; जो एक साल बाद फट कर द्युलोक और पृथिवी में विभक्त हो गया। जो कुछ भी उत्पन्न हुआ वह सूर्य है और सूर्य ब्रह्म है[4]।

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै.........॥ ऋ० 10.121.7.

1. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ऋ० 10.190.1–3.
2. न द्यौरासीत्। न पृथिवी। नान्तरिक्षम्। तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति।
तै० ब्रा० 2.2.9.1.
3. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ० 10.129.4.
4. सदेवेदमग्र आसीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत

बृहदारण्यक[1] ने विकास-क्रम को इस प्रकार रखा है—आरम्भ में यह जगत् जल था, उससे सत्य उत्पन्न हुआ; सत्य से ब्रह्म; ब्रह्म से प्रजापति और प्रजापति से देवता उत्पन्न हुए।

अथर्ववेद में विश्वेदेव स्कम्भ, प्राण[2], रोहित (सूर्य), काम आदि नामों से स्रष्टा के रूप में आते हैं। ब्राह्मणों की सब से आकर्षक सृष्टि-रचना-संबन्धी गाथा में जलमग्न पृथिवी को सूकरदेव ऊपर उभारते हैं। आगे चलकर यही सूकरदेव विष्णु के एक अवतार बन जाते हैं।

देवों और मानवों का उद्गम (§ 9)—

देवताओं के उद्गम से संबद्ध उल्लेखों का निर्देश हो चुका है; अब उनका संक्षेप दे देना उचित होगा। दार्शनिक सूक्तों में देवों की उत्पत्ति बहुधा जलतत्त्व से बताई गई है। अथर्ववेद[3] में उनका उद्भव असत् से बताया गया है। ऋग्वेद[4] के अनुसार देवों का उत्थान विश्व की उत्पत्ति के अनन्तर हुआ है। किंतु सामान्यत: उन्हें आकाश-पृथिवी की संतति माना गया है। ऋग्वेद[5] में उनका उद्गम संसार के तीन विभागों के अनुसारी तीन तत्त्वों से अर्थात् अदिति, जल, और पृथिवी से बताया गया है[6]। एक धारणा के अनुसार देवों को एक-दूसरे से उत्पन्न हुए बताया

ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्। तद् यद्रजतं सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बं स मेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः। अथ यत्तद्-जायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः। स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते।

छान्दोग्योप० 3.19.1–4

1. आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवान्। बृहदारण्यक० 5.5.1.
2. प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। अथ० 11. 4. 1.
3. बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परिजज्ञिरे।
   एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः॥ अथ० 10.7.25.
4. को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
   अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥ ऋ० 10.129.6.
5. विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
   ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्॥ ऋ० 10.63.2.
6. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
   अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ ऋ० 1.139.11.

गया है। ऋग्वेद[1] में उषा को देवताओं की जननी कहा गया है; एक मन्त्र[2] में ब्रह्मणस्पति को, और दूसरे[3] में सोम को। 7 या 8 देवों को, जोकि आदित्य नाम से ख्यात हैं, अदिति से उत्पन्न हुए बताया जाता है। अथर्ववेद[4] में कुछ देवता पिता कहे गये हैं और कुछ को पुत्र कहा गया है।

रही मानव के उद्गम की बात—इस विषय में वैदिक भावना डावांडोल-सी है; फिर भी मानव जाति का उद्गम सामान्यतः एक आदिम पुरुष से माना गया है। यह आदिम पुरुष या तो विवस्वत्पुत्र मनु है, जिसने सबसे पहला यज्ञ किया था[5] और जो मनुओं का पिता कहाता है[6]; अथवा विवस्वान् का पुत्र वैवस्वत यम जिसने अपनी यमल बहिन यमी के साथ मानव जाति को प्रवर्तित किया था। और यदि मानव का उद्गम, इस प्रथम पुरुष से भी पहले हुआ माना जाय तो इसे दिव्य मानना होगा। विवस्वान् (§ 18) यमल के पिता हैं, जबकि एक स्थल पर[7] दिव्य गंधर्व और अप्सराओं को उनका परम जामि बताया गया है। कभी-कभी मानव के देवों के साथ के संबन्ध का भी संकेत है; और तब मानवों को आकाश-पृथिवी की संतति में समिलित किया जाता रहा होगा; क्योंकि आकाश, पृथिवी तो सभी के कदीमी मां-बाप रहते आये हैं। ऋग्वेद[8] में अग्नि को मानव-अपत्य उत्पन्न करनेवाला बताया है। अङ्गिरसों को, जोकि परवर्ती काल के पुरोहितों के पूर्वज हैं, अग्नि का पुत्र कहा गया है। ऐसे भी अनेक मानव-परिवार हैं जो अत्रि, कण्व, एवं अन्यों के[9] माध्यम से स्वतन्त्र-रूपेण देवताओं से उत्पन्न हुए हैं। वसिष्ठ के[10] विषय

1. माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती वि भाहि। ऋ० 1.113.19.
2. देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्॥ ऋ० 2.26.3.
3. पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः॥ ऋ० 9.87.2.
4. ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम्॥ अथ० 1.30.2.
5. येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
   त आदित्या अभयं शर्म यच्छत······················॥ ऋ० 10.63.7.
6. यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत॥ ऋ० 1.80.16.
7. गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ॥ ऋ० 10.10.4.
8. स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।
   विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्॥ ऋ० 1.96.2.
   स मातरिश्वा पुरुवारपुष्टिर्विदद् गातुं तनयाय स्वर्वित्।
   विशां गोपा जनिता रोदस्योर्देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्॥ ऋ० 1.96.4.
9. दध्यङ् ह मे जनुषं पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वे मनुर्विदुः।
   तेषां देवेष्वायतिरस्माकं तेषु नाभयः॥ ऋ० 1.139.9.
10. उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन मनसोऽधि जातः।

में कहा गया है कि उनकी उत्पत्ति एक अनोखे ही ढंग से मित्र और वरुण से हुई थी और उर्वशी उनकी माता थीं। विभिन्न वर्णों के मानवों की विश्व-पुरुष के विभिन्न अवयवों से हुई उत्पत्ति प्रस्तुत विश्व-रचना से भिन्न प्रकार की है। (दे० § 8 p. 12)।

३. वैदिक देवता

सामान्य स्वरूप और वर्गीकरण (§ 10)—

रूप-रेखा का अनिर्धारण और व्यक्तित्व का अभाव—ये दो बातें वेदों की देव-विषयक धारणा की विशेषताएं हैं। इस कमी का प्रमुख कारण यह है कि वैदिक देवता, भायोरपीय जातियों में से किसी भी जाति के देवताओं की अपेक्षा प्राकृतिक दृश्यों के अधिक समीप हैं। फलतः वेद के प्राचीन व्याख्याकार यास्क कहते हैं कि देवों का दृश्य रूप नितरां मानवीय नहीं है; जैसेकि सूर्य, पृथिवी तथा अन्य देवों के दृश्य रूप[1]। वैदिक देवताओं के प्राकृतिक आधारों में, आरम्भ में बहुत ही थोड़ी वैयक्तिक विशेषताएं रही थीं; यहां तक कि उनमें उनके अपने क्षेत्र से संबद्ध अन्य दृश्यों अथवा घटनाओं की विशेषताएं भी विद्यमान थीं। इस प्रकार उषा, सूर्य, एवं अग्नि के इन सब में मिल जानेवाले गुण हैं—ज्योतिष्मत्ता, अन्धकार का निरसन, और प्रातःकाल के समय आविर्भाव। एक दूसरे से पार्थक्य उस अवस्था में और भी कम हो जाता है जब विभिन्न देवता एक ही प्राकृतिक दृश्य या घटना के विभिन्न पक्षों से उत्पन्न हुए बताये जाते हैं। इसलिए वेद के हर देवता के स्वरूप में तात्त्विक विशेषताएं कुछ इनीगिनी ही हैं, जो दूसरे सभी देवताओं में पाई जानेवाली विशेषताओं के साथ मिलती-जुलती हैं। जैसे—प्रकाश, शक्ति, वदान्यता, और प्रज्ञा। कुछेक असामान्य महत्ता के कार्य हर महान् देवता में व्यक्तिगत रूप से निक्षिप्त किये गये हैं। स्वर्ग और पृथिवी के संभालने या स्थिर करने का कार्य इतने साधारण रूप से उन सब को सौंपा गया है कि अथर्ववेद[2]

द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ॥ ऋ० 7.33.11.

1. अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्। अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तत्।
   यथाऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति ॥ नि० 7.7.
2. शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तरः।
   दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे ॥ अथ० 19.32. 1–10.
   दर्भेण देवजातेन दिविष्टम्भेन शश्वदित्।
   तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च ॥ अ० 19–32.7.
   यो जायमानः पृथिवीमदृंहद्यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च।

में इस काम को कुशा की अंटिया तक करती देखी गई है। लगभग एक दर्जन देवता दोनों लोकों की सृष्टि करते बताये गये हैं। संख्या में इनसे भी अधिक देवताओं ने सूर्य का आविर्भाव किया है और उसे आकाश में स्थिर किया है, अथवा उसके लिए वर्तनि (पथ) का निर्माण किया है। चार या पांच देवताओं के विषय में कहा गया है कि उन्होंने पृथिवी, आकाश अथवा इन दोनों लोकों का विस्तार किया है। अनेक देवता (सूर्य, सविता, पूषा, इन्द्र, पर्जन्य और आदित्य गण) चर और अचर सभी के स्वामी बताये गये हैं।

इस प्रकार के सर्वसाधारण गुण प्रत्येक देवता के विशिष्ट गुणों को अस्पष्ट बना देते हैं; क्योंकि स्तुति-सूक्तों में तो देवताओं के इन्हीं गुणों को विशेष महत्त्व दिया गया है। पुनः प्रकृति के विविध विभागों अथवा पक्षों से संबद्ध होने पर भी यदि देवताओं के प्रमुख कार्य सामान्य हुए तो सब देवता एक-दूसरे के समीप आ जाते हैं। इस प्रकार अग्नि, जो अपने प्राथमिक रूप में एक पृथिवीस्थ देवता है, अपने प्रकाश से अन्धकार के दैत्यों को दूर भगाता है, जबकि अन्तरिक्षस्थ विद्युत् का देवता इन्द्र उन दैत्यों को अपनी विद्युत् से मारता है। इस दशा में अग्नि-देव-संबन्धी कल्पना में अन्तरिक्षस्थ विद्युत् का पक्ष भी प्रविष्ट हो जाता है। देवताओं के इस समीकरण या एकीकरण में उनके युग्मों में आहूत होते रहने का भी पर्याप्त हाथ है। ऐसी परिस्थिति में एक देवता के विशिष्ट गुण दूसरे देवता में, उसके एकाकी बुलाये जाने पर भी निक्षिप्त हो जाते हैं। इस प्रकार स्वयं अग्नि सोमपा, वृत्रघ्न, गौ, जल, और सूर्य का विजेता बन जाता है, जबकि मूलतः ये गुण इन्द्र के अपने रहे थे।

हर वैदिक देवता में सामान्य रूप से सब गुणों के मिल जाने के कारण पैदा हुई रूप-रेखा की अनिश्चितता से, एवं लगभग सभी देवों को सभी शक्तियों से संपन्न बताकर उनके अपने विशिष्ट गुणों के निराकरण से, देवताओं में तादूप्य-स्थापन का काम आसान हो गया है। इस तादूप्य के निदर्शक संदर्भ ऋग्वेद में बहुल हैं। उदाहरण के लिए—एक कवि अग्निदेव का आह्वान करता हुआ कहता है—जन्म से, हे अग्नि! तू वरुण है; समिद्ध होने पर तू मित्र है; तुझमें, हे शक्ति के पुत्र! सभी देवता केन्द्रित हैं; तू उपासक के लिए इन्द्र है[1]। उपासक पुरोहितों की दृष्टि में अग्नि एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता था। वह पृथिवी पर व्यक्तिगत अग्नि के रूप में, अन्तरिक्ष में वैद्युत अग्नि के रूप में, और द्युलोक में सूर्य के भीतर प्रवर्तमान अग्नि के रूप में आविर्भूत हुआ है। उसके इन विभिन्न स्वरूपों का संकेतन वैदिक कवि पहे-

---

यं बिभ्रतं नानु पाप्मा विवेद स नोऽयं दर्भो वरुणोऽधिवाकः ॥ अथ० 19.32.9.

1. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः ।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥ ऋ० 5.3.1.

लियों के रूप में किया करते थे। इस प्रकार एक देवता को विभिन्न देवताओं के भीतर प्रवर्तित करने की इस प्रक्रिया से इस परिणाम पर पहुंच जाना सरल है कि विभिन्न देवता एक ही दिव्य सत्ता के विविध रूप हैं। इस तथ्य का निरूपण ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में पाया जाता है। एक ही देवता को विप्र लोग विभिन्न नामों से पुकारते हैं; वे इस एक को अग्नि, यम, मातरिश्वा इन नामों से पुकारते हैं[1] (तुलना कीजिए अथर्ववेद[2] के मन्त्र से)। मेधावी कवि एक ही सुपर्ण को अनेक प्रकार से देखते हैं[3]। इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल के अन्तिम पक्ष में एक प्रकार के बहुदेववाद-प्रवण एकेश्वरवाद का आविर्भाव हो चुका था। ऋग्वेद में हमें सर्वदेववाद का आरम्भिक रूप भी मिलता है; क्योंकि एक देवता केवल सभी देवताओं का मूल ही नहीं, अपितु वह संपूर्ण प्रकृति का भी प्रतिनिधि है। अदिति का तादूप्य सब देवों के साथ ही नहीं, अपितु मानवों, सब भूत और भविष्य पदार्थों, यहां तक कि वायु और स्वर्ग से भी स्थापित किया गया है[4]। इसी प्रकार प्रजापति सभी देवों के ऊपर एक देव ही नहीं, अपितु वे अपने में पदार्थजात को अन्तर्हित किये हुए हैं[5]। सर्वदेववाद का यह दृष्टिकोण अथर्ववेद में पूर्णरूपेण विकसित हो गया है[6], और उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में तो इसकी सर्वात्मना प्रतिष्ठा हो गई है।

ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों में व्यक्तिगत देवताओं का आह्वान उन्हें सर्वोच्च मान कर किया गया है; किंतु वहां यह धारणा अपनी अन्तिम परिणति तक नहीं पहुंच पाई है। वैदिक कवि जिस देवता-विशेष का आह्वान करते हैं, उसके स्तवन में लीन हो जाते हैं, और उस के गुणों को पराकाष्ठा तक पहुंचा देते हैं।

---

1. इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न् ।
   एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः ॥ ऋ० 1.164.46.
   उतैषां॑ पि॒तोत वा॑ पु॒त्र ए॑षामु॒तैषां॑ ज्ये॒ष्ठ उ॒त वा॑ कनि॒ष्ठः ।
2. एको॑ ह दे॒वो मन॑सि॒ प्रवि॑ष्टः प्रथ॒मो जा॒तः स उ॒ गर्भे॑ अ॒न्तः ॥ अथ० 10.8.28.
   य ए॒तं दे॒वमे॑क॒वृतं॒ वेद॑ ॥ अथ० 13.4.15.
3. सु॒प॒र्णं विप्राः॑ क॒वयो॒ वचो॑भि॒रेकं॒ सन्तं॑ बहु॒धा क॑ल्पयन्ति ॥ ऋ० 10.114.5.
4. अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
   विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ ऋ० 1.89.10.
5. यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒व एक॒ आसी॑त् । ऋ० 10.121.8.
   प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव । ऋ० 10.121.10.
6. यत्र ऋष॑यः प्रथम॒जा ऋचः॒ साम॒ यजु॑र्म॒ही ।
   एक॒र्षिर्यस्मि॒न्नार्पि॑तः स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ अथ० 10.7.14.
   बृ॒हन्तो॒ नाम॒ ते दे॒वा येऽस॑तः परि॑जज्ञि॒रे ।
   एकं॒ तदङ्गं॑ स्क॒म्भस्यास॑दाहुः प॒रो जनाः॑ ॥ अ० 10.7.25.

मैक्समूलर द्वारा प्रवर्तित हेनोथीज़्म या कथेनोथीज़्म नामक अत्यन्त विवादग्रस्त सिद्धान्त का जन्म इसी प्रक्रिया के आधार पर हुआ है। हेनोथीज़्म का अर्थ है—एक-एक देवता को बारी-बारी से सर्वोच्च देवता मानकर उसका गुण-गान करना। इस सिद्धान्त के अनुसार वैदिक कवि जिस किसी देवता का आह्वान कर रहे होते हैं उसी को सर्वातिशायी दिव्य गुणोंवाला देखने लगते हैं और उस समय उसे ही सर्वस्वतन्त्र और सर्वोच्च देवता मानने लगते हैं। इस सिद्धान्त के विरोध में यह आपत्ति उठाई जाती है कि वैदिक देवता सुतरां स्वतन्त्र नहीं माने गये हैं; क्योंकि किसी भी धर्म में देवताओं को इतना अधिक एक-दूसरे का समकक्ष एवं एक-दूसरे से संमिलित नहीं बताया गया है जितना कि वेद में; साथ ही वेद के सर्वशक्ति-संपन्न देवता भी अन्य देवताओं के अधीन हैं। उदाहरण के लिए - वरुण और सूर्य इन्द्र के अधीन हैं[1]। वरुण और अश्विन् विष्णु के समक्ष नतमस्तक हैं[2]; और इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा और रुद्र सवितृ-देव के नियमों का उल्लंघन नहीं करते[3]। यह भी मननीय है कि विश्वेदेव के सूक्तों में, जिनकी संख्या काफ़ी है, सभी देवता, यहां तक कि छोटे देवता भी, क्रमशः आहूत हुए हैं। एक बात और; वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या सोमयज्ञ-संपादन के लिए रची गई थी। इस यज्ञ-संपादन में प्रायः सभी देवताओं का हाथ है। यज्ञिय पुरोहित को सोम-यज्ञ में भाग लेनेवाले हर देवता के अपने स्थान का ज्ञान अवश्य रहा होगा। जब किसी देवता को अद्वितीय या एक कहकर उसका यशोगान किया गया है—जैसाकि यशोगान में स्वाभाविक-सा है—तब भी इस प्रकार के वाक्यों की एकेश्वरवादी शक्ति संदर्भ की विकृति से अथवा इन वाक्यों की जैसी-तैसी संगति से ही संभव हो सकी होगी। जैसेकि कवि के इस कथन में—'केवल अग्नि ही, वरुण की भांति धन का स्वामी है'। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कभी-कभी देवताओं का आह्वान युगलों में, त्रयी में, और कभी-कभी इससे भी बड़े वृन्दों में किया गया है। उदात्त चरितवाले वरुण तक को एक देवता[4] या अनेक देवताओं के साथ[5] आहूत किया

---

1. यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः। ऋ० 1.101.3.
2. तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः। ऋ० 1.156.4.
3. न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः। ऋ० 2.38.9.
4. विश्वेषां वः सतां ज्येष्ठतमा गीर्भिर्मित्रावरुणा वावृधध्यै।
   सं या रश्मेव यमतुर्यमिष्ठा द्वा जनाँ असमा बाहुभिः स्वैः॥ ऋ० 6.67.1-11.
   इत्यादि पूर्णसूक्त
5. इदं कवेरादित्यस्य स्वराजो विश्वानि सान्त्यभ्यस्तु मह्ना।
   अति यो मन्द्रो यजथाय देवः सुकीर्तिं भिक्षे वरुणस्य भूरेः॥ ऋ० 2.28.1-11
   इत्यादि पूर्णसूक्त

गया है। फलतः हेनोथीज़्म का सिद्धान्त सत्य नहीं प्रतीत होता, और इसकी उत्पत्ति का आधार देवों के अविकसित मानवीय रूप से उत्पन्न हुई उनकी रूपरेखा की अनिश्चयात्मकता और भ्रीयस जैसे किसी सर्वातिशायी देवता का अभाव है। इस प्रवृत्ति के बहुत से कारणों में वैदिक कवि की वह प्रवृत्ति भी है जिसके अनुसार कि वह किसी देवता के यश को गाता-गाता उसे इस हद तक पहुंचा देता है कि उससे अन्य देवगणों की उपेक्षा-सी हो जाती है, और देवैक्य में आस्था पकती चली जाती है जिसके अनुसार हर-एक देवता एक ही दिव्य सत्ता के किसी एक पक्ष का प्रतिरूप बन कर खिल उठता है[1]। हां! हेनोथीज़्म का सिद्धान्त वैदिक कवि की एकेश्वरवाद की ओर झुकी प्रवृत्ति का सूचक अवश्य है।

पहले कह आये हैं कि वैदिक कवियों की दृष्टि में वैदिक देवताओं का आदि था; क्योंकि उनका वर्णन कवियों ने स्वर्ग और पृथिवी के अपत्य के रूप में; और कभी-कभी दूसरे देवताओं के अपत्य के रूप में किया है। इससे स्पष्ट है कि देवताओं की अनेक पीढ़ियां थीं; और "पूर्वे देवाः" का उल्लेख तो अनेक मन्त्रों में साफ़ तौर से आया ही है[2]। देवताओं के प्रथम युग का उल्लेख भी हुआ है[3]। अथर्ववेद[4] में कहा गया है कि दश देवता अन्य देवताओं से पहले विद्यमान थे। ये देवता मूलतः मरणधर्मा थे—यह बात स्पष्ट रूप से अथर्ववेद[5] में आती है। ब्राह्मणों में यह बात एकसाथ सभी देवों के लिए[6] एवं व्यक्तिक देवों के लिए—जैसेकि इन्द्र[7] अग्नि और प्रजापति के लिए—कही गई है। देवता लोग मूलतः अमर नहीं थे। इस बात के संकेत ऋग्वेद में आते हैं। और यह भी कहा गया है कि उन्हें अमरत्व का वरदान सविता[8] या अग्नि से प्राप्त हुआ था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में आता है कि देवताओं

---

1. म॒हद्दे॒वाना॑मसुर॒त्वमेक॑म्। ऋ० 3.55.
2. दे॒वाश्चि॑त्ते असु॒र्या॑य॒ पूर्वेऽनु॑ क्ष॒त्राय॑ ममिरे॒ सहां॑सि। ऋ० 7.21.7.
3. दे॒वानां॑ पू॒र्व्ये यु॒गेऽस॑तः॒ सद॑जायत। ऋ० 10.72.2.
   दे॒वानां॑ यु॒गे प्र॑थ॒मेऽस॑तः॒ सद॑जायत। ऋ० 10.72.3.
4. ये त आसु॒न्दश॑ जा॒ता दे॒वा दे॒वेभ्यः॑ पु॒रा। अथ० 11.8.10.
5. ब्र॒ह्म॒चर्ये॑ण॒ तप॑सा दे॒वा मृ॒त्युमपा॑घ्नत। अथ० 11.5.19.
   येन॑ दे॒वाः स्व॑रारुरु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म्।
   तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यवः॑॥ अथ० 4.11.6.
6. ते दे॒वाः। एत॒स्माद॒न्तकान्मृत्योः संवत्सरात्प्रजापतेर्बिभ्याञ्चक्रुर्यद्वै नोऽयमहोरात्राभ्यामायुषोन्तं न गच्छेदिति। शत० ब्रा० 10.4.3.3.
7. अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्। ऐ० ब्रा० 8.14.4.
8. दे॒वेभ्यो॒ हि प्र॑थ॒मं य॒ज्ञिये॒भ्योऽमृ॑त॒त्वं सु॒वसि॑ भा॒गमु॑त्त॒मम्॥ ऋ० 4.54.2.
   दे॒वेभ्यो॒ हि प्र॑थ॒मं य॒ज्ञिये॒भ्योऽमृ॑त॒त्वं सु॒वसि॑ भा॒गमु॑त्त॒मम्।

ने अमरत्व की प्राप्ति की; किंतु कहां से और कैसे, इस बात पर प्रकाश नहीं डाला गया[1]। उन्हें अमरत्व सोमपान मे मिला है[2] और सोम में अमरत्व का सार है[3]। एक उत्तरकालीन धारणा के अनुसार इन्द्र ने स्वर्ग को तपस् के द्वारा जीता[4] और देवताओं ने देवत्व की प्राप्ति भी तपस् के द्वारा ही की[5]। अथर्ववेद के अनुसार देवताओं ने ब्रह्मचर्य या तपस् के द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त की[6] और अमरत्व को रोहित से प्राप्त किया[7]। एक और जगह उल्लेख मिलता है कि देवों ने मृत्यु को किसी याग-विशेष के द्वारा पराभूत किया[8]। इन्द्र और कुछ अन्य देवताओं को चिर-युवा बताया गया है[9]। यह सब कुछ ठीक है; किंतु वैदिक कवि देवताओं को निरपेक्षरूपेण अमर मानते थे—इस बात की पुष्टि के प्रमाण नहीं मिलते। वेदोत्तर-कालीन विचारधारा के अनुसार देवों की अमरता सापेक्ष थी; क्योंकि उनकी यह अमरता एक युग-विशेष तक ही सीमित रहती थी।

देवताओं का शारीरिक ढांचा मानवीय है। किंतु उनका यह रूप कुछ-कुछ

आदिद्दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः ॥ वा० सं० 33.54.
तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत् पित्रोरदीदेः ॥ ऋ० 6.7.4.
येन देवा अमृतमन्वविन्दन्। अथ० 4.23.6.

1. सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः ॥ ऋ० 10.53.10.

2. तवं द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रं मदाय वावृधुः। त्वां देवासो अमृताय कं पपुः। ऋ० 9.106.8.
इन्द्रस्ते सोम सुतस्य पेयाः क्रत्वे दक्षाय विश्वे च देवाः ॥ ऋ० 9.109.2.
एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूषः ॥ ऋ० 9.109.3.

3. तद् यत्तदमृतं सोमः सः। तदप्यपि यजमानः श्रमेण तपसान्विच्छति स दीक्षित्वा पयोव्रतो भवत्येतद्वै तपो यो दीक्षित्वा पयोव्रतोऽसत् तस्य घोषमाश्रृणोतीति। शत० ब्रा० 9.5.1.8.

4. तुभ्येदमिन्द्र परि षिच्यते मधु त्वं सुतस्य कलशस्य राजसि।
त्वं रयिं पुरुवीरामु नस्कृधि त्वं तपः परितप्याजयः स्वः ॥ ऋ० 10.167.1.

5. तपसा देवा देवतामग्र आयन्॥ तै० ब्रा० 3.12.3.1.

6. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ॥ अथ० 11.5.19.

7. रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत्तेन स्व स्तभितं तेन नाकः।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥ अथ० 13.1.7.

8. यथा वै मनुष्या एवं देवा अग्र आसन्तेऽकामयन्तावर्तिं पाप्मानं मृत्युमपहत्य दैवीं संसदं गच्छेमेति त एतं चतुर्विंशतिरात्रमपश्यन्तमाहरन्तेनायजन्त ततो वै तेऽवर्तिं पाप्मानं मृत्युमपहत्य दैवीं संसदमगच्छन्। तैत्ति० सं० 7.4.2.1.

9. युष्मस्य ते वृषभस्य स्वराज उग्रस्य यूनः स्थविरस्य घृष्वेः।
अजूर्यतो वज्रिणो वीर्या३णीन्द्र श्रुतस्य महतो महानि ॥ ऋ० 3.46.1.

नीहार-सा, छायात्मक-सा है; क्योंकि बहुधा यह पता चल जाता है कि शारीरिक अवयव उनके प्राकृतिक आधार के पक्ष-विशेषों के प्रतिरूप हैं। उदाहरणार्थ—सिर, मुख, कपोल, आंखें, बाल, कंधे, सीना, उदर, भुजाएं, अंगुलियां और पैर अनेक देव-व्यक्तियों के देखे जाते हैं। सिर, सीना, हाथ और बांहों का उल्लेख इन्द्र और मरुद्गण जैसे युद्धालु देवताओं के संबन्ध में हुआ है। सूर्य की भुजाएं उसकी किरणें हैं; उसके नेत्र तो उसका भौतिक रूप है। अग्नि की जिह्वा और उसके अवयव उसकी लपटों के प्रतिनिधि हैं। त्रित की अंगुलियों का उल्लेख उसे सोम-सोता बताने के लिए किया गया है और इन्द्र के उदर का उल्लेख उसके सोमपान को दर्शाने के लिए किया गया है। दो या तीन देवताओं को विश्वरूप बताया गया है। इस प्रकार के देवताओं की—जिनका स्वरूप इतना अधिक अस्पष्ट रहा हो और प्राकृतिक दृश्यों के साथ जिन का संबन्ध अनेक स्थलों पर इतना अधिक स्पष्ट दीख रहा हो—मूर्तियों का अथवा उनके मन्दिरों का ऋग्वेद में न मिलना सुतरां स्वाभाविक है।

कुछ देवताओं को वस्त्र-से पहने दिखाया गया है। उदाहरण के लिए उषा को लीजिए। इसका वर्णन चमकीला वस्त्र पहरनेवाली कहकर किया गया है। कुछ देवता कोट-जैसा कवच और सिर पर टोपी लगाते हैं। इन्द्र के हाथ में वज्र रहता है; और कुछ अन्य देवों के लिए भालों, युद्ध की कुल्हाड़ियों, एवं धनुष-बाण तक का उल्लेख आता है। साधारणतः सभी देवता ज्योतिर्मय रथ में बैठकर यात्रा करते हैं और लगभग सभी देवताओं के पास अपने निजी रथ हैं। रथों को खींचने-वाले प्रायः घोड़े हैं, किंतु पूषा के रथ को बकरे, मरुद्गण के रथ को चितकबरे हिरण और घोड़े, और उषा के रथ को गौएं एवं घोड़े खींचते हैं।

देवता अपने-अपने रथों में बैठकर आते और यज्ञों में प्रसारित कुशा के बिस्तर पर बैठ जाते हैं। किंतु एक विशेष दृष्टिकोण से अग्निदेव स्वयं हविष् को देवताओं के पास स्वर्ग में ले जाते हैं। देवताओं का पेय सोम है। उनका भोज्य मनुष्यों का प्रिय अन्नाद्य है। ये दोनों यज्ञों में उन्हें अर्पित किये जाते हैं। इसमें दूध के बने विभिन्न प्रकार के भोज्य—मक्खन, यव, शराब और चावल; छोटे २ पशु, बकरे और भेड़ें—संमिलित हैं। पशुओं में वे ही पशु देवताओं को रुचते हैं जो गुणों में बहुत-कुछ उनसे मिलते-जुलते हों। इस प्रकार वृष या महिष की बलि इन्द्र को दी जाती है और इन दोनों ही की इन्द्र के साथ अनेक बार तुलना की जाती है। इसी तरह इन्द्र के घोड़ों के विषय में आया है कि वे दाना खाते हैं। देवताओं के निवास के विषय में भांति-भांति के वर्णन मिलते हैं; जैसेकि स्वर्ग, तृतीय स्वर्ग, या विष्णु का परम पद, जहांकि देवता लोग सोमपान में मस्त होकर आनन्द का जीवन व्यतीत करते हैं। साधारणतया देवगण आपस में प्रेम से रहते और एक-दूसरे से मित्रता बरतते हैं। उपद्रवालु तो अकेला इन्द्र ही है। वर्णन आता है कि एक बार

वह सभी देवताओं के साथ अकेला[1] लड़ पड़ा था। उसने अपने पिता को मार डाला था और उषा के रथ को तोड़ छिन्न-भिन्न कर डाला था। देखने में आया है कि एक वार उसने अपने विश्वासपात्र सखा मरुद्गणों तक को मार डालने की धमकी दी थी।

प्रकृति की प्रमुख शक्तियों के प्रतिरूप भूत देवता—जैसेकि अग्नि, सूर्य और विद्युत्—विजयी और इसके परिणामस्वरूप आशा में पगे वैदिक भारतीयों के लिए क्षेमकारी एवं उन्हें संपत्ति के प्रदाता जीव दीख पड़ते थे। अपनी हिंस्र विशेषताओं के रहते हुए भी पूजा का भाजन तो अकेला रुद्र ही है। मानव-जीवन में उठनेवाले क्लेशों का कारण दैत्य हैं, जबकि प्रकृति के सिर पड़नेवाले महान् क्लेश—जैसेकि अवर्षण और अन्धेरा—वृत्र-जैसे शक्तिशाली दानवों की माया हैं। देवता लोग अपने हाथों इन दैत्यों का पराभव करके अपने सौख्यकारी स्वरूप को मानव-वर्ग के संमुख ख्यापित करते हैं। फिर देवताओं की दया भी तो मनुष्यों की दया-जैसी है। असल में तो देवता लोग यज्ञ के स्वीकर्ता हैं। जब पुरोहित लोग सोम को सवन करते, हविष् को अग्नि में डालते और यज्ञ के क्रियाकलापों को करते हैं तब वे देवताओं के लिए विविध सूक्तों का पाठ बराबर करते रहते हैं। फलत: देवगण यज्ञकर्ता पुरोहितों के मित्र हैं, और यज्ञ न करनेवालों के शत्रु। अयाज्ञिक प्राणियों को वे दण्ड देते हैं। किंतु यह बात विशेष रूप से इन्द्र पर लागू होती है। स्मरण रहे कि दया का दान देने में भी देवगण पक्षपात बरत जाते हैं।

वैदिक देवताओं का चरित्र नैतिक है। सभी देवता सच्चे हैं और वे धोखे से दूर हैं। वे हमेशा सचाई के मित्र और उसके संरक्षक हैं। फिर भी आदित्य-गण, और उनमें भी वरुण, नैतिकता के ध्वजी हैं। देवता दुष्ट कर्म करनेवालों पर क्रोध बरसाते हैं; किंतु यहां भी वरुण के क्रोध का अपराधों एवं पाप-धारणाओं के साथ अधिक संबन्ध है। अपराध से मुक्ति पाने के लिए अग्नि का स्तवन भी विहित है, किंतु यह तो उसके लिए प्रयुक्त हुई नाना स्तुतियों में से एक स्तुति है; यह अग्नि की नानाविध स्तुतियों का न तो सार है और न यह उनका प्रमुख विषय ही है। किंतु वरुण-विषयक स्तुतियों का तो मुख्य प्रयोजन ही पाप से छुटकारा है। इन्द्र भी पाप के लिए दण्ड देते हैं। किंतु उनके इस गुण का भी उनके चरित्र के साथ गौण संबन्ध है। नैतिकता का उच्च वैदिक मानदण्ड वैदिक सभ्यता की प्राचीनता की ओर संकेत करता है। फलतः वरुण की सत्याभिसन्धि भी इतनी पुनीत नहीं है कि वह उसे उसके विरोध में उठे कुटिल मनुष्यों के खिलाफ़ भली-बुरी चालें चलने से रोक सके। किंतु भद्र एवं देवयु मनुष्यों के प्रति वरुण की

1. विश्वे चनेदना त्वा देवास इन्द्र युयुधुः। यदहा नक्तमातिरः॥ ऋ० 4.30.3.
यत्र देवाँ ऋघायतो विश्वाँ अयुध्य एक इत्। त्वमिन्द्र वनूँरहन्॥ ऋ० 4.30.5.

सत्यनिष्ठा अटल है। पर इन्द्र तो बिना किसी उदात्त प्रयोजन के भी कभी-कभी नट की चालें चल ही जाते हैं।

स्मरण रहे कि वैदिक देवताओं के गुणों में नैतिक उच्चता का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि शक्तिमत्ता का। 'सत्य' और नासत्य', इन विशेषणों का 'महान्' और 'शक्तिमान्' इन विशेषणों की अपेक्षा कहीं न्यून महत्त्व है। देवता लोग अपनी कन्नी अंगुली से ही सब-कुछ कर सकते हैं। सच पूछिए तो इच्छा की पूर्ति ही देवताओं पर निर्भर है। उनका आधिपत्य सभी प्राणियों पर है। कोई भी मर्द उनके आदेशों का उल्लंघन नहीं कर सकता और उनके द्वारा निर्धारित अवधि के बाद कोई भी प्राणी जी नहीं सकता।

ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में देवताओं की संख्या 33 बतलाई गई है[1]। इस संख्या को '33 का तिगुना' इस प्रकार भी व्यक्त किया जाता है[2]। एक मन्त्र[3] के अनुसार 99 देवता स्वर्ग में, 99 पृथिवी पर और 99 जल (=वायु) में रहते हैं। इसी तरह अथर्ववेद[4] देवताओं को द्युःस्थ, अन्तरिक्षस्थ, और पृथिवीस्थ इन तीन भागों में बांटता है; यद्यपि इस प्रसंग में संख्या का निर्देश उस वेद में नहीं आता। तेंतीस संख्या के भीतर सभी देवता नहीं आ जाते; क्योंकि तेंतीस के अतिरिक्त देवों का उल्लेख भी मिलता है[5]। एक मन्त्र[6] में देवताओं की संख्या 3339 बतलाई गई है।

---

1. पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व। ऋ० 3.6.9.
   यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः। अथ० 10.7.13
2. विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैरिह। ऋ० 8.35.3.
3. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
   अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ ऋ० 1.139.11.
4. ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि। ऋ० 10.9.12.
5. त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
   औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त। ऋ० 3.9.9.
   वेद यस्त्रीणि विदथान्येषां देवानां जन्म सनुतरा च विप्रः। ऋ० 6.51.2.
6. आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना। ऋ० 1.34.11.
   श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतसः।
   तान् रोहिदश्व गिर्वणस्त्रयस्त्रिंशतमा वह॥ ऋ० 1.45.2.
   विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैरिहाऽद्भिर्मरुद्भिर्भृगुभिः सचाभुवा।
   सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना॥ ऋ० 8.35.3.
   अग्निस्त्रीणि त्रिधातून्या क्षेति विदथा कविः।
   स त्रीँरेकादशाँ इह यक्षच्च पिप्रयच्च नो विप्रो दूतः परिष्कृतो नभन्तामन्यके समे।
   ऋ० 8.39.9.

साथ ही साधारण रूप से यह भी कहा गया है कि उनके तीन वर्ग हैं[1]। जब देवता द्युलोक, पृथिवी, और जल से संबद्ध होते हैं तब उनका तीन विभागों में विभाजन माना हुआ होता है[2]। ब्राह्मणों में भी देवताओं की संख्या 33 दी गई है। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण उन्हें एक मत से ८ वसुओं, 11 रुद्रों, और 12 आदित्यों के तीन वर्गों में बांटते हैं। किंतु जहां शतपथ[3] में इन 31 के अतिरिक्त द्यौस् और पृथिवी (प्रजापति यहां ३४ वां है) या इन्द्र और प्रजापति दो देवता और[4] हैं, वहां ऐतरेय ब्राह्मण में ये दो देवता वषट्कार और प्रजापति हैं, जिनके योग से ३३ संख्या पूरी होती है।

ऋग्वेद[5] के तीन विभागों का अनुसरण करके यास्क[6] ने विभिन्न देवताओं को, या एक ही देवता के विभिन्न रूपों को—जिनकी गणना निघण्टु के पञ्चम काण्ड में आती है—पृथिवीस्थान[7], अन्तरिक्षस्थान या मध्यमस्थान[8] और द्युस्थान[9] इन तीन वर्गों में बांटा है। साथ ही वे इतना और जोड़ देते हैं कि उनके पूर्ववर्ती नैरुक्तों के अनुसार देवता केवल तीन हैं—पृथिवी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु अथवा इन्द्र, और द्युलोक में सूर्य। इस धारणा का आधार ऋग्वेद[10] के इस प्रकार के मन्त्र हो

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्। ऋ० 3.9.9.
(10.52.6., वा० सं० 33.7)

1. वेद यस्त्रीणि विदथान्येषां देवानां जन्म सनुतरा च विप्रः। ऋ० 6.51.2.

2. शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः॥ ऋ० 7.35.11
मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः। ऋ० 10.49.2.
देवाँ आदित्याँ अदितिं हवामहे ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये। ऋ० 10.65.9.

3. अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमे एव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिंश्यौ त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः। शत० ब्रा० 4.5.7.2.

4. अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति। शत० ब्रा० 11.6.3.5.

5. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ ऋ० 1.139.11.

6. तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। नि० 7.5.

7. अग्निः पृथिवीस्थानः। नि० 7.14–9.43.

8. अथातो मध्यस्थाना देवताः। नि० 10.1–11.50.

9. अथातो द्युस्थाना देवताः। नि० 12.1–46.

10. सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः। ऋ० 10.158.1.

सकते हैं :—'सूर्य द्युलोक से हमारी रक्षा करें, वात अन्तरिक्ष से, और अग्नि पार्थिव लोकों से। उसी प्रसंग में आगे चलकर यास्क कहते हैं कि इन में से प्रत्येक देवता के अपने-अपने क्रियाकलाप के कारण अनेक अभिधान हैं, ठीक वैसे ही जैसेकि एक ही व्यक्ति के प्रसंगवश होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता—ये नाम पड़ जाते हैं। यास्क स्वयं इस बात को नहीं मानते कि सभी देवता तीन प्रतिनिधिभूत देवताओं के विभिन्न पक्ष अथवा उनकी विविध अभिव्यक्तियां हैं, यद्यपि वे इस विचार से सहमत हैं कि तीनों स्थलों के देवता एक-दूसरे से देश और व्यापार की दृष्टि से संबद्ध हैं। यह ध्यान देने की बात है कि देवताओं की इस सूची में त्वष्टा और पृथिवी के नाम तीनों अधिष्ठानों में आते हैं, अग्नि और उषा के नाम पृथिवी और अन्तरिक्ष लोक में, और वरुण, यम और सविता के नाम अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में आते हैं।

विभिन्न वैदिक देवताओं का उनकी आपेक्षिक महत्ता के अनुसार भी वर्गीकरण किया जा सकता है। इस प्रकार के वर्गीकरण का उल्लेख ऋग्वेद के उस मन्त्र में मिलता है, जहां उन्हें महान् और लघु, युवा और वृद्ध कहा गया है[1]। यह संभव है कि यह मन्त्र उस समय का हो जबकि देवताओं की श्रेणियों के विषय में वैदिक कवि के विचार पक चुके थे। एक दूसरे मन्त्र में कवि कहता है कि तुम लोगों में से न कोई अर्भक है और न कुमार है; तुम सभी महान् हो[2]। उक्त दोनों मन्त्रों में विरोध नहीं है। हां, विरोधाभास अवश्य है, क्योंकि कौनसा कवि अपने भक्तिभाव की उल्बण दशा में इन शब्दों के सिवाय और कोई शब्द बरतेगा। फिर भी यह निश्चित है कि दो देवता अन्य सब देवों की अपेक्षा अधिक महान् हैं और ये दोनों शक्ति में बराबर-बराबर हैं। ये दो देवता हैं: रणंजय योद्धा इन्द्र और नैतिकता के अधिष्ठाता वरुण। नैतिक पक्ष के प्रधान होने के नाते वरुण का पुराना रूप ज़ोरोस्ट्रियन धर्म में अहुरमज़्दा बनकर सामने आता है जबकि भारत में विजयालु आर्यों ने अपना देवता रणंजय इन्द्र को ठहराया था। वेद में वरुण को प्राधान्य तभी मिलता है जबकि भौतिक और नैतिक जगत् के व्यापक नियमों के प्रति आदर दिखाया जाता है। इस कोटि के देवता को सामान्य जन-वर्ग का देवता नहीं माना जा सकता। कुछ विद्वानों के मत में वरुण और आदित्यगण पुराने युग में सब से महान् देवता थे; किंतु परवर्ती काल में उनकी महत्ता को इन्द्र ने हड़प लिया। कुछ भी हो इस पक्ष की पुष्टि के लिए प्रमाणों की आवश्यकता है। इन्द्र को ऋग्वेद के प्राचीनतम काल में एक गौण अधीन देवता माना जाता था। यह सत्य है कि अवेस्ता में अहुरमज़्दा सबसे महान् देवता हैं और इन्द्र एक दानव; किंतु यह संभव है कि मूलतः ईरान में, भले ही भारत-ईरानी काल में भी, इन्द्र और वरुण दोनों एक

1. नमो॑ म॒हद्भ्यो॒ नमो॑ अर्भ॒केभ्यो॒ नमो॒ युव॑भ्यो॒ नम॑ आशि॒नेभ्यः॑। ऋ० 1.27.13.
2. न॒हि वो॒ अस्त्य॑र्भ॒को देवा॑सो॒ न कु॑मार॒कः। विश्वे॑ स॒तोम॑हान्त॒ इत्। ऋ० 8.30.1.

कोटि के देवता रहे हों परंतु जब ईरानी धर्म में सुधार किया गया तब अहुरमज़दा को सर्वोच्च स्थान दे दिया गया, और इन्द्र को पृष्ठभूमि में सरका दिया गया। इन्द्र और वरुण के बाद यज्ञ के दो देवता—अग्नि और सोम का नंबर है। इनके निमित्त कहे गये सूक्तों की संख्या के आधार पर कहा जा सकता है कि इन्द्र के साथ ये दोनों भी ऋग्वेद के सर्वाधिक लोकप्रिय देवताओं में से हैं; क्योंकि ऋग्वेद के लगभग $\frac{3}{5}$ सूक्त इन्हीं को संबोधन करके गाये गये हैं। पारिवारिक मण्डलों में इन्द्र और अग्नि के सूक्त सर्वप्रथम आते हैं, जबकि सोम के लिए तो एक पूरा नवाँ मण्डल ही गाया गया है—इस बात से उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। अवशिष्ट देवताओं में से प्रत्येक के निमित्त कहे गये सूक्तों की गणना, तथा ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए उनके नामों की संख्या के आधार पर इन देवताओं का पाँच कक्षाओं में वर्गीकरण किया जा सकता है :—1. इन्द्र, अग्नि, सोम; 2. अश्विन्, मरुत्, वरुण; 3. उषस्, सविता, बृहस्पति, सूर्य, पूषा; 4. वायु, द्यावा—पृथिवी, विष्णु, रुद्र; 5. यम, पर्जन्य। किंतु संख्या के आधार पर किया गया यह निर्णय सर्वांशेन मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि वरुण का आह्वान (अधिकांश स्थलों पर मित्र के साथ) लगभग 30 सूक्तों में हुआ है। उसका नाम कुल मिलाकर 250 बार आता है, जबकि अश्विनों के प्रति 50 सूक्त कहे गये हैं और उनका नाम 400 से अधिक बार आता है। ऐसा होने पर भी यह कहना असंगत होगा कि गरिमा में अश्विन् वरुण के पासंग भी हैं। उनके आपेक्षिक महत्त्व का आधार यह है कि वे प्रातःकालीन प्रकाश के देवता के रूप में यज्ञ-प्रक्रिया के अधिक निकट हैं। पुनः मरुद्गण का महत्त्व इस बात में है कि उनका संबन्ध इन्द्र के साथ है। अन्य देवताओं के आपेक्षिक महत्त्व को आंकने में भी इसी प्रकार की बातों पर ध्यान देना होगा। इस दृष्टि से देवताओं के महत्त्व को आंकने में कठिनाइयां आती हैं। फलतः पद के या महत्त्व के स्तर की दृष्टि से किया गया देवताओं का वर्गीकरण उनके विवरण के लिए संतोषजनक नहीं ठहरता।

स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रिय देवताओं का वर्गीकरण एक और तरह भी किया जा सकता है और वह प्रकार है—काल। भारतीय काल, भारत-ईरानी काल और भायोर्पीय काल—इन तीनों कालों में से किसी एक के साथ किसी ऐच्छिक गाथात्मक प्रकल्पना का संबन्ध। उदाहरण के लिए—बृहस्पति, रुद्र और विष्णु को निरी भारतीय कल्पना समझा जा सकता है; क्योंकि इस बात के मानने के लिए कि किन्हीं देवताओं की प्रकल्पना भारतीय काल से पहले की है, प्रमाणों की आवश्यकता है। पहले कहा जा चुका है कि कतिपय गाथात्मक प्रकल्पनाएं भारत-ईरानी काल की हैं। किंतु यह कहना कि द्यौस् के अतिरिक्त और भी कोई देवता भायोरपीय काल का है, शंका से ख़ाली नहीं है। फलतः गाथात्मक प्रकल्पनाओं के रचनाकाल के आधार पर बनाया गया वर्गीकरण संदेहास्पद बना रहेगा।

अलबत्ता मानवीकरण की प्रक्रिया को—जोकि विभिन्न देवताओं में भिन्न-भिन्न स्तर की पाई जाती है—वर्गीकरण का आधार बनाया जा सकता है; किंतु यहां भी मानवीकरण के स्तर के मध्य विभाजक रेखा खींचना कठिन प्रतीत होता है।

अन्ततोगत्वा हमें देवताओं के प्राकृतिक आधार का सहारा लेकर ही देवताओं का वर्गीकरण करना पड़ता है। यद्यपि कुछ-एक देवताओं के प्राकृतिक आधार के विषय में शंका संभव है और किसी एक देवता को असंगत दृश्य के साथ एकित करने का खतरा भी बना हुआ है, तो भी विभाजन की इस सरणि में कुछ सुविधाएं स्पष्ट हैं। इनके द्वारा समान स्वरूप के देवताओं को एक वर्ग में रखा जा सकता है। इससे उनके तुलनात्मक अध्ययन में सुगमता होगी। फलतः प्रस्तुत विवेचन में हमने इसी सरणि को अपनाया है। विभिन्न दृश्यों का वर्गीकरण ऋग्वेद में आनेवाले त्रिविभागीय विभाजन के अनुसार एवं इस वेद के प्राचीनतम व्याख्याकार यास्क के अनुसार किया गया है।

द्यु-स्थानीय देवता

द्यौः (§ 11)—

'द्यौ' शब्द का बहुतायत के साथ प्रयोग स्थूल आकाश के लिए हुआ है और इस अर्थ में यह ऋग्वेद में 500 बार आया है। 50 बार इसका प्रयोग 'दिन' के अर्थ में हुआ है। जब इसका मानवीभाव द्युलोक के देवता के रूप में होता है तब यह पृथिवी के साथ समस्त होकर द्विवचन में आता है—जैसेकि द्यावा-पृथिवी। यह इसलिए कि ये दोनों विश्व के माता-पिता हैं। ऋग्वेद का कोई भी सूक्त अकेले द्यौ के निमित्त नहीं कहा गया है। जब भी उसका उल्लेख अलग से हुआ है तभी मानवीकरण प्रायशः पितृत्व की भावना में केन्द्रित हो गया है। ऐसी दशा में इसका नाम कर्ता या संबन्ध-कारक में आता है। संबन्ध-कारक, जो लगभग 50 बार प्रयुक्त हुआ है, अन्य सब कारकों के प्रयोगों के जोड़ से भी अधिक बार आया है। इसका षष्ठीरूप किसी अन्य देवता के नाम से संबद्ध रहता है, जोकि द्यौ का पुत्र या पुत्री कहाता है। इन प्रयोगों में से लगभग $\frac{3}{4}$ में द्यौ की पुत्री उषा है, और शेष में से अश्विन् उसके नपात् हैं, अग्नि सूनु या शिशु हैं। पर्जन्य, सूर्य, आदित्यगण, मरुद्गण और अङ्गिरस उसके पुत्र हैं। प्रथमा विभक्ति में द्यौः 30 बार आता है, किंतु उनमें से अकेले यह केवल 8 बार प्रयुक्त हुआ है; नहीं तो सामान्यतः यह पृथिवी के साथ समस्त होकर आया है अथवा किन्हीं अन्य देवताओं के नामों के साथ जुड़कर, जिनमें सर्व-बहुल पृथिवी है। आठ मन्त्रों में वह तीन बार पिता, एक बार इन्द्र का पिता, एक बार अग्नि का सुरेतम्—जनयिता, बनकर

आता है[1-3]। शेष तीन मन्त्रों में वह एक वृष[4] या एक लोहित वृष है जो नीचे की ओर मुंह करके रांभता है[5]। कहा गया है कि वृत्र-वध का उसने समर्थन किया है[6]। चतुर्थी विभक्ति में यह नाम आठ बार आया है। इन मन्त्रों में केवल तीन बार वह अकेले आया है, एक बार उसे पिता महान् कहा गया है[7], एक बार बृहत्[8] और एक बार बृहत् सादन[9]। चार बार यह द्वितीया विभक्ति में मिलता है[10]; जिनमें से दो बार इसका उल्लेख पृथिवी के साथ, एक बार अकेले और एक बार यह कहकर आया है कि अग्नि ने उसे मनुष्यों के लिए गरजाया[11]। फलतः निष्कर्ष निकलता है कि द्यौ का स्वतंत्र उल्लेख प्रायः नहीं के बराबर है और 90 से अधिक मन्त्रों में से केवल 15 बार पृथिवी के साथ उसका पितृत्व प्रकट अथवा अप्रकट रूप में नहीं पाया जाता। ऋग्वेद में उसके मानवीकरण का प्रमुख लक्ष्य उसका पितृत्व है। कतिपय मन्त्रों में द्यौ को वृषभ कहा गया है[12], ऐसा वृषभ जोकि रांभता है[13]। ऐसे स्थलों पर देवता को पशु के रूप में देखा गया है (Theriomorphism); क्योंकि अब द्यौ एक ऐसा गरजनेवाला पशु है जो पृथिवी को उर्वर बनाता है। द्यौ की उपमा एक बार मोतियों से सजे काले बीज के साथ दी गई है[14]। उस अवस्था में यह रात्रि के आकाश का गमक है। "द्यौ के पास वज्र है" (अशनिमत्); यह उक्ति मानव-आकार-रचना की ओर संकेत करती है। द्यौ बादलों के बीच से मुस्क-

---

1. मधु द्यौरस्तु नः पिता। ऋ० 1.90.7.
2. द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र। ऋ० 1.164.33.
3. द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन्। ऋ० 4.1.10.
   सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत्।
   य ईं जजान स्वर्यं सुवज्रमनपच्युतं सदसो न भूम॥ ऋ० 4.17.4.
4. वृषा त्वा वृषणं वर्धतु द्यौर्वृषा वृषभ्यां वहसे हरिभ्याम्। ऋ० 5.36.5.
5. अवोस्त्रियो वृषभः क्रन्दतु द्यौः। ऋ० 5.58.6.
6. इन्द्रासोमावहिमपः परिष्ठां हथो वृत्रमनु वां द्यौरमन्यत। ऋ० 6.72.3.
7. महे यत् पित्र ईं रसं दिवे कः। ऋ० 1.71.5.
8. अर्चा दिवे बृहते शूष्यं१ वचः। ऋ० 1.54.3.
9. नमो दिवे बृहते सादनाय। ऋ० 5.47.7.
10. अजा वृत इन्द्रशूरपत्नीर्द्यां च येभिः पुरुहूत नूनम्। ऋ० 1.174.3.
11. त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः। ऋ० 1.31.4.
12. स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान् पुनाति धीरो भुवनानि मायया।
    धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत॥ ऋ० 1.160.3.
13. अवोस्त्रियो वृषभः क्रन्दतु द्यौः। ऋ० 5.58.6.
14. अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्। ऋ० 10.68.11.

राता है[1] । इस कथन का संकेत ज्योतिर्मय आकाश की ओर है; किंतु इस प्रकार के मन्त्र छिट-पुट ही हैं । सच पूछिए तो द्यौ की प्रकल्पना में पशु-मानवीकरण और मानव-आकार-रचना के बन्धन प्राय: नहीं के समान हैं; अलबत्ता पितृत्व का भाव इसमें प्रबल रूप से विद्यमान रहता है । पिता के रूप में वह माता पृथिवी के संबन्ध से आता है । इस बात का संकेत हमें इस तथ्य में मिलता है कि उसका नाम पृथिवी के साथ द्विवचन द्वन्द्व समास में, एक वचन में अकेले की अपेक्षा अधिक बार प्रयुक्त हुआ है । जब वह एकवचन में आया है तब भी बहुधा पृथिवी के नाम के सहित प्रयुक्त हुआ है, और जब कभी वह एकाकी प्रयुक्त हुआ है तभी उसका व्यक्तित्व इतना विकसित नहीं हो पाया कि एकाकी उसके प्रति कोई सूक्त कहा जाय, यद्यपि पृथिवी के साथ उसके लिए 6 सूक्त कहे गये हैं । अन्य महान् देवों की न्याईं द्यौ को भी कभी-कभी असुर कहा गया है[2] और एक बार[3] उसका आह्वान 'पृथिवी मात:' के समान संबोधन में द्यौष्पित: के रूप में हुआ है । लगभग 20 मन्त्रों में द्यौ शब्द स्त्रीलिङ्ग है; कभी-कभी उस अवस्था में भी, जबकि उसका मानवीकरण हुआ है । पहले निर्देश किया जा चुका है (§ 6) कि द्यौ का मूल सुदूर भायोरपीय काल में निहित है । किंतु इस बात के लिए प्रमाण नहीं है कि उस सुदूर काल में द्यौ का मानवी-भाव वैदिक काल की अपेक्षा अधिक विकसित हो चुका था । अलबत्ता इस प्रकार की धारणा के विपरीत अनेक संकेत सामने आते हैं । उस सुदूर अतीत में जो भी महान् देवता रहे होंगे वे बहुत हद तक मानवीभाव की प्राथमिक अवस्था तक ही सीमित रहे होंगे और शायद कदाचित् ही प्राकृतिक दृश्यों के दिव्यीकरण की अवस्था से ऊपर उभर पाये हों । विश्व-पिता के रूप में द्यौ पृथिवी माता के साथ अपनी परिधि में सभी दिव्यीकृत प्राकृतिक दृश्यों को समाविष्ट किये रहा होगा; फलत: द्यौ देवता बहुदेववाद के विकास से पूर्व सब से महान् देवता रहे होंगे । किंतु द्यौ को भायोर-पीय काल का सब से महान् देवता समझना भ्रम होगा, क्योंकि इसका मतलब यह होगा कि उस सुदूर अतीत में ज्यीयस् जैसा सर्वोच्च एक नियन्ता और था और साथ ही आरम्भिक एकेश्वरवाद का उत्थान भी तब हो चुका था जबकि हमें इस बात का ज्ञान है कि आरम्भिक ऋग्वैदिक काल में इन दोनों में से एक भी न था ।

द्यौ शब्द की निष्पत्ति दिव् धातु से है । फलत: इसका अर्थ है 'चमकनेवाला' और इसका संबन्ध है 'देव' शब्द के साथ ।

---

1. द्यौरिव स्मयमानो नभोभिः । ऋ 2.4.6.
2. दिवो अस्तोष्यसुरस्य वीरैः । ऋ० 1.122.1.
   इन्द्राय हि द्यौरसुरो अनम्नतेन्द्राय मही पृथिवी वरीमभिः । ऋ० 1.131.1.
   यथा रुद्रस्य सूनवो दिवो वशन्त्यसुरस्य वेधसः । ऋ० 8.20.17.
3. द्यौ३ष्पितः पृथिवि मातरध्रुक् । ऋ० 6.51.5.

वरुण (§ 12)—

पहले कहा जा चुका है कि वरुण, इन्द्र को छोड़ ऋग्वेद के अन्य सभी देवताओं से महान् हैं। उनके प्रति कहे गये सूक्तों की संख्या से उनका महत्त्व आंकना असंगत होगा; क्योंकि अकेले उनका गुणगान मुश्किल से ही एक दर्जन के लगभग सूक्तों में हुआ है। सांख्यिक मापदण्ड से मूल्यांकन करने पर वरुण तृतीय कोटि के देवता ठहरेंगे। और यदि उन दो दर्जन सूक्तों को भी, जिनमें कि वे अपने सखा मित्र के साथ आहूत हुए हैं, गणना में संमिलित कर लिया जाय, तब भी महत्ता की दृष्टि से वरुण का स्थान पांचवां ठहरेगा और इस प्रकार वे अश्विनों से भी नीचे मरुद्गणों की श्रेणी में खिसक जायंगे।

वरुण का व्यक्तित्व मानवीय रूप में शारीरिक पक्ष की अपेक्षा नैतिक पक्ष में अधिक विकसित हुआ है। उनके शरीर और उपकरणों के वर्णन इने-गिने हैं; क्योंकि वरुण के वर्णन में, अधिक बल उनके कार्यों पर दिया गया है। उनके मुंह, आंख, भुजाएं, हाथ और पैर हैं। कवि उनके मुंह को अग्नि जैसा देखता है[1]। मित्र और वरुण का नेत्र सूर्य-देव हैं[2]। ऐसा उल्लेख सूक्त के प्रथम मन्त्र में हुआ है; इससे प्रतीत होता है कि मित्र और वरुण के चिन्तन में सब से पहले मन में आनेवाला विचार यही है। सूर्य के प्रति कहे गये एक सूक्त[3] में वरुण जिस नेत्र के द्वारा मानव-जाति का सर्वेक्षण करते हैं वह निःसंदेह सूर्य ही है। अर्यमा के साथ मित्र और वरुण "सूरचक्षसः" कहलाये हैं[4]। यह पद अन्य देवों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वरुण सुदूर-द्रष्टा[5] और सहस्र-चक्षुष् हैं[6]। मित्र और वरुण अपनी

---

1. अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थाद् द्रप्सो न श्वेतो मृगस्तुविष्मान्। ऋ० 7.87.6.
   अधा न्वस्य संदृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि। ऋ० 7.88.2.
2. चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। ऋ० 1.115.1.
   उदु त्यच्चक्षुर्महि मित्रयोराँ एति प्रियं वरुणयोरदब्धम्। ऋ० 6.51.1.
   उद् वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान्। ऋ० 7.61.1.
   उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्।
   चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देवः॥ ऋ० 7.63.1.
   नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे[a]। दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत[d]। ऋ० 10.37.1.
3. येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि। ऋ० 1.50.6.
4. बहवः सूरचक्षसोऽग्निजिह्वा ऋतावृधः। ऋ० 7.66.10.
5. कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे। मृळीकायोरुचक्षसम्। ऋ० 1.25.5.
   परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु। इच्छन्तीरुरुचक्षसम्। ऋ० 1.25.16.
6. वरुण उग्रः सहस्रचक्षाः। ऋ० 7.34.10.

भुजाओं को फैलाते हैं[1] और वे सूर्य की रश्मियों से मानो जैसे हाथ से अपने रथ को चलाते हैं। सविता और त्वष्टा की भांति वे सुपाणि हैं। मित्र और वरुण अपने पैरों से तेज़ चलते हैं[2] और वरुण अपने ज्योतिष्मान् चरणों से नीचे उतरते हैं[3]। वे यज्ञ में बिछाई कुशा पर बैठते हैं[4] और अन्य देवताओं की भांति वे और मित्र दोनों सोमपान करते हैं[5]। वरुण सुनहली चादर ओढ़ते (द्रापी) और एक चमकीला वस्त्र पहनते हैं[6]। किंतु घी का चमकता हुआ वस्त्र जिसे वे और मित्र पहने हुए हैं[7], घृत की आहुति का आलंकारिक रूप है। चमकनेवाला वस्त्र भी, जिसे कि वे पहनते हैं[8], हो सकता है घृताहुति का ही प्रतीक हो। शतपथ ब्राह्मण[9] में वरुण एक सुन्दर केशविहीन (bald), पीत-चक्षु, वृद्ध मनुष्य के रूप में दिखाई देते हैं। वरुण के उपकरणों में केवल उनका रथ ही महत्त्वपूर्ण है। इसका वर्णन चमकते हुए सूर्य के रूप में किया गया है[10]। इसकी फड़ें बांस की हैं, और इसमें एक आसन और एक चाबुक विद्यमान है[11]। उनके इस रथ को सुयुक् घोड़े खींचते हैं[12]। कवि प्रार्थना करता है कि काश वह वरुण के रथ को पृथिवी पर देख सकता[13]।

मित्र और वरुण का आवास स्वर्णिम है और वह स्वर्ग में है[14]। वरुण

---

1. ता बाहवा सुचेतुना प्रयन्तमस्मा अर्चते। ऋ० 5.64.2.
   प्र बाहवा सिसृतं जीवसे नः। श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा। ऋ० 7.62.5.
2. आ पड्भिर्धावतं नरा। ऋ० 5.64.7.
3. स माया अर्चिना पदाऽस्तृणान्नाकमारुहत्। ऋ० 8.41.8.
4. आ नो बर्ही रिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा। सीदन्तु मनुषो यथा। ऋ० 1.26.4.
   मित्रश्च नो वरुणश्च जुषेतां यज्ञमिष्टये। नि बर्हिषि सदतां सोमपीतये। ऋ० 5.72.3.
5. यदी सखाया सख्याय सोमैः सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते। ऋ० 4.41.3.
6. बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्। ऋ० 1.25.13.
7. घृतस्य निर्णिगनु वर्तते वाम्। ऋ० 5.62.4. प्र वां घृतस्य निर्णिजो ददीरन्। ऋ० 7.64.1.
8. युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे। ऋ० 1.152.1.
9. साक्षादेव वरुणमुवयजते शुक्लस्य खलतेर्विक्लिधस्य पिङ्गाक्षस्य मूर्धनि जुहोति।
   शत० 13.3.6.5.
10. रथो वां मित्रावरुणा दीर्घाप्साः स्यूमगभस्तिः सूरो नाद्यौत्। ऋ० 1.122.15.
11. हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा वि भ्राजते दिव्य१श्वाजनीव।
    भद्रे क्षेत्रे निमिता तिल्विले वा सनेम मध्वो अधिगर्त्यस्य॥ ऋ० 5.62.7.
12. आ वामश्वासः सुयुजो वहन्तु। ऋ० 5.62.4.
13. दर्शं रथमधि क्षमि। ऋ० 1.25.18.
14. ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि। ऋ० 5.63.1.
    आ यद् योनिं हिरण्ययं वरुण मित्र सदथः। ऋ० 5.67.2.

अपने भवन में बैठकर लोक के अशेष कार्यकलाप का निरीक्षण करते हैं[1] । उनका और मित्र का सदस् महान् है । वह बहुत ही ऊंचा है, और सहस्र खंभों पर टिका हुआ है[2] । उनके घर में सहस्रों दरवाज़े हैं[3] । सर्वदर्शी सूर्य अपने निवास-स्थान से उदित होकर मित्र और वरुण के आवास पर मानवों के कार्य-कलाप की सूचना देने के लिए जाते हैं[4] और उनके मनोरम भवन में प्रवेश करते हैं[5] । इसी सर्वोच्च द्युलोक में पितृगण वरुण की छवि निहारते हैं[6] । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार विश्व के अधिपति वरुण स्वर्ग में बैठते और वहां से चहुं ओर के क्षेत्र का सर्वेक्षण करते हैं ।

कभी-कभी वरुण के स्पशों (चरों) का उल्लेख मिलता है । ये स्पश् वरुण के चारों ओर बैठते[7] और दोनों संसारों का निरीक्षण करते हैं । यज्ञ से परिचित होकर वे स्तोत्रों को जगाते हैं[8] । मित्र और वरुण के ये स्पश्, जो अलग-अलग घरों में भेजे जाते हैं,[9] धोखा देनेवाले नहीं; अपितु अदब्ध, मनीषी हैं[10] । अथर्ववेद[11] में आता है कि वरुण के संदेशवाहक द्युलोक से उतरकर संसार में विचरते और अपने अगणित नेत्रों द्वारा अशेष जगती के आर-पार देख लेते हैं । इन स्पशों का प्राकृतिक आधार तारों को समझा जाता है; किंतु ऋग्वेद में इस मान्यता के लिए कोई प्रमाण नहीं है । वहां तारों के विषय में यह कभी नहीं कहा गया कि वे

द्युक्षं मित्रस्य सादनमर्यम्णो वरुणस्य च । ऋ० 1.136.2.

1. नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्या३स्वा । ऋ० 1.25.10.
   अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति । कृतानि या च कर्त्वा । ऋ० 1.25.11.
2. बृहन्तं गर्तमाशाते । ऋ० 5.68.5.
   राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे । सहस्रस्थूण आसाते । ऋ० 2.41.5.
3. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः । सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥ ऋ० 7.88.5.
4. यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम् । ऋ० 7.60.1.
   अयुक्त सप्त हरितः सधस्थाद्या ईं वहन्ति सूर्यं घृताचीः ।
   धामानि मित्रावरुणा युवाकुः सं यो यूथेव जनिमानि चष्टे ॥ ऋ० 7.60.3.
5. प्रियं मित्रस्य वरुणस्य धाम । ऋ० 1.152.4.
6. सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् । ऋ० 10.14.8.
7. परि स्पशो नि षेदिरे । ऋ० 1.25.13.
8. परि स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके ।
   ऋतावानः कवयो यज्ञधीराः प्रचेतसो य इषयन्त मन्म ॥ ऋ० 7.87.3.
9. स्पशो दधाथे ओषधीषु विक्ष्वृधग्यतो अनिमिषं रक्षमाणा ॥ ऋ० 7.61.3.
10. सन्ति स्पशो अदब्धासो अमूराः ॥ ऋ० 6.67.5.
11. दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ अथ० 4.16.4.

सर्वेक्षण करते हैं और न ही इन स्पशों का संबन्ध रात्रि ही से कहीं दिखाया गया है। यह प्रकल्पना उन आरक्षियों के आधारपर की गई होगी, जो एक कठोर शासक को चारों ओर से घेरे रहा करते हैं। स्पश् लोग मित्र और वरुण ही के पास हों, ऐसी बात नहीं है; वे तो अग्नि,[1] सोम,[2] दैत्यों[3] और देव-सामान्य के चारों ओर भी रहते बताये जाते हैं[4]। एक मन्त्र में आदित्यों के लिए आया है कि वे उच्च लोक से निरीक्षकों की भांति नीचे देखते हैं[5]। हो न हो निरीक्षक लोग मूलतः मित्र और वरुण के साथ संबद्ध रहे होंगे; इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि ईरानी मिथ्र के अपने निरीक्षक थे और उनके लिए भी स्पश् शब्द का ही प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में उल्लिखित[6] स्वर्णिम परों वाला वरुण का दूत निःसंदेह सूर्य ही है।

अन्य प्रतिनिधिभूत—देवों एवं यम[7] की भांति वरुण को अकेले अथवा मित्र के साथ कई बार राजा कहा गया है। वे सबके राजा हैं—मनुष्य और देवता दोनों के[8], समस्त संसार के[9] और सभी सत्ताओं के[10] वरुण सर्वतन्त्रस्वतन्त्र शासक (स्वराज्) हैं[11]। स्वराज् शब्द बहुधा इन्द्र के संबन्ध में प्रयुक्त हुआ है; किंतु उससे भी अधिक बार इसका प्रयोग अकेले वरुण के लिए अथवा मित्र-वरुण के लिए हुआ है। यह शब्द अग्नि के लिए कुछ-एक बार और इन्द्र के लिए बहुत बार प्रयुक्त हुआ है; किंतु ऐसे मन्त्रों की संख्या, जिनमें वरुण और मित्र के लिए इस विशेषण का प्रयोग हुआ है, इन्द्र के प्रति कहे गये स्वराज् विशेषणवाले मन्त्रों की संख्या से दुगुनी है। इस बात पर ध्यान देते हुए कि ऋग्वेद में इन्द्र के निमित्त कहे गये सूक्तों की संख्या वरुण के सूक्तों की अपेक्षा 8 या 10 गुनी है, प्रतीत होता है

1. प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमः। ऋ० 4.4.3.
2. अस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः। ऋ० 9.73.4.
   स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः॥ ऋ० 9.73.7.
3. परि स्पशो अदधात्सूर्येण॥ ऋ० 1.33.8.
4. देवानां स्पश इह ये चरन्ति॥ ऋ० 10.10.8.
5. आदित्या अव हि ख्यताधि कूलादिव स्पशः॥ अथ० 8.47.11.
6. हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतम्॥ ऋ० 10.123.6.
7. अबुध्ने राजा वरुणो वनस्य॥ ऋ० 1.24.7.
   उरुं हि राजा वरुणश्चकार॥ ऋ० 1.24.8.
8. त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा॥ ऋ० 10.132.4.
   त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः॥ ऋ० 2.27.10.
9. तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा॥ ऋ० 5.85.3.
10. सुपारक्षत्रः सतो अस्य राजा॥ ऋ० 7.87.6.
11. इदं कवेरादित्यस्य स्वराजो विश्वानि सान्त्यभ्यस्तु मह्ना॥ ऋ० 2.28.1.

कि 'स्वराज्' विशेषण स्वारसिकरूपेण वरुण ही पर फबता है।

इसी प्रकार 'क्षत्र' विशेषण भी मुख्यतया वरुण के लिए आया है। उनके लिए इस विशेषण का प्रयोग, मित्र के साथ प्रायः और अर्यमा के साथ दो बार हुआ है। इस के अतिरिक्त क्षत्र का प्रयोग एक-एक बार अग्नि, बृहस्पति और अश्विनों के लिए भी हुआ है। इसी प्रकार क्षत्रिय शब्द के कुल 5 बार के प्रयोगों में से 4 प्रयोग वरुण या आदित्यों के लिए हैं और केवल एक देव-सामान्य के लिए है। 'असुर' विशेषण का भी वरुण के लिए अकेले अथवा मित्र के साथ, इन्द्र और अग्नि की अपेक्षा अधिक बार प्रयोग हुआ है; और सूक्तों के अनुपात को ध्यान में रखते हुए यह वरुण ही के लिए उपयुक्त भी प्रतीत होता है। देवताओं में मित्र-वरुण को असुर और अर्य (असुरा अर्या)[1] बताया गया है।

वरुण और मित्र के दिव्य शासन का संकेत प्रायः माया शब्द के द्वारा किया गया है। इस शब्द का तात्पर्य गुप्त मानसिक शक्ति से है, जिसका प्रयोग अच्छे अर्थ में देवों के बारे में और बुरे अर्थ में दानवों के बारे में होता है। इसका सही अंग्रेज़ी पर्याय Craft शब्द है जिसका तात्पर्य प्राचीन काल में गुप्त मानसिक शक्ति अथवा जादू था और बाद में एक ओर 'कुशलता, कला' और दूसरी ओर 'छल-कपट की चतुराई' बन गया। 'असुर' की भांति 'माया' शब्द का भी ग्राह्य अर्थ मित्र और वरुण के साथ संबद्ध है और बुरा अर्थ दानवों के साथ। गुप्त मानसिक शक्ति अथवा माया के द्वारा वरुण वायु में उत्तान होकर सूर्यरूपी मापदण्ड से पृथिवी को नापते हैं[2]; वरुण और मित्र उषाओं को प्रेरते[3], सूर्य को आकाश के पार उतारते और उसे बादल एवं वर्षा द्वारा धूसर कर देते हैं। इसी बीच वे मधु-बिन्दु बरसाते हैं[4]; अथवा यों कहिए कि वे द्युलोक से पानी बरसाते और आसुरी माया के द्वारा व्रतों को प्रवर्तमान रखते हैं। असुर का अर्थ यहां द्यौ या पर्जन्य है। फलतः 'मायिन्' यह विशेषण देवताओं में मुख्यरूप से वरुण ही के लिए उपयुक्त बैठता है[5]।

---

1. ता हि देवानामसुरा तावर्या ॥ ऋ० 7.65 2.
2. इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम्।
   मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण ॥ ऋ० 5.85.5.
3. ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन्वृषा मही रोदसी आ विवेश ॥ ऋ० 3 61.7.
4. माया वां मित्रा वरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
   तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते ॥ ऋ० 5.63.4.
   चित्रेभिरभ्रैरुप तिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया। ऋ० 5.63.3.
   सूर्यमाधत्थो दिवि चित्र्यं रथम्। ऋ० 5.63.7.
5. वरुणमिव मायिनम्। ऋ० 6.48.14. अव द्विता वरुणो मायी नः सात्। ऋ० 7.28.4.
   अयं दशस्यन्नर्येभिरस्य दस्मो देवेभिर्वरुणो न मायी। ऋ० 10.99.10.

जहां एक ओर इन्द्र के साथ अनेक गाथाओं का संबन्ध है वहां दूसरी ओर वरुण के बारे में एक भी गाथा नहीं मिलती। वे मित्र के साथ भौतिक एवं नैतिक व्रतों को संचालित रखते हैं, इस बात पर बार-बार बल दिया गया है। वरुण प्राकृतिक व्रतों के सर्वोच्च स्वामी हैं। वे द्युलोक एवं पृथिवीलोक को स्थिर करते और सभी लोकों में संचरित रहते हैं[1]। तीनों द्युलोक और तीनों पृथिवीलोक उन्हीं के भीतर निहित हैं[2] और वे अपने सखा मित्र के साथ अशेष जगती पर शासन करते हैं[3]; अथवा यों कहिए कि दोनों संसारों को परिवर्तमान करते हैं[4]। वे सारे ही संसार के संरक्षक हैं[5]। वरुण के व्रत से ही आकाश और पृथिवी पृथक् पृथक् विधारित हैं[6]। मित्र के साथ वे पृथिवी और द्यौ को अथवा द्यु, पृथिवी और वायु को थामे हुए हैं[7]। उन्होंने सोने के दिव्य झूले (प्रेङ्खं हिरण्ययम्) को द्युलोक में टिकाया और चमकाया है[8]। उन्होंने अग्नि को जल में, सूर्य को आकाश में और सोम को अश्मा पर उगाया है[9]। उन्होंने सूर्य के लिए विस्तृत पथ बनाया है[10]। वरुण ही मित्र और अर्यमा के साथ मिलकर सूर्य के लिए रास्ता बनाते हैं[11]।

त्वं नो मित्रो वरुणो न मायी। ऋ० 10.147.5.

1. अस्तभ्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥ ऋ० 8.42.1.
2. तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः। ऋ० 7.87.5.
3. ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः। ऋ० 5.63.7.
4. शंसा मित्रस्य वरुणस्य धाम शुष्मो रोदसी बद्बधे महित्वा। ऋ० 7.61.4.
5. देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः। ऋ० 2.27.4.
6. द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा। ऋ० 6.70.1.
धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी। ऋ० 7.86.1.
स धाम पूर्व्यं ममे यः स्कम्भेन वि रोदसी।
अजो न द्यामधारयन्नभन्तामन्यके समे॥ ऋ० 8.41.10.
7. अधारयतं पृथिवीमुत द्यां मित्रराजाना वरुणा महोभिः। ऋ० 5.62.3.
त्री रोचना वरुण त्रीँरुत द्यून् त्रीणि मित्र धारयथो रजांसि। ऋ० 5.69.1.
या धर्तारा रजसो रोचनस्योतादित्या दिव्या पार्थिवस्य। ऋ० 5.69.4.
8. गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खं हिरण्ययं शुभे कम्। ऋ० 7.87.5.
9. हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ। ऋ० 5.85.2
10. उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ। ऋ० 1.24.8.
रदत्पथो वरुणः सूर्याय। ऋ० 7.87.1.
11. आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः। यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः ऋ० 7.60.4,

मित्र और वरुण का ऋत वहां है जहां सूर्य के घोड़े जोड़े जाते हैं[1]। रजस् के मध्य गरजनेवाला 'वात' वरुण ही की आत्मा है[2]।

वरुण ही के व्रत से रोचमान चन्द्रमा रात्रि में विचरता है और आसमान पर टंगे तारे रात्रि में टिमटिमाते और दिन में आंखों से ओझल हो जाते हैं[3]। एक दूसरे मन्त्र[4] में आया है कि वरुण ने रात्रि का आलिङ्गन किया और अपनी माया के बल से प्रभात या 'पौ' को भ्राजित किया है। किंतु इस कथन से वरुण का रात्रि के साथ संबन्ध इतना गहरा नहीं उभरता जितना कि इस कथन से कि वरुण-देव ही रात्रि और दिन को नियमित एवं विभक्त करते हैं[5]। सच पूछो तो वरुण के साथ उल्लेख सूर्य का है न कि चन्द्रमा या रात्रि का। ऋग्वेद में वरुण दिन और रात दोनों की चमक के स्वामी हैं, जबकि मित्र केवल दिन के दिव्य प्रकाश के देवता प्रतीत होते हैं।

उत्तर-वैदिककाल अर्थात् ब्राह्मणों में वरुण का खास तौर से रात्रि-गगन के साथ संबन्ध उभर आया है। उदाहरण के लिए यह आता है कि मित्र ने दिन को जन्म दिया और वरुण ने रात्रि को[6]। साथ ही दिन को मित्र एवं रात्रि को वरुण से संबद्ध बताया गया है। यह मान्यता संभवतः इस नीयत से खड़ी की गई हो कि मित्र का—जिस का प्राकृतिक आधार संभवतः सूर्य था—वरुण से, जिस का प्राकृतिक आधार अस्पष्ट था, भेद साफ़ हो जाय। किंतु इन दोनों का विरोध शतपथ ब्राह्मण[7] में एक और ही प्रकार से दिखाया गया है। शतपथ के अनुसार यह लोक मित्र है और द्युलोक वरुण है।

वरुण के विषय में कभी-कभी यह भी कहा गया है कि वे ऋतुओं का नियमन करते हैं। वे बारह मासों को जानते हैं[8]। मित्र, वरुण और अर्यमा के लिए कहा गया है कि इन्होंने शरद्, मास, दिन और रात्रि को अलग-अलग धारण कर रखा है[9]।

1. ऋतेन॑ ऋ॒तमपि॑हितं ध्रु॒वं वां॒ सूर्य॑स्य॒ यत्र॑ विमु॒ंचन्त्यश्वा॑न्। ऋ० 5.62.1.
2. आ॒त्मा ते॒ वातो॒ रज॒ आ नवी॑नोत्। ऋ० 7.87.2.
3. अ॒मी य ऋक्षा॒ निहि॑तास उ॒च्चा नक्तं॒ ददृ॑श्रे॒ कुह॑चि॒द् दिवे॑युः।
   अद॑ब्धानि॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि॑ वि॒चाक॑शच्च॒न्द्रमा॒ नक्त॑मेति॥ ऋ० 1.24.10.
4. स क्ष॒पः परि॑ षस्वजे॒ न्यु१॒॑स्रो मा॒यया॑ दधे॒ स विश्वं॒ परि॑ द॒र्श॒तः। ऋ० 8.41.3.
5. वि ये द॒धुः श॒रदं॒ मास॒माद॒हर्य॒ज्ञम॒क्तुं चाद॒चम्। ऋ० 7 66.11.
6. मि॒त्रोऽह॒रज॑नय॒द्वरु॑णो॒ रात्रि॑म्। तै० सं० 6.4.8.3.
   मै॒त्रं वा अह॑र्वारु॒णी रात्रिः। तै० सं० 2.1.7.4.
7. अयं वै॒ लो॒को मि॒त्रोऽसौ व॒रुणः। श० ब्रा० 12.9.2.12.
8. वेद॒ मा॒सो धृ॒तव्र॑तो॒ द्वाद॑श प्र॒जाव॑तः। ऋ० 1.25.8.
9. वि ये द॒धुः श॒रदं॒ मास॒माद॒हर्य॒ज्ञम॒क्तुं चाद॒चम्।

ऋग्वेद में वरुण को जलों का शास्ता बताया गया है। उन्होंने सरिताओं को प्रवाहित किया; ये सरिताएं वरुण के ऋत का अनुसरण करती हुई सतत प्रवाहित होती रहती हैं[1]। वरुण की माया के बल से सरिताएं तीव्र जव से समुद्र में गिर कर भी उसे भर नहीं पातीं[2]। वरुण और मित्र सरिताओं के पति हैं[3]। वरुण का ऋग्वेद में ही समुद्र के साथ संबन्ध गंठ गया है। किंतु यह संबन्ध इस संहिता में संभवतः वरुण के अतुल महत्त्वशाली न होने के कारण, कुछ मध्यम-सा पड़ गया है। सामुद्रिक जल में विराजित वरुण का आकाशस्थ मरुद्गणों, पृथिवीस्थ अग्नि, और अन्तरिक्षस्थ वात के साथ विरोध उभारा गया है[4]। यह कहावत कि सातों नदियां वरुण के मुंह में गिरती हैं, समुद्र के ऊपर अधिक चरितार्थ होती है। यह भी कहा गया है कि (द्यौः = सूर्य) की भांति वरुण भी समुद्र को वेला में बांधे हुए हैं[5]। वस्तुतः वरुण अन्तरिक्षस्थ जल से साधारणतया संबद्ध हैं। वे गुप्त समुद्र की भांति द्युलोक पर आरोहण करते हैं[6]। मनुष्यों के सत्य और अनृत का अवेक्षण करते हुए वे स्वच्छ एवं मधु बरसानेवाले जल में विचरण करते हैं[7]। वरुण की वेष-भूषा जल है[8]। वरुण और मित्र उन देवताओं में से हैं, जो जल बरसाते हैं; और इस बात के लिए उनके गुण गाये गये हैं। वरुण (बादल की) मशक से द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष में पानी छिड़कते हैं[9]। मित्र और वरुण के पास

अनाप्यं वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान आशत। ऋ० 7.66.11.

1. प्र सीमादित्यो असृजद्विधर्ताँ ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति।
न श्राम्यन्ति न वि मुचन्त्येते॥ ऋ० 2.28.4.
2. इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्॥ ऋ० 5.85.6.
3. आ राजाना मह ऋतस्य गोपा सिन्धुपती क्षत्रिया यातमर्वाक्॥ ऋ० 7.64.2.
4. दिवा यान्ति मरुतो भूम्याऽग्निरयं वातो अन्तरिक्षेण याति।
अद्भिर्याति वरुणः समुद्रैर्युष्माँ इच्छन्तः शवसो नपातः। ऋ० 1.161.14.
5. अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थाद्॥ ऋ० 7.87.6.
6. स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु यजुर्दधे। ऋ० 8.41.8.
7. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥ ऋ० 7.49.3.
8. वना वसानो वरुणो न सिन्धून्। ऋ० 9.90.2.
वरुण इदिह क्षयत्तमापो अभ्यनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव। ऋ० 8.69.11.
सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ ऋ० 8.69.12.
9. नीचीनवारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्। ऋ० 5.85.3.

इरामय कामधेनु है और मधुमयी सरिताएं हैं[1]। उनके पास वर्षा-भरित आकाश और प्रवहमान सलिल हैं[2]। वे चरागाहों पर घी बरसाते हैं और अवकाशों में मधु[3]। वे अवकाश से वर्षा और इरा को नीचे पठाते हैं[4]। दिव्य जल से परिप्लुत वर्षा उन्हीं के यहां से आती है[5]। सच पूछिये तो एक पूरे-के-पूरे सूक्त में उनकी वर्षणशक्ति का गुण-गान किया गया है[6]। संभवतः सलिल एवं वर्षा के साथ संबद्ध होने के कारण ही वरुण को निघण्टु के पांचवें काण्ड में द्युलोकस्थ एवं अन्तरिक्षस्थ देवताओं में गिना गया है। ब्राह्मणों में मित्र और वरुण वर्षा के भी देवता हैं। अथर्ववेद में वरुण की लोक-शासक शक्ति छिन गई है; और अब वे केवल जल पर शासन करनेवाले रह गये हैं। वे जल के साथ अब भी वैसे ही संबद्ध हैं जैसे सोम-पर्वत के साथ[7]। अब भी वे दिव्य पिता के रूप में वर्षा बरसाते हैं[8]। उनका स्वर्णिम आवास जल में है[9]। वे जल के सर्वोच्च पति हैं। वे और मित्र वर्षा के स्वामी हैं[10]। यजुर्वेद में उन्हें जल का शिशु बताया गया है और जल उनके मातृतम है[11]। जल ही वरुण की पत्नियां हैं[12]। मित्र और वरुण जल के नेता हैं[13]। वरुण के व्रतों के विषय में कहा गया है कि वे ध्रुव हैं, क्योंकि धृतव्रत विशेषण प्रधान-

---

उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित्।
सम्भ्रेण वसत पर्वतासस्तविषीयन्तः श्रथयन्त वीराः॥ ऋ० 5.85.4.

1. इरावतीर्वरुण धेनवो वां मधुमद्वां सिन्धवो मित्र दुह्रे। ऋ० 5.69.2.
2. वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः। ऋ० 5.68.5.
3. आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।
   मध्वा रजांसि सुक्रतू॥ ऋ० 3.62.16.
4. इळां नो मित्रावरुणोत वृष्टिमव दिव इन्वतं जीरदानू। ऋ० 7.64.2.
5. सं या दानूनि येमथुर्दिव्याः पार्थिवीरिषः। ऋ० 8.25.6.
6. ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि।
   यमत्र मित्रावरुणावथो युवं तस्मै वृष्टिर्मधुमत्पिन्वते दिवः॥ ऋ० 5.63. पूर्ण सूक्त
   5.63.1. आदि
7. अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः। अथ० 3.3.3.
8. अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः। अथ० 4.15.12.
9. अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मितः। अथ० 7.83.1.
10. वरुणोऽपामधिपतिः (स मावतु)। अथ० 5.24.4.
    मित्रावरुणौ वृष्ट्या अधिपती तौ मावताम्। अथ० 5.24.5.
11. पुस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः। यजु० 10.7.
12. आपो वरुणस्य पत्नयः। तै० सं० 5.5.4.1.
13. मित्रावरुणौ वा अपां नेतारौ। तै० सं० 6.4.3.2.

तया वरुण के लिए अकेले, और कभी-कभी मित्र के साथ प्रयुक्त हुआ है। स्वयं देव-गण भी वरुण या वरुण-मित्र और सविता के व्रतों का अनुसरण करते हैं[1]। अमर देवता भी मित्र और वरुण के अटल व्रतों को टालने में असमर्थ हैं[2]। मित्र और वरुण ऋत एवं प्रकाश के स्वामी हैं; वे ऋत के सहारे ऋत को धारण करते हैं[3]। ऋतावृध् विशेषण सब से अधिक उनके लिए; और फिर आदित्यों के लिए अथवा देव-सामान्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। वरुण ऋत के गोप्ता हैं[4]। वे और कभी-कभी आदित्य ऋत के गोपा कहे गये हैं; किंतु इस विशेषण का प्रयोग अग्नि और सोम के लिए भी देखा गया है। प्रमुख रूप से अग्नि के लिए प्रयुक्त ऋतावन् विशेषण अनेक बार मित्र और वरुण के लिए भी आया है। वरुण की शक्ति इतनी प्रभूत है कि न तो उड़ते हुए पक्षी और न प्रवहमान सरिताएं ही इनके साम्राज्य की सीमा का, शक्ति का, और इनके क्रोध का पार पा सकती हैं[5]। आकाश और सरिताएं मिलकर भी मित्र और वरुण के देवत्व को नहीं पा सके हैं[6]। वरुण सब को और सभी प्राणियों के आवासों को अपने में समाविष्ट किये हुए हैं। तीनों स्वर्ग और तीनों पृथिवी वरुण में निहित हैं[7]। वरुण सर्वज्ञ हैं। वे आकाश में पक्षियों की उड़ान को, समुद्र में जहाज़ों के यातायात को, और सुदूरगामी वायु के मार्ग को जानते हैं; और सभी गुप्त वस्तुओं को, जो हो चुकी हैं या जो होने वाली हैं—वे देखते हैं[8]। वे मानवजात के सत्य और अनृत के चितेरे हैं[9]। उनके बिना कोई प्राणी[10]

---

1. परि धामानि मर्मृशद्वरुणस्य पुरो गये।
   विश्वेदेवा अनु व्रतं नभन्तामन्यके समे॥ ऋ० 8.41.7.
   ये सवितुः सत्यसवस्य विश्वे मित्रस्य व्रते वरुणस्य देवाः॥ ऋ० 10.36.13.
2. न वां देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि॥ ऋ० 5.69.4.
   धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया॥ ऋ० 5.63.7.
3. ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती। ता मित्रावरुणा हुवे। ऋ० 1.23.5.
4. ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। ऋ० 1.2.8.
5. नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः।
   नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्॥ ऋ० 1.24.6.
6. न वां द्यावोऽहभिर्नोत सिन्धवो न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम्। ऋ० 1.151.9.
7. तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः। ऋ० 7.87.5.
8. वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः। ऋ० 1.25.7.
   वेद वातस्य वर्तनिमुरोर्ऋष्वस्य बृहतः। ऋ० 1.25.9.
   अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा। ऋ० 1.25.11.
9. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्। ऋ० 7.49.3.
10. न हि त्वदारे निमिषश्चनेशे ऋ० 2.28.6.

पलक भी नहीं मार सकता। मनुष्यों की पलकें उनकी गिनती में हैं और जो कुछ भी मनुष्य सोचता, मनसूबे बांधता या करता है, उन सभी को वरुण चीह्नते हैं[1]। जो कुछ भी पृथिवी और द्युलोक के मध्य अथवा इनके बाहर स्थित है, उस सभी को वरुण ताड़ते हैं। कोई मनुष्य, भले ही वह आकाश के उस पार भाग जाय, वरुण से नहीं बच सकता[2]। वरुण की सर्वज्ञता अन्य देवताओं में भी मिलती है; उदाहरण के लिए अग्नि की तुलना इस बात में वरुण से की गई है[3]।

नैतिक शासक होने के नाते वरुण सभी देवताओं से कहीं ऊंचे हैं। पाप कर्म से और व्रतों के उल्लङ्घन से वरुण को क्रोध चढ़ता है और वह ऐसा करनेवालों को कड़ा दण्ड देते हैं[4]। जिन पाशों के द्वारा वरुण पापियों को बांधते हैं उनका जहां-तहां उल्लेख मिलता है[5]। ये पाश सात और तीन कड़ियों के हैं। ये झूठों को धर बांधते और सत्यवादी को छूते तक नहीं हैं[6]। मित्र और वरुण अपने अनेक पाशों को लेकर असत्य को प्रचारते हैं[7]। एक वार उनके विषय में कहा गया है कि वे इन्द्र की सहायता से पापियों को ऐसे बन्धनों से जूड़ते हैं जो रस्सी के बने नहीं होते[8]। पाश शब्द का प्रयोग अन्य देवताओं में केवल एक बार अग्नि के साथ हुआ है, जहां उनसे अनुनय किया गया है कि हे अग्नि, आप अपने उपासकों के पाशों को ढीला[9]

---

1. संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्। अथ० 4.16.5.
   यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
   द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥ अथ० 4.16.2.
2. उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः। अथ० 4.16.4.
   सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्। अथ० 4.16.5.
3. विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया। ऋ० 10.11.1.
4. पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
   समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥ ऋ० 7.86.3.
   किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्॥ ऋ० 7.86.4.
5. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय॥ ऋ० 1.24.15.
   उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे॥ ऋ० 1.25.21.
   प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशात्॥ ऋ० 6.74.4.
   प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्॥ ऋ० 10.85.24.
6. ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
   सिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥ अथ० 4.16.6.
7. ता भूरिपाशावनृतस्य सेतू दुरत्येतू रिपवे मर्त्याय॥ ऋ० 7.65.3.
8. यौ सेतृभिररज्जुभिः सिनीथः॥ ऋ० 7.84.2.
9. एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान्॥ ऋ० 5.2.7.

कर दो। फलतः पाशोंवाली विशेषता वरुण की है। बेर्गेन के अनुसार वरुण के पाशों की प्रकल्पना पानी के बांधों पर आधृत है। किंतु हिलेब्राण्ड्ट के मत से यह रात्रि के पाशों पर अवलम्बित है। किंतु वरुण के पाशों की व्याख्या नैतिक अपराध करनेवालों के ऊपर फेंके आलंकारिक पाशों से हो जाती है। मित्र के साथ वरुण को असत्य का अपाकर्ता, अनृत से घृणा करनेवाला, और अनृत के लिए दण्ड देने-वाला कहा गया है[1]। जो लोग मित्र-वरुण की उपासना में ग़फ़लत करते हैं उन्हें वे सजा देते हैं[2]। इसके विपरीत प्रायश्चित्त करनेवालों पर वरुण दया करते हैं। वे पाप को मानों रस्सी से बांधते और फिर उसे ढीला कर देते हैं[3]। वे मनुष्यों के स्वयं किये पापों को ही नहीं, अपितु पितृ-गण द्वारा किये पापों को भी मुआफ़ कर देते हैं[4]। वे हर घड़ी व्रतों को तोड़नेवाले जनों के अपराधों को भी क्षमा कर देते हैं[5]; और जो अनजाने उनके व्रतों को तोड़ते हैं, उन पर भी वे समय पड़ने पर दया करते हैं[6]। वास्तव में वरुण (और आदित्यों) के निमित्त कहा हुआ कोई भी सूक्त ऐसा नहीं है, जिसमें कि उनसे अपराधों के लिए क्षमा न मांगी गई हो; ठीक ऐसे ही अन्य देवों के प्रति कहे गए सूक्तों में उन देवताओं से स्वस्ति अथवा कल्याण की भिक्षा मांगी गई है।

वरुण के पास 100 और कहीं-कहीं इससे भी बढ़कर 1000 ओषधियां हैं। इनसे वे मृत्यु को जीतते और भक्तों का पाप-भञ्जन करते हैं[7]। वे जीवन का अन्त कर सकते हैं और चाहें तो इसे बढ़ा भी सकते हैं[8]। वे अमृत के सिद्धहस्त रक्षक हैं। पूतमति

---

1. अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे ॥ ऋ० 1.152.1.
   इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति ॥ ऋ० 7.60.5.
   ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ॥ ऋ० 7.66.13.
2. जनो यो मित्रावरुणावभिध्रुगपो न वां सुनोत्यक्ष्णया ध्रुक् ।
   स्वयं स यक्ष्मं हृदये नि धत्त आप यदीं होत्राभिर्ऋतावा ॥ ऋ० 1.122.9.
3. वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य । ऋ० 2.28.5.
   वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत् । ऋ० 5.85.7.
   सर्वा ता वि ष्य शिथिरेव देवाधा ते स्याम वरुण प्रियासः । ऋ० 5.85.8.
4. अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः ॥ ऋ० 7.86.5.
5. यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् । मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ ऋ० 1.25.1.
6. अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ऋ० 7.89.5.
7. शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु ।
   बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत् ॥ ऋ० 1.24.9.
8. अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः ॥ ऋ० 1.24.11.
   प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ऋ० 1.25.12.

मानव[1] दूसरे लोक में वरुण और यम को, जो दोनों राजा स्वधा में आनन्द लेते हैं, देखने की लालसा रखते हैं[2]।

वरुण अपने उपासकों के प्रति मित्रता का भाव रखते हैं[3]। उनके उपासक उनके दिव्य आवास में उनके साथ दोस्ती का-सा वार्तालाप करते हैं; और कभी-कभी वे उन्हें अपनी प्रज्ञा-चक्षु से निहारते भी हैं[4]।

जिन वैदिक मन्त्रों को यहां उद्धृत किया गया है उनसे वरुण के प्राकृतिक आधार के विषय में हम किस निर्णय पर पहुंचते हैं ? इन उद्धरणों से और नीचे लिखे मित्र-संबन्धी उद्धरणों से प्रतीत होता है कि ये दोनों देवता सूर्य के निकट संबन्धी हैं और इन दोनों में भी वरुण अधिक बढ़े-चढ़े हैं। सच पूछो तो मित्र देवता वरुण में इतने अधिक समाविष्ट हो गये हैं कि उनकी स्वतन्त्र विशेषताओं का नाम तक कम लिया गया है। हो न हो मित्र के व्यक्तित्व-लोप का मुख्य कारण इस महान् देवता के साथ उनका अटूट संबन्ध है। अवेस्ता के साक्ष्य पर मित्र को सौर-देवता माना गया है। फलतः वरुण मूलतः किसी अन्य प्राकृतिक दृश्य के प्रतिरूप रहे होंगे। यह प्राकृतिक दृश्य संभवतः व्यापक आकाश रहा हो। द्युलोक का असीम गुम्बद द्रष्टा के नेत्रों के संमुख इतना विपुल दृश्य उपस्थित करता है कि इसके सामने दिन के समय आकाश के एक लघु भाग में यात्रा करनेवाला सूर्य तुच्छ पड़ जाता है। फलतः यह प्रभूत व्योम कल्पना में सूर्य की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा देवता दीख पड़ेगा। और सूर्य का आकाश के साथ संबन्ध स्वारसिक है, क्योंकि वह आकाश ही में से होकर प्रतिदिन चलता है और आकाश के सिवाय और कहीं भी

स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन्यादुषसः ॥ ऋ० 7.88.4.
मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ ऋ० 7.89.1.

1. एवा वन्दस्व वरुणं बृहन्तं नमस्या धीरममृतस्य गोपाम् ॥ ऋ० 8.42.2.
2. प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ऋ० 10.14.7.
3. स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन्यादुषासः ॥ ऋ० 7.88.4.
क्व १ त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित्।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥ ऋ० 7.88.5.
य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्त्वामागांसि कृणवत्सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥ ऋ० 7.88.6.
4. एता जुषत मे गिरः ऋ० 1.25.18.
अधा न्वस्य संदृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि।
स्व१र्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोऽभि मा वपुर्दृशये निनीयात् ॥ ऋ० 7.88.2.

दिखाई नहीं पड़ता। फलतः सूर्य की द्युलोक के नेत्र के रूप में कल्पना करना एक आसान-सी बात थी और यदि मित्र का मौलिक स्वरूप धुंधला न होता और यदि उनका वरुण में समावेश न हो गया होता तो सूर्य को मित्र का चक्षु बताना नाजायज़ होता। फिर ऋग्वेद में सूर्य के भी चक्षु होना लिखा है। 'दूर-द्रष्टा' यह विशेषण यदि सूर्य के लिए उचित जचता है तो आकाश के लिए भी उपयुक्त दीखता है; क्योंकि आकाश के विषय में भी कहा जा सकता है कि वह दिन में ही नहीं, अपितु रात में भी चन्द्र-तारकाओं की पलकों द्वारा देखते हैं। चूंकि वरुण अपने प्राकृतिक आधार से दूर जा पड़े हैं इसलिए वे मित्र के साथ ऊंचे आकाश में रथ पर भी चढ़े दीख सकते हैं। वरुण ही अकेले क्यों ? ऋग्वेद का हर महान् देवता रथ पर सवारी करता है। वरुण का घर आकाश-गुम्बद के प्रतिरूप उच्चतम आकाश में होना स्वाभाविक है और उनका वर्षा के साथ संबद्ध होना भी उचित है। अन्त में किसी भी प्राकृतिक दृश्य का सर्वोच्च शासक के रूप में विकसित होना उतना आसान नहीं है जितना कि आकाश का। और चूंकि आकाश पृथिवी से बहुत ही ऊंचे पर परिव्याप्त है और नित्यप्रति के आश्चर्यजनक दृश्य उसी में होते दीख पड़ते हैं, इसलिए उसका मानवीभाव संपन्न हो जाने पर उसी को अहर्निश मानव-जाति के कार्यकलाप का सर्वेक्षक एवं जगती के ध्रुव नियम का संरक्षक मानना भी स्वारसिक है। इसी प्रकार का विकास हेलेना की गाथा में भ्र्रीयस् (द्यौस्) का उघड़ता दीख पड़ता है। जो आरम्भ में आकाश का एक विशेषणमात्र था वही बाद में देवों का सर्वोच्च शासक बन गया है। अब यह आकाश की प्रशान्त ऊंचाई पर बैठता, बादलों को एकत्र करता, और वज्र धारण करता है; और इसी की इच्छा का दूसरा नाम नियम है।

वे प्राकृतिक दृश्य, जिनके साथ कि ऋग्वेद के दो सबसे महान् देवता मूलतः संबद्ध थे, उनके व्यक्तित्व-भेद का कारण बन जाते हैं। वरुण, जो कि ठीक समय पर अचूक रूप से आनेवाले दिव्य प्रकाश के दृश्य से संबद्ध हैं, पार्थिव एवं नैतिक जगत् के नियमों के सर्वोच्च अधिष्ठाता हैं। और चूंकि उनका रूप मूलतः नैतिक है इसलिए उनके विषय में गाथा-साहित्य का विकास न होना भी स्वाभाविक ही था। फलतः युद्ध-प्रिय आर्यों को युद्ध में आनन्द लेनेवाले सैनिक के लिए शासक इन्द्र देव की कल्पना करनी पड़ी। सभी जानते हैं कि वैद्युत दृश्य जब-तब बिना किसी नियम के घट जाते हैं। इन वैद्युत दृश्यों के साथ निकटतः संबद्ध होने के कारण जहां एक ओर इन्द्र का चरित्र अनियमित-सा बन गया है वहां दूसरी ओर वे ऋग्वेद के अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा कहीं अधिक गाथाओं के केन्द्र बन गये हैं। उनके द्वारा वरुण देव के दबाये जाने की बात पर, (जिसके प्रतिपादक कि स्वयं प्रोफ़ेसर राथ हैं), विवेचन आगे चलकर करेंगे। और जब देवताओं के नेतृत्व का सेहरा प्रजापति के सिर जा बंधा तब वरुण की सर्वोच्च शासकता भी क्रमशः धूमिल पड़ती गई और अब रह गया

उनके पास केवल जल का शासन, जोकि मौलिक रूप में उनके स्वरूप का एक मामूली अंश था। फलतः उत्तर-वैदिक-कालीन गाथा में वरुण भारतीय नेप्च्यून (समुद्र के देवता) बन कर रह गये हैं।

ओल्डनबेर्ग के मत में वरुण मूलतः चन्द्रमा के प्रतिरूप थे। आदित्यों की अपनी संख्या सात ही है और अवेस्ता के अमेषास्पेन्ताः के साथ उनका तादात्म्य सुनिश्चित है। इस बात से आरम्भ करके ओल्डेनबेर्ग क्रमशः इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मित्र और वरुण क्रमशः सूर्य और चन्द्र हैं और छोटे आदित्य पांच नक्षत्रों के प्रतिरूप हैं; मित्र और वरुण भायोरपीय काल के नहीं, अपितु भारत-ईरानी काल में सेमेटिक जाति के कुछ लोगों से आर्यों के द्वारा ग्रहण किये गये देवता हैं, क्योंकि सेमेटिक लोग ज्योतिर्विद्या में आर्यों की अपेक्षा अधिक आगे बढ़े हुए थे। आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया के दौरान में वरुण की मौलिक विशेषता में बहुत-कुछ भेद आ गया होगा और वे तभी से उच्च नैतिकता के आरक्षी बन गये होंगे। नहीं तो एक ऐसा देवता, जो स्पष्टतः चन्द्ररूप है, मित्र-जैसे देवता को, जोकि सूर्यरूप है, भारत-ईरानी काल में पीछे कैसे धकेल पाता; और साथ ही इस काल में उसका स्वरूप इतनी सूक्ष्मता तक कैसे पहुंचता जिससे कि वे नैतिकता के क्षेत्र में भारत में वरुण के रूप में और ईरान में अहुरमज़्दा के रूप में नीति के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित हो पाते। किंतु इस मत से वेद में मिलनेवाली वरुण की तात्त्विक विशेषताओं का व्याख्यान नहीं हो पाता। साथ ही ऐसी कल्पना से वरुण और ओउरनोस (Ouranós) का पारस्परिक संबन्ध भी टूट जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि वरुण की कल्पना भारत-ईरानी काल की है (§ 5); क्योंकि ईरान का 'अहुरमज़्दा' नाम को छोड़ और सब बातों में वरुण के समान है। यह संभव है कि वरुण का यह नाम भायोरपीय हो। और यद्यपि संस्कृत वरुण और ग्रीक ओउरनोस (Ouranõs) इन दोनों के तद्रूप होने में ध्वनि संबन्धी कठिनाइयां आती हैं तो भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान के प्रकाण्ड विद्वानों ने इनकी तद्रूपता का एकान्ततः तिरस्कार नहीं किया है।

यह शब्द चाहे भायोरपीय हो अथवा उत्तरकालीन इतना निश्चित है कि यह √वृ धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ आवृत करना है; फलतः इस शब्द का अर्थ परिव्यापक है। सायणाचार्य इसकी √वृ धातु से निष्पत्ति मानते हुए इसका अर्थ 'आवृत करनेवाला' या 'दुष्टों को अपने बन्धन में बांधनेवाला' करते हैं और[1] तैत्तिरीय संहिता की अपनी टीका में 'अन्धकार की तरह छिपानेवाला[2]। किंतु यदि वरुण शब्द भायोरपीय है तो संभवतः यह द्यौ का विशेषण रहा हो, और

1. वरुण शब्दस्यान्धकारवदावरकवाचित्वात्। तै० सं० (सायण) 1.8.16.1.

2. अन्धकारेणावरणहेतुत्वाद्रात्रेर्वारुणत्वम्। तै० सं० (सायण) 2.1.7.4.

बाद में ग्रीक में आकाश का विशेषण बन गया हो और भारत में आकाश का एक उत्कृष्ट देवता मान लिया गया हो।

मित्र (§ 13)—

मित्र का वरुण के साथ इतना घनिष्ठ संबन्ध है कि ऋग्वेद[1] में केवल एक ही सूक्त उनके अकेले के लिए कहा गया है। किंतु उस सूक्त में भी मित्र की स्तुति कुछ अनिश्चित-सी है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में इनके विषय में कुछ विशेष बातें कही गई हैं। वे बोलते हुए मित्र (ब्रुवाणः) मनुष्यों को एकत्र करते (यातयति) और निर्निमेष दृष्टि से हलवाहों को देखते हैं (अनिमिषा)[2]।

एक अन्य मन्त्र में[3] वरुण के समान ही जिसे कि यहां बलवान् और अदब्ध बताया गया है—मित्र के लिए भी शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसेकि 'बोलता हुआ मित्र मनुष्यों को एकत्र करता है'। यदि हम एक अन्य मन्त्र[4] की, जहां कि यह बताया गया है कि सौर-देवता सविता 'सभी जीवों को अपनी वाणी सुनाते और उन्हें प्रचोदित करते हैं', तुलना इस मन्त्र से करें तो ज्ञात होगा कि इस मन्त्र में मित्र के सौर-देवता होने की ओर संकेत किया गया है। 'यातयज्जन' यह विशेषण ऋग्वेद के तीन अन्य मन्त्रों में पाया जाता है। उनमें से एक में यह मित्र-वरुण के लिए द्विवचन में प्रयुक्त हुआ है[5], दूसरे में मित्र, वरुण और अर्यमा के लिए[6], और तीसरे में[7] अग्नि के लिए, जोकि मित्र की भांति मनुष्यों को एकत्र करते हैं। फलतः निष्कर्ष निकलता है कि यह विशेषता मुख्य रूप से मित्र की है। उस सूक्त में आगे आता है कि मित्र द्युलोक एवं पृथिवी को धारण करते हैं, पञ्च-जन उनकी आज्ञा का पालन करते हैं, और वे सभी देवताओं को स्थिर करते हैं। एक बार[8] नियमों की दृष्टि से सविता का तादूप्य मित्र के साथ देखा गया है, और एक अन्य स्थान पर आता है कि मित्र के नियमों से ही विष्णु अपने तीन पदों द्वारा

---

1. मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥
ऋ० 3.59.1. आदि पूर्ण सूक्त
2. इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याः। ऋ० 7.60.7.
3. जनं च मित्रो यतति ब्रुवाणः। इनो वामन्यः पदवीरदब्धः। ऋ० 7.36.2.
4. य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन। प्र च सुवाति सविता॥ ऋ० 5.82.9.
5. व्रतेव स्थो ध्रुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना। ऋ० 5.72.2.
6. मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनोऽर्यमा यातयज्जनः॥ ऋ० 1.136.3.
7. तमर्वन्तं न सानसिं गृणीहि विप्र शुष्मिणम्। मित्रं न यातयज्जनम्॥ ऋ० 8.102.12.
8. उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः॥ ऋ० 5.81.4.

परिक्रमण करते हैं[1]। इन दोनों मन्त्रों से ज्ञात होता है कि मित्र ही सूर्य के पथ का नियमन करते हैं। अग्नि जोकि उषा के आगे चलता है, अपने लिए मित्र को उत्पन्न करता है[2]। समिद्ध अग्नि मित्र है[3]; उत्पन्न अग्नि वरुण है—किंतु समिद्ध होने पर वही अग्नि मित्र माना जाता है[4]। अथर्ववेद[5] में सूर्योदय-कालीन मित्र का विरोध सूर्यास्त-कालीन वरुण के साथ दिखाया गया है; अथर्ववेद[6] में मित्र से प्रार्थना की गई है कि वह प्रातःकाल के समय शाला को अनावृत करें, जिसे कि वरुण ने रात में आवृत कर रखा था। इन मन्त्रों में उस ब्राह्मण-मत का उदय होता दीख पड़ता है, जिसके अनुसार मित्र का संवन्ध दिन से और वरुण का रात्रि से है। इस मान्यता का आधार यह रहा होगा कि मित्र मुख्य रूप से सूर्य के सहायक हैं और वरुण उनके विरोध में रात्रि के देवता हैं। दिन के देवता मित्र और रात्रि के देवता वरुण के मध्य का यही विरोध कर्मकाण्ड के ग्रंथों में भी चालू है, जिनमें विधान आता है कि यज्ञयूप में मित्र को श्वेत एवं वरुण को कृष्ण पशु दिया जाना चाहिये[7]। वेद में मित्र के सौर-देवता होने के जो थोड़े-बहुत प्रमाण मिलते हैं उनकी पुष्टि सामान्य ढंग से अवेस्ता और पारसी धर्म से हो जाती है। यहां मित्र निःसंदेह सूर्य-देव अथवा विशेषतः सूर्य से संबद्ध प्रकाश-देव हैं।

'मित्र' इस नाम की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। ऋग्वेद में इस शब्द का अर्थ साथी माना गया है, और मित्र-देवता को दयालु बताया गया है। वहां मित्र शान्ति के देवता बनकर भी आते हैं। अवेस्ता में चरित्र के नैतिक पक्ष में मित्र सचाई के संरक्षक हैं। फलतः अनुमान होता है कि मित्र शब्द का मौलिक अर्थ 'साथी' रहा होगा और इसका प्रयोग सूर्य के लिए उन्हें प्रकृति की एक दयालु शक्ति समझ कर किया जाता रहा होगा।

सूर्य (§14)—

ऋग्वेद के 14 सूक्त सूर्य के निमित्त रचे गये हैं। अनेक स्थलों पर इस बात

---

1. यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विचक्रम उप मित्रस्य धर्मभिः ॥ बालखिल्य 4.3.
2. उपउषो हि वसो अग्रमेषि त्वं यमयोरभवो विभावा।
   ऋताय सप्त दधिषे पदानि जनयन् मित्रं तन्वे स्वायै ॥ ऋ० 10.8.4.
3. मित्रो अग्निर्भवति यत् समिद्धः ॥ ऋ० 3.5.4.
4. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः ॥ ऋ० 5.3.1.
5. स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन ॥ अथ० 13.3.13.
6. वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥ अथ० 9.3.18.
7. मैत्रावरुणीं द्विरूपामालभेत प्रजाकामो मैत्रं वा अहर्वारुणी रात्रिः ॥ तै०सं० 2.1.7.4.
   मैत्रं श्वेतमालभेत वारुणं कृष्णम् ॥ तै० सं० 2.1.9.1.

का निर्णय करना असंभव हो जाता है कि सूर्य शब्द से केवल प्राकृतिक दृश्य अभिप्रेत है अथवा उसका मानवीय रूप। फलतः यह कहना कठिन है कि वेद में सूर्य देवता का बोध कितनी बार अभिप्रेत है, क्योंकि कई जगह 'सूर्य' इस नाम से भौतिक सौर-मण्डल का भी बोध होता है। सौर-देवताओं में सूर्य सबसे अधिक स्थूल हैं, और भौतिक सूर्य के साथ उनका निकट संबन्ध एक जगह भी आंख से ओझल नहीं हो पाया है। आकाश में सूर्य का ज्वलन्त प्रकाश मानों अमूर्त अग्निदेव का मुख है (अनीक)[1]। सूर्य की चक्षु का उल्लेख अनेक बार आया है[2]; किंतु स्वयं सूर्य को भी उतनी ही बार मित्र और वरुण की आंख बताया गया है, और साथ में अग्नि की भी[3]। एक जगह उषा के विषय में आता है कि वह देवताओं के नेत्र को लाती है[4]। चक्षु और सूर्य की पारस्परिक समानता की ओर एक मन्त्र में निर्देश आता है, जहां कहा गया है कि मृतक की चक्षु सूर्य में चली जाती है[5]। अथर्ववेद में सूर्य को चक्षुओं का पति बताया गया है[6]। और उल्लेख आता है कि वे प्राणियों के एक नेत्र हैं, जो आकाश, पृथिवी और जल के परोवर देखते हैं[7]। वे दूर-द्रष्टा हैं[8], सर्वद्रष्टा[9] हैं, अशेष जगती के सर्वेक्षक हैं[10]। सभी प्राणियों को एवं और मर्त्यों

मैत्रावरुणीं द्विरूपामालभेत पशुकामोऽहोरात्रे वै मित्रावरुणा।
मैत्रावरुणीं कृष्णकर्णीमालभेत वृष्टिकामोऽहोरात्रे वै मित्रावरुणा।
अहोरात्रे अनु वर्षत्ये तद्वा अह्नो रूपं यच्छुक्लं यत्कृष्णं तद्रात्रेः ॥ मै०सं०11.5.7.
संग्रामे संयत्ते समयकामो मित्रमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति ॥ तै०सं० 2.1.8.4.

1. अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य ॥ ऋ० 10.7.3.
2. अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् ॥ ऋ० 5.40.8.
3. चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ॥ ऋ० 1.115.1.
4. देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतंनयन्ती सुदृशीकमश्वम्।
   उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता ॥ ऋ० 7.77.3.
5. सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा ॥ ऋ० 10.16.3.
   चक्षोः सूर्यो अजायत ॥ ऋ० 10.90.13.
   चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः। चक्षुर्धाता दधातु नः ॥ ऋ० 10.158.3.
   चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः ॥ ऋ० 10.158.4.
6. सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु ॥ अथ० 5.24.9.
7. सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽतिपश्यति। सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुः ॥ अथ० 13.1.45.
8. शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु ॥ ऋ० 7.35.8.
   दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ॥ ऋ० 10.37.1.
9. सूराय विश्वचक्षसे ॥ ऋ० 1.50.2.
10. तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति ॥ ऋ० 4.13.3.

के भले-बुरे कर्मों को वे निहारते हैं[1]। सूर्य के द्वारा उद्बुद्ध किये जाने पर मनुष्य अपने लक्ष्यों की ओर निकल पड़ते हैं और अपने कार्यों को पूरा करने में व्यस्त हो जाते हैं[2]। मानवजात के लिए सूर्यदेव उद्बोधक बनकर उदित होते हैं[3]। वे चर और अचर सभी की आत्मा हैं[4]; उनके रथ को एक ही घोड़ा खींचता है। उनके घोड़े का नाम एतश है[5]। यह भी कहा गया है कि उनके रथ को अगणित घोड़े खींचते हैं[6], अथवा उनके रथ में घोड़ियां[7], सात घोड़े,[8] या हरितः नाम की घोड़ियां[9] या सात तीव्रगामी घोड़ियां जुड़ती हैं[10]।

सूर्य के पथ का निर्माण उनके लिए वरुण ने किया है[11] अथवा यों कहिए

---

1. पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥ ऋ० 1.50.7.
   ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्नभि चष्टे सूरो अर्य एवान् ॥ ऋ० 6.51.2.
   उभे उदेति सूर्यो अभिज्मन् ।
   विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपा ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ॥ ऋ० 7.60.2.
   उद्वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान् ।
   अभि यो विश्वा भुवनानि चष्टे स मन्युं मर्त्येष्वा चिकेत ॥ ऋ० 7.61.1.
2. उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् ॥ ऋ० 7.63.1.
   दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति ॥ ऋ० 7.63.4.
   नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ॥ ऋ० 7.63.4.
3. उद्वेति प्रसवीता जनानां महान्केतुरर्णवः सूर्यस्य ॥ ऋ० 7.63.2.
   एष मे देवः सविता चच्छन्द यः समानं न प्रमिनाति धाम ॥ ऋ० 7.63.3.
4. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ऋ० 1.115.1.
   विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपाः ॥ ऋ० 7.60.2.
5. समानं चक्रं पर्याविवृत्सन् । यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ॥ ऋ० 7.63.2.
6. भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य ॥ ऋ० 1.115 3.
   न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरैरथर्यसि ॥ ऋ० 10.37.3.
   अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा ॥ ऋ० 10.49.7.
7. यत्सूर्यस्य हरितः पतन्तीः पुरः सतीरुपरा एतशे कः ॥ ऋ० 5.29.5.
8. आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः ॥ ऋ० 5.45.9.
9. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ॥ ऋ० 1.50.8.
   अयुक्त सप्तशुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः
   ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ ऋ० 1.50.9.
   अयुक्त सप्त हरितः सधस्था या ईं वहन्ति सूर्यं घृताचीः ॥ ऋ० 7.60.3.
10. तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति ॥ ऋ० 4.13.3.
11. उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ ॥ ऋ० 1.24.8.

कि उसे आदित्यों ने—मित्र, वरुण और अर्यमा ने[1] बनाया है। पूषा उनके सन्देश-वाहक है[2]। उषा या उषाएं सूर्य, अग्नि और यज्ञ को जन्म देती हैं[3]। सूर्यदेव इन उषाओं के उत्सङ्ग में से चमकते है[4]। किंतु किन्हीं और दृष्टियों से उषा को सूर्य की पत्नी भी बताया गया है[5]।

सूर्य को माता के नाम पर आदित्य, अर्थात् अदिति के पुत्र, या आदितेय भी कहा गया है[6]। किंतु कहीं-कहीं उन्हें आदित्यगण से पृथक् भी दिखाया गया है[7]। उनके पिता द्यौ हैं[8]। देवता से वे जन्मे हैं। देवताओं ने उन्हें, जबकि वे समुद्र में विलीन थे, वहां से उभारा[9]। अग्नि के ही एक रूप में देवताओं ने उन्हें द्यौ में टांगा है[10]। एक और विचारधारा के अनुसार उनकी उत्पत्ति[11] विश्व-

---

रदत्पथो वरुणः सूर्याय ॥ ऋ० 7.87.1.

1. यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः ॥ ऋ० 7.60.4.
2. यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति ।
   ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य ॥ ऋ० 6.58.3.
3. एषा स्या नव्य मायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि ।
   अग्र एति युवतिरह्रयाणा प्राचिकितत्सूर्यं यज्ञमग्निम् ॥ ऋ० 7.80.2.
   पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्ती रुषसो विभातीः ।
   अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निम् ॥ ऋ० 7.78.3.
4. विभ्राजमान उषसामुपस्थाद्रेभैरुदेत्यनुमद्यमानः ॥ ऋ० 7.63.3.
5. वाजिनीवती सूर्यस्य योषा ॥ ऋ० 7.75.5.
6. उदगादयमादित्यः ॥ ऋ० 1.50.13.
   उदपप्तदसौ सूर्यः पुरु विश्वानि जूर्वन् ।
   आदित्यः पर्वतेभ्यः ॥ ऋ० 1.191.9.
   वण्महाँ असि सूर्य बळादित्य महाँ असि ।
   महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥ ऋ० 8.101.11.
   यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् ॥ ऋ० 10.88.11.
7. सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना ॥ ऋ० 8.35.13.
   सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना ॥ ऋ० 8.35.15.
8. दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ।
   दूरेदृशे देवजाताय केतवे ॥ ऋ० 10.37.1.
9. यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
   अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन ॥ ऋ० 10.72.7.
10. यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवा सूर्यमादितेयम् ॥ ऋ० 10.88.11.
11. चक्षोः सूर्यो अजायत ॥ ऋ० 10.90.13.

पुरुष के नेत्र से हुई है। अथर्ववेद[1] में तो सूर्य की उत्पत्ति वृत्र तक से भी बताई गई है।

अनेक देवताओं के बारे में आता है कि उन्होंने सूर्य को उत्पन्न किया। इन्द्र ने सूर्य को जन्म दिया[2], उन्हें भासित किया एवं द्युलोक में उभारा[3]। इन्द्र और विष्णु ने उन्हें जन्म दिया[4]। इन्द्र और सोम ने उन्हें प्रकाश के साथ ऊपर उभारा[5]। इन्द्र और वरुण ने प्रभूत सूर्य को द्यौ में उठाया[6]। मित्र और वरुण ने उन्हें उभारा अथवा द्युलोक में बिठाया[7]। सोम ने सूर्य में प्रकाश का आधान किया[8], सूर्य को जन्म दिया[9], उन्हें चमकाया[10] अथवा उन्हें द्युलोक में टिकाया[11]। अग्निदेव ने सूर्य की चमक को ऊंचाई पर स्थित किया[12]। और उन्हें स्वर्ग में चढ़ाया[13]। धाता ने सूर्य एवं चन्द्र का निर्माण किया[14]। अङ्गिरसों ने अपने यज्ञों द्वारा सूर्य-चन्द्र को आकाश में टिकाया[15]। सूर्य की उत्पत्ति से संबद्ध इन सभी मन्त्रों में साधारण सूर्य के भौतिक प्रकाश की ओर संकेत सुस्पष्ट है।

अनेक मन्त्रों में सूर्य को आकाश में उड़नेवाले पक्षी के रूप में देखा गया है।

---

1. वृत्राज्जातो दिवाकरः ॥ अथ० 4.10.5.
2. यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥ ऋ० 2.12.7.
3. सूर्यं हर्यन्नरोचयः ॥ ऋ० 3.44.2.
4. जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् ॥ ऋ० 7.99.4.
5. इन्द्रासोमा वासयथ उषासमुत्सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह ॥ ऋ० 6.72.2.
6. सूर्यमैरयतं दिवि प्रभुम्। इन्द्रावरुणा मदे अस्य मायिनः ॥ ऋ० 7.82.3.
7. अनु व्रतं वरुणो यन्ति मित्रो यत्सूर्यं दिव्यारोहयन्ति ॥ ऋ० 4.13.2.
   माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम् ॥
   ऋ० 5.63.4.
   सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम् ॥ ऋ० 5.63.7.
8. अयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः ॥ ऋ० 6.44.23.
   (ओजो-)ऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥ ऋ० 9.97.41.
9. जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य ॥ ऋ० 9.96.5.
10. अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ॥ ऋ० 9.63.7.
11. आ सूर्यं रोहयो दिवि ॥ ऋ० 9.107.7.
12. ऊर्ध्वं भानुं सूर्यस्य स्तभायन् ॥ ऋ० 10.3.2.
13. अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि ॥ ऋ० 10.156.4.
14. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥ ऋ० 10.190.3.
15. य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन्पृथिवीं मातरं वि।
    सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु ॥ ऋ० 10.62.3.

सूर्य एक पक्षी हैं[1] या वे एक अरुष सुपर्ण हैं[2], वे उड़ते हैं[3], वे उड़नेवाले एक बाज हैं[4] और एक मन्त्र में तो उन्हें साफ़-साफ़ श्येन बताया गया है[5]। एक मन्त्र में उन्हें वृषभ एवं पक्षी कहा गया है[6] और एक अन्य मन्त्र में उन्हें चितकबरा बैल (गौः पृश्निः) बताया गया है[7]। एक स्थान पर उन्हें उषा के द्वारा लाया गया श्वेत और चमकीला घोड़ा बताया गया है[8]। सूर्य की किरणें ही उनके घोड़े हैं (जिनकी संख्या ७ है)—[9] क्योंकि कहा गया है कि सूर्य की किरणें ही (केतवः) उन्हें लाती हैं। उनकी सात घोड़ियों को उनके रथ की सात पुत्रियां बताया गया है[10]।

और जगहों पर मौके के अनुरूप सूर्य का वर्णन अचेतन पदार्थ के रूप में भी हुआ है। वे आकाश के एक रत्न हैं[11] और उनकी उपमा एक चित्र वर्ण के पत्थर से की गई है जो आकाश के मध्य में भासमान है[12]। सूर्य एक ज्योतिष्मान् आयुध है, जिसे मित्र और वरुण बादल और वर्षा से आवृत्त करते हैं[13]। वे मित्र और वरुण[14]

---

1. पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया ॥ ऋ० 10.177.1.
   पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति ॥ ऋ० 10.177.2.
2. उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः ॥ ऋ० 5.47.3.
3. उदपप्तदसौ सूर्यः ॥ ऋ० 1.191.9.
4. श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः ॥ ऋ० 7.63.5.
5. रघुः श्येनः पतयदन्धो अच्छा ॥ ऋ० 5.45.9.
6. उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः ॥ ऋ० 5.47.3.
7. आयं गौः पृश्निरक्रमीत् ॥ ऋ० 10.189.1.
   उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश ।
   मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा ॥ ऋ० 5.47.3.
8. देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम् ।
   उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता ॥ ऋ० 7.77.3.
9. तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति ॥ ऋ० 4.13.3. दे० 4.13.4.
10. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ॥ ऋ० 1.50.9.
11. दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति ॥ ऋ० 7.63.4.
    रुक्मो न दिव उदिता व्यद्यौत् ॥ ऋ० 6.51.1.
12. मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा ॥ ऋ० 5.47.3.
    अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्सोऽश्मा पृश्निरभवदश्रुर्ह वै तमश्मेत्याचक्षते ॥
    शत० ब्रा० 6.1.2.3.
13. माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम् ।
    तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि ॥ ऋ० 5.63.4.
14. अनु वामेकः पविरा ववर्त ॥ ऋ० 5.62.2.

के वज्र हैं; वे मित्र और वरुण द्वारा आकाश में छोड़े गये ज्योतिष्मान् रथ हैं[1]। सूर्य एक-चक्र हैं[2] और दो मन्त्रों में 'सूर्य-चक्र' का उल्लेख आता है[3]।

सूर्य अनिशित चराचर के लिए चमकते हैं[4]। वे मनुष्यों और देवताओं के लिए भासित होते हैं[5]। वे अपने प्रकाश से अन्धकार का विध्वंस करते हैं[6]। वे अन्धकार को चर्म की भांति बटोर लेते हैं[7]। उनकी किरणें अन्धकार को चर्म की भांति पानी में फेंक देती हैं[8]। वे अन्धकार के प्राणियों और यातु-धानियों को पराजित करते हैं[9]। सूर्य की ललाटंतप धूप की ओर केवल दो या तीन बार संकेत आये हैं[10]। और यह इसलिए कि ऋग्वेद में सूर्य को पीड़ा देनेवाला देवता नहीं माना गया है। इस ज्योतिष्पुञ्ज के क्लेशदायी पहलू के लिए अथर्ववेद एवं ब्राह्मणों से मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं।

सूर्य दिनों को नापते[11] और आयु के दिनों को बढ़ाते हैं[12]। वे बीमारी और प्रत्येक प्रकार के दुःस्वप्न का नाश करते हैं[13]। जीवन का अर्थ ही सूर्योदय का दर्शन

---

1. सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम् ॥ ऋ० 5.63.7.
2. मुषाय सूर्यं कवे चक्रमीशान ओजसा ॥ ऋ० 1.175.4.
   यत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते । मुषाय इन्द्र सूर्यम् ॥ ऋ० 4.30.4.
3. त्वा युजा नि खिदत्सूर्यस्येन्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्द्रो ॥ ऋ० 4.28.2.
   प्रान्यच्चक्रमवृहः सूर्यस्य ॥ ऋ० 5.29.10.
4. उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् ॥ ऋ० 7.63.1.
5. प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् ॥ ऋ० 1.50.5.
6. येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमः ॥ ऋ० 10.37.4.
7. चर्मेव यः समविव्यक् तमांसि ॥ ऋ० 7.63.1
8. दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्वन्तः ॥ ऋ० 4.13.4.
9. उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
   अदृष्टान्सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ऋ० 1.191.8.
   आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ ऋ० 1.191.9.
   इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।
   विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ऋ० 7.104.24.
10. तपन्ति शत्रुं स्वर्ण भूमा ॥ ऋ० 7.34.19.
    घृणा तपन्तमति सूर्यं परः ॥ ऋ० 9.107.20.
11. वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।
    पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥ ऋ० 1.50.7.
12. सोम राजन् प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ॥ ऋ० 8.48.7.
13. तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुःष्वप्न्यं सुव ॥ ऋ० 10.37.4.

करना है[1] । सभी प्राणी सूर्य पर अवलम्बित हैं[2] । आकाश उन्हीं के द्वारा ठहरा हुआ है[3] । उन्हें विश्व-कर्मा भी कहा गया है[4] । अपनी महत्ता के कारण वे असुर्य पुरोहित हैं (असुर्यः पुरोहितः) । उदय के समय उनसे प्रार्थना की जाती है कि वे मित्र, वरुण एवं अन्य देवताओं के समक्ष मनुष्यों को निष्पाप घोषित करें[5] । उदय के समय उन्हें वृत्रघ्न इन्द्र के पास जाने के लिए कहा गया है, और जब उन्हें इन्द्र के साथ बुलाया गया है तब उन्हीं को वृत्रघ्न कहकर पुकारा गया है[6] ।

सूर्य के विषय में कही गई एकमात्र गाथा का सार है कि इन्द्र ने उनका हनन किया[7] और उनके चक्र को चुरा लिया[8] । हो सकता है कि यह घटाओं के बीच सूर्य के घिर जाने का आलंकारिक वर्णन हो ।

अवेस्ता में भी ह्वरे अर्थात् सूर्य (=वैदिक स्वर् जिससे सूर्य की निष्पत्ति हुई और जो ग्रीक helios से संबद्ध है) के शीघ्रगामी घोड़ों को अहुरमज़्दा का नेत्र बताया गया है ।

सविता (§ 15)—

ऋग्वेद में सविता के निमित्त ग्यारह सकल और अनेक विकल सूक्त आये हैं और उनका नाम लगभग 170 बार उल्लिखित हुआ है । इनमें से आठ या नव सूक्त तो पारिवारिक मण्डलों में आये हैं, जबकि सूर्य के निमित्त कहे गये सूक्त तीन

---

1. ज्योक्पश्यात्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ऋ० 4.25.4.
   पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ऋ० 6.52.5.
2. सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ऋ० 1.164.14.
3. सूर्येणोत्तभिता द्यौः ॥ ऋ० 10.85.1.
4. येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता ॥ ऋ० 10.170.4.
5. यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम् ॥ ऋ० 7.60.1.
   स सूर्य प्रति पुरो न उद् गा एभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः ।
   प्र नो मित्राय वरुणाय वोचोऽनागसो अर्यम्णे अग्नये च ॥ ऋ० 7.62.2.
6. आ प्र द्रव परावतोऽर्वावतश्च वृत्रहन् ॥ ऋ० 8.82.1.
   तीव्राः सोमास आ गहि सुतासो मादयिष्णवः ॥ ऋ० 8.82.2.
   आ त्वेशत्रवा गहि न्युक्थानि च हूयसे ।
   उपमे रोचने दिवः ॥ ऋ० 8.82.4.
7. संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत् ॥ ऋ० 10.43.5.
8. मुषाय सूर्यं कवे चक्रमीशान ओजसा ॥ ऋ० 1.175.4.
   यत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते ।
   मुषाय इन्द्र सूर्यम् ॥ ऋ० 4.30.4.

को छोड़कर और सभी प्रथम और दशम मण्डल में हैं। सविता प्रधानरूप से एक हिरण्मय देवता हैं; उनके सभी अवयवों तथा उपकरणों का वर्णन इसी विशेषण के द्वारा किया गया है। वे हिरण्याक्ष,[1] हिरण्य-हस्त[2], हिरण्य-जिह्व[3] हैं। ये विशेषण खास तौर से उन्हीं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। वे हिरण्य-बाहु[4], पृथु-पाणि[5] और सुपाणि[6] हैं। वे मधु-जिह्व हैं[7] और सुजिह्व[8] भी हैं। एक बार उन्हें अयोहनु भी कहा गया है। वे हरि-केश (पीतकेश) भी हैं, जो अग्नि एवं इन्द्र का एक गुण है[9]। वे पीत-वर्ण की गाती मारते[10] हैं। उनके पास स्वर्णिम रथ है, जिसकी फड़ें तक स्वर्णिम हैं[11]। यह रथ वैसा ही विश्व-रूप[12] है जैसेकि वे स्वयं विश्व-रूप हैं[13]। उनके रथ को दो चमकीले घोड़े अथवा इन से अधिक बभ्रु-वर्ण, श्वेत चरणोंवाले घोड़े खींचते हैं[14]।

ओजस् और विभूति प्रमुख रूप से सविता के गुण हैं और सुनहरी गति (हिरण्ययी अमति) केवल उन्हीं का गुण है[15]। इस विभूति को वे विश्व में बखे-

---

1. हिरण्याक्षः सविता देव आगात्। ऋ० 1.35.8.
2. हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिः। ऋ० 1.35.9.
   हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः। ऋ० 1.35.10.
3. हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे। ऋ० 6.71.3.
4. उदु ष्य देवः सविता हिरण्यया बाहू अयंस्त सवनाय सुक्रतुः। ऋ० 6.71.1.
   उदू अयाँ उपवक्तेव बाहू हिरण्यया सविता सुप्रतीका। ऋ० 6.71.5.
   उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्ता हिरण्यया दिवो अन्ताँ अनष्टाम्। ऋ० 7.45.2.
5. प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति। ऋ० 2.38.2.
6. देवोऽनयत्सविता सुपाणिः। ऋ० 3.33.6.
7. अयोहनुर्यजतो मन्द्रजिह्वः। ऋ० 6.71.4.
8. हिरण्यपाणिः सविता सुजिह्वः। ऋ० 3.54.11.
9. सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्। ऋ० 10.139.1.
10. पिशङ्गं द्रापिं प्रति मुञ्चते कविः। ऋ० 4.53.2.
11. हिरण्ययेन सविता रथेन। ऋ० 1.35.2.
    रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः। ऋ० 1.35.5.
12. अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपम्। ऋ० 1.35.4.
13. विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः। ऋ० 5.81.2.
14. याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्। ऋ० 1.35.3.
    वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः। ऋ० 1.35.5.
    आ देवो यातु सविता सुरत्नोऽन्तरिक्षप्रा वहमानो अश्वैः। ऋ० 7.45.1.
15. उदु ष्य देवः सविता ययाम हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत्। ऋ० 7.38.1.

रते हैं। वे वायु-लोक, द्यु-लोक और पृथिवी, संसार एवं पृथिवी के क्षेत्रों और स्वर्ग के नाक को भासित करते हैं[1]। वे अपनी सशक्त हिरण्मय बाहु को ऊपर उठाते हैं, जिसके द्वारा वे मानों सभी प्राणियों को आशीर्वाद देते एवं उन्हें उद्बुद्ध करते हैं। उनका यह हाथ पृथिवी के ओर-छोर तक फैल जाता है[2]। हाथ या बाहु का उठाना इनकी अपनी विशेषता है; क्योंकि अन्य देवों के कार्य की इसके साथ तुलना की गई है। उदाहरण के लिए—अग्नि के लिए कहा गया है कि वे अपना हाथ सविता की भांति उठाते हैं[3]। उषाएं अपना प्रकाश वैसे ही फैलाती हैं जैसे सविता अपना हाथ फैलाते हैं[4]; और बृहस्पति से अनुनय किया गया है कि वे स्तुति के सूक्तों को वैसे ही उभारें जैसे सविता अपने हाथों को उभारते हैं[5]। वे अपने हिरण्य-रथ में चलते हैं और ऊर्ध्व तथा अधो-मार्ग से सभी प्राणियों का सर्वेक्षण करते हुए आगे बढ़ते हैं[6]। वे अश्विनों के रथ को उषा के यहां आने के लिए उकसाते हैं[7]। वे उषा की पद्धति के पीछे पीछे चमकते हैं[8]। सविता ने सूर्य-रश्मियों के द्वारा पार्थिव लोकों को माप

तदिन्न्वस्य सवितुर्नकिर्मे हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत्। ऋ० 3.38.8.

1. क्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान। ऋ० 1.35.7.
   अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्याः। ऋ० 1.35.8.
   ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन्। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश्चेकितानः। ऋ० 4 14.2.
   अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशत्। ऋ० 4.53.4.
   वि नाकमख्यत्सविता वरेण्यः। ऋ० 5.81.2.
2. प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति। ऋ० 2.38.2.
   प्र बाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन्प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्। ऋ० 4.53.3.
   प्रास्राग् बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यः। ऋ० 4.53.4.
   उदु ष्य देवः सविता हिरण्यया बाहू अयंस्त सवनाय सुक्रतुः। ऋ० 6.71.1.
   उदू अयाँ उपवक्तेव बाहू हिरण्यया सविता सुप्रतीका। ऋ० 6.71.5.
   उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्ता हिरण्यया दिवो अन्ताँ अनष्टाम्। ऋ० 7.45.2.
3. उद्यंयमीति सवितेव बाहू॥ ऋ० 1.95.7.
4. व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून् विशो न युक्ता उषसो यतन्ते।
   सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू॥ ऋ० 7.79.2.
5. श्लोकं यंसत्सवितेव बाहू॥ ऋ० 1.190.3.
6. हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ ऋ० 1.35.2.
   याति देवः प्रवता यात्युद्वता॥ ऋ० 1.35.3.
7. युवोर्हि पूर्वं सवितोषसो रथमृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति॥ ऋ० 1.34.10.
8. वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥ ऋ० 5.81.2.

डाला है[1]। सूर्य-रश्मि विशेषण ऋग्वेद में एक ही बार प्रयुक्त हुआ है और वह हुआ है सविता के लिए :—"सूर्य-रश्मियों के साथ झिलमिलाते हुए हरिकेश सवितृ-देव अपना प्रकाश सततरूप से पूर्व की ओर से उदित करते हैं"[2]। वे तीन वार पृथिवी के चारों ओर, तीन वार तीनों लोकों के चारों ओर और तीन वार स्वर्ग के तीनों ज्योतिष्मान् लोकों के चारों ओर व्यापे हुए हैं[3]। उनके अन्तरिक्षस्थ सनातन पथ धूलि-रहित हैं और साथ ही सुगम हैं। उपासकों की रक्षा के लिए सविता की उन पथों पर भी प्रार्थना की जाती है[4]। उनसे मांगा गया है कि वे प्रेतात्माओं को उस पद पर ले जायं जहां चारु-कर्मा निवास करते हैं[5]। वे देवताओं को अमरत्व तथा मनुष्यों को लम्बी आयु प्रदान करते हैं[6]। ऋभुओं को भी अमरत्व वे ही देते हैं, जो ऋभु अपने कर्मों की गरिमा से उनके घर में जा पहुंचे हैं[7]। सूर्य की भांति सविता से भी प्रार्थना की गई है कि वे दुःस्वप्नों को दूर करें[8] और मनुष्यों को निष्पाप बनावें[9]। वे दुष्टात्माओं तथा यातुधानों को दूर भगाते हैं[10]।

अनेक दूसरे देवताओं की भांति सविता को भी असुर कहा गया है[11]। वे स्थिर विधानों का अनुपालन करते हैं[12]। जल और वायु उनके व्रतों के अनुसार

1. यः पार्थिवानि विममे स एतशः ॥ ऋ० 5.81.3.
   उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि ॥ ऋ० 5.81.4.
2. सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम् ॥ ऋ० 10.139.1.
3. त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना ॥ ऋ० 4.53.5.
4. ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।
   तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥ ऋ० 1.35.11.
5. यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ ऋ० 10.17.4.
6. देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम् ।
   आदिद्दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः ॥ ऋ० 4.54.2.
7. सौधन्वनासश्चरितस्य भूमनागच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम् ॥ ऋ० 1.110.2.
   तत्सविता वोऽमृतत्वमासुवदगोह्यं यच्छ्रवयन्त ऐतन ॥ ऋ० 1.110.3.
8. अद्या नो देव सवितः प्रजावत्सावीः सौभगम् । परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥ ऋ० 5.82.4.
9. देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः ॥ ऋ० 4.54.3.
10. अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थाद् देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥ ऋ० 1.35.10.
    जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद् युयवन्नमीवाः ॥ ऋ० 7.37.7.
11. तद्देवस्य सवितुर्वार्यं महद् वृणीमहे असुरस्य प्रचेतसः ॥ ऋ० 4.53.1.
12. व्रतानि देवः सविताभि रक्षते ॥ ऋ० 4.53.4.
    देव इव सविता सत्यधर्मा ॥ ऋ० 10.34.8.

चलते हैं[1]। वे जलों के नेता हैं और उनकी प्रेरणा से सलिल विस्तृत होकर प्रवाहित होते हैं[2]। अन्य देवता उनके नेतृत्व का अनुगमन करते हैं[3]। कोई भी प्राणी, यहां तक कि इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमन् और रुद्र भी उनके विशद व्रत और प्रिय स्वराज्य का उल्लङ्घन नहीं कर सकता[4]। उनका यशोगान वसुगण, अदिति, वरुण, मित्र और अर्यमन् करते हैं[5]। पूषन् और सूर्य की भांति सविता चर और अचर के स्वामी हैं[6]। वे सभी वननीय वस्तुओं के स्वामी हैं और स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी से अपना आशीर्वाद पठाते है[7]। दो वार उन्हें दमूनस् भी कहा गया है[8]। शेष स्थानों पर इस विशेषण का प्रयोग केवल अग्नि ही तक सीमित रहा है। कुछ अन्य देवताओं की भांति सविता आकाश के धर्ता है[9]। वे संपूर्ण संसार के धरुण हैं[10]। सविता ने यन्त्रों से पृथिवी को स्थिर कर रखा है और स्तम्भहीन शून्य में आकाश को टांग रखा है[11]।

सविता को कम-से-कम एक वार तो 'अपां नपात्' भी कहा गया है[12]। इतर

देव इव सविता सत्यधर्मा ॥ ऋ० 10.139.3.

1. आपश्चिदस्य व्रत आ निमृग्रा अयं चिद् वातो रमते परिज्मन् ॥ ऋ० 2.38.2.
2. देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥ ऋ० 3.33.6.
देवोऽनयत्सविता। सुपाणिः कल्याणपाणिः।···तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥ नि०2.26.
3. यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा ॥ ऋ० 5.81.3.
4. व्रतानि विभ्वो नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति ॥ ऋ० 2.38.7.
न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः ॥ ऋ० 2.38.9.
अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम् ॥ ऋ० 5.82.2.
5. अपि ष्टुतः सविता देवो अस्तु यमा चिद् विश्वे वसवो गृणन्ति ॥ ऋ० 7.38.3.
अभि यं देव्यदितिर्गृणाति सवं देवस्य सवितुर्जुषाणा।
अभि सम्राजो वरुणो गृणन्त्यभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः ॥ ऋ० 7.38 4.
6. जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी ॥ ऋ० 4.53.6.
7. अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम् ॥ ऋ० 1.24.3.
अस्मभ्यं तद् दिवो अद्भ्यः पृथिव्यास्त्वया दत्तं काम्यं राध आ गात् ॥ ऋ० 2.38.11.
8. देवो नो अत्र सविता दमूनाः ॥ ऋ० 1.123.3.
उदु ष्य देवः सविता दमूनाः ॥ ऋ० 6.71.4.
9. दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः ॥ ऋ० 4.53.2.
धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ॥ ऋ० 10.149.4.
10. न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद् यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति ॥ ऋ० 4.54.4.
11. सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् ॥ ऋ० 10.149.1.
12. अपां नपातमवसे सवितारमुप स्तुहि ॥ ऋ० 1.22.6.

स्थानों पर इस विशेषरण का प्रयोग अग्नि के लिए ही हुआ है। संभवतः इसका प्रयोग इस मन्त्र[1] में भी उन्हीं के लिए हुआ है। यास्क[2] एक मन्त्र की व्याख्या में कहते हैं कि सविता यहां मध्यम या अन्तरिक्ष लोक के देवता हैं; क्योंकि वे वर्षा के निमित्त कारण हैं। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि सूर्य (आदित्य जो द्युलोक में है) को भी सविता कहा गया है। संभवतः इस विशेषरण के कारण, और क्योंकि सविता के पथ को एक वार अन्तरिक्ष में दिखाया गया है[3], इसलिए सविता को निघण्टु में द्यु-स्थानीय एवं अन्तरिक्ष-स्थानीय दोनों ही प्रकार के देवताओं में गिना गया है। सविता को एक वार विश्व का प्रजापति भी कहा गया है[4]। शतपथ ब्राह्मरण[5] में मनुष्यों के विषय में आता है कि वे सविता का तादूप्य प्रजापति से करते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मरण[6] कहता है कि प्रजापति ने सविता होकर प्रारिणयों की सृष्टि की। केवल सविता ही जीवन-प्राणन-शक्ति हैं और अपनी गति से (यामभिः) वे ही पूषन् बन जाते हैं[7]। उन्हीं की संजीवनी शक्ति में पूषन् गमन करते हैं और समस्त जीवों का उनके संरक्षक की भांति सर्वेक्षरण करते हैं[8]। दो मन्त्रों में पूषन् और सविता को परस्पर संबद्ध माना गया है[9]। प्रथम मन्त्र में सभी जीवों का निरीक्षरण करनेवाले पूषन् से उनकी अनुकंपा के लिए प्रार्थना की गई है और दूसरे में सविता से प्रार्थना की गई है कि वे उपासकों की, जोकि उनकी वरेण्य ज्योति का ध्यान करते हैं, धी या प्रज्ञा को प्रेरित करें। दूसरा प्रसिद्ध सावित्री मन्त्र है जिसके द्वारा उत्तरकाल में वेदाध्ययन के आरम्भ में सविता का आह्वान किया जाता था। सविता के विषय में यह भी आता है कि वे अपने विधानों द्वारा मित्र बन जाते हैं[10]। सविता का तादूप्य

---

1. अपां नपात्सविता तस्यं वेद ॥ ऋ० 10.149.2.
2. सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयदनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदंहत्। अश्वमिवाधुक्षद्-धुनिमन्तरिक्षे मेघम्। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्। आदित्योऽपि सवितोच्यते। नि० 10.32.
3. ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे। ऋ० 1.35.11.
4. दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः। ऋ० 4.53.2.
5. यो ह्येव सविता स प्रजापतिः। श० ब्रा० 12.3.5.1.
6. प्रजापतिः भूत्वा प्रजा असृजत। तै० ब्रा० 1.6.4.1.
7. उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभिः। ऋ० 5.81.5.
8. तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्संपश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः। ऋ० 10.139.1.
9. यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति।
   स नः पूषाविता भुवत् ॥ ऋ० 3.62.9.
   तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ऋ० 3.62.10.
10. उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः। ऋ० 5.81.4.

कभी-कभी भग के साथ भी दिखाया गया है; किंतु उन स्थलों पर नहीं जहां कि 'भग' सविता का विशेषण बनकर आया है[1]। भग (जो संपदा के स्रोत हैं) का नाम अनेक वार सविता के साथ जोड़ दिया जाता है, जिससे एक पद 'सविता भग' या 'भग-सविता' संपन्न हो जाता है। अन्य संहिताओं में सविता को मित्र, पूषन् और भग से पृथक् रखा गया है। अनेक मन्त्रों में सूर्य और सविता अविविक्त ढंग से एक ही देवता बनकर आते हैं। इस प्रकार एक कवि कहता है:—"सविता देव ने अपनी ज्योति को ऊंचा उभारा है और इस प्रकार उन्होंने समस्त लोक को प्रकाशित किया है; सूर्य प्रखरता के साथ चमकते हुए द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष को अपनी किरणों से आपूरित कर रहे हैं[2]। एक और सूक्त[3] के प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ मन्त्र में सूर्य का वर्णन उन्हीं पदों के द्वारा हुआ है (उदा० प्रसवितृ) जो प्राय: सविता के लिए प्रयुक्त होते हैं, और तृतीय मन्त्र में तो सविता को साफ़ तौर से सूर्य का तद्रूप कहा गया है। अन्य सूक्तों में भी दोनों देवताओं को पृथक् करके देखना कठिन हो गया है[4]। निम्न-लिखित समान मन्त्रों में सविता को सूर्य से पृथक्

---

1. तत्स॑वि॒तुर्वृ॑णीमहे व॒यं दे॒वस्य॒ भोज॑नम् ।
श्रेष्ठं॑ सर्व॒धात॑मं॒ तुरं॒ भग॑स्य धीमहि ॥ ऋ० 5.82.1.
स हि रत्ना॑नि दा॒शुषे॑ सु॒वाति॑ सवि॒ता भग॑: । ऋ० 5.82.3.
उदु॒ ष्य दे॒वः स॑वि॒ता य॑याम हिर॒ण्ययी॑म॒मतिं॒ यामशि॑श्रेत् ।
नू॒नं भगो॒ हव्यो॒ मानु॑षेभि: ॥ ऋ० 7.38.1.
अनु॒ तन्नो॒ जास्पति॑र्मंसीष्ट रत्नं॑ दे॒वस्य॑ सवि॒तुरि॑या॒नः ।
भग॑मु॒ग्रोऽव॑से॒ जोह॑वीति॒ भग॒मनु॑ग्रो॒ अध॑ याति॒ रत्न॑म् ॥ ऋ० 7.38.6.
2. ऊ॒र्ध्वं के॒तुं स॑वि॒ता दे॒वो अ॑श्रे॒ज्ज्योति॒र्विश्व॑स्मै॒ भुव॑नाय कृ॒ण्वन् ।
आ॒प्रा द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्षं॒ वि सूर्यो॑ र॒श्मिभि॒श्चेकि॑तानः ॥ ऋ० 4.14.2.
3. उद्वे॑ति सु॒भगो॑ वि॒श्वच॑क्षाः साधा॑रणः॒ सूर्यो॒ मानु॑षाणाम् ॥ ऋ० 7.63.1.
उद्वे॑ति प्रसवी॒ता जना॑नाम् ॥ ऋ० 7 63.2.
दि॒वो रु॒क्म उ॑रु॒चक्षा॒ उदे॑ति दू॒रे अ॑र्थ॒स्तर॒णिर्भ्राज॑मानः ।
नू॒नं जनाः॒ सूर्ये॑ण॒ प्रसू॑ताः ॥ ऋ० 7.63.4.
4. सूर्यो॑ नो दि॒वस्पा॑तु॒ वातो॑ अ॒न्तरि॑क्षात् ।
अ॒ग्निर्न॑: पार्थि॑वेभ्यः ॥ ऋ० 10.158.1-4
जोषा॑ सवित॒र्यस्य॑ ते॒ हर॑: श॒तं स॒वाँ अर्ह॑ति ।
पा॒हि नो॑ दि॒द्युत॒: पत॑न्त्याः ॥
चक्षु॑र्नो दे॒वः स॑वि॒ता चक्षु॑र्न उ॒त पर्व॑तः ।
चक्षु॑र्धा॒ता द॑धातु नः ॥
चक्षु॑र्नो धेहि॒ चक्षु॑षे॒ चक्षु॑र्वि॒ख्यै त॒नूभ्य॑: । सं चे॒दं वि च॑ पश्येम ॥

रखा गया है। सविता द्युलोक और पृथिवी दोनों के मध्य से चलते है, वे रोगों को दूर भगाते और सूर्य को प्रेरित करते[1] हैं। सविता मनुष्यों को सूर्य के समक्ष निष्पाप घोषित करते हैं[2]। वे सूर्य की किरणों के साथ संमिलित होते हैं[3] अथवा वे सूर्य की किरणों से चमकते हैं[4]। मित्र, अर्यमा और भग के साथ सविता से प्रार्थना की गई है कि वे सूर्योदय के समय उपासकों को प्रचोदित करें[5]।

यास्क[6] के अनुसार सविता का काल अन्धकार की निवृत्ति होने के उपरान्त आता है। ऋग्वेद के[7] मन्त्र 5.81.4. की टीका में सायण कहते हैं कि उदय के पूर्व सूर्य को सविता और उदय से अस्त तक उसे सूर्य कहते हैं। साथ ही सविता के लिए कभी-कभी यह भी कहा है कि वे मनुवर्ग को सोने के लिए प्रेरित करते हैं[8]। फलतः उनका संबन्ध प्रातःकाल एवं सायंकाल दोनों के साथ होना चाहिए। वस्तुतः एक सूक्त में उनकी स्तुति अस्तंगामी सूर्य के रूप में की गई है[9]। इस बात के अनेक सकेत हैं कि सविता के निमित्त कहे गये सूक्तों का संबन्ध प्रातःकालीन अथवा

ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाविहावसे।
ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारमूतये॥ ऋ० 1.35.1–11.
उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्।
देवो नो अत्र सविता न्वर्थं प्रासावीद् द्विपत्प्र चतुष्पदित्यै॥ ऋ० 1.124.1.

1. हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यम्..................॥ ऋ० 1.35.9.
2. देवो नो अत्र सविता दमूना अनागसो वोचति सूर्याय॥ ऋ० 1.123.3.
3. उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि॥ ऋ० 5.81.4.
4. सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्॥ ऋ० 10.139.1.
आ सूर्यादभरन् घर्ममेते॥ ऋ० 10.181.3.
अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा॥ ऋ० 1.157.1.
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु॥ ऋ० 7.35.8.
शं नो देवः सविता त्रायमाणः॥ ऋ० 7.35.10.
5. यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा।
सुवाति सविता भगः॥ ऋ० 7.66.4.
6. सविता व्याख्यातः। तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति॥ नि० 12.12.
7. उदयात् पूर्वभावी सविता, उदयास्तमयवर्ती सूर्य इति॥ ऋ० 5.81.4. (सायण)
8. बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनः॥ ऋ० 4.53.6.
निवेशयञ्च प्रसुवञ्च भूम॥ ऋ० 7.45.1.
9. उदु ष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तदपा वह्निरस्थात्।
नूनं देवेभ्यो वि हि धाति रत्नमथाभजद्वीतिहोत्रं स्वस्तौ॥ ऋ० 2.38.1. आदि

सायंकालीन यज्ञ के साथ है। वे सभी द्विपदों और चतुष्पदों को सुलाते और जागृत करते हैं[1]। वे अपने अश्वों को उन्मुक्त कर देते और पथिकों को आराम देते हैं; उनके आदेश से रात्रि आती है, बुननेवाली स्त्री अपने धागों को बटोर लेती है और कुशल मनुष्य अपने अकृत कार्य को अधूरा छोड़ देते हैं[2]। उत्तरकाल में पश्चिम दिशा को उनकी अपनी समझा जाने लगा[3], जैसेकि पूर्व दिशा को अग्नि की और दक्षिण दिशा को सोम की समझा जाता था।

सविता नाम की बनावट से झलकता है कि हो न हो यह नाम भारत की अपनी निजू संपत्ति है। इस बात का समर्थन इस तथ्य से होता है कि √सू धातु का, जिससे कि सविता शब्द बना है, इस शब्द के साथ लगातार प्रयोग हुआ है और वह भी एक ऐसे ढंग से जोकि ऋग्वेद की अपनी विशेषता है। उन्हीं कार्यों की अभिव्यक्ति दूसरे किसी भी देवता के संबन्ध में किसी और ही धातु से की गई है। साथ ही सविता के संबन्ध में न केवल √सू धातु का, अपितु इससे निष्पन्न अनेक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जैसेकि प्रसवितृ और प्रसव। बार-बार आनेवाले इन एक-धातुज प्रयोगों से स्पष्ट हो जाता है कि इस धातु का अर्थ 'प्रेरित करना', 'उद्-बुद्ध करना', 'प्रचोदित करना' रहता आया है। इस विशिष्ट प्रयोग के कुछेक उदा-हरण यहां दिये जाते हैं—'सवितृ देव ने प्रत्येक चर वस्तु को उद्बुद्ध किया है' (प्रसवीता)[4]। 'उद्बोधन का स्वामी एकमात्र तू ही है' (प्रसवस्य)[5]। 'सविता ने वह अमरत्व तुम्हारे लिए आविर्भूत किया' (आसुवत्)[6]। 'सवितृ देव हमें उद्बुद्ध करने के लिए उदित हुए हैं' (सवाय)[7]। 'सविता प्रतिदिन तीन बार आकाश से वरदान भेजते हैं' (सोषवीति)[8]। 'हे सविता, हमें निष्पाप बनाओ' (सुवतात्)[9]। 'सविता

1. यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः। ऋ० 6.71.2.
2. आशुभिश्चिद् यान् वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः।
अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात्॥ ऋ० 2.38.3.
पुनः समव्यद् विततं वयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः। ऋ० 2.38.4.
3. प्रतीचीमेव दिशम्। सवित्रा प्राजानन्नेष वै सविता य एष तपति तस्मादेष प्रत्यङ्ङेति प्रतीचीं ह्येतेन दिशं प्राजानन् प्रतीची ह्येतस्य दिक्॥ शत० ब्रा० 3.2.3.18.
4. प्रासावीद् देवः सविता जगत् पृथक्। ऋ० 1.157.1.
5. उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इत्। ऋ० 5.81.5.
6. तत्सविता वोऽमृतत्वमा सुवत्। ऋ० 1.110.3.
7. उदु ष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तदपा वह्निरस्थात्। ऋ० 2.38.1.
8. त्रिरा दिवः सविता सोषवीति। ऋ० 3.56.7.
9. देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः। ऋ० 4.54.3.

के प्रभाव से (सवे) अदिति के प्रति निष्पाप होते हुए हम सब इष्ट वस्तुओं को प्राप्त करें'[1]। 'तू दुःस्वप्न को दूर कर (परा सुव), सब कठिनाइयों को दूर कर, और भद्र वस्तुओं को हमें दे' (आसुव)। 'सविता! हमारे अस्वास्थ्य को दूर करो' (अप साविषत्)[2]। इसी धातु का प्रयोग करके सविता से प्रार्थना की गई है कि वे धन का दान करें[3]। स्पष्ट है कि √सू धातु का यह प्रयोग प्रायः सविता के लिए ही हुआ है। किंतु दो या तीन बार इस धातु का प्रयोग सूर्य के संवन्ध में भी हुआ है[4]। उषा, वरुण, आदित्यगण, मित्र और सविता से युक्त अर्यमा के संबन्ध में भी इस धातु का प्रयोग मिलता है। इस प्रयोग की बहुलता के कारण ही यास्क सविता की परिभाषा करते हुए कहते हैं—'सर्वस्य प्रसविता'[5]।

सब प्रयोगों में से लगभग आधों में यह नाम 'देव' शब्द के साथ आता है। इससे झलकता है कि यह अब भी एक प्रकार का विशेषण ही था। सविता का अर्थ है—'प्रेरित करनेवाला देवता'। कुछ भी हो दो मन्त्रों में यह त्वष्टा का विशेषण बनकर भी आता है[6]। यहां 'देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः' शब्दों को आमने-सामने रखने से एवं उन्हें देव शब्द के साथ संबद्ध करने से ज्ञात होता है कि सविता इस मन्त्र में त्वष्टा के तद्रूप हैं।

उक्त बातों से यह परिणाम निकलता है कि सविता मूलतः भारतीय देव हैं। यह प्रारम्भ में सूर्य का एक विशेषणमात्र था, ऐसे सूर्य का, जोकि विश्व में जीवन और गति के महान् प्रेरक हैं और जो गति के रूप में संपूर्ण संसार की सभी गतियों में प्रमुख हैं। किंतु सूर्य से पृथक् पड़कर सविता उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म देवता बन गया। वैदिक कवियों की दृष्टि में सविता सूर्य की दिव्य शक्ति के मानवीय रूप हैं, जबकि सूर्यदेव एक अधिक स्थूल देवता हैं। सूर्य देव का नाम सौर-मण्डल-वाचक शब्द के तद्रूप है। इसी कारण सूर्य की कल्पना में सौर-शरीर का भान बराबर बना रहता है[7]।

ओल्डेनबेर्ग इस विकास-क्रम को न मानते हुए कहते हैं कि सविता प्रेरक-

---

1. अनागसो अदितये देवस्य सवितुः सवे। विश्वा वामानि धीमहि॥ ऋ० 5.82.6.
2. वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यं सावीः॥ ऋ० 6.71.6.
3. अपामीवां सविता साविषन्न्यक्। ऋ० 10.100.8.
4. उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य। ऋ० 7.63.2.
   नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः। ऋ० 7.63.4.
5. सविता सर्वस्य प्रसविता। निरुक्त 10.31.
6. देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। ऋ० 3.55.19., 10.10.5.
7. अपामीवां बाधते वेति सूर्यम्। ऋ० 1.35.9.
   उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्त्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्। ऋ० 1.124.1.

शक्ति के प्रतिरूप हैं और सविता की कल्पना में सूर्य, या उनके पक्ष-विशेष-संबन्धी विचार बाद में जोड़े गये हैं।

पूषन् (§ 16)—

ऋग्वेद में पूषन् के नाम का उल्लेख लगभग 120 बार हुआ है और उनके निमित्त आठ सूक्त कहे गये हैं—पांच छठे मण्डल में, दो प्रथम में और एक दशम मण्डल में। एक सूक्त में इन्द्र के साथ और एक अन्य सूक्त में सोम के साथ उनकी देवता-युग्म के रूप में भी स्तुति हुई है। इस प्रकार सांख्यिकी के अनुसार उनका स्थान विष्णु से कुछ ऊंचा ही ठहरता है। वैदिक काल के परवर्ती भाग में और उत्तर-वैदिक काल में उनका नामोल्लेख क्रमशः कम होता चला गया है। उनका व्यक्तित्व अस्पष्ट और उनकी मानवीय आकार-संबन्धी विशेषताएं अल्प हैं। जब उनसे प्रार्थना की गई है कि 'हे पूषन्! दुष्टों के अंगारे को कुचल डालो' तब उनके पैर का उल्लेख किया गया है। उनके दाहिने हाथ का भी उल्लेख मिलता है[1]। रुद्र की भांति उनके भी घुंघराले बाल हैं[2] और दाढ़ी है[3]। उनके हाथ में सुनहरा बर्छा (वाशी) है[4] और वे नोकदार (हालियों जैसी) आर और अष्ट्रा (अंकुश) अपने पास रखते हैं[5]। उनके रथ के चक्र, कोश और आसन का उल्लेख मिलता है[6] और उन्हें सर्वोत्तम सारथि माना गया है[7]। बकरे (अजाश्व) उनके रथ को खींचते हैं[8]। वे करम्भ खाते हैं। संभवतः इसी कारण उन्हें दन्तहीन कहा गया है[9]।

1. परि॑ पू॒षा प॒रस्ता॒द्धस्तं॑ दधातु॒ दक्षि॑णम्। ऋ० 6.54.10.
2. र॒थीत॑मं कप॒र्दिन॒मीशा॑नं॒ राध॑सो म॒हः। ऋ० 6.55.2.
3. प्र श्मश्रु॑ हर्य॒तो दू॑धोद् वि वृथा॒ यो अदा॑भ्यः। ऋ० 10.26.7.
4. हिर॑ण्यवाशीमत्तम। ऋ० 1.42.6.
5. या ते॒ अष्ट्रा॒ गोओ॑पशाघृणे पशु॒साध॑नी ॥ ऋ० 6.53.9.
   परि॑ तृन्धि पणी॒नामार॑या हृद॑या कवे ॥ ऋ० 6.53.5.
   वि पू॑षन्नार॑या तुद ॥ ऋ० 6.53.6.
   यां पू॑षन्ब्रह्मचोद॑नी॒मारां॒ बिभ॑र्ष्याघृणे ॥ ऋ० 6.53.8.
   अ॒जाश्वः॑ पशु॒पा वाज॑पस्त्यः। ऋ० 6.58.2.
6. पू॒ष्णश्च॒क्रं न रि॑ष्यति॒ न कोशोऽव॑ पद्यते। नो अ॑स्य व्यथते प॒विः। ऋ० 6.54.3.
7. उ॒त घा॒ स र॒थीत॑मः। ऋ० 6.56.2. न्यैरयद् र॒थीत॑मः। ऋ० 6.56.3.
8. अ॒स्या ऊ षु ण॒ उप॑ सा॒तये॑ भु॒वोऽहे॑ळमानो ररि॒वाँ अ॑जाश्व श्रवस्य॒ताम॑जाश्व ॥
   ऋ० 1.138.4.
9. तत्पूषा प्राश तस्य दंतो निर्जघान तथेन्नूनं तदास तस्मादाहुरदन्तकः पूषेति।
   शत० ब्रा० 1.7.4.7.

पूषन् सभी जीवों को एक-साथ साफ़ साफ़ देख लेते हैं[1]। ऐसा एक बार अग्नि के लिए भी कहा गया है[2]। वे चर और अचर सभी वस्तुओं की आत्मा हैं। लगभग यही शब्द सूर्य के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं[3]। वे अपनी माता का ध्यान करते और अपनी बहन से प्रेम करते हैं[4]। ऐसे ही शब्द अग्नि के बारे में कहे गये हैं। देवताओं ने प्रेम-विह्वल पूषा को सूर्या के साथ ब्याहा[5]। संभवतः सूर्या का पति होने के नाते ही पूषन् देव विवाह-सूक्त में विवाह-उत्सव के साथ संबद्ध हैं[6]। वहां उनसे अनुरोध किया गया है कि वे दुल्हन का हाथ पकड़कर उसे दूर ले जायं और उसके वैवाहिक जीवन को सुखमय बनावें। एक अन्य मन्त्र में[7] उनसे अनुनय किया गया है कि वे अपने उपासकों को कुमारियां प्रदान करें। अपनी अन्तरिक्षस्थ जल में चलनेवाली स्वर्णिम नावों में बैठकर वे प्रेम के वशीभूत हो सूर्या के संदेश-वाहक बनते हैं[8]। वे संसार का निरीक्षण करते हुए आगे बढ़ते हैं[9] और अपना आवास द्युलोक को बनाते हैं[10]। वे एक संरक्षक हैं जो सविता के आदेश पर चलते हैं और सभी प्राणियों को जानते एवं उन्हें देखते हैं। उनकी स्तुति के एक सूक्त में पूषन् को रथीतम कहा गया है; उन्होंने सूर्य के स्वर्णिम चक्र को नीचे की ओर चलाया है,[11] किंतु यहां संबन्ध कुछ अस्पष्ट-सा है[12]। पूषन् के लिए आघृणि विशेषण अनेक बार आया है। एक बार उन्हें अगोह्य भी कहा है—'दुःख के अयोग्य'; यह विशेषण सविता के लिए विशेष रूप से आता है।

पूषन् का जन्म पथों में सुदूरतम पथ पर हुआ है—द्युलोक और पृथिवी

1. यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति।
   स नः पूषाविता भुवत्। ऋ० 3.62.9.
2. यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। ऋ० 10.187.4.
3. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ० 1.115.1.
4. मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। ऋ० 6.55.5.
5. यं देवासो अददुः सूर्यायै कामेन कृतं तवसं स्वञ्चम्। ऋ० 6.58.4.
6. पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्य। ऋ० 10.85.26.
   तां पूषञ् छिवतमामेरयस्व। ऋ० 10.85.37.
7. अविता नो अजाश्वः पूषा यामनियामनि। ऋ० 9.67.10.
8. यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।
   ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः॥ ऋ० 6.58.3.
9. विश्वमन्यो अभिचक्षाण एति। ऋ० 2.40.5.
10. दिव्य१न्यः सदनं चक्र उच्चा। ऋ० 2.40.4.
11. सूरश्चक्रं हिरण्ययम्। न्यैरयद् रथीतमः॥ ऋ० 6.56.3.
12. आदित्योऽपि गौरुच्यते। उतादः परुषे गवि पर्ववति भास्वतीत्यौपमन्यवः॥ निरुक्त 2.6.

के सुदूर पथ पर। वे अपने दोनों प्रिय निवास-स्थानों पर जाकर लौटते हैं और उन्हें जानते हैं[1]। अपने इस परिज्ञान के सहारे ही वे मृतकों को पितरों के सुदूर पथ पर ले जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसेकि अग्नि और सविता उन्हें सुकर्म करनेवालों के पास ले जाते हैं। और जहां स्वयं पूषन् तथा देवगण निवास करते हैं, पूषा अपने उपासकों को वहां सुरक्षापूर्वक रास्ता दिखाते हुए ले जाते हैं[2]। अथर्ववेद के अनुसार भी पूषन् सुकर्म करनेवालों को देवताओं के सुन्दर लोक में ले जाते हैं[3]। जैसे पूषन् मर्त्यवर्ग को वैसे ही उनका बकरा यज्ञ के अश्व को मार्ग दिखलाता है[4]। संभवतः पूषन् के इस पथपरिज्ञान ही के आधार पर यह धारणा बनी है कि उनके रथ को अच्युत-पद बकरा खींचता है। पथों के ज्ञाता होने के कारण पूषन् राजमार्गों के संरक्षक हैं। पथों से खतरों, भेड़ियों और डाकुओं को हटाने के लिए उनसे प्रार्थना की गई है[5]। इस कारण उन्हें 'विमुचो नपात्' (मुक्ति के पुत्र) कहा गया है। यही विशेषण उनके लिए एक अन्य मन्त्र में प्रयुक्त हुआ है[6] और दो बार उन्हें विमोचन भी कहा गया है[7]। चूंकि वे विमोचन एवं विमुचो नपात् हैं, इस-

1. प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः।
   उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन्॥ ऋ० 10.17.6.
2. पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
   स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ ऋ० 10.17.3.
   आयुर्विश्वायुः परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्।
   यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥ ऋ० 10.17.4.
   पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
   स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन्॥ ऋ० 10.17.5.
3. पूषा मा धात्सुकृतस्य लोके। अथ० 16.9.2.
   पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
   स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्यो ऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ ऋ० 18.2.54.
4. एष छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः। ऋ० 1.162.3.
   अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः। ऋ० 1.162.4.
5. सं पूषन्नध्वनस्तिर व्यंहो विमुचो नपात्। ऋ० 1.42.1.
   यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति। अप स्म तं पथो जहि॥ ऋ० 1.42.2.
   अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्। दूरमधि स्रुतेरज॥ ऋ० 1.42.3.
6. एहि वां विमुचो नपात्। ऋ० 6.55.1.
7. प्र पूषणं वृणीमहे युज्याय पुरूवसुम्।
   स शक्र शिक्ष पुरुहूत नो धिया तुजे राये विमोचन॥ ऋ० 8.4.15.
   सं नः शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरं रास्व रायो विमोचन। ऋ० 8.4.16.

लिए उनसे पाप से मुक्ति की प्रार्थना की गई है[1]। शत्रुओं को तितर-बितर करने के लिए, रास्तों को वाजसाति की ओर ले चलने के लिए[2], शत्रुओं को हटाने के लिए, रास्तों को शिव बनाने के लिए, और अच्छे चरागाह तक ले चलने के लिए पूषन् से प्रार्थना की गई है[3]। रास्ते में विनाश से रक्षा तथा शुभ पथ दिखाने के लिए उनका आह्वान किया गया है[4]। वे प्रत्येक पथ के संरक्षक[5] और प्रत्येक पथ के स्वामी हैं[6]। वे पथ-प्रदर्शक हैं (प्रपथ्य)[7]। अतः जो भी कोई यात्रा करता है, वह पूषन् को हविष् प्रदान करता है और ऋग्वेद के सूक्त 6.53 का उच्चारण करता है। और जो कोई भी रास्ते से भटक जाता है, वह पूषन् की शरण जाता है[8]। इसके अतिरिक्त विभिन्न देवों के लिए दिये गये सायं-प्रातःकालीन हविष् में से पथस्पति पूषन् का भाग गृह के द्वार पर रख दिया जाता है[9]।

पथिज्ञ होने के कारण पूषन् गुप्त धन को प्रकट करते और उसे सुलभ बनाते हैं[10]। एक मन्त्र में कहा गया है कि उन्होंने गुह्य स्थान में छिपे हुए राजा (संभवतः सोम) को खोज निकाला; और उनसे मांग की गई है कि वे उसे खोये हुए पशु की भांति ले आवें[11]। इस प्रकार सूत्रों में किसी खोई वस्तु के प्राप्त होने पर पूषन् के लिए यज्ञ करने का विधान आता है[12]। पूषन् की एक और विशेषता[13] यह है कि

---

1. वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व। अथ० 6.112.3.
2. वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि। ऋ० 6.53.4.
3. अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विदः॥ ऋ० 1.42.7.
   अभि सूयवसं नय न नवज्वारो अध्वने। पूषन्निह क्रतुं विदः॥ ऋ० 1.42.8.
4. पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन। ऋ० 6.54.9.
   पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः। ऋ० 10.59.7.
5. पथस्पथः परिपतिं वचस्या। ऋ० 6.49.8.
6. वयमु त्वा पथस्पते। ऋ० 6.53.1.
7. पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा। वा० सं० 22.20.
8. वयमु त्वा पथस्पत इत्यर्थं चर्यां चरिष्यन्।
   सं पूषन्विदुषेति नष्टमधिजिगमिषन् मूळहो वा॥ आ० गृ० सू० 3.7.8.9.
   अध्वानं गमिष्यन् पूष्णे पथिकृते। शां० श्रौतसूत्र 3.4.9.
9. पूष्णे पथिकृते धात्रे विधात्रे मरुद्भ्यश्चेति देहलीषु। शां० गृ० सू० 2.14.10.
10. आविर्गूळहा वसू करत्सुवेदा नो वसू करत्। ऋ० 6.48.15.
11. आ पूषञ्चित्रबर्हिषमाघृणे धरुणं दिवः। आजा नष्टं यथा पशुम्॥ ऋ० 1.23.13.
    पूषा राजानमाघृणिरपगूळहं गुहा हितम्। अविन्दच्चित्रबर्हिषम्॥ ऋ० 1.23.14
12. सं पूषन्विदुषेति नष्टमधिजिगमिषन्मूळहो वा। आ० गृ० 3.7.9.
13. पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। ऋ० 6.54.5.

वे पशुओं के पीछे-पीछे चलते और उनकी देखभाल करते हैं। गढ़े में गिर जाने पर लगी चोट से वे पशुओं को बचाते हैं, उन्हें बिना घाव के घर पहुंचाते और खोये पशुओं को फिर से ढूंढ़ लाते हैं[1]। वे उनको गढ़े में गिरने के नुकसान से बचाते, उन्हें अक्षत घर पहुंचाते, और नष्ट हुए पशुओं को पुनः प्राप्त कराते हैं[2]। उनका चाबुक पशुओं को सीधे मार्ग से ले जाता है[3]। संभवतः पशुओं को सीधा ले जाने के विचार से ही हल के सीधे ले जाने का गठजोड़ भी उनके साथ हो गया है[4]। पूषन् घोड़ों की रक्षा करते[5], भेड़ों के बालों से वस्त्र बुनते एवं उन्हें पहरनेयोग्य चिकना बनाते हैं[6]। वन्य पशुओं को पूषन् का बताया गया है और उन्हें पशुओं का उत्पादक भी कहा गया है[7]। गौओं के चरागाह में से भगा ले जाने पर या उनके तितर-बितर हो जाने पर पूषन्-सूक्तों के उच्चारण का विधान आता है[8]।

पूषन् के कुछेक गुण अन्य देवताओं के गुणों जैसे हैं। वे असुर हैं[9]। वे शक्तिशाली[10], ओजस्वी[11], तेजस्वी[12], सबल[13] एवं निर्बाध[14] हैं। वे मर्त्यों से परे हैं

1. पूषन्ननु प्र गा इहि। ऋ० 6.54.6.
   परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु॥ ऋ० 6.54.10.
   अजाश्वः पशुपा वाजपस्त्यो धियंजिन्वो भुवने विश्वे अर्पितः। ऋ० 6.58.2.
   स वेद सुष्टुतीनामिन्दुर्न पूषा वृषा।
   अभिप्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति॥ ऋ० 10.26.3.
2. माकिर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं सं शारि केवटे। अथारिष्टाभिरा गहि॥ ऋ० 6.54.7.
   पुनर्नो नष्टमाजतु। ऋ० 6.54.10.
3. या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे पशुसाधनी। ऋ० 6.53.9.
4. इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु। ऋ० 4.57.7.
5. पूषा रक्षत्वर्वतः। ऋ० 6.54.5.
6. वासोवायोऽवीनाम्। ऋ० 10.26.6.
7. पूषा पशूनां प्रजनयिता। मैत्रा० सं० 4.3.7. पूषा पशूनां प्रजनयिता। तै० ब्रा० 1.7.2.4.
8. परि वः सेन्याद् वधाद् व्याघ्रान्नु घोषिण्यः। समानस्तस्य गोपतेर्गावो अंशो नवोरिषत् पूषा गा अन्वेतु न इति गाः प्रतिष्ठमाना अनुमन्त्रयेत। परिपूषेति परिक्रान्तासु।
   शां० गृ० सू० 3.9.1.2.
9. स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः। ऋ० 5.51.11.
10. प्र तव्यसो नमं उक्तिं तुरस्याहं पूष्ण उत वायोरदिक्षि। ऋ० 5.43.9.
11. स शक्र शिक्ष पुरुहूत। ऋ० 8.4.15.
12. शृण्वन्तं पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसम्। ईशानं राय ईमहे॥ ऋ० 6.54.8.
13. प्रप्र पूष्णस्तुविजातस्य शस्यते महित्वमस्य तवसो न तन्द्रते। ऋ० 1.138.1.
14. त्वेषं शर्धो न मारुतं तुविष्वण्यनर्वाणं पूषणं सं यथा शता। ऋ० 6.48.15.

और वैभव में देवताओं के तुल्य हैं[1]। वे वीरों के शासक हैं[2], अजेय संरक्षक हैं[3], और युद्ध में सहायक हैं[4]। वे विश्व के रक्षक हैं[5]। वे एक ऋषि, पुरोहित के रक्षक सखा, एवं उपासक के चिरकालीन ध्रुव मित्र हैं[6]। वे बुद्धिमान्[7] और उदार हैं[8] : उनकी उदारता विशेषतया गाई गई है। उनके पास सभी प्रकार के धन हैं[9]। वे धन से संपन्न हैं[10] और धन की वृद्धि करते हैं[11]। कल्याणप्रद प्रदाता तथा सब प्रकार की स्वस्तियों के स्रोत हैं[12]। वे रायस्पोष के दृढ मित्र हैं, और भोजन के सजग वर्धक एवं स्वामी हैं[13]। दस्र विशेषण, जोकि बहुधा अश्विनों के लिए आया है, कहीं-कहीं इनके लिए भी प्रयुक्त हुआ है[14]। दस्म[15], दस्म-वर्चस्[16]—जो विशेषण प्राय: अग्नि और इन्द्र के हैं, पूषन् के साथ भी कई बार प्रयुक्त हुए हैं। दो बार उन्हें

---

1. पुरो हि मर्त्यैरसि समो देवैरुत श्रिया। ऋ० 6.48.19.
2. क्षयद्वीरं पूषणं सुम्नैरीमहे। ऋ० 1.106.4.
3. पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये। ऋ० 1.89.5.
4. अभि ख्यः पूषन् पृतनासु नस्त्वम्। ऋ० 6.48.19.
5. अनष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः। ऋ० 10.17.3.
   सोमापूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः।
   जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ॥ ऋ० 2.80.1.
6. ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सखः॥ ऋ० 10.26.5.
   विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः॥ ऋ० 10 28.8.
7. आ तत्ते दस्र मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे॥ ऋ० 1.42.5.
8. पूषा पुरंधिरश्विना वधा पती॥ ऋ० 2.31.4.
9. स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। ॥ ऋ० 1.89.6.
10. प्र पूषणं वृणीमहे युज्याय पुरूवसुम्॥ ऋ० 8.4.15.
11. पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे॥ ऋ० 1.89.5.
12. हुवे यत्त्वा मयोभुवं देवं सख्याय मर्त्यः॥ ऋ० 1.138.2.
    पूषा सुबन्धुर्दिव आ पृथिव्या इळस्पतिर्मघवा दस्मवर्चाः॥ ऋ० 6.58.4.
    अस्माकं पूषन्नविता शिवो भव मंहिष्ठो वाजसातये॥ ऋ० 8.4.18.
    अधा नो विश्वसौभग हिरण्यवाशीमत्तम। धनानि सुषणा कृधि॥ ऋ० 1.42.6.
13. इनो वाजानां पतिरिनः पुष्टीनां सखा॥ ऋ० 10.26.7.
14. आ तत्ते दस्र मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे॥ ऋ० 1.42.5.
    यदद्य त्वा पुरुष्टुत ब्रवाम दस्र मन्तुमः 6.56.4.
15. न पूषणं मेथामसि सूक्तैरभि गृणीमसि। वसूनि दस्ममीमहे॥ ऋ० 1.42.10.
    ओ षु त्वा ववृतीमहि स्तोमेभिर्दस्म साधुभिः॥ ऋ० 1.138.4.
16. इळस्पतिर्मघवा दस्मवर्चाः॥ ऋ० 6.58.4.

नराशंस भी कहा गया है[1]। यह विशेषण और जगह एकान्ततः अग्नि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। एक बार उन्हें सर्व-व्यापी कहा गया है; एक बार उन्हें विश्वमिन्व (विश्व-प्रेरक) भी कहा गया है। एक बार वे "धी-जवन" भी कहलाये हैं[2], और धी को प्रचोदित करने के लिए उनका आह्वान हुआ है[3], और उनकी आरा को ब्रह्म-चोदनी कहा गया है[4]। केवल पूषन् के साथ बंधे विशेषण ये हैं :—आघृणि, विमोचन, विमुचो नपात्। उनके लिए एक-एक बार ये विशेषण भी आये हैं—पुष्टिभर, अनष्टपशु, अनष्टवेदस् और करम्भाद्। करम्भाद् विशेषण में संभवतः कुछ लोगों की पूषन् के प्रति घृणा-दृष्टि प्रतिफलित है[5]। करम्भ (आटे और दही की दोह्री) जो ऋग्वेद में तीन बार आया है, पूषन् का भोजन है और यह इन्द्र के भोजन सोम का विरोधी है[6]। फिर भी इन्द्र यदा-कदा इसे ग्रहण करते हैं[7]। केवल उन दो मन्त्रों में—जिनमें कि 'करम्भिन्' विशेषण आया है[8]—इसका प्रयोग इन्द्र के हविष् के लिए आया है। एकमात्र पूषन् ही के लिए पशुपा विशेषण का सीधे प्रयोग हुआ है[9]।

जिन देवताओं के साथ युग्म में पूषन् का आह्वान किया गया है वे केवल सोम[10] और इन्द्र[11] हैं। इनका पूषन् को एक बार भाई भी बताया गया है[12]। इनके अतिरिक्त पूषन् को सबसे अधिक भग के साथ बुलाया गया है[13]; और फिर विष्णु के

---

1. नराशंसं वाजिनं वाजयन्निह क्षयद्वीरं पूषणं सुम्नैरीमहे ॥ ऋ० 1.106.4.
   नरा वा शंसं पूषणमगोह्यम् ॥ ऋ० 10.64.3.
2. पूषेव धीजवनोऽसि सोम ॥ ऋ० 9.88.3.
3. धियं पूषा जिन्वतु विश्वमिन्वः ॥ ऋ० 2.40.6.
4. यां पूषन्ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे ॥ ऋ० 6.53.8.
5. य एनमादिदेशति करम्भादिति पूषणम्। न तेन देव आदिशे। ऋ० 6.56.1.
   अहेळमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व। ऋ० 1.138.4.
6. सोममन्य उपासदत् पातवे चम्वोः सुतम्। करम्भमन्य इच्छति। ऋ० 6.57.9.
7. पूषण्वते ते चकृमा करम्भम्। ऋ० 3.52.7.
8. धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्।
   इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ ऋ० 3.52.1.
9. अजाश्वः पशुपा वाजपस्त्यः। ऋ० 6.58.2.
10. सोमापूषणा जनना रयीणाम्। ऋ० 2.40.1.
11. इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये। हुवेम वाजसातये। ऋ० 6.57.1.
12. भ्रातेन्द्रस्य सखा मम। ऋ० 6.55.5.
13. वि नः पथः सुविताय चियन्त्विन्द्रो मरुतः। पूषा भगो वन्द्यासः। ऋ० 1.90.4.
    वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती। ऋ० 4.30.24.

साथ[1]। इन मन्त्रों में पूषन् का नाम उपर्युक्त देवताओं के नाम के सामने ही रखा गया है। यथावसर उन्हें कुछ-एक अन्य देवताओं के साथ भी बुलाया गया है।

प्रस्तुत उद्धरणों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि पूषन् किस प्राकृतिक दृश्य के प्रतिरूप हैं। किंतु आरम्भ में उद्‌धृत किये अनेक मन्त्रों से संकेतित होता है कि उनका सूर्य के साथ निकट रूप से संबन्ध था। यास्क भी पूषन् को सभी प्राणियों का संरक्षक आदित्य बताते हैं और वेदोत्तर-कालीन साहित्य में पूषन् सूर्य के एक पर्याय के रूप में आते हैं। सूर्य का पथ पृथिवी से द्युलोक तक फैला हुआ है। देवताओं और पवित्र मनुष्यों की मृतात्माओं का यही निवास-स्थान है। अतः यह एक ऐसे सौर-देवता के आविर्भाव का आधार बन सकता है जो प्रेतात्माओं का नेता (जैसे सविता) और पथ-सामान्य का संरक्षक हो। उनके चरित्र का एक और दूसरा पक्ष उनकी देहात-संबन्धी विशेषताओं का निमित्त बन सकता है—जैसेकि पशुओं का नेता और संरक्षक होना—जो उनकी सामान्य विशेषता का—जैसेकि संपदा देना—एक अंश है। अवेस्ता में आनेवाले सौर देवता मिथ्र के देहात-संबन्धी गुण हैं—पशुओं की वृद्धि करना और पथ-भ्रष्ट पशुओं को लौटा लाना।

निष्पत्ति की दृष्टि से पूषन् शब्द का अर्थ है 'पोषक'; क्योंकि यह पोषणार्थक √पुष धातु से निष्पन्न हुआ है। उनके चरित्र का पोषणात्मक पक्ष उनके विश्ववेदस्, अनष्टवेदस्, पुरूवसु, पुष्टिभर आदि विशेषणों से एवं धन और सुरक्षा-प्राप्ति के निमित्त किये गये उनके आह्वानों में सुव्यक्त है[2]। वे विपुल धन के पति हैं, धन की धारा हैं, धन के ढेर हैं[3]। किंतु उनसे मिलनेवाली संपत्ति इन्द्र, मरुत् और पर्जन्य से मिलनेवाली वर्षा से संबद्ध नहीं है, प्रत्युत प्रकाश के साथ संबद्ध

पूषा भगः प्रभृथे विश्वभोजा आजिं न जग्मुराश्वश्वतमाः। ऋ० 5.41.4.
पूषा भगः सरस्वती जुषन्त। ऋ० 5.46.2.
अहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्। ऋ० 10.125.2.
सविता राष्ट्रं पूषा भगं सरस्वती पुष्टिं त्वष्टा रूपाणि। शत० 11.4.3.3.
पूषा भगं भगपतिर्भगमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहा। कात्या० श्रौ०सू० 5.13.1.

1. उत नो धियो गोअग्राः पूषन् विष्णवेवयावः। कर्ता नः स्वस्तिमतः। ऋ० 1.90.5.
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शंसं सवितारमूतये। ऋ० 5.46.3.
प्र पूषणं विष्णुमग्निं पुरंधिं सवितारमोषधीः पर्वतांश्च। ऋ० 6.21.9.
इन्द्रं विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिमादित्यान्द्यावापृथिवी अपः स्वः। ऋ० 7.44.1.
पूषा विष्णुर्महिमा वायुरश्विना। ऋ० 10.66.5.
2. सुवेदा नो वसू करत्। ऋ० 6.43.15.
3. रथीतमं कपर्दिनमीशानं राधसो महः। रायः सखायमीमहे॥ ऋ० 6.55.2.
रायो धारास्याघृणे वसो राशिरजाश्व। ऋ० 6.55.3.

है, जिस पर कि उनके अपने विशेषण घृणि के द्वारा बल दिया गया है। उनसे प्राप्त होनेवाला क्षेम उत्पन्न होता है—उनके द्वारा होनेवाली पृथिवी पर पशुओं और मनुष्यों की रक्षा से और उनके द्वारा ऊर्ध्वलोकस्थ आनन्द के आवासों तक मनुष्यों को ले जाने से। फलतः पूषन् के चरित्र का आधार सूर्य की मृळीक शक्ति है जो प्रधानतया देहाती देवता के रूप में व्यक्त हुई है।

विष्णु (§ 17)—

विष्णु यद्यपि ब्राह्मणों में अत्यन्त महत्त्वशाली देवता हैं, तथापि ऋग्वेद में उनका स्थान गौण है। किंतु यदि सांख्यिक दृष्टि से न देख कर उन पर और पहलुओं से विचार किया जाय तो उनका महत्त्व बहुत बढ़कर हमारे सामने आता है। सांख्यिक दृष्टि से तो वे चतुर्थ कोटि के देवता ठहरेंगे; क्योंकि उनके निमित्त केवल 5 संपूर्ण सूक्त और कतिपय सूक्तांश कहे गये हैं, और ऋग्वेद में उनका नाम कुल मिलाकर लगभग 100 बार ही आया है। विष्णु की विग्रहवत्त्व-संबन्धी विशेषताएं उनके क्रमण, बृहच्छरीर, एवं युवा-कुमार आदि विशेषणों से ख्यापित हैं[1]। किंतु उनके चरित्र की अपनी विशेषता उनके तीन पद हैं, जिनका संकेत लगभग बारह बार आया है। उनके 'उरु-गाय' और 'उरु-क्रम' विशेषण भी लगभग 12 बार आये हैं; और इनका संकेत भी उनके तीन पदों की ओर ही है। अपने तीन पदों द्वारा विष्णु पार्थिव लोकों की परिक्रमा करते हैं। इनमें से दो पद तो मनुष्यों को दीखते हैं, किंतु तीसरा या सर्वोच्च पद पक्षियों की उड़ान और मर्त्य-चक्षु के उस पार है[2]। उनके इस स्वरूप की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति वहां पूरी हो जाती है जहां कहा गया है कि वे अपना तृतीय नाम प्रकाशमय द्युलोक में धारण करते हैं[3]। विष्णु का उच्चतम पद अग्नि के उच्चतम पद के तदात्म ही माना गया है; क्योंकि विष्णु ही अग्नि के उच्चतम तृतीय पद की रक्षा करते हैं[4]; जबकि दूसरी ओर अग्नि भी विष्णु के उत्तम पद के द्वारा रहस्यात्मक गौओं (संभवतः=बादलों) की रक्षा करते हैं[5]। विष्णु का उत्तम पद उदार मनुष्यों के लिए द्युलोक में स्थित चक्षु की[6] न्याईं

---

1. बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमारः प्रत्येत्याहवम्। ऋ० 1.155.2.
2. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
   तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः॥ ऋ० 1.155.5.
   न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप। ऋ० 7.99.2.
3. दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम तृतीयमधि रोचने दिवः। ऋ० 1.155.3.
4. विष्णुरित्था परममस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्। ऋ० 10.1.3.
5. पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्। ऋ० 5.3.3.
6. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। ऋ० 1.22.20.

प्रकट है। यह उनका प्रिय आवास है, जहां देवयु उपासक रमते हैं। मधु का उद्गम वहीं है[1] और देवता वहीं आनन्द लेते हैं[2]। यह उत्तम पद भूरि-भूरि नीचे की ओर चमकता है। इन्द्र तथा विष्णु का आवास वहां है, जहां अनेक, न थकनेवाली भूरिशृङ्ग गौएं विचरती हैं (संभवतः बादल), और जिसकी ओर गायक ऋषियों की आंख लगी रहती है[3]। इन तीन पदों में ही सारे भुवन निवास करते हैं[4]। ये पद मधु से परिपूर्ण हैं[5], संभवतः इसलिए कि इनमें से तीसरे पद पर मधु का उत्स है। विष्णु उत्तम आवास की रक्षा करते हैं। यही आवास (पाथः) उनका प्रिय निवास-स्थान है[6]; क्योंकि एक और मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में उसी को उनका निवास-स्थान कहा गया है[7]। एक दूसरे मन्त्र में कुछ अटक के साथ कहा गया है कि विष्णु इस लोक से परे सुदूर स्थान में निवास करते हैं[8]। एक बार वे त्रिषधस्थ कहलाये हैं[9], जो विशेषण सबसे पहले अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इस बात पर सब विद्वान् एकमत हैं कि विष्णु के तीन पद सूर्य-पथ के बोधक हैं। किंतु मूलतः वे किस बात के प्रतिरूप हैं? विशुद्ध प्रकृतिपरक व्याख्या के अनुसार, जिसे कि अधिकांश योरुपीय विद्वानों तथा यास्क के पूर्ववर्ती [10]और्णवाभ ने स्वीकार किया है—विष्णु के तीन पद सूर्य के उदय, मध्याह्न और अस्त के बोधक हैं। दूसरा मत, जोकि बाद के वेदों में पाया जाता है, और जो यास्क के पूर्ववर्ती विद्वान् शाकपूणि को मान्य था और जो बेर्गेन तथा मैकडानल को स्वीकार है, उसके अनुसार इन तीन पदों से सौर-देवता के तीनों लोकों में से होकर जाने का मार्ग अभिप्रेत है। प्रथम मत पर यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि विष्णु के तृतीय पद का सूर्यास्त के साथ किसी प्रकार का भी संबन्ध नहीं बैठता; इसके विपरीत

---

1. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
   उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥ ऋ० 1.154.5.
2. त्रीण्येक उरुगायो वि चक्रमे यत्र देवासो मदन्ति। ऋ० 8.29.7.
3. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
   अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥ ऋ० 1.154.6.
4. यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। ऋ० 1.154.2.
5. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि। ऋ० 1.154.4.
6. विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः प्रिया धामान्यमृता दधानः। ऋ० 3.55.10.
7. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्। ऋ० 1.154.5.
8. तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयन्तमस्य रजसः पराके। ऋ० 7.100.5.
9. आ यो विवाय सचथाय दैव्य इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः।
   वेधा अजिन्वत् त्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमानमाभजत्॥ ऋ० 1.156.5.
10. समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। नि० 12.19.

वह तो उच्चतम पद के तद्रूप है। दूसरा मत ऋग्वेदीय उद्धरणों से समर्थित है और उत्तर-वैदिक-कालीन भारतीय परम्परा उसकी पुष्टि करती है।

विष्णु की विशेषता गति है—यह तथ्य तीन पदों के अतिरिक्त अन्य उक्तियों से भी स्पष्ट है। 'उरु-गाय' और 'उरु-क्रम' विशेषणों का एवं 'विक्रम' इस पद का प्रयोग प्रायः विष्णु के लिए ही हुआ है। अन्तिम पद का प्रयोग सूर्य के लिए भी उस संदर्भ में हुआ है जहां उन्हें 'चित्र-वर्ण' अश्मा कहा गया है, जोकि द्युलोक के मध्य में स्थित है और जो क्रमण करता है[1]। विष्णु तीव्र-जवस्—एष्, एवया, या एवयावन् भी हैं। इनके सिवाय एष का प्रयोग केवल बृहस्पति के लिए और एवया का प्रयोग केवल मरुतों के लिए हुआ है। तीव्र और विस्तृत गति के साथ संयमितता जुड़ी हुई है। अपने तीनों पदों से क्रमण करने में विष्णु नियमों का अनुपालन करते हैं[2]। नियमित ढंग से आनेवाले अन्य देवों (अग्नि, सोम, सूर्य, उषस्) की भांति विष्णु 'ऋत के सनातन बीज' (पूर्व्य ऋतस्य गर्भम्) हैं, ऋतावान् हैं, और अग्नि, सूर्य, उषस् की भांति वे प्राचीन और नवीन दोनों हैं[3]। सौर-देवता सविता के लिए प्रयुक्त हुए शब्दों में ही[4] विष्णु के लिए भी कहा गया है कि उन्होंने पार्थिव लोकों को मापा[5]। इसके साथ उस उक्ति की तुलना कीजिए जिसमें कहा गया है कि वरुण ने सूर्य के साथ लोकों को मापा है। एक मन्त्र[6] में आया है कि विष्णु ने चक्कर काटते हुए चक्र की भांति अपने 90 घोड़ों (=दिन) को उनके 4 नामों (=ऋतु) के साथ गति दी। इस उक्ति का सकेत 360 दिनों के सौर-वर्ष के अतिरिक्त और किसी तथ्य की ओर होना कठिन है। अथर्ववेद[7] में विष्णु से प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ में तपस् का संपर्क करें। ब्राह्मणों के अनुसार विष्णु का कटा हुआ सिर सूर्य बन जाता है। वेदोत्तरकालीन साहित्य में विष्णु के शस्त्रों में से

---

1. मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ। ऋ० 5.47.3.
2. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
   अतो धर्माणि धारयन्। ऋ० 1.22.18.
3. यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति। ऋ० 1.156.2.
   तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन। ऋ० 1.156.3.
4. यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना। ऋ० 5.81.3.
5. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। ऋ० 1.154.1.
   यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद्विष्णुर्मनवे बाधिताय। ऋ० 6.49.13.
6. चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत्। ऋ० 1.155.6.
   द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
   तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥ ऋ० 1.164.48.
7. विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा। ऋ० 5.26.7.

एक घूमता हुआ चक्र भी है, जिसे सूर्य जैसा बताया गया है[1]। (तुलना कीजिए ऋ० 5.63.4)। विष्णु का वाहन गरुड़ है जो पक्षियों में प्रधान है और अग्नि की भांति ज्योतिष्मान् है। वह गरुत्मत् एवं सुपर्ण भी कहाता है। इन दोनों पदों का प्रयोग ऋग्वेद में सूर्य-पक्षी के लिए हुआ है। अन्ततः वेदोत्तर-कालीन विष्णु का कौस्तुभ कुह्न के अनुसार सूर्य है। इस प्रकार विष्णु यद्यपि अब किसी प्राकृतिक दृश्य से संबद्ध नहीं रहे, तथापि प्रतीत होता है कि मूलतः वे सूर्य थे। सूर्य के साथ उनका तादूप्य चरित्र सामान्य में नहीं, प्रत्युत शीघ्रता से चलनेवाले ज्योतिष्पुञ्ज के रूप में है, जोकि अपने विस्तृत क्रमण से संपूर्ण विश्व की परिक्रमा करता है। विष्णु शब्द का यह आशय उसकी निष्पादक √विष् धातु के अर्थ से भी स्पष्ट हो जाता है। √विष् धातु का प्रयोग ऋग्वेद में बहुधा हुआ है; औरसभी जगह इसका मौलिक अर्थ है—"गतिशील होना"। फलतः विष्णु का अर्थ होगा—'गतिमान्', जिस रूप में कि यह सूर्य का तद्रूप ठहरेगा। इतने पर भी ओल्डेनबेर्ग कहते हैं कि विष्णु में सौर-देवता की सभी विशेषताओं का अभाव है; वे प्रारम्भ ही से केवल विस्तृत लोक के परिक्रामक के रूप में थे; और उनके तीन पदों का समकक्ष कोई भी स्थूल प्राकृतिक दृश्य नहीं दीख पड़ता। पदों की तीन संख्या को वे गाथा-प्रवण मस्तिष्क की त्रिमूर्ति के प्रति उत्कट इच्छा के रूप में देखते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि विष्णु का उत्तम पद उनका विशिष्ट आवास-स्थान है। सूर्य अपनी अन्य किसी भी अवस्था की अपेक्षा मध्याह्न में अधिक स्थिर रहते हैं। सूर्य की इसी पराकाष्ठा को निरुक्त में विष्णुपद कहा गया है। संभवतः कुछ इसी प्रकार की बात से संबद्ध हैं उनके गिरिक्षित्, और गिरिष्ठा ये विशेषण, जो एक ही सूक्त[2] में विष्णु के लिए प्रयुक्त हुए हैं; क्योंकि अगले सूक्त[3] में विष्णु और इन्द्र को 'अदाभ्य' कहा गया है 'जोकि पर्वतों के शिखर पर, एक साधु घोड़े के द्वारा खड़े हैं। संभवतः यह बात बादलरूप पर्वतों के बीच से नीचे की ओर देखते हुए सूर्य को लक्षित करती है। हो सकता है कि इन्हीं उक्तियों के आधार पर विष्णु को बाद में पर्वतों का पति भी कहा गया हो[4]।

विष्णु ने अपने तीन पद क्यों उठाए—इस बात का वर्णन गौणरूप से आता है। उन्होंने पृथिवी-लोक की तीन बार परिक्रमा पीड़ित मनु के लिए की; उन्होंने

1. सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्। ऋ० 5.63.4.
2. प्र तद्विष्णुस्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। ऋ० 1.154.2.
   प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे। ऋ० 1.154.3.
3. या सानुनि पर्वतानामदाभ्या महस्तस्थतुरर्वतेव साधुना। ऋ० 1.155.1.
   यदायुक्त त्मना स्वादधि ष्णुभिः। ऋ० 5.87.4.
4. विष्णुः पर्वतानां मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्तु। तै० सं० 3.4.5.1.

पृथिवी[1] की परिक्रमा उस पर मनुष्यों का आवास स्थापित करने के लिए की[2]; उन्होंने पार्थिव लोकों की परिक्रमा जीवन को उरु-गाय बनाने के लिए की[3]; इन्द्र के साथ उन्होंने 'उरु-क्रमण' किया और हमारे जीवन के लिए अन्तरिक्ष एवं लोकों को विस्तृत बनाया[4]। विष्णु के इस ऋग्वेदीय स्वरूप में ही उनके वामनावतार के बीज संनिहित हैं, जिसका वर्णन महाकाव्यों और पुराणों में विस्तार के साथ मिलता है। ऋग्वेद और पौराणिक काल के मध्य की अवस्था ब्राह्मणों में पाई जाती है[5], जहां कि विष्णु पृथिवी को देवताओं को लौटा देने के अभिप्राय से छलिया वामन बनते हैं।

विष्णु के चरित्र की दूसरी प्रधान विशेषता है—उनकी इन्द्र के साथ मित्रता। वृत्र-हनन के उद्योग में कई बार वे इन्द्र के सहयोगी बनते हैं। इस तथ्य की ख्यापना के लिए एक संपूर्ण सूक्त इन दोनों देवताओं के लिए सवलित रूप से कहा गया है, और इन्द्र का नाम विष्णु के साथ उतने ही बार युग्म रूप में आया है जितनी बार कि वह सोम के साथ आता है, भले ही सोम का नाम ऋग्वेद में विष्णु की अपेक्षा बहुत अधिक बार प्रयुक्त हुआ हो। विष्णु और इन्द्र की परस्पर सहचारिता इस बात से भी प्रत्यक्ष है कि केवल विष्णु के निमित्त कहे गये सूक्तों में इन्द्र ही एक ऐसे देवता हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढङ्ग से यदा-कदा आ उपस्थित होते हैं[6]। विष्णु ने अपने तीन पदों का क्रमण इन्द्र ही की शक्ति के द्वारा

---

1. यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद्विष्णुर्मनवे बाधिताय। ऋ० 6.49.13.
2. वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्। ऋ० 7.100.4.
3. यः पार्थिवानि त्रिभिरिद्विगामभिरुरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे। ऋ० 1.155.4.
4. इन्द्राविष्णू तत्पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे।
   अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि॥ ऋ० 6.69.5.
5. वामनो ह विष्णुरास। श० ब्रा० 1.2.5.5.
   स एतं विष्णुर्वामनमपश्यत्तं स्वायै देवतायाः आलभत ततो वै स इमान् लोकानभ्यजयत। तै० सं० 2.1.3.1.
   विष्णुर्यज्ञः। देवताश्चैव यज्ञं चावरुन्धे। वामनो वही दक्षिणा। यद्वही तेनाऽऽग्नेयः। यद्वामनः तेन वैष्णवः समृध्यै। तै० ब्रा० 1.6.1.5.
6. इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्। ऋ० 7.99.5.
   रणे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतमिषो वृजनेष्विन्द्र। ऋ० 7.99.6.
   इन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति। ऋ० 1.155.2.
   जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु। ऋ० 7.99.4.
   ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै। ऋ० 1.154.6.
   या सानुनि पर्वतानामदाभ्या महस्तस्थतुरर्वतेव साधुना। ऋ० 1.155.1.

(ओजसा) किया[1] था जिसको पूर्ववर्ती मन्त्र में वृत्रघ्न अथवा इन्द्र के लिए[2] कहा गया है। वृत्र-हनन के पूर्व इन्द्र कहते हैं—"सखा विष्णु! लम्बे-लम्बे डग धरो"[3]। विष्णु के साथ इन्द्र ने वृत्र की हत्या की[4]। विष्णु और इन्द्र ने एक-साथ दास पर विजय प्राप्त की, शम्बर के 99 किलों को तोड़ा और वर्चिन् के साथियों को धराशायी किया[5]। विष्णु इन्द्र के सहज मित्र हैं[6]। अपने मित्र के साथ विष्णु गौओं के घेरे को खोलते हैं[7]। शतपथ ब्राह्मण में आता है कि इन्द्र वृत्र के ऊपर अपना वज्र-प्रहार करते हैं और विष्णु उनका अनुगमन करते हैं[8]। विष्णु भी इन्द्र के साथ कुछेक एकाकी मन्त्रों में आहूत हुए है[9]। इन्द्र के साथ युग्म में आकर विष्णु इन्द्र की सोम-पान-शक्ति को एवं उनकी विजयों को अंशतः अपना लेते है[10]। दूसरी ओर इन्द्र भी कभी-कभी विष्णु की पद-क्रमण-शक्ति को अपना लेते हैं[11]। दोनों को साथ ही ये कार्य सौंपे गये हैं: अन्तरिक्ष का विस्तार, लोकों का प्रथन[11], एवं सूर्य,

---

मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता। ऋ० 1.61.7.

1. यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे। ऋ० 8.12.27.
2. यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विचक्रमे। बालखि० 4.3.
3. अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व। ऋ० 4.18.11.
4. अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः। ऋ० 6.20.2.
5. दासस्य चिद् वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु। ऋ० 7.99.4.
   इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।
   शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान्॥ ऋ० 7.99.5.
6. इन्द्रस्य युज्यः सखा। ऋ० 1.22.19.
7. व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते। ऋ० 1.156.4.
8. तं विष्णुरन्वतिष्ठत। तै० सं० 6.5.1.2.
9. इन्द्राविष्णू मरुतो अश्विनोत। ऋ० 4.2.4.
   इन्द्राविष्णू नृवदु षु स्तवाना शर्म नो यन्तममवद्वरूथम्। ऋ० 4.55.4.
   बृहस्पतिं विश्वान्देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा। ऋ० 8.10.2.
   इन्द्राविष्णू मरुतः स्वर्बृहत्।
   देवाँ आदित्याँ अवसे हवामहे। ऋ० 10.66.4.
10. इन्द्राविष्णू मदपती मदानामा सोमं यातं द्रविणो दधाना। ऋ० 6.69.3.
    जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु। ऋ० 7.99.4.
    इयं मनीषा बृहती बृहन्तोरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती।
    ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतमिषो वृजनेष्विन्द्र॥ ऋ० 7.99.6.
11. इन्द्राविष्णू तत्पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे।
    अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि॥ ऋ० 6.69.5.

उषस् और अग्नि का उत्पादन[1]। इस मित्रता के कारण ही इन्द्र विष्णु के समीप सोमपान करते[2] और इस प्रकार उनकी वृष्ण्य शक्ति को बढ़ाते हैं[3]। इन्द्र ने विष्णु द्वारा तीन प्यालों में अभि-सुत सोम का पान किया[4]; ये प्याले विष्णु के तीन मधु-पूर्ण पदों का स्मरण दिलाते हैं[5]। विष्णु ने इन्द्र के लिए 100 भैंस[6] या 100 भैंसे और पनीर पकाया[7]। मित्र, वरुण और मरुद्गणों के साथ मिलकर विष्णु इन्द्र का गुण-गान करते हैं[8]।

वृत्र-युद्ध में निरन्तर इन्द्र का साथ देनेवाले परिचारक मरुद्गण भी विष्णु के साथी बन गये हैं। जब विष्णु ने मादक सोम (सा. यज्ञ) का पक्ष लिया, तब मरुद्गण पक्षियों की भांति अपनी-अपनी प्रिय बर्हियों पर बैठ गये[9]। शीघ्र-जवा विष्णु के प्रभृथ (होम) में मरुतों का भी आह्वान किया गया है[10]। वे शीघ्रगामी विष्णु पर 'दयालु' (मीढुषाम्) हैं[11]। मरुतों ने इन्द्र को परिपुष्ट बनाया, जबकि पूषन् और विष्णु ने उनके लिए 100 भैंसे पकाये[12]। विष्णु के सायुज्य में मरुत् विधायक बन जाते हैं;

---

1. इयं मनीषा बृहती बृहन्तोरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती। ऋ० 7.99.6.
   जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्। ऋ० 7.99.4.
2. अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि। ऋ० 8.3.8.
   यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये।
   यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः॥ ऋ० 8.12.16.
3. अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवः। ऋ० 8.3.8.
   तमस्य विष्णुर्महिमानमोजसांशुं दधन्वान्मधुनो वि रप्शते। ऋ० 10.113.2.
4. त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशत्।
   ऋ० 2.22.1.
   पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन्वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै। ऋ० 6.17.11.
5. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि। ऋ० 1.154.4.
6. वर्धान्यं विश्वे मरुतः सजोषाः पचच्छतं महिषाँ इन्द्र तुभ्यम्।
   पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन्। ऋ० 6.17.11.
7. मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता। ऋ० 1.61.7.
8. त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः। त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम्॥ ऋ० 8.15.9.
9. विष्णुर्यद् धावद् वृषणं मदच्युतं वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये। ऋ० 1.85.7.
10. तान्वो महो मरुत एवयाव्नो विष्णोरेषस्य प्रभृथे हवामहे। ऋ० 2.34.11.
    अस्य देवस्य मीळ्हुषो वया विष्णोरेषस्य प्रभृथे हविर्भिः। ऋ० 7.40.5.
11. विद्मा हि रुद्रियाणां शुष्ममुग्रं मरुतां शिमीवताम्।
    विष्णोरेषस्य मीळ्हुषाम्॥ ऋ० 8.20.3.
12. वर्धान्यं विश्वे मरुतः सजोषाः पचच्छतं महिषाँ इन्द्र तुभ्यम्।

तब उनकी शक्ति का अनुसरण वरुण और अश्विन् करते हैं[1]। एक संपूर्ण सूक्त [2] में विष्णु मरुतों के साथ संबद्ध हैं और प्रयाण के समय उन्हीं मरुतों के साथ वे आगे बढ़ते हैं।

ऋग्वेद के विष्णु-संबन्धी उल्लेखों में से एक में विष्णु के विभिन्न रूपों का यों उल्लेख हुआ है:—'तू हमसे इन रूपों को मत छिपा; क्योंकि युद्ध में तूने एक दूसरा ही रूप धारण किया था।' आगे चलकर उन्हें गर्भों का रक्षक कहा गया है[3] और अन्य देवताओं के साथ गर्भ को स्थिर करने के लिए उन्हें पुकारा गया है[4]। ऋग्वेद 10.184 के बाद आनेवाले परिशिष्ट के तीसरे मन्त्र में एक पाठ के अनुसार विष्णु से प्रार्थना की गई है कि वे गर्भाशय में एक रुचिर पुत्र का आधान करें; एक दूसरे पाठ के अनुसार यह प्रार्थना विष्णु से उनके सर्वोत्तम रूप से संपन्न पुत्र के लिए की गई है।

विष्णु के अन्य गुण तो देव-सामान्य के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। वे सुकृत्तर हैं[5], वे हत्यारे नहीं हैं, वरिष्ठ दाता हैं[6], उदार हैं[7], संरक्षक हैं[8], अदाभ्य हैं[9], अवृक और उदार दानी हैं[10]। केवल वे ही पृथिवी, द्यु-लोक एवं अशेष भुवनों को धारण किये हुए हैं[11]। उन्होंने संसार को चारों ओर खूंटियों से पक्का बिठाया है[12]। वे वेधस् हैं[13]।

एषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन् ॥ ऋ० 6.17.11.

1. तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः। ऋ० 1.156.4.
2. स चक्रमे महतो निरुरुक्रमः समानमस्मात्सदस एवयामरुत्।
 यदायुक्त त्मना स्वादधि ष्णुभिर्विष्पर्धसो विमहसो जिगाति शेवृधो नृभिः ॥
 ऋ० 5.87.4. आदि
 स्वनो न वोऽमवान् रेजयद् वृषा त्वेषो ययिस्तविष एवयामरुत् ॥ ऋ० 5.87.5.
3. अच्छायं वो मरुतः श्लोक एत्वच्छा विष्णुं निषिक्तपामवोभिः। ऋ० 7.36.9.
4. विष्णुर्योनिं कल्पयतु। ऋ० 10.184.1.
5. इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः। ऋ० 1.156.5.
6. अघ्नते विष्णवे वयमरिष्यन्तः सुदानवे। ऋ० 8.25.12.
7. अस्य देवस्य मीळ्हुषो वया विष्णोरेषस्य प्रभृथे हविर्भिः। ऋ० 7.40.5.
8. विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः। ऋ० 3.55.10.
9. विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ॥ ऋ० 1.22.18.
10. इनस्य त्रातुरवृकस्य मीळ्हुषः। ऋ० 1.155.4.
11. य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा। ऋ० 1.154.4.
12. व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः। ऋ० 7.99.3.
13. तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः। ऋ० 1.156.4.

ब्राह्मणों के अनुसार विष्णु के तीन पद पृथिवी, वायु और द्यु-लोक में पड़ते हैं[1]। इन तीन पदों का यजमान अनुकरण करता है। वह तीन विष्णु-पद चलता है: पृथिवी से आरम्भ करके द्यु-लोक तक; क्योंकि मानव जीवन का लक्ष्य द्यु-लोक ही तो है; सुरक्षित आवास वहीं है, और सूर्य वहीं भासते हैं[2]। इसी प्रकार अवेस्तिक कर्म-काण्ड में अम्षस्पन्दस् के पृथिवी से लेकर द्यु-लोक तक के पदों का अनुकरण किया जाता है। ब्राह्मणों की एक विशेषता यह है कि इनमें विष्णु की तद्रूपता हमेशा यज्ञ के साथ स्थापित की गई है।

विष्णु से संबद्ध दो गाथाएं—जिनका मूल ऋग्वेद में मिल सकता है—ब्राह्मणों में पहुंच कर विकसित हो गई हैं। इन्द्र के साथ विष्णु को भी ऋग्वेद में पराभव करनेवाला असुर कहा गया है। ब्राह्मणों में देवता और असुर ये दोनों प्रतिद्वन्दी वर्गों के रूप में आते हैं। पारस्परिक संघर्ष में देवता सदैव विजयी नहीं होते, जैसाकि ऋग्वेद में देखा जाता है, अपितु वे यदा कदा पराभूत भी हो जाते हैं। फलत: वे अपनी खोई गरिमा को फिर से पाने के लिए छल तक का आंचल पकड़ लेते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में उल्लेख है कि इन्द्र और विष्णु ने असुरों से युद्ध करते समय इस बात की संविदा की कि जितने विस्तृत क्षेत्र को विष्णु अपने तीन पगों से नाप लेंगे उतना क्षेत्र इन दोनों देवताओं को मिल जाना चाहिए। इस संविदा के अनुसार विष्णु ने इन लोकों की, वेद की, और वाणी की परिक्रमा कर डाली। शतपथ ब्राह्मण बतलाता है कि एक बार असुरों ने पृथिवी को जीतकर उसे बांटना आरम्भ कर दिया। यज्ञ-भूत विष्णु को शीर्षस्थानीय करके देवता भी पृथिवी का एक अंश मांगने के लिए आगे बढ़े। किंतु असुरों ने उन्हें केवल इतनी भूमि देना स्वीकार किया जितनी पर विष्णु सो सकते हों। तब देवताओं ने यज्ञ-परिमाण विष्णु के साथ यज्ञ करके संपूर्ण पृथिवी को स्वायत्त कर लिया। यहां तीन पगों का उल्लेख नहीं हुआ है, किंतु एक अन्य मन्त्र[4] में कहा गया है कि विष्णु ने तीनों लोकों की परिक्रमा करके देवताओं के लिए वह शक्ति प्राप्त की जो आज उनके पास वर्तमान है। तैत्तिरीय संहिता कहती है कि विष्णु ने वामन का रूप धारण

---

1. प्रथमेन पदेन पस्पाराऽथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतास्त्रेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते। शत० ब्रा० 1.9.3.9.
2. अथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति। शत० ब्रा० 1.9.3.10.
अथ सूर्यमुदीक्षते। सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा। शत० ब्रा० 1.9.3.15.
3. इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते तान्ह स्म जित्वोचतुः कल्पामहा इति ते ह तथेत्यसुरा ऊचुः सोऽब्रवीदिन्द्रो यावदेवायं विष्णुस्त्रिर्विक्रमते तावदस्माकमथ युष्माकमितरदिति स इमाँल्लोकान्विचक्रमेऽथो वेदानथो वाचम्। ऐ० ब्रा० 6.15.
4. यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे। श० ब्रा० 1.9.3.9.

करके तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर ली। विष्णु को वामन का छद्म वेश असुरों की शङ्का को दबाने के लिए धारण कराया गया था। ब्राह्मणों का यही कथानक वेदोत्तर-कालीन साहित्य में विष्णु के वामनावतार के लिए पथ तैयार करता है।

ब्राह्मणों की एक दूसरी गाथा का मूल[1] ऋग्वेद के दो मन्त्रों में है। इनका सारांश यह है कि विष्णु सोम-पान करके, इन्द्र के द्वारा उत्साहित किये जाने पर वराह (=वृत्र) के 100 भैंसों और पनीर को दूर उठा ले गये; इसी बीच इन्द्र ने पर्वत (बादल) को आर-पार तीर से बींध भयानक वराह की हत्या कर डाली। यह गाथा तैत्तिरीय संहिता[2] में इस प्रकार विकसित हुई है। धन के लुटेरे वराह ने असुरों की संपत्ति को सात पहाड़ियों के उस पार रख दिया। इन्द्र ने कुशों की एक अंटिया तोड़कर, इन पहाड़ियों में प्रविष्ट होकर वराह का वध किया। यज्ञ-विष्णु वराह को देवताओं के यज्ञ के रूप में देवताओं के पास ले गये। इस प्रकार देवताओं ने असुरों की संपत्ति हस्तगत कर ली। काठक के समान-विषयक मन्त्र में वराह को एमूषा कहा गया है। यही कहानी कुछ अन्तर के साथ चरक ब्राह्मण में आती है और इसे सायण ने ऋग्वेद-मन्त्र 4.66.10. के भाष्य में उद्धृत किया है। यह वराह शतपथ ब्राह्मण[3] में अपने सृष्टि-रचना-संबन्धी रूप में आता है, और यहां कहा गया है कि एमूषा इस नाम को धारण करके उसने पृथिवी को जल से बाहर निकाला। तैत्तिरीय संहिता[4] में सृष्टि-रचना से संबद्ध वराह का—जिसने कि पृथिवी को आदि जल से बाहर निकाला था—वर्णन प्रजापति के रूप में हुआ है। गाथा

---

1. अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना।
मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता॥ ऋ० 1.61.7.
कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम्।
इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि॥ ऋ० 8.66.10.

2. यज्ञो देवेभ्यो निलायत विष्णू रूपं कृत्वा स पृथिवीं प्राविशत्तं देवा हस्तान्त्संरभ्यैच्छन्तमिन्द्र उपर्युपर्यत्यक्रामत्सोऽब्रवीत्को माऽयमुपर्युपर्यत्य क्रमीदित्यहं दुर्गे हन्तेत्यथ कस्त्वमित्यहं दुर्गादाहर्तेति सोऽब्रवीद्दुर्गे वै हन्ताऽवोचथा वराहोऽयं वाममोषः। सप्तानां गिरीणां परस्ताद्वित्तं वेद्यमसुराणां बिभर्ति तं जहि यदि दुर्गे हन्तासीति स दर्भपुञ्जीलमुद्वृह्य सप्त गिरीन् भित्त्वा तमहन्त्सोऽब्रवीद् दुर्गाद्वा आहर्ताऽवोचथा एतमाहरेति तमेभ्यो यज्ञ एव यज्ञमाहरद् यत्तद् वित्तं वेद्यमसुराणामविन्दन्त तदेकं वेद्यै वेदित्वमसुराणाम्। तै० सं० 6.2.4.2.

3. इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान।
श० ब्रा० 14.1.2.11.

4. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्तस्मिन्प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्।
स इमामपश्यत्तां वराहो भूत्वाऽहरत्॥ तै० सं० 7.1.5.1.

का यह विकास तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] में और आगे चला गया है। रामायण और पुराणों की वेदोत्तर-कालीन गाथा में पृथिवी को उठानेवाला वराह विष्णु का एक अवतार बन गया है।

विष्णु के अन्य दो अवतारों के बीज भी ब्राह्मणों में मिल जाते हैं; किंतु वे अभी तक विष्णु के साथ संबद्ध नहीं हो पाये हैं। वह मछली, जिसने शतपथ ब्राह्मण में मनु को जल-प्लावन में डूबने से बचाया था, महाभारत में प्रजापति के एक स्वरूप की भांति और पुराणों में विष्णु के अवतार के रूप में आती है। शतपथ ब्राह्मण[2] में प्रजापति अपत्यों की सृष्टि करते समय आदि जल में भ्रमण करनेवाले कच्छप बन जाते हैं। पुराणों में यह कच्छप विष्णु का एक अवतार है, जिसने जल-प्लावन में नष्ट हुए अनेक पदार्थों का पुनरुद्धार करने के निमित्त यह रूप धारण किया था।

शतपथ ब्राह्मण में कहानी आती है कि यज्ञ-विष्णु सर्वप्रथम यज्ञ-फल को समझ गए और उसके द्वारा देवताओं के सिरमौर बन गये और उनका सिर उन्हीं के धनुष् द्वारा कट कर सूर्य बन गया। इस कहानी में तैत्तिरीय आरण्यक[3] इतना और जोड़ देता है कि भिषज् अश्विनों ने यज्ञ के सिर को पुनः स्थापित किया और अब देवता पूर्णरूप में यज्ञिय हविर्दान करके स्वर्ग के उपभोक्ता बने[4]।

ऐतरेय ब्राह्मण में[5] जनपदों के सिरमौर देवता विष्णु का निम्नतम देवता अग्नि के साथ प्रातीप्य दिखाया गया है, और अन्य सभी देवताओं को उनके मध्य में स्थापित किया गया है। वही ब्राह्मण[6] ऋग्वेद के उस मन्त्र को उद्धृत करके

---

1. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तै० ब्रा० 1.1.3.5.
2. स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। श० ब्रा० 7.5.1.5.
   सोऽपाम् अन्तरतः कूर्मं भूतं सर्पन्तम्। तमब्रवीत्। तै० आ० 1.23.3.
3. ते देवा अश्विनावब्रुवन्। भिषजौ वै स्थः। इदं यज्ञस्य शिरः प्रति धत्तमिति। तावब्रूताम् वरं वृणावहै। ग्रह एव नावत्रापि गृह्यतामिति ताभ्यामेतमाश्विनमगृह्णन्। तावेतद् यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्। यत्प्रवर्ग्यः। तेन सशीर्ष्णा यज्ञेन यजमानाः। अवाशिषोऽरुन्धत। अभि सुवर्गं लोकमजयन्। तै० आ० 5.1.5.6.
4. देवा वै यशस्कामाः सत्रमासताग्निरिन्द्रो वायुर्मखस्तेऽब्रुवन्यन्नो यशऽऋच्छात्तन्नः सहासदिति तेषां मखं यश आर्च्छत्तदादायापाक्रामत्तदस्य प्रासहादित्सन्त तं पर्ययतन्त स्वधनुः प्रतिष्टभ्यातिष्ठत्तस्य धनुरार्त्निरूर्द्ध्वा पतित्वा शिरोऽच्छिनत्स प्रवर्ग्योऽभवद् यज्ञो वै मखो यत् प्रवर्ग्यं प्रवृञ्जन्ति यज्ञस्यैव तच्छिरः प्रतिदधति।
   पञ्चविंश ब्रा० 7.5.6.
5. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः। ऐ० ब्रा० 1.1.
6. विष्णुर्वै देवानां द्वारपः। ऐ० ब्रा० 1.30.

जहां[1] कि 'विष्णु अपने मित्र की सहायता से गोव्रज को खोलते हैं'। यह कहता है कि विष्णु देवताओं के द्वारपाल हैं।

विवस्वत् (§ 18)—

विवस्वत् के प्रति ऋग्वेद में एक भी सकल सूक्त नहीं मिलता, फिर भी वहां इनका नाम लगभग 30 बार आता है; साधारणतया विवस्वत् इस रूप में, और पांच बार विवस्वत् इस रूप में। विवस्वान् अश्विन्[2] और यम[3] के पिता हैं। वेदोत्तर-कालीन साहित्य की भांति स्वयं वेद में भी वे मनु के पिता हैं—उस मनु के जो मानव जाति के पुरखा हैं और जिन्हें एक बार विवस्वत् (=वैवस्वत) कहा गया है और जो अथर्ववेद एवं ब्राह्मणों में 'वैवस्वत' इस पैतृक नाम से उभरते हैं। मनुष्य भी विवस्वान् आदित्य के वंशज कहे गये हैं[4]। देवताओं को भी एक बार विवस्वत् के अपत्य कहा गया है[5]। विवस्वत् की पत्नी सरण्यू हैं, जो त्वष्टा की पुत्री हैं[6]। विवस्वान् और मातरिश्वन् को ही अग्नि का सर्वप्रथम साक्षात्कार हुआ था[7]। विवस्वान् के संदेशवाहक एक बार मातरिश्वन् बने हैं[8], किंतु और सब जगह

---

1. तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः।
दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते॥ ऋ० 1.156.4.
2. अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ ऋ० 10.17.2.
3. अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ऋ० 10.14.5.
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥ ऋ० 10.17.1.
4. ततो विवस्वानादित्योऽजायत तस्य वा इयं प्रजा यन्मनुष्याः।
तै० सं० 6.5.6.2.
स विवस्वानादित्यस्तस्येमाः प्रजाः। श० ब्रा० 3.1.3.4.
5. परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः।
ययातेर्ये नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रुवन्तु नः॥ ऋ० 10.63.1.
6. त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥ ऋ० 10.17.1.
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ ऋ० 10.17.2.
7. त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव सुक्रतूया विवस्वते। ऋ० 1.31.3.
8. आ दूतो अग्निमभरद् विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः। ऋ० 6.8.4.

यह काम अग्नि का रहा है[1]। अग्नि के बारे में एक बार आता है कि वे अपने माता-पिता (अरणियों) से "विवस्वत् के कवि" के रूप में उत्पन्न हुए[2]।

विवस्वान् के सदन का पांच बार उल्लेख आया है। देवता[3] और इन्द्र इसमें आनन्द लेते हैं[4] और वहां स्तोतृ-वृन्द इन्द्र की महत्ता का गुणगान करते हैं[5] और एक मन्त्र में जलों की महत्ता का[6]। जहां एक अभिनव सूक्त के लिए[7] यह कहा गया है कि यह 'विवस्वत् की नाभि में स्थित है' वहां हो सकता है कि इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया हो।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में इन्द्र विवस्वान् के साथ संबद्ध हैं। वे विवस्वान् के स्तोत्र में आनन्द लेते हैं[8]; और उन्होंने अपनी शेवधि को विवस्वान् के पास रख दिया है[9]। विवस्वान् की दस अंगुलियों द्वारा इन्द्र द्युलोक से मशक को गिराते हैं[10]। चूंकि इन्द्र का विवस्वान् के साथ इतना निकट संबन्ध है इसलिए उस स्थान में सोम का होना भी संभव है; और सचमुच नवें मण्डल में हम सोम को विवस्वान् के निकट संपर्क में पाते हैं। सोम विवस्वान् के साथ रहता है[11] और विवस्वान् की पुत्रियों (=अंगुलियों) के द्वारा सोम को नितारा जाता है[12]। विवस्वान् की स्तुति

---

1. होता यद् दूतो अभवद् विवस्वतः। ऋ० 1.58.1.
आशुं दूतं विवस्वतः। ऋ० 4.7.4.
शिवो दूतो विवस्वतः। ऋ० 8.39.3.
अग्निर्जातो अथर्वणा विदद् विश्वानि काव्या।
भुवद् दूतो विवस्वतो वि वो मदे॥ ऋ० 10.21.5.
2. असंमृष्टो जायसे मात्रोः शुचिर्मन्द्रः कविरुदतिष्ठो विवस्वतः। ऋ० 5.11.3.
3. यस्मिन्देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते। ऋ० 10.12.7.
4. आकरे वसोर्जरिता पनस्यतेऽनेहसः स्तुभ इन्द्रो दुवस्यति।
विवस्वतः सदन आ हि पिप्रिये। ऋ० 3.51.3.
5. न्यू३षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः। ऋ० 1.53.1.
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति। ऋ० 3.47.7.
6. प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः। ऋ० 10.75.1.
7. यद्ध क्राणा विवस्वति नाभा सन्दायि नव्यसी। ऋ० 1.139.1.
8. मन्दस्वा सु स्वर्णर उतेन्द्र शर्यणावति।
मत्स्वा विवस्वतो मती॥ ऋ० 8.6.39.
9. स शेवधिं नि दधिषे विवस्वति। ऋ० 2.13.6.
10. आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः। ऋ० 5.53.6.
11. तमह्यन्भुरिजोर्धिया संवसानं विवस्वतः। पतिं वाचो अदाभ्यम्। ऋ० 9.26.4.
12. नप्तीभिर्यो विवस्वतः शुभ्रो न मामृजे युवा। ऋ० 9.14.5.

से बभ्रु सोम को प्रवाहित होने में प्रोत्साहन मिलता है[1]। सात बहनें (=जल) सोम को विवस्वान् के पथ पर अग्रसर करती हैं[2]। विवस्वान् का आशीर्वाद पाकर उषा के सौभाग्य (भगम्) को उभारनेवाले सोम की धाराएं छलनी में से बह निकलती हैं[3]।

विवस्वान् के साथ रहनेवाले अश्विनों से प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ में पधारें[4]। अश्विनों का रथ जुत जाने पर 'दिवो दुहिता' (उषा) उत्पन्न होती है और उत्पन्न होते हैं विवस्वान् के दो रुचिर दिन (संभवतः रात-दिन)[5]।

विवस्वान् का उल्लेख विष्णु और देवताओं के साथ उपास्यता के लिए भी हुआ है[6]। एक मन्त्र विवस्वान् में शत्रुता की भावना को दिखलाता है, जहां आदित्यों के उपासक यह प्रार्थना करते हैं कि वज्र अथवा विवस्वान् का सुशित तीर वृद्धावस्था से पहले उनकी हत्या न करे[7]। किंतु दूसरे एक मन्त्र में विवस्वान् यम से बचानेवाले बताये गए हैं[8]।

विवस्वान् शब्द कुछेक बार अग्नि और उषस् का विशेषण बनकर भी आया है और वहां इसका अर्थ है 'चमकीला'। उदाहरणार्थ अग्नि के लिए कहा गया है कि अग्नि ने मानव-पुत्रों को एवं चमकीले चक्षु द्वारा (विवस्वता चक्षसा) द्यु-लोक और जलों को उत्पन्न किया[9]। अग्नि बुद्धिमान्, असीमित एवं विवस्वान् कवि हैं जो उषा के आने पर झिलमिलाते हैं[10]। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे विवस्वान् का ज्योतिष्मान् पुरस्कार (विवस्वतः राधः) लावें;[11] और मनुष्य कामना करते हैं कि

---

1. यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे। ऋ० 9.99.2.
2. समु त्वा धीभिरस्वरन् हिन्वतीः सप्त जामयः। विप्रमाजा विवस्वतः। ऋ० 9.66.8.
3. आपानासो विवस्वतो जनन्त उषसो भगम्। सूरा अण्वं वि तन्वते। ऋ० 9.10.5.
4. वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा। मनुष्वच्छम्भू आ गतम्। ऋ० 1.46.13.
5. आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना।
   यस्य योगे दुहिता जायते दिव उभे अहनी सुदिने विवस्वतः। ऋ० 10.39.12.
   असौ वा आदित्यो विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते। शत० ब्रा० 10.5 2.4.
6. सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते॥ ऋ० 10 65.6.
7. शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वां छमन्तकः। अथ० 19.9.7.
8. विवस्वान्नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु।
   इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मोष्वेषामसवो यमं गुः॥ अथ० 18.3.62.
9. स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।
   विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्॥ ऋ० 1.96.2.
10. अमूरः कविरदितिर्विवस्वान्त्सुसंसन्मित्रो अतिथिः शिवो नः। ऋ० 7.9.3.
11. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य। आ दाशुषे जातवेदो वह। ऋ० 1 44.1.

वे विवस्वत् उषस् के छबीले मुख का दर्शन पावें[1]। इस शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ (वि+√वस्) 'प्रभासित होना' उषस् के लिए विशेष-रूप से जंचता है, जिसका नाम स्वयं उसी धातु से निष्पन्न हुआ है और जिसके संबन्ध में व्युष् और व्युष्टि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। विवस्वान् की व्युत्पत्ति शतपथ ब्राह्मण[2] में, "आदित्य विवस्वत् दिन-रात को प्रकाशित करते हैं" यह कहकर दी है।

यजुर्वेद और ब्राह्मणों में[3] विवस्वान् आदित्य कहलाये हैं और वेदोत्तर-कालीन साहित्य में यह सूर्य का सामान्य नाम बन गया है।

विवस्वान् की कल्पना भारत-ईरानी काल तक जाती है; वहां ये वीवङ्ह्वन्त (यम के पिता) के तद्रूप हैं। अवेस्ता में वीवङ्ह्वन्त सोम तैयार करनेवाले प्रथम मनुष्य हैं; आथ्व्य द्वितीय और थ्रित तृतीय हैं (यस्न 9.10)। इनमें से प्रथम और तृतीय तो ऋग्वेद में भी संबद्ध पाये जाते हैं, जबकि इन्द्र ने मनु, विवस्वान् और त्रित के साथ सोम-पान किया है[4]।

गाथेय व्यक्ति के रूप में विवस्वान् त्रित की भांति ऋग्वेद-काल तक पहुंचते-पहुंचते धुंधले पड़ गये हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए और अश्विनों, अग्नि और सोम के साथ इसके संबन्ध को ध्यान में रखते हुए, एवं इस तथ्य को हृद्गत करते हुए कि उनका सदस् यज्ञ-स्थान है, विवस्वान् के विषय में सबसे अधिक बलवती संभावना यह बनती है कि वे उदय होते हुए सूर्य के प्रति-रूप हैं। अधिकांश विद्वान् उन्हें केवल सूर्य के रूप में देखते हैं। कुछ विद्वान् उन्हें प्रकाशमय आकाश का देवता अथवा सौर आकाश मानते हैं। बेर्गेन के विचार में विवस्वान् के याज्ञिक स्वरूप की कल्पना—जोकि उनमें प्रधान हैं—अग्नि ही से आरम्भ हो सकती है; जिस अग्नि का सूर्य एक रूप है। ओल्डेनबेर्ग विवस्वान् की अवेस्तिक वीवङ्ह्वन्त के साथ तुलना करके इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विवस्वान् को प्रकाश-देव मानने के लिए मिलनेवाले प्रमाण अपर्याप्त हैं; और इसलिए वे वस्तुतः प्रथम याज्ञिक हैं, जोकि मानव-जाति के पूर्वज भी हैं।

आदित्य-गण (§ 19)—

आदित्य-गण के निमित्त छः सकल सूक्त और दो सूक्तांश ऋग्वेद में आये हैं। फिर भी इन देवताओं का नाम और इनकी संख्या कुछ अनिश्चित-सी है। छः

1. दिदृक्षन्त उषसो यामन्नक्तोर्विवस्वत्या महि चित्रमनीकम्॥ ऋ० 3.30.13.
2. असौ वा आदित्यो विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते। श० ब्रा० 10.5.2.4.
3. विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन्मत्स्व। वा० सं० 8.5.
   स वाव विवस्वानादित्यो यस्य मनुश्च वैवस्वतो यमश्च। मै० सं० 1.6.12.
4. यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम्।

आदित्यों से अधिक का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है और छः का उल्लेख केवल एक बार हुआ है। वे हैं :—मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष और अंश[1]। ऋग्वेद के पिछले मण्डलों में इनकी संख्या एक स्थल पर सात आती है[2] और एक बार आठ[3]। यहां अदिति पहले-पहल देवताओं के समक्ष केवल सात को प्रस्तुत करती हैं और आठवें आदित्य मार्तण्ड को बाद में लाती हैं[4]। इन दोनों मन्त्रों में से किसी में भी आदित्यों के नाम पृथक्-पृथक् नहीं आये हैं। अथर्ववेद के अनुसार अदिति के आठ पुत्र थे[5] और तैत्तिरीय ब्राह्मण इन आठ नामों का उल्लेख इस प्रकार करता है: मित्र, वरुण, अर्यमन्, अंश, भग, धाता, इन्द्र और विवस्वान्। प्रथम पांच नाम ऋग्वेद में आते हैं; और इसी नामावलि को तैत्तिरीय शाखा से सायण ने ऋग्वेद[6] (§ 2.27.1.) के भाष्य में उद्धृत किया है। शतपथ ब्राह्मण के एक मन्त्र के अनुसार आदित्यों की संख्या मार्तण्ड के जोड़ देने पर आठ हो गई; साथ ही दो अन्य मन्त्रों[7] में उनकी संख्या बारह कही गई है और उनकी तद्रूपता बारह महीनों के साथ स्थापित की गई है। वेदोत्तर-कालीन साहित्य में आदित्य सब जगह बारह सौर-देवता हैं जो स्पष्ट है कि बारह महीनों से संबद्ध हैं। इनमें से एक विष्णु हैं जो सबसे महान् हैं। ऋग्वेद में उल्लिखित छः आदित्यों के अतिरिक्त इस वेद में कतिपय बार सूर्य को भी आदित्य कहा गया है, जो ब्राह्मणों तथा परवर्ती साहित्य में सूर्य का सामान्य नाम बन गया है। आदित्य नाम वाले अग्न्यात्मक सूर्य के विषय में कहा गया है

यथा त्रिते छन्द इन्द्र जुजोषस्यायौ मादयसे सचा ॥ बालखिल्य० 4.1.

1. इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
   शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ॥ ऋ० 2.27.1.
2. देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभि रक्ष। ऋ० 9.114.3.
3. अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ॥ ऋ० 10.72.8.
4. सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम्।
   प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥ ऋ० 10.72.9.
5. अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्रा। अथ० 8.9.21.
   अदितिः पुत्रकामा। साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत्। तस्या उच्छेषणमददुः। तत्प्राऽऽश्नात्। सा रेतोऽधत्त। तस्यै धाता चार्यमा चाजायेताम्।...तस्यै मित्रश्च वरुणश्चाजायेताम्।...तस्या अंशश्च भगश्चाजायेताम्।...तस्या इन्द्रश्च विवस्वाँश्चाजायेताम्। तै० ब्रा० 1.1.9.1.
6. इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
   शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ॥ ऋ० 2.27.1.
7. ते द्वादशादित्या असृज्यन्त। श० ब्रा० 6.1.2.8.
   कतम आदित्या इति। द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः। श० ब्रा० 11.6.3.8,

कि वे देवताओं द्वारा आकाश में स्थित किये गये हैं[1]। एक स्थान पर आई हुई गणना में सविता को भी भग, वरुण, मित्र, अर्यमन् इन चार आदित्यों के साथ गिना गया है[2]। फलत: यदि ऋग्वेद में आदित्यों की संख्या निश्चयपूर्वक सात ज्ञात थी, तो सूर्य अवश्यमेव सातवें आदित्य रहे होंगे और आठवें मार्तण्ड, जिन्हें अदिति पहले फेंक देती और फिर लौटा लाती है[3]। संभवत: मार्तण्ड अस्तंगामी सूर्य हैं। अथर्ववेद[4] में सूर्य को अदिति का पुत्र कहा गया है और सूर्य तथा चन्द्रमा को आदित्य[5]; और विष्णु का आह्वान उन देवताओं के साथ किया गया है जिन्हें ऋग्वेद में आदित्य संज्ञा मिली है और जो हैं :—वरुण, मित्र, विष्णु, भग, अंश एवं विवस्वान्[6]। आदित्यों की माता ऋग्वेद में एक बार अदिति न होकर हिरण्य-वर्णा मधुकशा है, जो वसुओं की पुत्री है[7]।

ऋग्वेद में इन्द्र एक बार आदित्यों के प्रमुख वरुण के साथ युग्म में आते हैं[8], और वालखिल्य[9] में तो उन्हें प्रकटरूप से चतुर्थ आदित्य कहा गया है। मैत्राय-णीय संहिता[10] में इन्द्र अदिति के पुत्र हैं; किंतु शतपथ ब्राह्मण[11] में उन्हें बारह आदित्यों से पृथक् बताया गया है। आदित्यों में से उनके प्रमुख वरुण ही का

---

1. यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्। ऋ० 10.88.11.
2. तन्सु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा।
   शर्म यच्छन्तु सप्रथो यदीमहे॥ ऋ० 8.18.3.
3. देवाँ उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्। ऋ० 10.72.8.
   प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत्। ऋ० 10.72.9.
4. दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा। अथ० 13.2.9.
   दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः।
   स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुः। अथ० 13.2 37.
5. तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा। ऋ० 8.2.15.
6. ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम्।
   अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ अ० 11.6.2.
7. मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
   हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु॥ ऋ० 9.1.4.
8. स सुक्रतुर्ऋतचिदस्तु होता य आदित्य शवसा वां नमस्वान्। ऋ० 7.85.4.
9. तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रियम्। बाल० 4.7.
10. अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत्सोच्छिष्टमाश्नात्सा वा इन्द्रमन्तरेव गर्भं सन्तमयस्मयेन दाम्नापौम्भत्सोऽपोब्धोऽजायत। मै० सं० 2.1.12.
11. अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्चत्रयस्त्रिंशाविति। शत० ब्रा० 11.6.3.5.

अकेले उल्लेख हुआ है। किंतु जिस सूक्त में मित्र का अकेले उल्लेख हुआ है[1], उसमें उन्हें आदित्य एवं सूर्य भी कहा गया है। जहां-कहीं दो आदित्यों का एक-साथ उल्लेख हुआ है वहां मित्र-वरुण लिये गए हैं और एक बार वरुण-इन्द्र। जहां तीन आदित्यों का एक-साथ उल्लेख हुआ है वहां वरुण, मित्र और अर्यमन् अभिप्रेत हैं, और जहां पांच का हुआ है वहां उपर्युक्त तीन में सविता और भग जोड़ दिये गये हैं। दक्ष केवल उक्त छ आदित्यों की गणना में आते हैं। आदित्य प्रायः वर्ग में आहूत होते हैं और मित्र-वरुण के नाम का साथ ही उल्लेख भी होता है। कई बार वे अन्य गणों के साथ भी आते हैं जैसे वसु, रुद्र, मरुत्, अङ्गिरस्, ऋभु, और विश्वेदेवाः के साथ। अनेक स्थलों पर आदित्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है और वहां इसमें सभी देवताओं का संनिवेश हो जाता है। वर्ग के रूप में इनका सामूहिक चरित्र देवसामान्य के चरित्र-जैसा है; क्योंकि इसमें इस प्रकार की विशेषताएं नहीं उभर पाई हैं जैसी कि उनके प्रमुख मित्र और वरुण के चरित्र में उभर चुकी हैं। सामूहिक रूप में वे केवल दिव्य प्रकाश के देवता हैं; उसकी किसी अभिव्यक्ति-विशेष के नहीं, अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा, तारे या उषस् के नहीं। ओल्डेनबेर्ग की इस कल्पना का आधार कि आदित्य मूलतः सूर्य, चन्द्रमा और पांच नक्षत्रों के प्रतिरूप थे, उनकी विशिष्ट संख्या सात है, जो संख्या कि ईरानी अमेषस्पेन्तस् की भी है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि दोनों समूहों में एक भी नाम उभयनिष्ठ नहीं है; यहां तक कि मित्र भी अमेषस्पेन्तस् नहीं है। इस विषय में यह भी स्मरणीय है कि आदित्यों की सात संख्या प्राचीन नहीं है; और यद्यपि रॉथ के प्रभाव से आदित्यों और अमेषस्पेन्तों की तद्रूपता को सामान्यतया विद्वानों ने मान लिया है, तथापि कतिपय विशिष्ट अवेस्ता-विद्वानों ने इसका प्रत्याख्यान भी कर रखा है।

ऋग्वेद में आदित्यों के निमित्त कहे गये कुछ सूक्तों[2] में केवल मित्र, वरुण और अर्यमन् इन तीन का—जिनका कि सबसे अधिक एकत्र उल्लेख हुआ है—वर्णन हुआ प्रतीत होता है। सुदूरस्थ वस्तु उनके लिए समीप की है; वे संसार के रक्षक देव होने के नाते चर-अचर सब को धारण करते हैं[3]। वे मनुष्यों के हृदयस्थ अच्छे-बुरे को देखते हैं और ऋतंभर मनुष्य को अनृत से विविक्त करते हैं[4]। वे असत्य

---

1. प्र स मि॑त्र मर्तो॑ अस्तु॒ प्रय॑स्वा॒न्यस्त॑ आदित्य॒ शिक्ष॑ति व्र॒तेन॑। ऋ० 3.59.2.
2. इ॒मं स्तोमं॒ सक्र॑तवो मे अ॒द्य मि॒त्रो अ॑र्य॒मा वरु॑णो जुषन्त।
   आ॒दि॒त्यास॒ शुच॑यो॒ धार॑पूताः॥ ऋ० 2.27.2.
3. अ॒न्तः प॑श्यन्ति वृजि॒नोत सा॒धु सर्वं॒ राज॑भ्यः पर॒मा चि॒दन्ति॑। ऋ० 2.27.3.
   धा॒रय॑न्त आदि॒त्यासो॒ जग॒त्स्था दे॒वा विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य गो॒पाः। ऋ० 2.27.4.
4. अ॒न्तः प॑श्यन्ति वृजि॒नोत सा॒धु। ऋ० 2.27.3.

से घृणा करते और पाप के लिए दण्ड देते हैं[1]। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे पाप के लिए क्षमा प्रदान करें[2]; वे या तो अनृत के परिणामों को बदल दें अथवा उसे त्रित आप्त्य में आक्षिप्त कर दें[3]। वे अपने शत्रुओं के लिए पाश फैलाते हैं[4]। किंतु अपने उपासकों की वैसे ही रक्षा करते हैं जैसे "पक्षी अपने शावकों के ऊपर अपने पर फैला कर[5]। उनके परिचारक मानो कवच से सुरक्षित हैं, जिसके कारण कोई भी तीर उन्हें नहीं वेध सकता[6]। वे रोग और बाधाओं के निवारक हैं[7] और प्रकाश, दीर्घायु, अपत्य एवं नेतृत्व आदि अनेक वरों के दाता हैं[8]।

उनके वर्णन में प्रयुक्त हुए विशेषण हैं:—शुचि, हिरण्मय, भूर्यक्ष, अनिमिष, अस्वप्नज एवं दीर्घधी। वे क्षत्रिय, उरु, गंभीर, अरिष्ट, धृतव्रत, अनवद्य, अवृजिन, धारपूत, ऋतावन् एवं राजा हैं।

हो न हो उनका यह नाम उनकी माता अदिति के ऊपर आधृत है और उन्हें बहुधा अदिति के साथ बुलाया भी गया है। यास्क द्वारा सुझाई व्युत्पत्तियों

पाकत्रा स्थन देवा हृत्सु जानीथ मर्त्यम्।
उप द्वयुं चाद्वयुं च वसवः॥ ऋ० 8.18.15.

1. मा वो भुजेमान्यजातमेनो मा तत्कर्म वसवो यच्चयध्वे। ऋ० 7.52.2.
इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति। ऋ० 7.60.5.
ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः। ऋ० 7.66.13.
2. अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः। ऋ० 2.27.14.
प्र व एको मिमय भूर्यागो यन्मा पितेव कितवं शशास।
आरे पाशा आरे अघानि देवा मा माधि पुत्रे विमिव ग्रभीष्ट॥ ऋ० 2.29.5.
3. यूयं महो न एनसो यूयमर्भादुरुष्यत। ऋ० 8.47.8.
4. या वो माया अभिद्रुहे यजत्राः पाशा आदित्या रिपवे विचृत्ताः।
अश्वीव ताँ अति येषं रथेन॥ ऋ० 2.27.16.
5. पक्षा वयो यथोपरि व्यस्मे शर्म यच्छत। ऋ० 8.47.2.
6. न तं तिग्मं चन त्यजो न द्रासदभि तं गुरु।
यस्मा उ शर्म सप्रथ आदित्यासो अराध्वम्॥ ऋ० 8.47.7.
युष्मे देवा अपि ष्मसि युध्यन्त इव वर्मसु। ऋ० 8.47.8.
7. अपामीवामप स्निधमप सेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥ ऋ० 8.18.10.
8. पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्। ऋ० 2.27.11.
शतं नो रास्व शरदो विचक्षेऽश्यामायूंषि सुधितानि पूर्वा। ऋ० 2.27.10.
ये चिद्धि मृत्युबन्धव आदित्या मनवः स्मसि।
प्र सू न आयुर्जीवसे तिरेतन॥ ऋ० 8.18.22.

में यह भी एक है[1]। इस गण से संबद्ध महत्तर देवताओं का विवेचन पहले आ चुका है; किंतु उन सामान्य आदित्यों का, जिनका व्यक्तित्व पूरी तरह नहीं उघड़ पाया है, वर्णन यहां क्रमशः दिया जा सकता है।

अर्यमन् का उल्लेख ऋग्वेद में यद्यपि लगभग 100 बार आया है, तथापि व्यक्तिगत विशेषताएं उनकी इतनी छिपी हुई हैं कि निघण्टु की देव-नामावलि में उनका नाम रह-सा गया है। दो मन्त्रों के सिवाय और सब जगह उनका नाम अन्य देवताओं के साथ उल्लिखित हुआ है। अधिकांश स्थलों पर उनका नाम मित्र और वरुण के साथ आया है। लगभग एक दर्जन मन्त्रों में यह शब्द जातिवाचक की तरह प्रयुक्त हुआ है और तब इसका अर्थ हुआ है 'साथी' अथवा 'वर का परिचर'। मौके-मौके पर अर्यमन् का नाम इस अर्थ में भी आया है। उदाहरण के लिए एक बार अग्नि का आह्वान इन शब्दों में हुआ है—'कुमारियों के विवाह के समय तू अर्यमन् है'[2]। अर्यमन् से बना एक विशेषण अर्यम्य (साथी से संबद्ध) और मित्र से बना शब्द मित्र्य (मित्र से संबद्ध) भी प्रयुक्त हुआ है[3]। इस प्रकार अर्यमन् देव की कल्पना महत्तर आदित्य मित्र से मिलती-जुलती-सी है। अर्यमन् नाम भारत-ईरानी काल तक जा पहुंचता है; क्योंकि इसका प्रयोग अवेस्ता में भी मिलता है।

ऋग्वेद में एक सूक्त प्रमुख रूप से भग के निमित्त कहा गया है; यद्यपि कतिपय अन्य देवता भी इसमें आहूत हुए हैं। भग का नाम ऋग्वेद में लगभग 60 बार आता है। इस शब्द का अर्थ है 'देने वाला'। इस अर्थ में भग शब्द विशेषण के रूप में, (अनेक स्थलों पर सविता के नाम के साथ) 20 बार से अधिक प्रयुक्त हुआ है। भग देवता को वैदिक सूक्तों में धन वितरण करनेवाला माना गया है। भग के साथ इन्द्र और अग्नि की तुलना का प्रयोजन है—अन्तिम दोनों देवताओं की दानशीलता का गुणगान। भग शब्द भी ऋग्वेद में लगभग 20 बार 'दानशीलता', 'संपत्ति', और 'भाग्य' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; जिससे इसकी विग्रहवत्ता पर अस्पष्टता का परदा पड़ गया है। उदाहरण के लिए एक मन्त्र[4] में—जहां भग को 'वितरण करनेवाला' (विधर्ता) कहा गया है—यह उक्ति भी मिलती है कि मनुष्य इस देवता के विषय में कहते हैं—मुझे भग में भाग मिले, (भगं भक्षि)[5]। एक अन्य

1. अदितेः पुत्र इति वा। नि० 2.13.
योऽसौ तपन्नुदेति। स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति। तै० आ० 1.14.1.
2. त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि। ऋ० 5.3.2.
3. अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा। ऋ० 5.85.7.
4. प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ ऋ० 7.41.2.
5. भगो विभक्ता शवसावसा गमत्। ऋ० 5.46.6.

मन्त्र में, जहां कि उन्हें 'भक्ता' कहा गया है, उनका आह्वान इसलिए किया गया है कि वे अपने उपासकों के प्रति दानशील (भगवान्) बनें।

उषस् भग की बहन है[1]। भग का चक्षु किरणों से अलंकृत है[2]। विष्णु के लिए सूक्त उसी तरह आविर्भूत होते हैं जैसे भग के पथ पर[3]। यास्क के अनुसार भग पूर्व मध्याह्न के अधिष्ठाता हैं[4]। इस नाम का ईरानी रूप 'बघ' (देवता) है जो अहुरमज़्दा का विशेषण बन कर आता है। सच पूछो तो यह शब्द भायोरपीय है; क्योंकि ओल्ड चर्च स्लावोनिक में यह 'बोगु' इस रूप में मिलता है, जिसका अर्थ 'देवता' है। इस बात के लिए प्रमाण नहीं मिलता कि भायोरपीय काल में इस नाम से किसी देवता-विशेष का बोध होता था; अलबत्ता 'दानशील देवता' इस अर्थ में उस सुदूर काल में भी इसका प्रयोग होता रहा होगा।

अंश शब्द, जो कि ऋग्वेद में लगभग एक दर्जन बार आता है, भग का प्रायः पर्यायवाची है और इसका अर्थ होता है 'हिस्सा या भाग', और 'भागी'। यह तीन बार देव-नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इन तीनों मन्त्रों में से केवल एक मन्त्र में उसके नामोल्लेख के साथ-साथ उसके विषय में और कुछ भी कहा गया है। यहां अग्नि को अंश कहा गया है, जोकि विदथ (दैवी उपासना) में एक उदार (भाजयु) देवता हैं[5]।

दक्ष का उल्लेख देवता के नाम के रूप में छः बार से अधिक ऋग्वेद में नहीं आता। यह शब्द प्रायः अग्नि और सोम के विशेषण के रूप में[6] आता है और इसका उस प्रसङ्ग में अर्थ होता है 'प्रवीण, दृढ़, कुशल, बुद्धिमान्'। विशेष्य की तरह यह शब्द इन अर्थों में आता है—'प्रवीणता, दृढ़ता, कुशलता अथवा ज्ञान। मानवीय रूप का बोधक होने पर यह प्रवीण या कुशल देवता का वाचक बन जाता है। छः आदित्यों के नामोल्लेखक मन्त्र[7] को छोड़कर अन्य जगह उनका उल्लेख केवल प्रथम और[8]

---

1. भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व। ऋ० 1.123.5.
2. चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः। ऋ० 1.136.2.
3. विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्का भगस्येव कारिणो यामनि ग्मन्। ऋ० 3.54.14.
4. भगो व्याख्यातः। तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात्। नि० 12.13.
5. त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
   त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सम्भुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः॥ ऋ० 2.1.4.
6. तुभ्यं दक्ष कविक्रतो यानीमा देव मर्तासो अध्वरे अकर्म।
   त्वं विश्वस्य सुरथस्य बोधि सर्वं तदग्ने अमृत स्वदेह॥ ऋ० 3.14.7.
   पवमान रसस्तव दक्षो वि राजति द्युमान्। ऋ० 9.61.18.
7. शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः। ऋ० 2.27.1.
8. तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्। ऋ० 1.89.3.

दशम मण्डल में हुआ है। एक मन्त्र में वे अन्य आदित्यों के साथ उल्लिखित हुए हैं, और एक दूसरे मन्त्र[1] में मित्र, वरुण एवं अर्यमन् के साथ। अदिति का भी जिक्र उनके जन्म के संबन्ध में हुआ है। एक सृष्टि-रचना-संबन्धी सूक्त[2] में दक्ष को अदिति से उत्पन्न हुआ बताया गया है; किंतु वहीं पर यह भी कहा गया है कि अदिति उनसे उत्पन्न हुई है और यह उनकी पुत्री है; देवता बाद में उत्पन्न हुए हैं। एक अन्य मन्त्र में[3] आता है कि सत् और असत् अदिति के उपस्थ में अर्थात् दक्ष के जन्म-स्थान में थे। साथ ही अन्त के दो मन्त्रों में दक्ष और अदिति को विश्व का माता-पिता भी माना गया है। बच्चे अपने माता-पिता के उत्पादक हैं यह विरोधोक्ति ऋग्वेदीय कवियों के लिए नवीन नहीं थी। देवताओं के विषय में कहा गया है कि उनकी शक्ति उनके पिता के लिए है[4] (सा० 'दक्ष हैं' पिता जिनके')। दक्ष-पितरा इस विशेषण का प्रयोग मित्र-वरुण के लिए भी हुआ है, जिन्हें उसी मन्त्र[5] में नितरां बुद्धिमान् (सुदक्ष) बताया गया है। इस उक्ति को उस मन्त्र[6] में और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया है, जहां मित्र-वरुण को 'बुद्धिमत्ता के पुत्र' (सूनू दक्षस्य) एवं 'महती शक्ति के बच्चे' (नपाता शवसो महः) कहा गया है। अन्तिम विशेषणों से यह लक्षित होता है कि दक्ष यहां मानवीय विग्रह का बोधक नहीं, प्रत्युत एक भाववाचक शब्द है जिसका प्रयोग अग्नि के विशेषणों में हुआ है, जैसे—'दक्षस्य पिता[7] (कुशलता के पिता), या 'शक्ति के पुत्र'। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि साधारण मानव-याज्ञिकों को 'दक्ष-पितरः' कहा गया है (=वे जिनके पास अपने पिता के लिए कुशलता है)। तैत्तिरीय संहिता में देव-सामान्य को 'दक्ष-पितरः' कहा गया है और शतपथ ब्राह्मण[8] में दक्ष की तद्रूपता स्रष्टा प्रजापति के साथ स्थापित की गई है।

उषस् (§ 20) :—

प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी उषस् के निमित्त ऋग्वेद में लगभग 20 सूक्त

---

1. दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि। ऋ० 10.64.5.
2. अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि। ऋ० 10.72.4.
   अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। ऋ० 10.72.5.
3. असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। ऋ० 10.5.7.
4. सज्योतिषः सूर्य दक्षपितॄननागास्त्वे सुमहो वीहि देवान्। ऋ० 6.50.2.
5. या धारयन्त देवाः सुदक्षा दक्षपितरा। ऋ० 7.66.2.
6. नपाता शवसो महः सूनू दक्षस्य सुक्रतू। ऋ० 8.25.5.
7. धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे। दक्षस्य पितरं तना॥ ऋ० 3.27.9.
8. स वै दक्षो नाम। श० ब्रा० 2.4.4.2.

कहे गये हैं और उसके नाम का उल्लेख तो 300 बार से अधिक ही हुआ है। नाम की तद्रूपता के कारण उषस् की विग्रहवत्ता स्वल्प मात्रा में हो पाई है। जब उषा देवी के निमित्त सूक्त गाये जाते हैं तब उनका आधारभूत दृश्य कवि के मन से कदाचित् भी उतर नहीं पाता है। उषस् की रचना वैदिक काल की सबसे मनोरम कल्पना है और संसार के किसी भी साहित्य में उषा से अधिक आकर्षक चरित्र नहीं मिलता। उषा के स्वरूप की छटा पौरोहित्य की अटकलों से धूमिल नहीं हो सकी है और न ही उससे संबद्ध कल्पना यज्ञिय संकेतों के द्वारा आच्छन्न ही हो पाई है। अपने वपुष् को शुभ्र वस्त्रों में आवृत करके नर्तकी की भांति वह अपने वक्षःस्थल का प्रदर्शन करती है[1]। अपनी[2] माता के द्वारा प्रसाधित कुमारी की तरह वह अपनी छवि को फैलाती है[3]। प्रकाश के वसन पहर कर यह कुमारी पूर्व दिशा में प्रकट होती और अपनी आकर्षक छवि को अनावृत करती है[4]। अद्वितीय सौन्दर्य से संपन्न उषा अपने प्रकाश को छोटे-बड़े किसी से भी नहीं दुराती। मानों स्नान करके झिल-मिल करती हुई उदित होकर, अपने सौन्दर्य को प्रदर्शित करती हुई वह अन्धकार को दूर भगाती और प्रकाश के साथ उतरती है[5]। यद्यपि वह पुरानी है फिर भी पुनः पुनः उत्पन्न होने के कारण वह सदा-युवती है; अक्षुण्ण-रूप वर्ण से चमचमाती हुई वह मर्त्यों के जीवन को ढालती रहती है[6]। जैसे पहले दिनों में वह चमकी थी वैसे ही वह आज भी चमक रही है और भविष्य में भी चमकती रहेगी। वह अजर है और अमर है[7]। पुनः-पुनः आती हुई यह युवती विश्व में सबसे पहले जाग जाती है [8]।

---

1. अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्। ऋ० 1.92.4.
2. आविर्वक्षः कृणुषे शुम्भमानोषो देवि रोचमाना महोभिः। ऋ० 6.64.2.
3. सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुषे दृशे कम्। ऋ० 1.123.11.
4. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्। ऋ० 1.124.3.
   उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि। ऋ० 1.124.4.
   अरेपसा तन्वा शाशदाना नार्भादीषते न महो विभाती। ऋ० 1.124.6.
   एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
5. अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥ ऋ० 5.80.5.
   एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन्योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः। ऋ० 5.80.6.
6. पुनःपुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना।
   श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः॥ ऋ० 1.92.10.
   शश्वत्पुरोषा व्युवास देव्यथो अद्येदं व्यावो मघोनी।
7. अथो व्युच्छादुत्तराँ अनु द्यूनजरामृता चरति स्वधाभिः॥ ऋ० 1.113.13.
   ईयुषीणामुपमा शश्वतीनां विभातीनां प्रथमोषा व्यश्वैत्। ऋ० 1.113.15.
8. पूर्वा विश्वस्माद् भुवनादबोधि जयन्ती वाजं बृहती सनुत्री। ऋ० 1.123.2.

मनुष्यों को सतत सालती हुई वह प्रभासित होती है; वह हो चुकी उषाओं में अन्तिम है और आने वाली उषाओं में पहली है[1]। चक्र की भांति वह अनारत नये-नये चक्कर काटती है[2]। वह पद्वत् जगत् को अपनी कनखियों से प्रबुद्ध करती है और पक्षियों को उड़ने के लिए उकसाती है : वह सभी भुवनों का जीवन है; वह सब प्राणियों का प्राण है[3]। वह प्रत्येक प्राणी को अर्थ के लिए उद्बुद्ध करती है[4]। उषाएं सोते हुओं को जगाती हैं और प्राणियों, द्विपदों एवं चौपायों को गति के लिए उत्प्रेरित करती हैं[5]। जब उषस् प्रभासित होती है, तब पक्षि-गण अपने नीड़ों से उड़ जाते हैं और मनुष्य भोजन की ढूढ़ में निकल पड़ते हैं[6]। वह वनुष्यों के पथों को आविष्कृत करती है और पांचों जनों को प्रबुद्ध करती है[7]। वह सभी प्राणियों को प्रकट करती और सभी के लिए नव-जीवन लाती है[8]। वह दुःस्वप्नों को त्रित आप्त्य के यहां भगा देती है[9]। वह रात्रि के कृष्ण वसन का अपसारण करती है[10]। वह अन्धकार को दूर भगाती है[11]। वह दुरात्माओं को और कलुषित अन्धकार को बाधित करती है[12]। वह अन्धकार से आवृत धन को प्रकट करती और उसे

---

1. अमिनती दैव्यानि व्रतानि प्रमिनती मनुष्या युगानि ।
   ईयुषीणामुपमा शश्वतीनामायतीनां प्रथमोषा व्यद्यौत् ॥ ऋ० 1.124.2.
2. चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व । ऋ० 3.61.3.
3. जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः । ऋ० 1.48.5.
   विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि । ऋ० 1.48.10.
   वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि । उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥
4. विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती । ऋ० 1.92.9. ऋ० 1.49.3.
   उषो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै । ऋ० 7.77.1.
5. प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम् । ऋ० 4.51.5.
6. उत्ते वयश्चिद्वसतेरपप्तन्नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ । ऋ० 1.124.12.
7. व्युषा आवः पथ्या जनानां पञ्च क्षितीर्मानुषीर्बोधयन्ती । ऋ० 7 79.1.
8. विवर्तयन्ती रजसी समन्ते आविष्कृण्वती भुवनानि विश्वा । ऋ० 7.80.1.
   एषा स्या नव्यमायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि । ऋ० 7.80.2.
9. यच्च गोषु दुःष्वप्न्यं यच्चास्मे दुहितर्दिवः ।
   त्रिताय तद्विभावर्याप्त्याय परा वह ॥ ऋ० 8.47.14.
   त्रिताय च द्विताय चोषो दुःष्वप्न्यं वह । ऋ० 8.47.16.
10. अप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः । ऋ० 1.113.14.
11. बाधते तमो अजिरो न वोळ्हा । ऋ० 6.64.3.
    अग्रं यज्ञस्य बृहतो नयन्तीर्वि ता बाधन्ते तम ऊर्म्यायाः । ऋ० 6.65.2.
12. अप द्रुहस्तम आवरजुष्टमङ्गिरस्तमा पथ्या अजीगः । ऋ० 7.75 1.

उदारता से वितरित करती है[1]। प्रबुद्ध होने पर वह आकाश के छोरों को झिलमिला देती है[2]। वह स्वर्ग के द्वार को खोलती है[3]। जैसेकि गौएं व्रज को खोलती हैं वैसे वह अन्धकार के द्वारों को खोल देती है[4]। उसकी भासमान किरणें पशुओं के रेवड़ों जैसी प्रतीत होती हैं[5]। पशुओं को छिटकाती हुई-सी वह दूर दिखाई पड़ती है[6]। वह आती है और जाती है; पर अपने इस विधान से उकताती कभी नहीं। लाल किरणें ऊपर को उड़ती हैं; लाल गौएं युक्त होती हैं; लाल उषाएं मानों चिरकाल से वस्त्र बुन रही हैं; वही वस्त्र जिसे कि वे पहले से बुनती आ रही हैं। उषस् को गो-माता इसीलिए कहा गया है[7]।

प्रतिदिन वह निश्चित विन्दु पर उतरती है पर कभी भी ऋत एवं देवताओं के विधान को पद-दलित नहीं करती[8]। वह ऋत के पथ पर सीधे जाती है; पथ से परिचित होने के कारण वह कभी भी पथ-भ्रष्ट नहीं होती[9]। सभी उपासकों को प्रबुद्ध करके और यज्ञाग्नि को संदीप्त करा कर वह देवताओं का भरसक उपकार करती है[10]। उससे प्रार्थना की गई है कि वह केवल श्रद्धालु एवं उदार उपासकों को

---

1. सिषासन्ती द्योतना शश्वदागादग्रमग्रमिद्भजते वसूनाम्। ऋ० 1.123.4.
   स्पार्हा वसूनि तमसापगूळ्हाविष्कृण्वन्त्युषसो विभातीः। ऋ० 1.123.6.
2. व्यूर्ण्वती दिवो अन्ताँ अबोधि। ऋ० 1.92.11.
3. उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिवः। ऋ० 1.48 15.
   भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः। ऋ० 1.113.4.
4. गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः। ऋ० 1.92.4.
5. प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः। ऋ० 4.52.5.
6. पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना। ऋ० 1.92.12.
   उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत।
   अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः। ऋ० 1.92.2.
7. माता गवामृतावरी। ऋ० 4.52.2.
   उत माता गवामसि। ऋ० 4.52.3.
   गवां माता नेत्र्यह्नामरोचि। ऋ० 7.77.2.
8. अमिनती दैव्यानि व्रतानि सूर्यस्य चेति रश्मिभिर्दृशाना। ऋ० 1.92.12.
   ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती। ऋ० 1.123.9.
   अमिनती दैव्यानि व्रतानि। 1.124.2.
   ते देवानां न मिनन्ति व्रतानि। ऋ० 7.76.5.
9. ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति। ऋ० 5.80.4.
10. उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य।
    यन्मानुषान्यक्ष्यमाणाँ अजीगस्तद्देवेषु चकृषे भद्रमप्नः॥ ऋ० 1.113.9.

जगावे और अदेव अनुदारों को हमेशा के लिये सोते रहने दे[1]। किंतु कभी-कभी कहा गया है कि उषस् अपने उपासकों को नहीं जगाती, अपितु उसके उपासक ही उसे उद्बुद्ध करते हैं[2]। वसिष्ठों का कहना तो यहां तक है कि उन्होंने ही उसे सर्व-प्रथम अपने सूक्तों द्वारा जागृत किया था[3]। एक बार उसे समझाया गया है कि वह आने में देर न करे ताकि कहीं सूर्य चोर या शत्रु की भांति उसे परितप्त न कर दे[4]। उससे प्रार्थना की गई है कि वह देवताओं को सोम-पान के लिए लावे[5]। फलतः देवताओं के लिए कहा गया है कि वे लोग उषस के साथ जागते हैं[6]।

उषस् एक ऐसे रथ पर चलती है जो झिलमिलाता[7], प्रभासमान, चन्द्रवर्ण[8], सुपेशस्[9], विश्वपिश्[10] (=विश्वरूप), बृहत्,[11] और स्वयंयुक्त (स्वधया युज्यमानम्) है[12]। कहा गया है कि वह शत रथों पर चढ़कर चलती है[13]। उसके रथ को ऐसे घोड़े खींचते हैं जो लाल हैं[14], सुयमित हैं[15] और ठीक ढङ्ग से जोड़े गए हैं[16]। यह भी कहा

1. प्र बोधयोषः पृणतो मघोन्यबुध्यमानाः पणयः ससन्तु ।
   रेवदुच्छ मघवद्भ्यो मघोनि रेवत्स्तोत्रे सूनृते जारयन्ती ॥ ऋ० 1.124.10.
   उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान् राधोदेयायोषसो मघोनीः ।
   अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ॥ ऋ० 4.51.3.
2. यावयद्द्वेषसं त्वा चिकित्वित्सूनृतावरि ।
   प्रति स्तोमैरभुत्स्महि ॥ ऋ० 4.52.4.
3. प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन् । 7.80.1.
4. व्युच्छा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः ।
   नेत्त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा ॥ ऋ० 5.79 9.
5. विश्वान् देवाँ आ वह सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम् । ऋ० 1.48.12.
6. आकीं सूर्यस्य रोचनाद् विश्वान् देवाँ उषर्बुधः ।
   विप्रो होतेह वक्षति । ऋ० 1.14.9.
7. उषो अर्वाचा बृहता रथेन ज्योतिष्मता वाममस्मभ्यं वक्षि । ऋ० 7.78.1.
8. चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती । ऋ० 3.61.2.
9. सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम् । ऋ० 1.49.2.
10. याति शुभ्रा विश्वपिशा रथेन । ऋ० 7.75.6.
11. सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम् । ऋ० 1.48.10.
12. आस्थाद्रथं स्वधया युज्यमानम् । ऋ० 7.78.4.
13. शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान् । ऋ० 1.48.7.
14. प्रति द्युतानामरुषासो अश्वाश्चित्रा अदृश्रन्नुषसं वहन्तः । ऋ० 7.75.6.
15. आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वाः । ऋ० 3.61.2.
16. यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः । ऋ० 4.51.5.

गया है कि वह घोड़ों द्वारा प्रभासित होती है[1]। लाल गौओं द्वारा भी उसके खींचे जाने का वर्णन मिलता है[2]। घोड़े और गौएं दोनों ही संभवतः प्रातःकालीन प्रकाश की लाल किरणों के प्रतिरूप हों; किंतु गौओं से प्रायः सवेरे के लाल बादल लिये जाते हैं। उषाएं एक दिन में 30 योजन का रास्ता तै कर लेती हैं[3]।

उषस् का सूर्य के साथ निकट संबन्ध है। उषा ने सूर्य के पथ को उसकी यात्रा के लिये खोला है[4]। वह देवताओं के इस नयन को लाती है और उसके सुन्दर श्वेत घोड़े को आगे ले चलती है[5]। वह सौर प्रकाश के द्वारा झिलमिलाती है[6]; अपने प्रेमी की प्रकाशमय कनखियों द्वारा[7]। उषस् के पीछे-पीछे सविता चमकते हैं[8]। सूर्य उसका अनुसरण वैसे ही करते हैं जैसेकि एक युवक अपनी प्रेयसी के पीछे-पीछे चलता है[9]। वह उस देवता से मिलती है जो उसकी कामना करता है[10]। वह सूर्य की पत्नी है[11]; उषाएं सूर्य की पत्नियां हैं[12]। इस प्रकार अन्तरिक्ष में सूर्य द्वारा अनुसृत होने के कारण वह सूर्य की पत्नी मानी गई है। किंतु काल में सूर्य के पूर्व आने के कारण मौके-मौके पर उसे उनकी माता भी बताया गया है। उसने सूर्य, यज्ञ और अग्नि को जन्म दिया है[13]। वह सविता को जन्म देने के लिये उत्पन्न हुई है और एक झिलमिलाते पुत्र के साथ आती है[14]। उपस् भग की बहिन है और

1. एतावद्वेदुषस्त्वं भूयो वा दातुमर्हसि।
   या स्तोतृभ्यो विभावर्युच्छन्ती न प्रमीयसे सुजाते अश्वसूनृते। ऋ० 5.79.10. इत्यादि
2. उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत। ऋ० 1.92.2.
   अवेयमश्वैद् युवतिः पुरस्ताद् युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्। ऋ० 1.124.11.
   एषा गोभिररुणेभिर्युजानास्रेधन्ती रयिमप्रायु चक्रे। ऋ० 5.80 3.
3. अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परि यन्ति सद्यः। ऋ० 1.123.8.
4. आरैक्पन्थां यातवे सूर्याय। ऋ० 1.113.16.
5. देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्। ऋ० 7.77.3.
6. उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य। ऋ० 1.113.9.
7. योषा जारस्य चक्षसा वि भाति। ऋ० 1.92.11.
8. वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो वि राजति। ऋ० 5.81.2.
9. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्। ऋ० 1.115.2.
10. एषि देवि देवमियक्षमाणम्। ऋ० 1.123 10.
11. वाजिनीवती सूर्यस्य योषा। ऋ० 7.75.5.
12. कदा नो देवीरमृतस्य पत्नीः सूरो वर्णेन ततनन्नुषासः। ऋ० 4 5.13.
13. अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निम्। ऋ० 7.78 3.
14. यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्। ऋ० 1.113.1.
    रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागात्। ऋ० 1.113.2.

वरुण[1] की जामि है। वह रात्रि की भी बहन[2] अथवा ज्येष्ठ बहिन है[3]। उषस् और रात्रि के नाम प्रायः द्वन्द्व में आते हैं (उषासा-नक्ता या नक्तोषासा)। उषस् आकाश में उत्पन्न होती है[4]। उसकी उत्पत्ति का स्थान ऋग्वेद में उसके सबसे अधिक निर्दिष्ट संबन्ध की ओर संकेत करता है और यह है उसका 'दिवः दुहिता' होना[5]। एक बार उसे 'दिवः प्रिया' भी कहा गया है[6]।

यज्ञाग्नि नियमित रूप से उषःकाल में समिद्ध होती है; अतः इस प्रकरण में अग्नि उषस् के साथ सहज ही संबद्ध हो जाता है; कभी-कभी सूर्य भी अग्नि में समाविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि वे भी अग्नि ही की एक अभिव्यक्ति हैं और यज्ञाग्नि-समिन्धन के साथ दिखाई पड़ते हैं[7]। अग्नि उषस् के साथ और उससे पहले उपस्थित होते हैं। उषस् अग्नि को समिद्ध कराती है[8]। इस प्रकार सूर्य की भांति अग्नि को भी उषस् का जार कहा गया है[9]। उषस् के आगमन के समय अग्नि उससे मिलने के लिये जाते और उससे योगक्षेम की याच्ञा करते हैं[10]। उषस् स्वभावतः प्रातः-काल के युगल देवता अश्विनों के साथ भी संबद्ध है[11]। वे उसके साथ चलते हैं[12]

---

1. भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व। ऋ० 1.123.5.
2. रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
   समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥ ऋ० 1.113.2.
   समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
   न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे॥ 1.113.3.
   निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती।
   अपेदु हासते तमः। ऋ० 10.127.3.
3. स्वसा स्वस्रे ज्यायस्यै योनिमारैक्। ऋ० 1.124.8.
4. व्युषा आवो दिविजा ऋतेनाविष्कृण्वाना महिमानमागात्। ऋ० 7.75.1.
5. त्वं त्येभिरा गहि वाजेभिर्दुहितर्दिवः। ऋ० 1.30.22.
6. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। ऋ० 1.46.1.
7. उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्। ऋ० 1.124.1.
   वि नूनमुच्छादसति प्र केतुर्गृहंगृहमुप तिष्ठाते अग्निः। ऋ० 1.124.11.
8. उषो यदग्निं समिधे चकर्थ। ऋ० 1.113.9.
9. शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जारः। ऋ० 1.69.1.
   उषो न जारः पृथु पाजो अश्रेद्दविद्युतद्दीद्यच्छोशुचानः। ऋ० 7.10.1.
   भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्। ऋ० 10.3.3.
10. आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः। ऋ० 3.61.6.
11. सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत्। ऋ० 1.44.2.
12. वपुर्वपुष्या सचतामियं गीर्दिवो दुहित्रोषसा सचेथे। ऋ० 1.183.2.

अौर वे उसके मित्र हैं[1] । उषा का आह्वान उन्हें उद्बुद्ध करने के निमित्त किया गया है[2], और कहा गया है कि उषा के स्तवन-सूक्तों ने उन्हें जगाया है[3] । जब अश्विनों का रथ जुड़ता है, तब 'दिवो दुहिता' उत्पन्न होती है[4] । उषस् एक बार चन्द्रमा के साथ भी संबद्ध हुई है, जो सदैव अपने नव-नवोदय के कारण उषाओं के पूर्व, दिन के केतु की भांति उभरता है[5] ।

विभिन्न देवताओं के विषय में कहा गया है कि उन्होंने उषाओं को उत्पन्न या अनावृत किया है । इन्द्र, जो विशेषतया प्रकाश के विजेता हैं, उनके विषय में कहा गया है कि उन्होंने उषस् को उत्पन्न या समिद्ध किया[6] । किंतु कभी-कभी वे उसके साथ शत्रुता का बरताव भी कर बैठते हैं । उदाहरण के लिए कहा जाता है कि उन्होंने उसके रथ को तोड़ डाला है । सोम ने उषाओं को उनके जन्म के समय प्रभावती बनाया[7] और उन्हें अच्छे पति के हाथों सौंपा[8], जैसाकि अग्नि के विषय में कहा गया है[9] । बृहस्पति ने प्रकाश द्वारा अन्धकार को नष्ट करके उषा, स्वर्, और अग्नि को आविष्कृत किया[10] । देवताओं के सहयोगी पूर्व पितृ-गणों ने प्रभावशाली सूक्तों द्वारा गूढ़ प्रकाश को अनावृत किया और उषस् को उत्पन्न किया[11] ।

उषा-देवी से बहुधा प्रार्थना की गई है कि वह उपासक के ऊपर प्रकाशित होवे या उसे धन एवं अपत्य-संपन्न बनावे, साथ ही उसे सुरक्षा और दीर्घ जीवन

---

1. सखाभूदश्विनोरुषाः । ऋ० 4.52.2.
   उत सखास्यश्विनोः । ऋ०4.52 3.
2. प्र बोधयोषो अश्विना । ऋ० 8.9.17.
3. उषसःस्तोमो अश्विना वजीगः । ऋ० 3.58.1.
4. रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना ।
   यस्य योगे दुहिता जायते दिवः । ऋ० 10.39.12.
5. नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
   भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥ ऋ० 10.85.19.
6. यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥ ऋ० 2.12.7.
7. इमं केतुमदधु नू चिदह्नां शुचिजन्मन उषसश्चकार ॥ ऋ० 6.39.3.
8. अयमकृणोदुषसः सुपत्नीः । ऋ० 6.44.23.
9. यो अर्यपत्नीरुषसश्चकार । ऋ० 7.6.5.
10. सोषामविन्दत्स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि ।
    ऋ० 10.68.9.
11. त इद् देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः ।
    गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्व विन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥ ऋ० 7.76.4.

प्रदान करे[1], और कवि के उदार सूरियों को यश-वैभव-संपन्न करे[2]। उषा के उपासक उससे संपत्ति की कामना करते हैं और कामना करते हैं कि वे उसके प्रति वैसा ही व्यवहार करें जैसा पुत्र माता के प्रति करते हैं[3]। मृत मनुष्यों की आत्मा सूर्य और उषस् में जाती है[4]। इन 'अरुणियों' से, जिनकी गोद में पितृ-गण बैठते हैं, हो न हो, उषाएं ही अभिप्रेत हैं[5]।

निघण्टु में उल्लिखित 16 विशेषणों के अतिरिक्त उषा के और भी अनेक विशेषण मिलते हैं। वह प्रभावती, ज्योतिष्मती, रोचमाना, श्वेत, अरुषी, हिरण्य-वर्णा, ऋतजाता, इन्द्रतमा, दिव्या एवं अमर्त्या हैं। वह विशेषतया मघोनी है।

उषस् यह शब्द √वस् 'चमकना' इस धातु से निष्पन्न है; और मूलतः यह ओरोरा (Aurora) एवं होस (hws) का सजन्मा है।

अश्विन् (§ 21)—

आह्वानों के आंकड़ों की दृष्टि से ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि और सोम के बाद युगल देवता अश्विनों का स्थान है। उनके निमित्त 50 से अधिक संपूर्ण सूक्त तथा अनेक सूक्तांश कहे गए हैं। उनका नाम 400 से अधिक वार आता है। यद्यपि प्रकाश के देवताओं में उनका एक विशिष्ट स्थान है और उनका नाम भी भारतीय है, तथापि प्रकाश के किसी भी निश्चित दृश्य के साथ उनका संबन्ध इतना अधिक अस्पष्ट है कि उनके मौलिक स्वरूप का निर्धारण करना वेद-व्याख्याताओं के लिए एक पहेली रहती आई है। इसी अस्पष्टता के कारण विद्वानों के मन में भावना हो जाती है कि इन देवताओं का आदिमूल वेद-पूर्व-काल में खोजा जाना चाहिये। ये देवता यमल[6] एवं साथ-साथ आने वाले हैं। एक सूक्त का तो प्रयोजन ही यह है कि

1. अस्मे रयिं नि धारय। ऋ० 1.30.22.
   सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।
   सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती ॥ ऋ० 1.48.1.
2. ऐषु धा वीरवद् यश उषो मघोनि सूरिषु। ऋ० 5.79.6.
   उषो ये ते प्रयामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः।
   अत्राह तत्कण्व एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् ॥ ऋ० 1.48.4.
3. तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वयं स्याम मातुर्न सूनवः ॥ ऋ० 7.81.4.
4. यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम्।
   तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ऋ० 10.58.8.
5. आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
   पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ऋ० 10.15.7.
6. यमा चिदत्र यमसूरसूत। ऋ० 3.39.3.

इनकी[1] तुलना विभिन्न युगल पदार्थों से की जाय, जैसेकि चक्षु, हाथ, पैर, पर या जोड़ों में चलनेवाले पशु-पक्षी, जैसेकि कुत्ते, बकरे, हंस और श्येन[2]। तो भी कुछेक मन्त्रों में उनके मूलतः पृथक्-पृथक् होने का संकेत मिलता है। उदाहरण के लिए कहा गया है कि वे नाना प्रकार से उत्पन्न हुए[3] और यत्र-तत्र उत्पन्न (इहेह) हुए। एक को विजयी राजकुमार एवं दूसरे को द्यौस् का पुत्र बताया गया है[4]। यास्क भी एक मन्त्र का उद्धरण देते हुए लिखते हैं:—'एक को रात्रि-पुत्र और दूसरे को उषा-पुत्र कहते हैं'[5]। स्वयं ऋग्वेद के एक मन्त्र[6] में अकेले 'परि ज्मने नासत्याय' इन शब्दों द्वारा एक अश्विन् का उल्लेख हुआ है।

अश्विन् युवा हैं[7]। तैत्तिरीय संहिता में उन्हें देवताओं में कनिष्ठ बताया गया है। साथ ही वे सनातन भी हैं। वे प्रकाशमान हैं[8], शुभस्पति हैं[9], हिरण्य-ज्योतिवाले हैं[10]

उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः। ऋ० 10.17.2.

1. ग्रावाणेव तदिदर्थं जरेथे गृध्रेव वृक्षं निधिमन्तमच्छ।
ब्रह्माणेव विदथ उक्थशासा दूतेव हव्या जन्या पुरुत्रा॥ ऋ० 2.39.1. इत्यादि

2. अश्विनावेह गच्छतं नासत्या मा वि वेनतम्। हंसाविव पततमा सुताँ उप।
अश्विना हरिणाविव गौराविवानु यवसम्। हंसाविव पततमा सुताँ उप।
अश्विना वाजिनीवसू जुषेथां यज्ञमिष्टये।
हंसाविव पततमा सुताँ उप। ऋ० 5.78.1-3
हारिद्रवेव पतथो वनेदुप सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः।
सजोषसा उषसा सूर्येण च त्रिर्वर्तिर्यातमश्विना॥ ऋ० 8.35.7.
हंसाविव पतथो अध्वगाविव सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः॥ ऋ० 8.35.8.
श्येनाविव पतथो हव्यदातये सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः। ऋ० 8.35.9.
उष्टारेव फर्वरेषु श्रयेथे प्रायोगेव श्वात्र्या शासुरेथः। ऋ० 10.106.2–10 आदि

3. नाना जातावरेपसा। ऋ० 5.73.4.

4. इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा३ नामभिः स्वैः।
जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे॥ ऋ० 1.181.4.

5. वासात्यो अन्य उच्यते। उषःपुत्रस्त्वन्यः। नि० 12.2.

6. परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः। ऋ० 4.3.6.

7. नू मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विना विरावत्। ऋ० 7.67.10.

8. आ शुभ्रा यातमश्विना। ऋ० 7.68.1.

9. ताविद् दोषा ता उषसि शुभस्पती। ऋ० 8.22.14.
उत नो देवावश्विना शुभस्पती। ऋ० 10.93.6.

10. आ नूनं यातमश्विना रथेन सूर्यत्वचा।
भुजी हिरण्यपेशसा कवी गम्भीरचेतसा॥ ऋ० 8.8.2.

और मधु-वर्ण हैं[1]। उनके अनेक रूप हैं[2], वे सुन्दर हैं[3], कमलों की माला पहनते हैं[4]। वे शीघ्रगामी हैं[5], मनोजवा हैं[6], बाज जैसे हैं[7]। शक्तिमान् एवं अमित शक्तिमान् हैं[8] और अनेक बार लाल वर्ण के[9] बताए गए हैं। वे गंभीर चेतनावाले एवं निगूढ़ मानसिक शक्ति वाले हैं (मायावी)। अश्विनों के दो अपने विशेषण हैं: दस्र (आश्चर्यमय), जो प्रायः उन्हीं तक सीमित है, और नासत्य। नासत्य का साधारण अर्थ 'न असत्य' किया जाता है, किंतु दूसरी व्युत्पत्तियां—जैसेकि 'रक्षक' भी की गई हैं। यह शब्द अवेस्ता में एक राक्षस के नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है किंतु इससे आगे और कुछ नहीं कहा जा सकता। बाद में ये दोनों विशेषण अश्विन् के पृथक्-पृथक नाम बन गए। रुद्र-वर्तनी (लाल वर्ण के पथवाले) विशेषण उनके लिए विशेष रूप से आया है। देवताओं में एकमात्र वे ही हैं, जिनके लिए हिरण्य-वर्तनी (सुवर्ण पथवाले) विशेषण का प्रयोग हुआ है। अन्यथा यह विशेषण केवल दो बार नदियों के लिये आया है।

अश्विन् अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा अधिक बार मधु के साथ संबद्ध हुए हैं; जिसके साथ कि इनका अनेक मन्त्रों में उल्लेख हुआ है। उनके पास एक चर्म है जो मधु-पूर्ण है। उनके रथ को खींचनेवाले पक्षी मधु से आचित हैं[10]। अश्विनों ने मधु के 100 घड़े उड़ेले[11]। मधुमती कशा[12] उनकी अपनी विशेषता है। केवल अश्विनों के रथ को मधु-वर्ण अथवा मधु-वाहन बताया गया है। केवल ये ही दो

---

1. धियंजिन्वा मधुवर्णा शुभस्पती। ऋ० 8.26.6.
2. पुरू वर्पांस्यश्विना दधाना नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्। ऋ० 1.117.9.
3. ता वल्गू दस्रा पुरुशाकतमा। ऋ० 6.62.5.
   क उ त्या वल्गू पुरुहूताद्य दूतो न स्तोमोऽविदन्नमस्वान्। ऋ० 6.63.1.
4. गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजौ। ऋ० 10.184.2.
   तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजौ। अथ० 3.22.4.
   अश्विनाविमे हीदं सर्वमाश्नुवातां पुष्करस्रजाविति। शत० ब्रा० 4.1.5.16.
5. प्र मायाभिर्मायिना भूतमत्र नरा नृतू जनिमन् यज्ञियानाम्। ऋ० 6.63.5.
6. मनोजवसा वृषणा मदच्युता। ऋ० 8.22.16.
7. श्येनस्य चिज्जवसा नूतनेनाऽऽगच्छतमश्विना शंतमेन। ऋ० 5.78.4.
8. युवं शक्रा मायाविना समीची निरमन्थतम्। ऋ० 10.24.4.
9. रुद्रा हिरण्यवर्तनी। ऋ० 5.75.3.
10. दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना। ऋ० 4.45.3.
    हंसासो ये वां मधुमन्तो अस्रिधो हिरण्यपर्णा उहुव उषर्बुधः। ऋ० 4.45.4.
11. शतं कुम्भाँ असिञ्चतं मधूनाम्। ऋ० 1.117.6.
12. आ नो ऊर्जं वहतमश्विना युवं मधुमत्या नः कशया मिमिक्षतम्। ऋ० 1.157.4.

देवता मधु के इच्छुक (मधुयु, माध्वी) या मधुपा कहे गए हैं। जिस पुरोहित के घर पहुंचने के लिए उन्हें निमन्त्रित किया गया है उसे मधु-हस्त बताया गया है[1]। वे मधुमक्षी को मधु देते हैं[2], जिसके साथ कि उनकी तुलना भी की गई है[3]। अन्य देवों की भांति अश्विन् भी सोम के इच्छुक हैं[4]; और उषस् एवं सूर्य के साथ सोम पीने के लिए उनका आह्वान किया गया है[5]। हिलेब्रांट के अनुसार मूलतः अश्विन् देवता सोमयाग के देवों से बाहर थे।

अश्विनों का रथ सूर्य के रथ जैसा है—यह स्वर्णिम है[6] और इसके सभी अवयव जैसेकि चक्र, अक्ष और रश्मि सब के सब स्वर्णिम हैं[7]। इसमें एक सहस्र किरणें[8] अथवा अलंकार हैं[9]। इसकी बनावट विचित्र है, क्योंकि यह त्रिगुणित है। इसमें तीन चक्र, तीन बन्धुर हैं और कुछ अन्य हिस्से भी त्रिगुणित हैं[10]। यह हल्का चलता है[11], विचार से भी तीव्र इसकी चाल है[12]। इसे ऋभुओं ने बनाया था[13]। स्मरण रहे कि केवल अश्विनों का रथ ही त्रिचक्र है। कहा गया है कि जब अश्विन्

---

1. अध्वर्युं वा मधुपाणिं सुहस्त्यमग्निधं वा धृतदक्षं दमूनसम्।
   विप्रस्य वा यत्सवनानि गच्छथोऽत आ यातं मधुपेयमश्विना॥ ऋ० 10.41.3.
2. मधुप्रियं भरथो यत्सरड्भ्यस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्। ऋ० 1.112.21.
   युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वासा भरत निष्कृतं न योषणा। ऋ० 10.40.6.
3. सारघेव गवि नीचीनबारे। ऋ० 10.106.10.
4. नासत्या तिरोअह्न्यं जुषाणा सोमं पिबतमस्रिधा सुदानू। ऋ० 3.58.7.
   अश्विना मधुषुत्तमो युवाकुः सोमस्तं पातमा गतं दुरोणे। ऋ० 3.58.9.
5. सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना। ऋ० 8.35.1.
6. हिरण्ययेन पुरुभू रथेनेमं यज्ञं नासत्योप यातम्। ऋ० 4.44.4.
   हिरण्ययेन सुवृता रथेन। ऋ० 4.44.5.
7. हिरण्यया वां पवयः प्रुषायन्। ऋ० 1.180.1.
   हिरण्ययी वां रभिरीषा अक्षो हिरण्ययः।
   उभा चक्रा हिरण्यया॥ ऋ० 8.5.29.
   रथो यो वां त्रिबन्धुरो हिरण्याभीशुरश्विना। ऋ० 8.22.5.
8. सहस्रकेतुं वनिनं शतद्वसुम्। ऋ० 1.119.1.
9. अतः सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना। ऋ० 8.8.11.
10. त्रिवन्धुरो वृषणा वातरंहाः। ऋ० 1.118.1.
    त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक्। ऋ० 1.118.2.
11. आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना। ऋ० 8 9 8.
12. यो वामश्विना मनसो जवीयान् रथः स्वश्वो विश आजिगाति। ऋ० 1.117.2.
13. रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना। ऋ० 10 39.12.

सूर्या के विवाह में आये तब उनके रथ का एक चक्र खो गया[1] था।

अश्विन् इस नाम में 'घोड़े रखने' का भाव निहित है; और इस बात के मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि उन्हें अश्विन् इसलिए कहा गया था कि वे घोड़े पर चढ़ते थे। उनके रथ को घोड़े खींचते हैं; और बहुधा पक्षी[2] भी जैसेकि (वि, पतत्रिन्)[3] हंस, श्येन[4], वयोऽश्व[5], या श्येनाश्व[6] उसमें लगते हैं। कभी-कभी यह काम पक्षोंवाले अश्वों (ककुह)[7] को भी सौंपा गया है और एक दो बार रासभ को[8]। ऐतरेय ब्राह्मण[9] में आता है कि सोम-सूर्या के विवाह में अश्विनों ने रासभों से युक्त रथ में बैठकर प्रतियोगिता में विजय प्राप्त की थी (तुलना कीजिये ऋ० 1.116.7. सायण भाष्य सहित)। उनका रथ द्युलोक के छोर तक पहुंचता है और वह पांचों देशों में व्याप्त है। यह द्युलोक की परिक्रमा करता है[10]। यह एक ही दिन में द्युलोक और पृथिवी का चक्कर काट लेता है[11]; सूर्य और उषस् के रथ के विषय में भी यही कहा गया है[12]। यह सूर्य की परिक्रमा करता है[13]। अश्विन् के पथ (वर्तिस्) का भी बार-बार उल्लेख हुआ है। वर्तिस् शब्द का प्रयोग एक अपवाद को छोड़कर अन्य सभी जगह अश्विनों के लिये हुआ है। परिज्मन् (परिक्रमण) शब्द का प्रयोग भी अनेक बार अश्विनों या उनके रथ के साथ हुआ है; साथ ही इसका प्रयोग वात, अग्नि और सूर्य के साथ भी हुआ है।

---

1. यद॒याँ॑तं शुभस्पती व॒रे॒यं सू॒र्यामुप॑। क्वैकं॑ च॒क्रं वा॑मासीत्। ऋ० 10.85.15.
2. प्र वां॒ वयो॒ वपु॒षेऽनु॑ पप्तन्। ऋ० 6.63.6.
3. या॒तमच्छा॑ पत॒त्रिभि॒र्नास॑त्या सा॒तये॑ कृतम्। ऋ० 10.143.5.
4. आ वां॑ श्येनासो॑ अश्विना वहन्तु। ऋ० 1.118.4.
5. आ वां॑ वयोऽश्वा॑सो॒ वहि॑ष्ठा अ॒भि प्रयो॑ नासत्या वहन्तु। ऋ० 6.63.7.
6. तू॒यं॑ श्ये॒ने॒भि॑रा॒शुभिः। या॒तमश्वे॑भिरश्विना। ऋ० 8.5.7.
7. उ॒ग्रो वां॑ ककु॒हो य॒यिः। ऋ० 5.73.7.
   वृच्यन्ते॑ वां ककु॒हा अ॒प्सु जा॒ताः। ऋ० 1.184.3.
8. क॒दा योगो॑ वा॒जिनो॒ रास॑भस्य॒ येन॑ य॒ज्ञं ना॑सत्योपया॒थः। ऋ० 1.34.9.
   तद्रास॑भो नासत्या स॒हस्र॑मा॒जा य॒मस्य॑ प्र॒धने॑ जिगाय। ऋ० 1.116.2.
9. गर्द॑भरथेनाश्विना उदजयताम्। ऐत० ब्रा० 4.7.9.
10. त वां॒ रथं॑ व॒यम॒द्या हु॑वेम॒ स्तोमै॑रश्विना सुवि॒ताय॒ नव्य॑म्। अरि॑ष्टनेमिं॒ परि॒ द्यामि॑यानम्। ऋ० 1.180.10.
11. रथो॑ ह वामृत॒जा अद्रि॑जू॒तः परि॒ द्यावा॑पृथि॒वी या॑ति स॒द्यः। ऋ० 3.58.8.
12. भ॒द्रा अश्वा॑ ह॒रितः॒ सूर्य॑स्य। परि॒ द्यावा॑पृथि॒वी य॑न्ति स॒द्यः। ऋ० 1.115.3.
    यू॒यं हि दे॑वीर्ऋ॑त॒युग्भि॒रश्वैः॑ परि प्रया॒थ भुव॑नानि स॒द्यः। ऋ० 4.51.5.
13. याभि॒ः सूर्यं॑ परि या॒थः प॑रा॒वति॑। ऋ० 1.112.13.

अश्विनों के स्थान का विभिन्न प्रकार से निर्देश हुआ है। वे सुदूर से आते हैं[1]। वे द्युलोक से[2], पृथिवी और द्यु से, द्युलोक और अन्तरिक्ष से[3], वायुलोक से[4], पृथिवी, द्युलोक और समुद्र से[5], वायु से, सुदूर और समीप से आते हैं[6]। वे द्युलोक के समुद्र पर[7], द्युलोक के सलिल पर, वनस्पति पर, गृह में एवं पर्वत के शृङ्ग[8] पर निवास करते हैं। वे पीछे, सामने, नीचे और ऊपर से आते हैं[9]। कभी-कभी अज्ञानवश उनके निवास-स्थान के विषय में जिज्ञासा प्रकट की गई है[10]। एक स्थान पर[11] उनके तीन पदों का भी उल्लेख आया है; और यह संभवतः इसलिए कि उन्हें दिन में तीन बार आमन्त्रित किया जाता है।

उनके आविर्भाव का काल प्रायः महत् उषःकाल बताया गया है; तब जबकि अभी लोहित गौओं के बीच अंधेरा बना रहता है[12]। तब वे पृथिवी पर अवतीर्ण होते और हविष् को स्वीकार करने के लिए अपना रथ जोतते हैं[13]। उषा उन्हें जगाती है[14]। अपने रथ में बैठकर वे उषा का अनुसरण करते हैं[15]। उनके रथ

---

1. तेन॑ नो वाजिनीवसू परा॒वत॑श्चि॒दा ग॑तम्। ऋ० 8.5.30.
2. दि॒वश्चि॑द् रोच॒नाद॒ध्या नो॑ गन्तं स्व॒र्विदा॥ ऋ० 8.8.7.
3. आ नो॑ यातं दि॒वस्पर्या ऽन्तरि॑क्षादधप्रिया। ऋ० 8.8.4.
   यद॒न्तरि॑क्षे यद् दि॒वि यत्पञ्च॒ मानु॑षाँ अनु॑। नृ॒म्णं तद् ध॑त्तमश्विना॥ ऋ० 8.9.2.
4. आ या॑तं नहु॑षस्प॒र्याऽन्तरि॑क्षात्सुवृ॒क्तिभि॑ः। ऋ० 8.8.3.
5. यत्स्थो दी॒र्घप्र॑सद्मनि॒ यद् वा॒दो रो॑च॒ने दि॒वः।
   यद्वा॑ समु॒द्रे अध्याकृ॑ते गृ॒हेऽत॒ आ या॑तमश्विना॥ ऋ० 8.10.1.
6. यद॒द्य स्थः प॑रा॒वति॒ यद॑र्वा॒वत्य॑श्विना।
   यद्वा॑ पु॒रू पु॑रुभु॒जा यद॒न्तरि॑क्ष आ ग॑तम्॥ ऋ० 5.73.1.
7. यद॒दो दि॒वो अ॑र्णव इ॒षो वा॒ मद॑थो गृ॒हे। श्रु॒तमिन्मे॑ अमर्त्या॥ ऋ० 8.26.17.
8. यानि॒ स्थाना॑न्यश्विना द॒धाथे॑ दि॒वो य॒ह्वीष्वोष॑धीषु वि॒क्षु।
   नि पर्व॑तस्य मू॒र्धनि॒ सद॒न्तेषं जना॑य दा॒शुषे॒ वह॑न्ता॥ ऋ० 7.70.3.
9. आ प॒श्चाता॑न्नास॒त्या पु॒रस्ता॒दाश्वि॑नायातमध॒रादुद॑क्तात्। ऋ० 7.72.5.
10. कुह॒ त्या कुह॒ नु श्रु॒ता दि॒वि दे॒वा नास॑त्या।
    कस्मि॒न्ना य॑तथो॒ जने॒ को वां॑ न॒दीनां॑ सचा॑॥ ऋ० 5.74.2.
    कं या॑थः कं ह॑ गच्छथः कमच्छा॑ यु॒ञ्जाथे॒ रथ॑म्। ऋ० 5.74.3.
11. त्रीणि प॒दान्य॒श्विनो॑रा॒विः सान्ति॒ गुहा॑ प॒रः। ऋ० 8.8.23.
12. कृ॒ष्णा यद् गोष्व॑रु॒णीषु॒ सीद॑द् दि॒वो नपा॑ताश्विना हुवे वाम्। ऋ० 10.61.4.
13. या सु॒रथा॑ र॒थीत॑मो॒भा दे॒वा दि॑वि॒स्पृशा॑। अ॒श्विना॒ ता हवा॑महे॥ ऋ० 1.22.2.
14. प्र बो॑धयोषो अ॒श्विना॑। ऋ० 8.9.17.
15. नू॒वद् द॑स्रा मनो॒युजा॒ रथे॑न पृथु॒पाज॑सा। सचे॑थे अश्वि॒नोषस॑म्। ऋ० 8.5.2.

जोतने पर उषा का जन्म होता है । इस प्रकार उनके आविर्भाव का काल उषस् और सूर्योदय के बीच में प्रतीत होता है। किंतु एक बार सविता को उषःकाल के पूर्व ही उनका रथ चलाते हुए दिखाया गया है[1] । मौके-मौके पर अश्विनों का आविर्भाव, यज्ञाग्नि का समिन्धन, उषा का आविर्भाव और सूर्य का उदय ये सभी एकसाथ घटित होते बताए गए हैं[2] । अश्विनों को यज्ञ में न केवल उनके नियत काल पर अपितु सायं, प्रातः, मध्याह्न और सूर्यास्त के समय भी आने के लिए निमन्त्रित किया गया है[3] । उनकी दिन के तीनों यज्ञों में प्रार्थित उपस्थिति पर ही 'त्रि' शब्द की वह क्रीड़ा निर्भर है जो अश्विनों के निमित्त कहे गये एक संपूर्ण सूक्त में 'त्रि' शब्द को बार-बार कह कर की गई है[4] । प्रातःकालिक देवता होने के कारण अश्विन् अन्धकार का अपसारण करते हैं[5] और कभी-कभी दुरात्माओं का पीछा करते हैं[6] । ऐतरेय ब्राह्मण[7] में उषस् और अग्नि की तरह अश्विनों को भी प्रातःकाल का देवता कहा गया है; और वैदिक कर्मकाण्ड में वे सूर्योदय के साथ संबद्ध रहते आये हैं[8] । शतपथ ब्राह्मण में अश्विनों को लोहित-श्वेत वर्ण का बताया गया है; संभवतः इसीलिए उन्हें लोहित-श्वेत-वर्ण बकरा प्रदान किया जाता है।

अश्विन् 'दिवो नपाता' हैं[9]; उनमें से केवल एक को एक बार द्यु का पुत्र

---

1. युवोर्हि पूर्वं सवितोषसो रथमृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति ॥ ऋ० 1.34.10.
2. अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा ।
   आ युक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत्पृथक् ॥ ऋ० 1.157.1.
   वि चेदुच्छन्त्यश्विना उषासः प्र वां ब्रह्माणि कारवो भरन्ते ।
   ऊर्ध्वं भानुं सविता देवो अश्रेद् बृहदग्नयः समिधा जरन्ते ॥ ऋ० 7.72.4.
3. ताविद् दोषा ता उषसि शुभस्पती ता यामन् रुद्रवर्तनी । ऋ० 8.22.14.
   उतायातं सङ्गवे प्रातरह्नो मध्यंदिन उदिता सूर्यस्य ।
   दिवा नक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान ॥ ऋ० 5.76.3.
4. त्रिश्चिन्नो अद्या भवतं नवेदसा विभुर्वां याम उत रातिरश्विना ।
   युवोर्हि यन्त्रं हिम्येव वाससोऽभ्यायंसेन्या भवतं मनीषिभिः ॥ ऋ० 1.34.1. इ०
5. तमोहना तपुषो बुध्न एता । ऋ० 3.39.3.
6. रक्षोहणा सम्भृता वीलुपाणी । ऋ० 7.73.4.
   हतं रक्षांसि सेधतममीवाः । ऋ० 8.35.16.
7. एत वाव देवाः प्रातर्यावाणो यदग्निरुषा अश्विनौ । ऐत० ब्रा० 2.15.
8. श्येत आश्विनो भवति । श्येताविव ह्यश्विनौ ।
   लोहित आश्विनो भवति तद् यदेतया यजते ॥ श० ब्रा० 5.5.4.1.
9. दिवो नपाता सुकृते शुचिव्रता । ऋ० 1.182.1.
   नासत्या कुह चित्सन्तावर्यो दिवो नपाता सुदास्तराय । ऋ० 1.184.1.

बताया गया है। एक बार उन्हें 'सिन्धु-मातरा' भी कहा गया है[1]। साथ ही एक मन्त्र[2] में उन्हें विवस्वान् और त्वष्टा की पुत्री सरण्यू के यमल पुत्र बताया गया है। विवस्वान् और सरण्यू उदीयमान सूर्य और उषस् के प्रतिरूप प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर सौर देवता पूषन् उन्हें अपना पिता मानते हैं[3]। उनकी बहन से उषस् का बोध होता है[4]। प्रातःप्रकाश के पुरुष देवता के रूप में वे बहुधा सूर्य के साथ संबद्ध रहते हैं, जिस काल की सरण्यू अथवा सूर्य की पुत्री सूर्या के रूप में कल्पना की गई है। सूर्या के ये दो पति हैं[5], जिन्हें उसने वर-रूप में चुना था[6]। सूर्या[7] या युवती[8] उनके रथ पर बैठती है। सूर्य की पुत्री उनके रथ पर बैठती है[9] या उन्हें चुनती है[10]। सूर्या को वे अपनी बनाकर रखते हैं[11]; और एक सूर्या का उनके रथ पर बैठकर उन दोनों के साथ चलना अश्विनों की एक विशेषता है। अश्विनी नाम की देवी से सूर्या का ही बोध अपेक्षित है जिसका उल्लेख अन्य देवताओं के साथ[12] भी हुआ है। बाद के एक सूक्त[13] में आता है कि जब सविता ने सूर्या को पति के हाथों सौंपा,

---

दिवो नपाताश्विना हुवे वाम्। ऋ० 10.61.4.

1. या दस्रा सिन्धुमातरा। ऋ० 1.46.2.
2. उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः। ऋ० 10.17.2.
3. यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
   विश्वे देवा अनु तद् वामजानन्पुत्रः पितराववृणीत पूषा॥ ऋ० 10.85.14.
4. स्वसा यद्वां विश्वगूर्ती भराति। ऋ० 1.180.2.
5. येन पती भवथः सूर्यायाः। ऋ० 4.43.6.
   आ वां पतित्वं सख्याय जग्मुषी योषावृणीत जेन्या युवां पती। ऋ० 1.119.5.
6. युवोः श्रियं परि योषावृणीत सूरो दुहिता परितक्म्यायाम्। ऋ० 7.69.4.
7. आ यद्वां सूर्या रथं तिष्ठद् रघुष्यदं सदा। ऋ० 5.73.5.
8. आ यद्वां योषणा रथमतिष्ठद्वाजिनीवसू। ऋ० 8.8.10.
9. त्रिरु वां सूरे दुहिता रुहद् रथम्। ऋ० 1.34.5.
   आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती। ऋ० 1.116.17.
   आ वां रथं युवतिस्तिष्ठदत्र जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य। ऋ० 1.118.5.
   अधि श्रिये दुहिता सूर्यस्य रथं तस्थौ पुरुभुजा शतोतिम्। ऋ० 6.63.5.
10. युवो रथं दुहिता सूर्यस्य सह श्रिया नासत्यावृणीत। ऋ० 1.117.13.
11. प्र वां रथो मनोजवा इयर्ति तिरो रजांस्यश्विना शतोतिः।
    अस्मभ्यं सूर्यावसू इयानः। ऋ० 7.68.3.
12. उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्। ऋ० 5.46.8.
13. सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
    सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्॥ ऋ० 10.85.9.

तब सोम उसके वधूयु थे और अश्विन् उसके वर थे। एक अन्य मन्त्र[1] में आया है कि देवताओं ने पूषन् को सूर्या के लिए दिया। सूर्या के साथ उनका संबन्ध होने के कारण अश्विनों को आमन्त्रित किया गया है कि वे वधू को अपने रथ पर बिठाकर उसके घर तक पहुंचा देवें[2]। कुछ और देवताओं के साथ भी उनका आह्वान वधू को गर्भ ठहराने के लिए किया गया है[3]। उन्होंने पुंस्त्वविहीन पुरुष की पत्नी को अपत्य प्रदान किया था और वन्ध्या गौ के स्तनों में दूध की धारा बहा दी थी[4]। उन्होंने घर में सठियाई हुई घोषा को पति और अपने प्रिय जनों में से एक को स्त्री दी थी[5]। अथर्ववेद[6] में कहा गया है कि वे प्रेमियों को परस्पर मिलाते हैं।

मूलतः अश्विन् देव सूर्य के विलीन प्रकाश को उभारनेवाले, सूर्य का पुनरुद्धार करनेवाले अथवा उसकी रक्षा करनेवाले रहे होंगे। ऋग्वेद में उन्हें सहायता करनेवाले देवता माना गया है। वे त्वरित सहायक और कष्टों से उबारनेवाले हैं[7]। परोपकार के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। विशेषतया वे नाव या नावों के द्वारा समुद्र से पार लंघाते हैं। समुद्र अथवा द्युलोक से धन-स्रावण के लिए भी उनका आह्वान किया गया है[8] और याद करते ही उनका रथ समुद्र से आ पहुंचता है[9]। इन प्रकरणों में समुद्र से दिव्य समुद्र अभिप्रेत है। इन्द्र की भांति न केवल समर-भूमि में रक्षा करना अपितु सभी प्रकार के कष्टों से आर्त जनों का त्राण करना दिव्य कृपा की शान्तिमय अभिव्यक्ति है। इन्द्र के साथ भी एक बार इनका युद्ध में संबन्ध रहा है, जहां कि इन्हें वृत्रघ्न बताया गया है। विपन्नों के सहायक होने के नाते ही वे दिव्य भिषग् भी हैं[10], जो अपने उपचारों से रोगों की शान्ति करते हैं[11] और अन्धों को फिर से दिखाते हैं[12]। अन्धों, बीमारों

---

1. यं देवासो अददुः सूर्यायै। ऋ० 6.58.4.
2. अश्विना त्वा प्र वहतां रथेन। ऋ० 10.85.26.
3. गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा। ऋ० 10.184.2.
4. याभिर्धेनुमस्वं पिन्वथो नरा ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ ऋ० 1.112.3.
5. यावर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतू रथेन। ऋ० 1.116.1.
6. सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः। अथ० 2.30.2.
7. याभिर्धियोऽवथः कर्मन्निष्टये ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ ऋ० 1.112.2.
   किमङ्ग वां प्रत्यवर्तिं गमिष्ठाहुर्विप्रासो अश्विना पुराजाः। ऋ० 1.118.3.
8. रयिं समुद्रादुत वा दिवस्पर्यस्मे धत्तं पुरुस्पृहम्। ऋ० 1.47.6.
9. उरु वां रथः परि नक्षति द्यामा यत्समुद्रादभि वर्तते वाम्। ऋ० 4.43.5.
10. उत त्या दैव्या भिषजा शं नः करतो अश्विना। ऋ० 8.18.8.
11. ताभिर्नो मक्षू तूयमश्विना गतं भिषज्यतं यदातुरम्॥ ऋ० 8.22.10.
12. तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आ धत्तं दस्रा भिषजावनर्वन्। ऋ० 1.116.16.

और पंगुओं के तो वे सहारे हैं[1]। वे देवताओं के भिषग् हैं और उनके अमरत्व को बनाए रखने के लिए अमोघ रसायन हैं। वे अपने उपासकों के रोगों की चिकित्सा करते हैं[2]। सहायक, भिषज् एवं दस्र होने के साथ-साथ वे उदार भी हैं। वे अपने उपासकों को दीर्घदर्शी बना कर उन्हें वृद्धावस्था को इस तरह प्राप्त कराते हैं जैसेकि कोई अपने घर में जाता है। अपने उपासकों को वे धन और अपत्यों से मालामाल कर देते हैं[3]।

ऋग्वेद में अश्विनों की सहायक शक्ति के ख्यापक बहुत से उपाख्यान आते हैं। जरितृ एवं जहित च्यवन ऋषि को उन्होंने बुढ़ापे से उबारा था। उन्होंने इस ऋषि को दीर्घजीवी बनाया; उन्हें फिर से जवानी दी; उन्हें फिर से पत्नी का दुलारा बनाया[4]। किस प्रकार च्यवन को युवावस्था में लाया गया—इस विषय में एक लम्बी कहानी शतपथ ब्राह्मण में आती है। जीर्ण कलि को भी उन्होंने फिर से जवान बनाया था[5] और जब उसने स्त्री ग्रहण की तब उसके साथ उन्होंने अपनी मित्रता स्थापित की[6]। युवक विमद के लिए वे रथ पर बैठ कर पत्नियां या पत्नी लाये; इसका नाम कमद्यू था[7]; यह पुरुमित्र की अभिजात पत्नी प्रतीत होती है[8]। उन्होंने अपने उपासक कृष्णपुत्र विश्वक को खोए पशु की भांति विष्णापू के साथ मिलाया[9]। सबसे अधिक बार आनेवाली कहानी तुग्र के

---

1. अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद् युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित् ॥ ऋ० 10.39.3.
2. प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः । अथ० 7 53.1.
   यौ देवानां भिषजौ हव्यवाहौ । विश्वस्य दूतावमृतस्य गोपौ ।
   तौ नक्षत्रं जुजुषाणोपयाताम् ।
   नमोऽश्विभ्यां कृणुमोऽश्वयुग्भ्याम् । तै० ब्रा० 3.1.2.11.
3. प्र वां दंसांस्यश्विनाववोचमस्य पतिः स्यां सुगवः सुवीरः ।
   उत पश्यन्नश्नुवन्दीर्घमायुरस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम् ॥ ऋ० 1.116.25.
   आ नो विश्वान्यश्विना धत्तं राधांस्यह्रया । कृतं न ऋत्वियावतः । ऋ० 8.8.13.
4. जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात् ।
   प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्रादित्पतिमकृणुतं कनीनाम् ॥ ऋ० 1.116.10.
5. युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः । ऋ० 10.39.8.
6. कलिं याभिर्वित्तजानिं दुवस्यथः । ऋ० 1.112 15.
7. यावर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतू रथेन ।
   कमद्युवं विमदायोहथुर्युवम् । ऋ० 10.65.12.
8. युवं शचीभिर्विमदाय जायां न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषाम् । ऋ० 1.117.20.
9. अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय ऋजूयते नासत्या शचीभिः ।
   पशुं न नष्टमिव दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय ॥ ऋ० 1.116.23.

पुत्र भुज्यु को मुक्त करने की है, जो समुद्र के मध्य में या जलवाले बादल (उदमेघे) में फंस गया था और जिसने अन्धकार में किंकर्तव्यविमूढ होकर इन युवकों का आह्वान किया था। सौ पतवारोंवाली नाव के द्वारा वे उसे टापू-विहीन समुद्र में पार ले गये थे। स्वयं चलनेवाली अभेद्य नाव के द्वारा, वायु में उड़ सकनेवाली नाव के द्वारा, जागरूक एवं परोंवाली नाव के द्वारा, शतपद और छः घोड़ोंवाले तीन रथों द्वारा, अपने उड़नेवाले घोड़ों के द्वारा, सुयुक्त और मनोजवा रथ के द्वारा, उन्होंने उसे उन्मुक्त किया था। एक मन्त्र में आता है कि लहरों के बीच में भुज्यु ने अपनी रक्षा के लिए एक वृक्ष को पकड़ लिया। शत्रुओं के द्वारा घायल होकर बांधे और छिपाये गये, दस दिन और दस रात जल में डुबाये गये, मृत की तरह परित्यक्त ऋषि रेभ को इन देवताओं ने मुसीबतों से उबारा; और जिस प्रकार स्रुवा से सोम निकाला जाता है वैसे ही उसे भी ऊपर उठाया। उन्होंने वन्दन को दारुण कष्टों से उन्मुक्त किया और उसे फिर से सूर्य का प्रकाश दिखाया[1]। उसे एक ऐसे गर्त में से निकाला जिसमें वह मृतवत् छिपा पड़ा था[2]; या कहिये कि उसे निर्गति से उबारा[3]। उन्होंने अत्रि की सहायता की जिसे एक राक्षस ने साथियों समेत एक जलते गर्त में गिरा दिया था। उसके लिए अश्विनों ने शीतल और शक्तिप्रद पेय दिया, ज्वालाओं से उसकी रक्षा की, और अन्ततोगत्वा उसे युवावस्था की शक्ति प्रदान की और उसे उन्होंने अन्धकार से छुड़ाया। जहां अग्नि के लिए कहा गया है कि उन्होंने अत्रि की ताप से रक्षा की वहां तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि अग्नि ने उसे अश्विनों के अनुरोध पर बचाया। अश्विनों ने एक बटेर तक को भेड़िये के मुख में से बचा दिया था।

ऋज्राश्व ने अपने पिता की 101 भेड़ें मार डाली थीं। अतः उसके पिता ने उसे अन्धा करके एक भेड़िये के सामने फेंक दिया था। अश्विनों ने अपनी स्तुति सुनकर उसे दृष्टि दी[4] और उन्होंने पुरावृज् के अन्धेपन और लंगड़ेपन को दूर

युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय। ऋ० 1.117.7.
विष्णाप्वं विश्वकायाव सृजथः। ऋ० 10.65.12.

1. उद् वन्दनमैरयतं स्वर्दृशे। ऋ० 1.112.5.
यद्विद्वांसा निधिमिवापगूळ्हमुद्दर्शतादूपथुर्वन्दनाय। ऋ० 1.116.11.
शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातमुदूपथुरश्विना वन्दनाय। ऋ० 1.117.5.
उद्वन्दनमैरयतं दंसनाभिः। ऋ० 1.118.6.
2. युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुः। ऋ० 10.39.8.
3. प्र दीर्घेण वन्दनस्तार्यायुषा। ऋ० 1.119.6.
युवं वन्दनं निर्ऋतं जरण्यया रथं न दस्रा करणा समिन्वथः। ऋ० 1.119.7.
4. शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।

किया[1]। जब विश्पला की टांग पक्षी के पर की भांति युद्धस्थल में कट गई तब अश्विनों ने उसे एक लोहे की टांग दी। पिता के घर में ही बूढ़ी हुई घोषा का उन्होंने एक सत्पति के साथ विवाह कराया[2]। एक पुंस्त्वहीन पुरुष की स्त्री को हिरण्यहस्त नाम का पुत्र दिया[3], जिसे एक बार श्याव भी कहा गया है[4]। शयु की गौ को, जिसने कि गर्भ धारण करना बन्द कर दिया था, उन्होंने दूध की धारा दी[5]। पेदु को उन्होंने एक घोड़ा दिया, जो शीघ्रगामी, शक्तिशाली, श्वेत, अद्वितीय, राक्षस-हन्ता एवं इन्द्र के द्वारा प्रचोदित था, और जिसने पेदु के लिए अपरिमित लूट की सामग्री प्राप्त की थी[6]। एक शक्तिशाली घोड़े के मुख में से शत घड़े सुरा या मधु, मानों छलनी में से, बहाकर पज्र कुल के कक्षीवत को उन्होंने आनन्द में सराबोर कर दिया था[7]। उनका एक बड़ा भारी काम मधु के साथ संबद्ध है। अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् के ऊपर उन्होंने घोड़े का सिर रखा; तब उसने त्वष्टा के मधु का उन्हें स्रोत बतलाया। उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त और बहुत से व्यक्तियों का भी ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है जिन्होंने अश्विनों से सहायता प्राप्त की अथवा उनके साथ मित्रता स्थापित की। इनमें से बहुसंख्यक तो वास्तविक व्यक्तियों के नाम हो सकते हैं, जो उक्त प्रकारों से बचाये गये एवं अच्छे किये गये होंगे। उनकी रक्षा और

तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आ धत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् ॥ ऋ० 1.116.16.
शतं मेषान्वृक्ये मामहानं तमः प्रणीतमशिवेन पित्रा।
आक्षी ऋज्राश्वे अश्विनावधत्तं ज्योतिरन्धाय चक्रथुर्विचक्षे ॥ ऋ० 1.117.17.
शुनमन्धाय भरमह्वयत्सा वृकीरश्विना वृषणा नरेति।
जारः कनीन इव चक्षदान ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान् ॥ ऋ० 1.117.18.

1. याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः। ऋ० 1.112.8.
2. घोषायै चित्पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्। ऋ० 1.117.7.
   युवां ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वां नरा। ऋ० 10.40.5.
3. श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्। ऋ० 1.116.13.
   हिरण्यहस्तमश्विना रराणा पुत्रं नरा वध्रिमत्या अदत्तम्। ऋ० 1.117.24.
   श्रुतं हवं वृषणा वध्रिमत्याः। ऋ० 6.62.7.
   युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतम्। ऋ० 10.39.7.
4. श्यावं पुत्रं वध्रिमत्या अजिन्वतम्। ऋ० 10.65.12.
5. शयवे चिन्नासत्या शचीभिर्जसुरये स्तर्यं पिप्यथुर्गाम् ॥ ऋ० 1.116.22.
6. यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।
   तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः ॥ ऋ० 1.116.6.
7. कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः। ऋ० 1.116.7.
   शफादश्वस्य वाजिनो जनाय शतं कुम्भाँ असिञ्चतं मधूनाम्। ऋ० 1.117.6.

आरोग्य का कारण अश्विन् देवताओं को समझा गया होगा, जोकि दिव्य रक्षक और दैवी भिषक् होने के कारण अनायास ही अचरज-भरे कामोंवाली कहानियों के साथ संबद्ध हो गये होंगे। बेर्गेन और अन्य विद्वानों का यह कहना कि अश्विनों से संबद्ध सभी आश्चर्यमय कार्य सौर दृश्य एवं घटनाओं के मानवीय प्रतिरूप हैं (जैसेकि अन्धे को दृष्टि दान का तात्पर्य है सूर्य को अन्धकार से उबारना), हलका जंचता प्रतीत होता है। किंतु संभव है कि अत्रि-कथा का विलीन सूर्य की पुनः प्राप्तिरूप घटना के साथ संबन्ध पक्का रहा हो।

अश्विनों के भौतिक आधार के संबन्ध में ऋषियों की भाषा इतनी अधिक अस्पष्ट है कि प्रतीत होता है कि वे स्वयं भी इस बात को न समझ पाये हों कि इन दोनों देवताओं का आधार कौनसा भौतिक दृश्य है। प्रातःकाल के अन्य देवताओं का—जैसेकि रात्रिनाशक अग्नि, प्राणबोधक उषस् और उदीयमान सूर्य-आह्वान अपेक्षाकृत अधिक रोचक ढंग से किया गया है। इन देवताओं को 'घोड़े रखनेवाला' (अश्विन्) इसलिए कहा गया होगा कि घोड़े किरणों के—विशेषतः सूर्य की किरणों के—प्रतीक हैं। किंतु असल में वे किसके प्रतिरूप हैं इस समस्या का समाधान तो यास्क के परिचित व्याख्याकारों के लिए भी दुर्लभ हो चुका था। यास्क ने (निरुक्त में)[1] लिखा है कि कुछ लोग उन्हें द्यु और पृथिवी (जैसाकि शतपथ ब्राह्मण[2] में भी कहा गया है) मानते हैं; कुछ—दिन रात्रि, कुछ सूर्य-चन्द्रमा, जबकि ऐतिहासिक उन्हें धार्मिक कार्य करनेवाले दो राजा मानते हैं।

यास्क का अपना मत स्पष्ट नहीं है। रॉथ के विचार से यास्क का तात्पर्य इन्द्र और सूर्य से है; गोल्डस्टुकर के विचार से उनका तात्पर्य तमस् और प्रकाश के बीच की अवस्था से है। यह अवस्था एक द्वैत को प्रस्तुत करती है जो उनके युगल स्वरूप का सजातीय है। यही मेरियान्थियस और हॉप्किंस का भी मत है। हॉप्किंस की दृष्टि में यह संभव प्रतीत होता है कि अपृथक्त्वेन संबद्ध यह युगल उषःकाल के पूर्ववर्ती धुंधले प्रकाश का प्रतिरूप रहा हो, जो प्रकाश कि आधा अन्धकार और आधा प्रकाश होता है; और इसलिए अश्विनों में से केवल एक को द्यौस् का पुत्र कहा गया है। अन्य विद्वानों के मत में अश्विनों का तादात्म्य सूर्य-चन्द्र के साथ है। मानहार्ट और बोलंसिन का अनुसरण करते ओल्डेनबेर्ग इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि अश्विनों का भौतिक आधार सुबह का तारा रहा होगा; क्योंकि अग्नि, उषा और सूर्य के अतिरिक्त यही एक दूसरा "प्रातः प्रकाश" है। अश्विनों का काल, उनका प्रकाशमय स्वरूप, उनके द्वारा की जानेवाली द्युलोक-परिक्रमा, इस मत

1. द्यावापृथिव्यावित्येके। अहोरात्रावित्येके। सूर्याचन्द्रमसावित्येके। राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः। नि० 12.1.
2. अथ यदश्विनाविति इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षम्। शत० ब्रा० 4.1.5.16.

में ठीक बैठते हैं; किंतु उनका द्वित्व फिर भी अव्याख्यात ही रह जाता है।

सायंकालीन तारे के साथ प्रातःकालिक तारे की याद स्वाभाविक है; किंतु ये दोनों तारे पृथक्-पृथक् हैं जबकि अश्विन् देवता युग्म में चलते हैं। किंतु ऋग्वेद के एक-दो मन्त्रों में अश्विन् देवता पृथक्-पृथक् भी आते हैं। और यद्यपि वैदिक उपासना में प्रातःकाल का अपना अनूठा ही महत्त्व है—जबकि सायंकाल का महत्त्व नहीं के बराबर है[1]—तथापि अश्विनों का आह्वान यत्र-तत्र[2] प्रातः और सायं दोनों वेलाओं में हुआ है। द्यौस् के पुत्र अश्विनों जैसे—जो अपने घोड़ों पर बैठकर आकाश के छोर तक जाते हैं और जिनके एक बहन है, देवता ग्रीक गाथा में जीअस् के पुत्र, हेलेना के भाई दो प्रसिद्ध घुड़सवार हैं और लैट्टिक ईश्वर के दो पुत्र हैं, जो अपने घोड़ों पर चढ़कर सूर्य की पुत्री को अपने लिए या चन्द्रमा के लिए ब्याहने आते हैं। लैट्टिक गाथा में सुबह के तारे के विषय में कहा गया है कि वह सूर्य की पुत्री को देखने के लिए आया। जैसे दो अश्विनों ने एक सूर्या को ब्याहा था, वैसे ही दो लैट्टिक ईश्वर-पुत्रों ने एक सूर्य-सुता से शादी की थी। वे भी समुद्र से लंघानेवाले और सूर्य को या उनकी पुत्री को उन्मुक्त करनेवाले हैं। यदि यह बात सत्य है तो अश्विनों का रक्षक-स्वरूप सुबह के तारे के उस पक्ष से उद्भूत हुआ होगा, जिसमें कि वह अन्धकार के कष्ट से उन्मुक्ति का अग्रदूत बन कर आता है। वेबर के मत में अश्विन् जेमिनी तारामण्डल के युगल तारों के प्रतिरूप हैं। अन्त में, गेल्डनर का कहना है कि अश्विन् किसी भी प्राकृतिक दृश्य के प्रतिरूप नहीं हैं; अपितु ये दोनों देवता सहायता करनेवाले भारत के अपने दो संत हैं।

'धुंधला प्रकाश' और 'सुबह का तारा' इन दोनों के धरातल पर इन देवताओं की उत्पत्ति मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। कुछ भी हो यह संभव है कि अश्विन् देवता स्वरूप से (चाहे नाम से नहीं) भायोरपीय काल के देवता हैं।

अन्तरिक्षस्थ देवता

इन्द्र (§ 22)—

इन्द्र वैदिक भारतीयों के प्रियतम राष्ट्रिय देवता हैं। उनकी महत्ता इसी तथ्य से लक्षित है कि ऋग्वेद में लगभग 250 सूक्त उनका गुणगान करने के लिए कहे गये हैं। यह संख्या अन्य किसी भी देवता के निमित्त कहे गये सूक्तों की संख्या

---

1. प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम्। ऋ० 5.77.2.
2. ताविद्दोषा ता उषसि शुभस्पती ता यामन् रुद्रवर्तनी। ऋ० 8.22.14.
यो वां परिज्मा सुवृदश्विना रथो दोषामुषासो हव्यो हविष्मता। ऋ० 10.39.1.
युवां मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषा वस्तोर्हविषा नि ह्वयामहे। ऋ० 10.40.4.

से अधिक है; और सकल ऋग्वेद के सूक्तों की संख्या का लगभग चतुर्थांश है। और यदि उन सूक्तों को भी ले लिया जाय जिनके एक अंश में इन्द्र का स्तवन हुआ है या जिनमें वे किसी अन्य देवता के साथ आये हैं तो यह संख्या 300 के आस-पास पहुंच जाती है। इन्द्र का नाम भारत-ईरानी-काल की देन है। इन्द्र का अर्थ अनिश्चित है; इस से किसी भी प्राकृतिक दृश्य का बोध नहीं होता। फलतः इन्द्र का स्वरूप अत्यन्त मानवीय बनकर गाथात्मक कल्पना से चमचमा उठा है। सचमुच उनका मानवीय विकास अन्य किसी भी वैदिक देवता की अपेक्षा अधिक निखरा हुआ है। और सच पूछिये तो उनके स्वरूप का लक्ष्यार्थ पर्याप्त रूप से स्पष्ट है। प्रथमतः वे विद्युत् के देवता हैं। अवर्षा और अन्धकार के राक्षसों पर विजय पाना और इसके परिणाम-स्वरूप जल को प्रवाहित करना अथवा प्रकाश का प्रसार करना उनके स्वरूप के गाथात्मक तत्त्व हैं। गौणरूप से इन्द्र युद्ध के देवता हैं और वे भारत के आदि-वासियों के ऊपर विजय प्राप्त करने में आर्यों की सहायता करते रहे हैं।

वे मध्यम लोक के प्रधान देवता है। वे वायु में व्याप्त हैं[1]। निघण्टु ने उन्हें केवल मध्यस्थानीय देवताओं में गिना है। वे अग्नि, इन्द्र (या वायु), सूर्य की त्रयी में वायु के प्रतिनिधि हैं।

इन्द्र की अनेक शारीरिक विशेषताओं का उल्लेख हुआ है। उनके शरीर, शिर, भुजाएं और हाथ हैं। उनकी सोम-पान-शक्ति के वर्णन के प्रसङ्ग में उनके उदर का निरूपण किया गया है[2]। सोम-पान के पश्चात् उनके उदर की तुलना एक ह्रद से की गई है[3]। उनके शिप्र को बहुधा लक्षित किया गया है; सुशिप्र या शिप्रिन् विशेषण बहुसंख्या में उन्हीं के लिए आये हैं। सोम-पान के उपरान्त वे अपने जबड़े पीसने लगते हैं। जब वे मदमत्त हो आगे बढ़ते हैं तब उनकी मूछें ताव के साथ हिलती हैं[4]। उन्हें हरिकेश[5] और हरिश्मश्रु कहा गया है[6]। उनका शरीर

---

1. अभीमवन्वन्त्स्वभिष्टिमूतयोऽन्तरिक्षप्रां तविषीभिरावृतम् ।
इन्द्रं दक्षास ऋभवो मदच्युतं शतक्रतुं जवनी सूनृतारुहत् ॥ ऋ० 1.51.2.
2. यस्मादिन्द्राद् बृहतः किं चनेमृते विश्वान्यस्मिन्सम्भृताधि वीर्या ।
जठरे सोमं तन्वी सहो महो हस्ते वज्रं भरति शीर्षणि क्रतुम् ॥ ऋ० 2.16.2.
3. ह्रदा इव कुक्षयः सोमधानाः । ऋ० 3.36.8.
4. उग्रेष्विन्नु शूर मन्दसानस्त्रिकद्रुकेषु पाहि सोममिन्द्र ।
प्रदोधुवच्छ्मश्रुषु प्रीणानो याहि हरिभ्यां सुतस्य पीतिम् ॥ ऋ० 2.11.17.
प्र श्मश्रु दोधुवदूर्ध्वथा भूद्वि सेनाभिर्दयमानो वि राधसा । ऋ० 10.23.1.
5. त्वं त्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः । ऋ० 10.96.5.
हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसः । ऋ० 10.96.8.
6. इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते । ऋ० 10.23.4.

हरित है। इन्द्र-विषयक एक सूक्त में आद्योपान्त हरि शब्द के साथ शब्द-क्रीड़ा की गई है। कभी-कभी उन्हें हिरण्यवर्ण बताया गया है[1]। हिरण्यबाहु[2] और आयस-हस्त विशेषणों का प्रयोग भी हुआ है। उन्हीं के लिए आये[3] वज्रबाहु शब्द द्वारा तो उनका स्मरण बहुधा आया है। विशेषतया उनकी बाहें आजानु लम्बी[4], महान् शक्ति-शाली एवं सुडौल हैं। उनके मनमोहक रूप में सूर्य की लोहित प्रभा चमचमाती है[5]। वे जैसा चाहें वन जाते हैं[6]।

वज्र तो निरपवाद उनका अपना अस्त्र है। विद्युत् की कड़क ही गाथात्मक रूप में वज्र कहाती है। बहुधा वर्णन आता है कि वज्र को उनके लिए त्वष्टा ने बनाया था[7]; किंतु साथ ही यह भी आता है कि उशना ने इसे बनाकर इन्द्र को अर्पित किया था[8]। ऐतरेय ब्राह्मण[9] के अनुसार देवताओं ने ही इन्द्र को वज्र दिया था। यह पानी से आवृत होकर समुद्र में रहता है। इसका स्थान सूर्य के नीचे है[10]। साधारणतया इसे आयस बताया गया है[11], किंतु कभी-कभी हिरण्यय[12], हरित[13],

1. इन्द्रो॑ वज्री हि॑रण्ययः॑। ऋ० 1.7.2.
2. इन्द्रो॑ न वज्री हिर॑ण्यबाहुः। ऋ० 7.34.4.
3. येन॒ शुष्णं॑ मा॒यिनं॑मायसो मदे॑ दु॒ध्र आ॒भूषु॑ रा॒मयन् नि दाम॑नि। ऋ० 1.56.3.
   तु॒ददा॒हिं हरि॑शिप्रो॒ य आय॑सः। ऋ० 10.96.4.
4. पृ॒थू क॒रस्ना॑ बहु॒ला गभ॑स्ती। ऋ० 6.19.3.
   वृ॒ब॒दुक्थं॑ हवामहे सृ॒प्रक॑रस्नमू॒तये॑। ऋ० 8.32.10.
5. हारि॑त्वता॒ वर्च॑सा॒ सूर्य॑स्य॒ श्रेष्ठै॑ रू॒पैस्त॒न्वं॑ स्पर्शयस्व।
   अ॒स्माभि॑रिन्द्र॒ सखि॑भिर्हु॒वा॒नः।
   स॑ध्रीची॒नो मा॑दयस्वा नि॒षद्य॑॥ ऋ० 10.112.3.
6. य॒था॒व॒शं त॒न्वं॑ चक्र ए॒षः। ऋ० 3.48.4.
   रू॒पंरू॑पं म॒घवा॑ बोभवीति मा॒याः कृ॑ण्वा॒नस्त॒न्वं१॑ परि॒ स्वाम्। ऋ० 3.53.8.
   इन्द्रो॑ मा॒याभिः॑ पुरु॒रूप॑ ईयते। ऋ० 6.47.18.
7. त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष। ऋ० 1.32.2.
8. यं ते॑ का॒व्य उ॒शना॑ म॒न्दिनं॒ दाद् वृ॑त्र॒हणं॒ पार्यं॑ ततक्ष॒ वज्र॑म्। ऋ० 1.121.12.
   स॒हस्र॑भृष्टिमु॒शना॑ व॒धं यम॑त्। ऋ० 5.34.2
9. देवा वै प्रथमेनाह्नेन्द्राय वज्रं समभरन्। ऐत० ब्रा० 4.1.
10. अ॒यं यो वज्रः॑ पुरु॒धा विवृ॑त्तो॒ऽवः सूर्य॑स्य बृह॒तः पुरी॑षात्। ऋ० 10.27.21.
11. अयं॑च्छया बा॒ह्वोर्वज्र॑माय॒सम॑धार॒यो दि॒व्या सूर्यं॑ दृ॒शे। ऋ० 1.52.8.
12. इन्द्र॑स्य॒ वज्रः॑ श्नथि॑ता हि॒रण्ययः॑। ऋ० 1.57.2.
13. हर्य॑श्वो॒ हरि॑तं धत्त॒ आयु॑धमा वज्रं॑ बा॒ह्वोर्हरि॑म्। ऋ० 3.44.4.
    सो अ॑स्य॒ वज्रो॒ हरि॑तो॒ य आय॑सः। ऋ० 10.96.3.

या अर्जुन[1] बनकर भी यह सामने आता है। यह चतुष्कोण है[2], शतकोण है, शत-पर्व है[3], और सहस्र-भृष्टि[4] है। यह निशित है[5] और वह भी चाकू से अधिक; जैसे सांड अपने सींगों को घिसकर तेज़ करता है वैसे ही इन्द्र भी इसे पैनाते हैं[6]। इसका उल्लेख अश्मन् या पर्वत की भांति हुआ है[7]। इन्द्र के वज्र की उपमा आकाशस्थ सूर्य से दी गई है। वज्र शब्द से बने अथवा उसके साथ समस्त होकर बने विशेषणों का प्रयोग इन्द्र ही तक सीमित है; वज्रभृत्, वज्रवत्, वज्र-दक्षिण विशेषण निरपवाद उन्हीं के लिए आये हैं। किंतु वज्र-बाहु या वज्र-हस्त और इन सबसे भी अधिक प्रचलित वज्रिन् रुद्र, मरुद्गण और मन्यु के लिए भी क्रमशः एक-एक बार आये हैं।

कभी-कभी इन्द्र धनुष और बाण हाथ में लेकर सामने आते हैं[8]। इनके इषु स्वर्णिम हैं, सहस्रभृष्टि हैं और हजारों परोंवाले हैं। इन्द्र के पास एक अङ्कुश भी है जिससे वे धन बांटते हैं[9] और जिसका प्रयोग वे कभी-कभी शस्त्र के रूप में भी करते हैं[10]। उनके पास एक जाल भी है, जिससे वे अपने सभी शत्रुओं को पराजित कर देते हैं[11]।

---

1. इन्द्रो॑ ह॒र्यन्त॒मर्जु॑नं॒ वज्रं॑ शु॒क्रैर॒भीवृ॑तम्। ऋ० 3.44.5.
2. वृषा॒ वृषं॑धिं॒ चतु॑रश्रिमस्य॑न्। ऋ० 4.22.2.
3. वज्रे॑ण श॒तप॑र्वणा। ऋ० 8.6.6.
4. अ॒भ्ये॑नं॒ वज्र॑ आय॒सः स॒हस्र॑भृष्टिराय॒त। ऋ० 1.80.12.
5. ति॒ग्मं त॑स्मि॒न्नि ज॑हि॒ वज्र॑मिन्द्र। ऋ० 7.18.18.
6. द॒द्दृ॒हा॒णो वज्र॒मिन्द्रो॒ गभ॑स्त्योः क्ष॒द्मेव॑ ति॒ग्ममस॑नाय॒ सं श्य॑त्। ऋ० 1.130.4.
   शिशी॑ते॒ वज्रं॒ तेज॑से॒ न वंस॑गः। ऋ० 1.55.1.
7. प्र व॑र्तय दि॒वो अश्मा॑नमिन्द्र॒ सोम॑शितं मघव॒न्त्सं शि॑शाधि।
   प्राक्ता॑दपा॑क्तादध॒रादुद॑क्ताद॒भि ज॑हि र॒क्षसः॒ पर्व॑तेन॥ ऋ० 7.104.19.
8. आ बु॒न्दं वृ॑त्र॒हा द॑दे। ऋ० 8.45.4.
   तदिन्द्रे॑ण जयत॒ तत्स॑हध्वं॒ युधो॑ नर॒ इषु॑हस्तेन॒ वृष्णा॑। ऋ० 10.103.2.
   स इषु॑हस्तैः॒ स नि॑ष॒ङ्गिभि॑र्व॒शी संस्र॑ष्टा॒ स युध॒ इन्द्रो॑ ग॒णेन॑।
   सं॒सृ॒ष्ट॒जित्सो॑म॒पा बा॑हुश॒र्ध्यु॑१ग्रध॑न्वा॒ प्रति॑हिताभि॒रस्ता॑॥ ऋ० 10.103.3.
9. दी॒र्घस्ते॑ अस्त्व॒ङ्कुशो॒ येना॒ वसु॑ प्र॒यच्छ॑सि। यज॑मानाय सुन्व॒ते। ऋ० 8.17.10.
   यस्ते॑ऽङ्कुशो॒ व॑सु॒दानो॑ बृ॒हन्नि॑न्द्र हिर॒ण्ययः॑। अथ० 6.82.3.
10. इ॒मं बि॑भर्मि॒ सुकृ॑तं ते अ॒ङ्कुशं॒ येना॑ रु॒जासि॑ मघवञ्छफा॒रुजः॑। ऋ० 10.44.9.
11. अ॒न्तरि॑क्षं॒ जाल॑मासीज्जालद॒ण्डा दिशो॑ म॒हीः।
    तेना॑भि॒धाय॒ दस्यू॑नां॒ श॒क्रः सेना॒मपा॑वपत्॥ अथ० 8.8.5.
    बृ॒हद्धि॒ जालं॑ बृह॒तः श॒क्रस्य॑ वा॒जिनी॑वतः।

इन्द्र एक सुनहरे रथ पर चलते हैं। इसकी गति विचार से भी कहीं अधिक तेज है[1]। रथेष्ठा विशेषण निरपवाद रूप से इन्द्र के लिए ही आया है। उनके रथ को दो हरे घोड़े खींचते हैं। 'हरी' इस पद का प्रयोग बहुतायत से हुआ है; और बहुसंख्यक स्थलों पर इसका अर्थ इन्द्र के घोड़े है। कतिपय मन्त्रों में इनकी संख्या दो से लेकर शत, सहस्र, या ग्यारह शत तक बताई गई है[2]। ये घोड़े 'सूर्य-चक्षसः' हैं[3]। वे अपने जबड़ों को चपचपाते एवं हिङ्कार करते हैं[4]। वे लहराती अयालवाले[5] अथवा हिरण्यवर्ण केशवाले हैं[6]। उनके बाल मयूर के परों जैसे या मयूर-पुच्छ की तरह के हैं[7]। वे झटपट लम्बा रास्ता तै कर डालते हैं और

तेन॒ शत्रू॑न॒भि सर्वा॒न्युऽब्ज॒ यथा॒ न मुच्या॑तै कत॒मश्च॒नैषा॑म् ॥ अथ० 8.8.6.
बृ॒हत्ते॒ जालं॑ बृ॒हत इ॑न्द्र शूर सहस्रा॒र्घस्य॑ शतवी॑र्यस्य।
तेन॑ श॒तं स॒हस्र॑म॒युतं॒ न्यऽर्बुदं जघान॑ श॒क्रो दस्यू॑नामभि॒धाय॒ सेन॑या ॥ अथ० 8.8.7.
अ॒यं लो॒को जाल॑मासी॒च्छ॒क्रस्य॑ मह॒तो म॒हान्।
तेना॒हमि॑न्द्र जा॒लेना॒मूँस्तम॑सा॒भि द॑धामि॒ सर्वा॑न् ॥ अथ० 8.8.8.

1. यस्ते॒ रथो॒ मन॑सो॒ जवी॑या॒नेन्द्र॒ तेन॑ सोम॒पेया॑य या॑हि। ऋ० 10.112.2.
2. आ द्वाभ्यां॒ हरि॑भ्यामिन्द्र॒ या॒ह्या च॒तुर्भि॒रा ष॒ड्भिर्हू॒यमा॑नः।
आष्टा॒भिर्द॒शभि॑ः सोम॒पेय॑म॒यं सु॒तः सु॑मख॒ मा मृध॑स्कः ॥ ऋ० 2.18.4.
आ वि॑श॒त्या त्रिं॒शता॑ या॒ह्यर्वाङा च॑त्वारिं॒शता॒ हरि॑भिर्युजा॒नः।
आ प॑ञ्चा॒शता॑ सु॒रथे॑भिरिन्द्रा ष॒ष्ट्या स॑प्त॒त्या सो॑म॒पेय॑म् ॥ ऋ० 2.18.5.
आशी॒त्या नव॒त्या या॒ह्यर्वाङा श॒तेन॒ हरि॑भिरु॒ह्यमा॑नः।
अ॒यं हि ते॑ शु॒नहो॑त्रेषु॒ सोम॒ इन्द्र॑ त्वा॒या परि॑षिक्तो॒ मदा॑य ॥ ऋ० 2.18.6. आदि०
आ वां॑ स॒हस्रं॒ हर॑य॒ इन्द्र॑वायू अ॒भि प्रयः॑।
वह॑न्तु॒ सोम॑पीतये। ऋ० 4.46.3.
यु॒क्ता ह्य॑स्य॒ हर॑यः श॒ता दश॑। ऋ० 6.47.18.
ये ते॒ सन्ति॑ दश॒ग्विन॑ः श॒तिनो॒ ये स॑ह॒स्रिण॑ः।
अश्वा॑सो॒ ये ते॒ वृष॑णो रघु॒द्रुव॒स्तेभि॒र्नस्तू॒यमा ग॑हि ॥ ऋ० 8.1.9.
आ त्वा॑ स॒हस्र॒मा श॒तं यु॒क्ता रथे॑ हिर॒ण्यये॑।
ब्र॒ह्म॒युजो॒ हर॑य इन्द्र के॒शिनो॒ वह॑न्तु॒ सोम॑पीतये ॥ ऋ० 8.1.24.

3. आ त्वा॑ वहन्तु॒ हर॑यो॒ वृष॑णं॒ सोम॑पीतये। इन्द्र॑ त्वा॒ सूर॑चक्षसः ॥ ऋ० 1.16.1.
4. शश्व॒दिन्द्र॒ः पोप्रु॑थद्भि॒र्जिगाय॒ नान॑दद्भि॒ः शाश्व॑सद्भि॒र्धना॑नि ॥ ऋ० 1.30.16.
5. यु॒क्ष्वा हि के॒शिना॒ हरी॑। ऋ० 1.10.3.
6. हरी॒ हिर॑ण्यकेश्या। ऋ० 8.32.29.
7. आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः। ऋ० 3.45.1.
आ त्वा॒ रथे॑ हिर॒ण्यये॒ हरी॑ म॒यूर॑शेप्या। ऋ० 8.1.25.

इन्द्र को वे वैसे ही ले जाते हैं जैसे कि श्येन के पर श्येन पक्षी को[1]। ये घोड़े स्तुतियों द्वारा जोते जाते हैं[2]; जिसका अर्थ यह हुआ कि इन्द्र को यज्ञ में आह्वानों द्वारा लाया जाता है। जहां-तहां यह भी आया है कि इन्द्र को सूर्य के घोड़े ले जाते हैं[3] अथवा उन्हें वायु के घोड़े[4] ले जाते हैं। इन्द्र वायु के सारथि हैं[5], अथवा रथ पर बैठे वे उनके साथी हैं[6]। इन्द्र के रथ और घोड़ों को ऋभुओं ने बनाया था[7]। एक वार कहा गया है कि इन्द्र को स्वर्णिम कशा दी गई थी[8]।

यों तो सारे ही देवता सोम के अभिलाषी हैं[9]। पर इन्द्र की सोम-लिप्सा तो सर्वोपरि है[10]। सोम पीने के लिए उन्होंने इसकी चोरी तक कर डाली थी[11]। क्या देव और क्या मानव कोई भी उन जैसा सोम-पाता नहीं है[12]। इस बात में उनकी बराबरी यदि कोई कर पाता है तो वह है वायु। सोम इन्द्र का प्रियतम पेय है[13]। बहुतायत से आनेवाला सोमपा या सोमपावन विशेषण उनका अपना है; फिर भी इसका प्रयोग कुछेक वार अग्नि और बृहस्पति के लिए (जबकि वे इन्द्र के साथ

---

1. न क्षोणीभ्यां परिभ्वे त इन्द्रियं न समुद्रैः पर्वतैरिन्द्र ते रथः।
   ते वज्रमन्वश्नोति कश्चन यदाशुभिः पतसि योजना पुरु॥ ऋ० 2.16.3.
   आ त्वा मदच्युता हरी श्येनं पक्षेव वक्षतः। ऋ० 8.34.9.
2. हरी नु कं रथ इन्द्रस्य योजमायै सूक्तेन वचसा नवेन। ऋ० 2.18.3.
3. अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा। ऋ० 10.49.7.
4. युजानो अश्वा वातस्य धुनी देवो देवस्य वज्रिवः। ऋ० 10.22.4.
   त्वं त्या चिद्वातस्याश्वागा ऋज्रा त्मना वहध्यै। ऋ० 10.22.5
5. शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः। वायो सुतस्य तृम्पतम्॥ ऋ० 4.46.2.
   निर्युवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः।
   वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥ ऋ० 4.48.2.
6. या वां शतं नियुतो याः सहस्रमिन्द्रवायू विश्ववाराः सचन्ते। ऋ० 7.91.6.
7. तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसस्तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू।
   तक्षन् पितृभ्यामृभवो युवद्वयः॥ ऋ० 1.111.1.
   अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन्। ऋ० 5.31.4.
8. वृषणस्ते अभीशवो वृषा कशा हिरण्ययी। ऋ० 8.33.11.
9. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। ऋ० 8.2.18.
10. अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय। ऋ० 1.104.9.
11. त्वष्टारमिन्द्रो जनुषाभिभूयाऽऽमुष्या सोममपिबच्चमूषु। ऋ० 3.48.4.
    आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतम्। ऋ० 8.4.4.
12. इन्द्र इत्सोमपा एक इन्द्रः सुतपा विश्वायुः। अन्तर्देवान्मर्त्यांश्च। ऋ० 8.2.4.
13. इदं ते अन्नं युज्यं समुक्षितं तस्येहि प्र द्रवा पिब। ऋ० 8.4.12.

संबद्ध होते हैं), भी हुआ है, और केवल एक वार वायु के लिए अकेले। सोम के विषय में उल्लेख आता है कि वह इन्द्र को पृथिवी और आकाश को धारण करने अथवा पृथिवी को विस्तृत बनाने के लिए उत्तेजित करता है[1]। किंतु बहुधा यह उन्हें अपेक्षाकृत निम्न कोटि के कार्यों के संपादन के लिए मद-मत्त बनाता है; उदाहरणार्थ—वृत्र-वध जैसे सामरिक कार्य के लिए[2] और शत्रुओं पर विजय पाने के लिए[3]। इन्द्र के लिए सोम-पान इतना अधिक आवश्यक है कि जिस दिन वे जन्मे थे उसी दिन उनकी माता ने उन्हें पीने के लिए सोम दिया था, अथवा उन्होंने स्वयं ही सोम-पान कर लिया था[4]। वृत्र-वध के लिए तो उन्होंने तीन ह्रदों का सोम पी डाला था[5]। कहा तो यहां तक गया है कि उन्होंने एक ही घूंट में तीस ह्रदों का पेय पी डाला था। एक सकल सूक्त में[6]—जो कि स्वगत भाषण के रूप में है—इन्द्र सोम

---

1. अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
 स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ऋ० 2.15.2.
2. अस्य मदे अहिमिन्द्रो जघान। ऋ० 2.15.1.
 अस्य मन्दानो मध्वो वज्रहस्तोऽहिमिन्द्रो अर्णोवृतं वि वृश्चत्। ऋ० 2.19.2.
 स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
 उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥ ऋ० 6.47.1.
 अयं स्वादुरिह मदिष्ठ आस यस्येन्द्रो वृत्रहत्ये ममाद।
 पुरूणि यश्च्यौत्ना शम्बरस्य वि नवतिं नव च देह्यो३ हन्॥ ऋ० 6.47.2.
3. किमस्य मदे किम्वस्य पीताविन्द्रः किमस्य सख्ये चकार।
 रणा वा ये निषदि किं ते अस्य पुरा विविद्रे किमु नूतनासः॥ ऋ० 6.27.1.
 यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि। ऋ० 7.22.2.
 आ नो भर दक्षिणेनाऽभि सव्येन प्र मृश। ऋ० 8.81.6.
4. यज्जायथास्तदहरस्य कामेंऽशोः पीयूषमपिबो गिरिष्ठाम्।
 तं ते माता परि योषा जनित्री महः पितुर्दम आ सिञ्चदग्रे॥ ऋ० 3.48.2.
 उपस्थाय मातरमन्नमैट्ट तिग्ममपश्यदभि सोममूधः। ऋ० 3.48.3.
 अद्रोघ सत्यं तव तन्महित्वं सद्यो यज्जातो अपिबो ह सोमम्। ऋ० 3.32.9.
 त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन्। ऋ० 3.32.10.
 अस्य पिब यस्य जज्ञान इन्द्र मदाय क्रत्वे अपिबो विरप्शिन्। ऋ० 6.40.2.
 जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच।
 एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ॥ ऋ० 7.98.3.
5. त्री साकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद् वृत्रहत्याय सोमम्। ऋ० 5.29.7.
 पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन् वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै। ऋ० 6.17.11.
6. इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति। कुवित्सोमस्यापामिति। ऋ० 10.119.1.

पीने के उपरान्त आनेवाले संवेगों का वर्णन करते हैं। किंतु जैसे अत्यधिक सोम-पान मनुष्य को ग्लान कर देता है, उसी प्रकार स्वयं इन्द्र भी सोम-पान के सीमातीत व्यसन के कारण कष्ट झेलते हैं और तब उन्हें देवगण सौत्रामणि यज्ञ द्वारा अच्छा करते हैं। इन्द्र मधु-मिश्रित दूध भी पीते हैं[1]।

साथ ही वे बैल का मांस भी खा जाते हैं[2]—एक बैल का[3], बीस बैलों का[4] या सौ भैंसों का[5]; या अग्नि में भुने हुए 300 भैंसों को[6] वे खा जाते हैं। यज्ञ में तो वे अपूप[7] और धाना[8] खाते हैं। धाना तो उनके घोड़ों का भी प्यारा दाना है[9]।

इन्द्र के विषय में बहुधा आता है कि उन्हों ने जन्म लिया। दो संपूर्ण सूक्तों में उनके जन्म का विवरण दिया गया है[10]। एक बार कहा गया है कि उनकी इच्छा होती है कि वे अस्वाभाविक ढंग से उत्पन्न हों; सीधे अपनी माता की कोख से नहीं[11]। यह बात संभवत: बादल के छोरों में विद्युत् चमकने की घटना से संबद्ध हो। उत्पन्न होते ही वे आकाश को प्रकाशित कर देते हैं[12]। उत्पन्न होते ही वे सूर्य के

---

1. मध्वा संपृक्ताः सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब। ऋ० 8.4.8.
2. पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः। ऋ० 10.28.3.
3. अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं नि षिञ्चम्। ऋ० 10.27.2.
4. उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्। ऋ० 10.86.14.
5. पचच्छतं महिषाँ इन्द्र तुभ्यम्। ऋ० 6.17.11.
6. सखा सख्ये अपचत्तूयमग्निरस्य क्रत्वा महिषा त्री शतानि। ऋ० 5.29.7.
7. अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्। ऋ० 3.52.7.
   प्रति धाना भरत तूयमस्मै पुरोळाशं वीरतमाय नृणाम्। ऋ० 3.52.8.
8. दिवेदिवे सदृशीरद्धि धानाः। ऋ० 3.35.3.
   धानावदिन्द्रः सवनं जुषाणः सखा सख्युः शृणवद् वन्दनानि। ऋ० 3.43.4.
   इमा धाना घृतस्नुवो हरी इहोप वक्षतः। इन्द्रं सुखतमे रथे। ऋ० 1.16.2.
9. कृता धाना अत्तवे ते हरिभ्याम्। ऋ० 3.35.7.
   हरिवते हर्यश्वाय धानाः। ऋ० 3.52.7.
10. सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्तुमावदन्धसः सुतस्य।
    साध्वोः पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिरः प्रथमं सोम्यस्य॥
    ऋ० 3.48.1. आदि

    अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे।
    अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः॥ ऋ० 4.18.1. आदि पू. सू.
11. नाहमतो निरया दुर्गहैतत् तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि। ऋ० 4.18.2.
12. जज्ञानो हरितो वृषा विश्वमा भाति रोचनम्। ऋ० 3.44.4.

चक्र को गति देते हैं[1]। उत्पन्न होते ही वे अजेय योद्धा बन जाते हैं[2] और जन्म-काल से ही वे निर्बाध-गति हैं[3]। उनके उत्पन्न होने पर अचल पर्वत, द्युलोक और पृथिवी कांपने लगते हैं[4]। उनके जन्म लेने पर द्यावा-पृथिवी कम्पित हो उठे[5] और सभी देवता भयभीत हो गए। उनकी माता का उल्लेख जहां-तहां हुआ है। एक बार उसे (गृष्टि) गौ कहा गया है[6] और इन्द्र को उसका बछड़ा। उन्हें गार्ष्टेय वृषभ भी कहा गया है[7]। एक बार उन्हें निष्टिग्री का पुत्र बताया गया है[8]। सायणाचार्य के अनुसार निष्टिग्री अदिति का विशेषण है। अथर्ववेद[9] के अनुसार अग्नि और इन्द्र की माता एकाष्टका है जो प्रजापति की पुत्री है। इन्द्र के पिता वे ही हैं जो अग्नि के[10]। वे अग्नि, द्यौस् और पृथिवी के पुत्र हैं। ऋग्वेद[11] की एक व्याख्या के अनुसार इन्द्र के पिता—जिन का वहां दो बार उल्लेख हुआ है, द्यौस् हैं। इसी प्रकार का निष्कर्ष इन्द्रसूक्त के उस मन्त्र[12] से निकलता है जहां कहा गया है कि "जहां से

1. सूरश्चक्रं प्र वृहज्जात ओजसा। ऋ० 1.130.9
2. जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन् महे भराय पुरुहूत विश्वे। ऋ० 3.51.8.
   परो यत्त्वं परम आजनिष्ठाः परावति श्रुत्यं नाम बिभ्रत्।
   अतश्चिदिन्द्रादभयन्त देवा विश्वा अपो अजयद्दासपत्नीः॥ ऋ० 5.30.5.
   आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छद् वि मातरम्। क उग्राः के ह शृण्विरे। ऋ० 8.45.4.
   तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
   बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम्॥ ऋ० 8.66.1.
   जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः। ऋ० 10.113.4.
3. अतीदं विश्वं भुवनं ववक्षिथाशत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि। ऋ० 1.102.8.
   अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे। ऋ० 10.133.2.
4. अस्येदु भिया गिरयश्च दृळ्हा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते। ऋ० 1.61.14.
5. तव त्विषो जनिमन् रेजत द्यौ रेजद् भूमिर्भियसा स्वस्य मन्योः। ऋ० 4.17.2.
6. गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम्।
   अरीळ्हं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम्॥ ऋ० 4.18.10.
7. सं गार्ष्टेयो वृषभो गोभिरानट्। ऋ० 10.111.2.
8. निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये। ऋ० 10.101.12.
9. एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्। अथ० 3.10.12.
   इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः। अथ० 3.10.13.
10. बळित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ।
    समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा॥ ऋ० 6.59.2.
11. सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत्। ऋ० 4.17.4.
12. तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः। ऋ० 10.120.1.

इस भयावह देवता की उत्पत्ति हुई वह लोकों में सर्वोच्च था। बताया जाता है कि उनके पिता ने ही उनके लिए वज्र बनाया था[1]। इस विषय में दूसरी जगह आता है कि इसे त्वष्टा ने बनाया था। इन्द्र अपने पिता के गृह में सोम-पान करते हैं, और उनकी माता ही उन्हें सोम देती है। उन्होंने त्वष्टा के घर में भी सोमपान किया था[2]। इन्द्र ने जन्म लेकर त्वष्टा को पराजित किया और सोम को चुरा कर प्यालों में पिया। इन्द्र ने अपने पिता का पैर पकड़ कर उन्हें धरती पर दे मारा। उसी मन्त्र में उनसे पूछा गया है कि वह कौन था जिसने उनकी माता को विधवा बनाया था[3]। इन मन्त्रों से यह स्पष्ट झलकता है कि इन्द्र के पिता, जिन्हें वे सोम के निमित्त मारते हैं, स्वयं त्वष्टा हैं[4]। देवताओं के साथ उनका विरोध संभवतः इस कारण है कि वे सहसा अथवा बलात् सोम को प्राप्त करना चाहते हैं।

इन्द्र की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत प्रस्तुत किये गये हैं। कहा गया है कि देवताओं ने एक राक्षस का नाश करने के लिए उन्हें उत्पन्न किया था[5]। किंतु यहां √जन् धातु का प्रयोग निःसंदेह 'नियत करना' इस आलंकारिक अर्थ में हुआ है[6]। एक बार इन्द्र और कुछ अन्य देवताओं का जनक सोम को बताया गया है[7]। पुरुष-सूक्त के अनुसार इन्द्र और अग्नि विश्व-पुरुष के मुख से आविर्भूत हुए हैं[8]। शतपथ-ब्राह्मण[9] के अनुसार अग्नि, सोम और परमेष्ठिन् की भांति इन्द्र को भी प्रजापति ने उत्पन्न किया है। तैत्तरीय-ब्राह्मण में आता है कि प्रजापति ने इन्द्र को देवों के बाद बनाया था[10]।

---

1. सास्मा अरं बाहुभ्यां यं पिताकृणोद् विश्वस्माद् जनुषो वेदसस्परि।
   येना पृथिव्यां नि क्रिविं शयध्यै वज्रेण हत्व्यवृणक् तुविष्वणिः॥ ऋ० 2.17.6.
2. त्वष्टुर्गृहे अपिबत्सोममिन्द्रः। ऋ० 4.18.3.
3. कस्ते मातरं विधवामचक्रच्छयुं कस्त्वामजिघांसच्चरन्तम्।
   कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद् यत्प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य॥ ऋ० 4.18.12.
4. त्वष्टा चित्तव मन्यव इन्द्र वेविज्यते भियाऽर्चन्ननु स्वराज्यम्। ऋ० 1.80.14.
5. घनं वृत्राणां जनयन्त देवाः। ऋ० 3.49.1.
6. तं त्वा स्तोमेभिरुदभिर्न वाजिनं देवं देवा अजनन्त्सास्युक्थ्यः। ऋ० 2.13.5.
   जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन् महे भराय पुरुहूत विश्वे। ऋ० 3.51.8.
7. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
   जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥ ऋ० 9.96.5.
8. मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत। ऋ० 10.90.13.
9. ता वा एताः प्रजापतेरधि देवता असृज्यन्ताग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः।
   शत० ब्रा० 11.1.6.14.
10. प्रजापतिरिन्द्रमसृजताऽऽनुजावरं देवानाम्। तै० ब्रा० 2.2.10.1.

अग्नि इन्द्र के यमल भाई हैं; पूषन् भी उनके भाई हैं[1]। इन्द्र के भतीजों का भी उल्लेख मिलता है[2], किंतु उनसे किस का तात्पर्य है यह बात अनिश्चित है।

इन्द्र की पत्नी के विषय में भी कुछ संकेत मिलते हैं[3]। उस सूक्त में, जिसमें कि वह इन्द्र से वार्तालाप करती हुई प्रस्तुत की गई है, उसका नाम इन्द्राणी है[4]। यह नाम देवियों के नामों का उल्लेख करनेवाले कतिपय अन्य मन्त्रों में भी आता है[5]। शतपथ ब्राह्मण[6] स्पष्ट शब्दों में इन्द्राणी को इन्द्र की पत्नी बतलाता है। किंतु ऐतरेय ब्राह्मण प्रासहा और सेना को इन्द्र की पत्नियां बतलाता है[7]। ये दोनों इन्द्राणी ही के तद्रूप हैं[8]। पिशल के मत में ऋग्वेद तथा वेदोत्तर-कालीन साहित्य में इन्द्र-पत्नी का असली नाम शची है। अथर्ववेद[9] में एक आसुरी का उल्लेख आता है, जिसने इन्द्र को देवताओं में से नीचे खींच लिया था। काठक के अनुसार विलिस्तेङ्गा नामक दानवी पर मोहित होकर इन्द्र असुरों में रहने के लिए चले

1. भ्रातेन्द्रस्य सखा मम। ऋ० 6.55.5.
2. भ्रातुः पुत्रान् मघवन् तित्विषाणः। ऋ० 10.55.1.
3. तेन जायामुप प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो योजा न्विन्द्र ते हरी। ऋ० 1.82.5.
   पूषण्वान् वज्रिन्त्समु पत्न्यामदः। ऋ० 1.82.6.
   जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु। ऋ० 3.53.4.
   अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। ऋ० 3.53.6.
   उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा। ऋ० 10.86.9.
   वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते। ऋ० 10.86.10.
4. इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्। ऋ० 10.86.11.
   नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते। ऋ० 10.86.12.
5. इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये। ऋ० 1.22.12.
   इन्द्राणीमह्व ऊतये वरुणानीं स्वस्तये। ऋ० 2.32.8.
   उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्। ऋ० 5.46.8.
6. इन्द्राणी ह वा इन्द्रस्य प्रिया पत्नी। शत० ब्रा० 14.2.1.8.
7. सेना वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नाम। ऐत० ब्रा० 3.22.7.
8. सेना ह नाम पृथिवी धनंजया। विश्वव्यचा अदितिः सूर्यत्वक्।
   इन्द्राणी देवी प्रासहा ददाना।
   सा नो देवी सुहवा शर्म यच्छतु। तै० ब्रा० 2.4.2.7-8
   इन्द्राणी पत्या सुजितं जिगाय सेना ह नाम पृथिवी धनंजया विश्वव्यचा अदितिः सूर्यत्वक्। इन्द्राणी प्रासहा संजयन्ती तस्यै त एना हविषा विधेम॥ मै० सं० 4.12.1.
9. येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि। अथ० 7.38.2.

गये; वहां स्त्रियों के बीच वे स्त्री का वेष तथा पुरुषों के बीच पुरुष का वेष बना लेते थे।

इन्द्र का संबन्ध अन्य बहुत से देवताओं के साथ है। उनके प्रमुख मित्र और सहायक मरुद्गण हैं। अनेक मन्त्रों में मरुतों का वर्णन युद्ध-कार्यों में इन्द्र के सहायक के रूप में हुआ है। इन देवताओं के साथ इन्द्र का इतना घनिष्ठ संबन्ध है कि मरुत्वत् विशेषण, जो कभी-कभी अन्य देवों के लिए भी आया है, इन्द्र के लिए अपनी खास चीज है। मरुत्वत् एवं मरुद्गण इनके सामने आते ही इन्द्र का बोध हो जाना स्वाभाविक-सा है[1]। देवता-द्वन्द्व में इन्द्र अन्य किसी भी देवता की अपेक्षा अग्नि के साथ कहीं अधिक बार आया है। यह है भी स्वाभाविक ही; क्योंकि विद्युत् अग्नि ही का एक अपना रूप है। इन्द्र के लिए यह भी कहा गया है कि उन्हों ने दो पाषाणों में से अग्नि उत्पन्न की[2] अथवा अग्नि को जल में निगूढ रखा पाया[3]। अग्नि के बाद इन्द्र का सब से अधिक संबन्ध वरुण और वायु के साथ है। सोम, बृहस्पति, पूषन् और विष्णु के साथ इन्द्र का संबन्ध कुछ कम है। विष्णु इनके गाढ़े मित्र हैं और वे कभी-कभी वृत्र-युद्ध में इनका साथ देते हैं।

तीन या चार मन्त्रों में इन्द्र का तादृप्य स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से सूर्य के साथ किया गया है। उत्तम पुरुष में बोलते हुए[4] इन्द्र एक बार कहते हैं कि वे ही मनु थे; वे ही सूर्य थे। एक बार उन्हें सीधे ही सूर्य कहा गया है[5] और एक दूसरे मन्त्र में सूर्य और इन्द्र का एकत्र आह्वान इस प्रकार किया गया है कि मानों वे दोनों एक ही व्यक्ति हों। एक मन्त्र में इन्द्र के लिए सवितृ विशेषण प्रयुक्त हुआ है[6]। शतपथ ब्राह्मण[7] भी एक बार इन्द्र की तद्रूपता सूर्य के साथ स्थापित करता है और वृत्र की चन्द्रमा के साथ।

अनेक मन्त्रों में इन्द्र के विशाल आकार का उल्लेख आता है। जब इन्द्र ने दो असीम लोकों को पकड़ा तब वे उनके मुट्ठी भर ही हुए[8]। वे द्युलोक, पृथिवी एवं

---

1. मरुत्वतो अप्रतीतस्य जिष्णोरजूर्यतः प्र ब्रवामा कृतानि ॥ ऋ० 5.42.6.
   वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः । ऋ० 9.65.10.
2. यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः । ऋ० 2.12.3.
3. निधीयमानमपगूळहमप्सु प्र मे देवानां व्रतपा उवाच ।
   इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम् ॥ ऋ० 10.32.6.
4. अहं मनुरभवं सूर्यश्च । ऋ० 4.26.1.
5. स सूर्यः पर्युरू वरांस्येन्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा । ऋ० 10.89.2.
6. ऋतं देवाय कृण्वते सवित्र इन्द्रायाहिघ्ने न रमन्त आपः । ऋ० 2.30.1.
7. तद्वा एष एवेन्द्रः । य एष तपत्यथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः । शत० ब्रा० 1.6.4.18.
8. इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते । ऋ० 3.30.5.

अन्तरिक्ष से महत्त्व में आगे बढ़ जाते हैं[1]। दोनों लोक (रोदसी) उनके केवल आधे के बराबर हैं[2]। द्युलोक एवं पृथिवी उनकी मेखला (कक्ष्या) के लिए पर्याप्त नहीं होते[3]। यदि पृथिवी दश गुनी और विस्तृत होती तो इन्द्र के बराबर हो पाती[4]। यदि इन्द्र के पास सौ द्युलोक एवं सौ पृथिवी-लोक होते तो न तो हजार सूर्य ही उनकी बराबरी कर पाते और न दोनों लोक ही।

उनकी महत्ता एवं शक्ति की प्रशंसा बड़े ही अच्छे शब्दों में की गई है। उत्पन्न और उत्पन्न होनेवालों में कोई भी उनके तुल्य नहीं[5]। कोई भी व्यक्ति, पार्थिव या दिव्य, न तो ऐसा उत्पन्न ही हुआ है और न उत्पन्न होगा ही जो उनकी बराबरी कर सके[6]। देव या मानव कोई भी न उनसे बढ़कर है और न उनके समान ही[7]। न तो पूर्वकाल के, न उत्तरकाल के, न ही निकट भूत के प्राणी उनकी महिमा का अन्त पा सके हैं[8]। न तो देवता न मनुष्य और न जल ही उनकी शक्ति की अवधि तक पहुंच पाये हैं[9]। देवताओं में कोई भी उनके तुल्य ज्ञात नहीं हुआ है; कोई भी भूत या वर्तमानकाल में उत्पन्न व्यक्ति उनकी तुलना नहीं कर सकता[10]। वे देवताओं को अतिक्रान्त कर जाते हैं[11]। महिमा और शक्ति में सभी देवता उनके संमुख घुटने टेक देते हैं। पुराण देवताओं ने भी उनके दिव्य वैभव एवं राजकीय गरिमा के लिए अपनी शक्तियां समर्पित कर दी थीं[12]। सभी देवता उनके कृत्यों एवं मन्तव्यों को शिथिल करने में असमर्थ रहते हैं; यहां तक कि वरुण और

---

1. प्र मज्मना दिव इन्द्रः पृथिव्याः।
   प्रोरोर्महो अन्तरिक्षाद् ऋजीषी॥ ऋ० 3.46.3.
2. अर्धमिदस्य प्रति रोदसी उभे। ऋ० 6.30.1.
   नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति। ऋ० 10.119.7.
3. अरं रोदसी कक्ष्ये३नास्मै। ऋ० 1.173.6.
4. यदिन्न्विन्द्र पृथिवी दशभुजिरहानि विश्वा ततनन्त कृष्टयः।
   अत्राह ते मघवन् विश्रुतं सहो द्यामनु शवसा बर्हणा भुवत्॥ ऋ० 1.52.11.
5. न ही न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वाः। ऋ० 4.18.4.
6. न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। ऋ० 7.32.23.
7. सत्यमित्तन्न त्वावाँ अन्यो अस्तीन्द्र देवो न मर्त्यो ज्यायान्। ऋ० 6.30.4.
8. न ते पूर्वे मघवन्नापरासो न वीर्यं१ नूतनः कश्चनाप। ऋ० 5.42.6.
9. न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः। ऋ० 1.100.15.
10. अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।
    न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध॥ ऋ० 1.165.9.
11. प्र मात्राभी रिरिचे रोचमानः प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीतः। ऋ० 3.46.3.
12. देवाश्चित्ते असुर्याय पूर्वेऽनु क्षत्राय ममिरे सहांसि। ऋ० 7.21.7.

सूर्य भी उन के शासन में सीमित हैं[1]। मित्र, अर्यमन् और वरुण के शत्रुओं का नाश करने के निमित्त इन्द्र का आह्वान किया गया है[2] और कहा गया है कि युद्ध के द्वारा उन्हों ने देवताओं के लिए पर्याप्त स्थल प्राप्त किया। एकमात्र इन्द्र ही संपूर्ण विश्व के स्वामी हैं[3]। गतिमानों और प्राणवानों के वे पति हैं[4]। वे गतिमान् वस्तुओं तथा मनुष्यों के राजा हैं; चलनेवालों और देखनेवालों के वे नेत्र हैं[5]। वे मानव जातियों और देवों के नेता हैं[6]। अनेक बार उन्हें विश्व का शासक कहा गया है[7] और इससे भी अधिक बार उन्हें स्वतन्त्र शासक बताया गया है[8]। एक पुराने ऋषि की भांति अपने ओज से वे अकेले ही शासन करते हैं[9]। कतिपय बार उन्हें असुर विशेषण दिया गया है[10]। इन्द्र के अपने अनेक निजी विशेषण उनकी असीम शक्ति के द्योतक हैं। 'शक्र' (शक्तिशाली) का प्रयोग इन्द्र के लिए लगभग 40 बार हुआ है और अन्य देवताओं के लिए केवल 5 बार। 'शचीवत्' इन्द्र के लिए लगभग 15 बार प्रयुक्त हुआ है जबकि अन्य देवताओं के लिए केवल दो बार। 'शचीपति' जो ऋग्वेद में 11 बार आता है केवल एक अपवाद[11] को छोड़कर सभी जगह इन्द्र के साथ संबद्ध है। अपवादरूप में यह अश्विनों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जहां उनसे प्रार्थना की गई है कि वे उपासकों को शक्ति प्रदान करें (शचीभिः)। इन्द्र के लिए एक मन्त्र में 'शचीपते शचीनाम्' इस अतिरञ्जित उक्ति का प्रयोग हुआ है। यह विशेषण वेदोत्तरकालीन साहित्य में चलता आया

1. यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः। ऋ० 1.101.3.
न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः। ऋ० 2.38.9.
2. त्वं ह त्यदृणया इन्द्र धीरोऽसिर्न पर्व वृजिना शृणासि।
प्र ये मित्रस्य वरुणस्य धाम युजं न जना मिनन्ति मित्रम्॥ ऋ० 10.89.8.
प्र ये मित्रं प्रार्यमणं दुरेवाः प्र संगिरः प्र वरुणं मिनन्ति।
न्यमित्रेषु वधमिन्द्र तुम्रं वृषन् वृषाणमरुषं शिशीहि॥ ऋ० 10.89.9.
3. एको विश्वस्य भुवनस्य राजा। ऋ० 3.46.2.
4. यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्। ऋ० 1.101.5.
5. त्वं विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुषः। ऋ० 10.102.12.
6. इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा। ऋ० 3.34.2.
7. भुवः सम्राळिन्द्र सत्ययोनिः। ऋ० 4.19.2.
8. युध्मस्य ते वृषभस्य स्वराजः। ऋ० 3.46.1.
9. ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा। इन्द्र चोष्कूयसे वसु॥ ऋ० 8.6.41.
10. त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नॄन् पाह्यसुर त्वमस्मान्। ऋ० 1.174.1.
11. प्राचीमु देवाश्विना धियं मेऽमृध्रां सातये कृतं वसूयुम्।
विश्वा अविष्टं वाज आ पुरंधीस्ता नः शक्तं शचीपती शचीभिः॥ ऋ० 7.67.5.

है, जहां यह 'शची (इन्द्रपत्नी) के पति' का बोधक है। पिशल तो इस अर्थ को स्वयं ऋग्वेद में पाते हैं। बहुतायत से प्रयुक्त होनेवाला 'शतक्रतु' विशेषण ऋग्वेद में 60 बार आता है; जिनमें से केवल दो अपवादों को छोड़कर इसका सभी जगह इन्द्र के साथ संबन्ध है। अधिकांश स्थलों पर 'सत्पति' विशेषण इन्द्र के लिए आया है। इन्द्र के पराक्रम और ओज के वर्णन में भी अन्य अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। वे बलवान् (तवस्), तेज (नृतु), विजयी (तुर), शूर तथा असीम ओजवाले हैं[1]। उनका पराक्रम निर्बाध है[2]। वे हाथी की भांति शक्ति से आवृत हैं और भयावह सिंह की भांति शस्त्रों से सुसज्जित हैं[3]। वे युवक हैं; वे अजर एवं पूर्व्य हैं।

इन्द्र के व्यक्तिगत गुणों और उनके गरिमान्वित चरित्र का विवेचन करने के उपरान्त हम उस महान् गाथा पर आते हैं जो उनके स्वरूप का आधार है। सोम-पान से मत्त होने के बाद मरुतों द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर इन्द्र अवर्षण-राक्षसों के प्रधान के साथ युद्ध में भिड़ जाते हैं। इस राक्षस-श्रेष्ठ को अधिकांश स्थलों पर वृत्र (निरोधक) एवं अहि (सर्प या राक्षस) कहा गया है। एक भयावह युद्ध होता है। जब इन्द्र अपने वज्र से वृत्र पर आघात करते हैं तब द्यावापृथिवी भय से प्रकम्पित हो उठती है[4]। इन्द्र के वज्र-निर्माता त्वष्टा भी इन्द्र के क्रुद्ध होने पर कांपने लगते हैं। इन्द्र अपने वज्र से वृत्र का भेदन कर डालते हैं[5]। वे अपने वज्र से उसकी पीठ पर प्रहार करते हैं[6]; अपने नुकीले अस्त्र से उसके मुंह पर चोट करते हैं[7], और उसके मर्मस्थलों को ढूंढ़ लेते हैं[8]। उन्होंने पानी को

1. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥ ऋ० 1.11.4.
2. इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋ० 1.84.2.
3. मृगो न हस्ती तविषीमुषाणः सिंहो न भीम आयुधानि बिभ्रत्। ऋ० 4.16.14.
4. इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही। ऋ० 1.80.11.
अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात्। ऋ० 2.11.9.
अध द्यौश्चित् ते अप सा नु वज्राद् द्वितानमद् भियसा स्वस्य मन्योः। ऋ० 6.17.9.
5. अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन। ऋ० 1.32.5.
वि वृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्रः। ऋ० 1.61.10.
जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव। ऋ० 10.89.7.
6. अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान। ऋ० 1.32.7.
इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः। ऋ० 1.80.5.
7. वृत्रस्य यद् भृष्टिमता वधेन नि त्वमिन्द्र प्रत्यानं जघन्थ। ऋ० 1 52.15.
8. येभिर्वृत्रस्येषितो विवेदामर्मणो मन्यमानस्य मर्म। ऋ० 3.32.4.

परिवृत करनेवाले[1] अथवा पानी के चारों ओर लेटनेवाले (परिशयानम्) वृत्र का हनन किया[2]; उन्हों ने पानी के ऊपर लेटनेवाले दानव को पराभूत किया[3]। उन्हों ने ऐसे वृत्र का वध किया, जो जल में छिपा हुआ था, जो जलों को तथा आकाश को रोके हुए था[4]। उन्होंने वज्र से जलों को रोकनेवाले वृत्र पर वैसे ही आघात किया जैसे वृक्ष पर विद्युत् गिरती हो[5]। फलतः अप्सुजित् भी उनके विशेषणों में से एक है।

इन्द्र वर्तमान काल में वृत्र का वध करते हैं या वैसा करने के लिए उनका आह्वान किया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि उनका युद्ध अनवरतरूप से नवीन होता चला जाता है। यह प्राकृतिक दृश्य के सतत नवीभाव का ही गाथात्मक प्रतिरूप है। वृत्र का वध करके उन्हों ने अनेक उषाओं और शरदों तक प्रवाहित होने के लिए सरिताओं को उन्मुक्त कर दिया है[6], अथवा भविष्य में ऐसा करने के लिए उनसे प्रार्थना की गई है। वे पर्वतों को विदीर्ण कर देते हैं और इस प्रकार सरिताओं को प्रवाहित करते और गौओं को घेर से बाहर निकाल देते हैं[7]; यहां तक कि अपने वज्र के रव से भी[8]। जब उन्हों ने महान् पर्वत को विदीर्ण किया, तब सरिताएं प्रवाहित हो चलीं और दानव मर गया, और दमित स्रोत, जोकि पर्वतों के स्तन हैं, छलछला उठे[9]। उन्होंने दानव का वध किया, महान् पर्वत का भेदन किया, कुए को ऊपर किया और दमित जलों को प्रवाहित किया। जिन स्रोतों को वे मुक्त करते हैं वे बंधी गौओं की तरह के हैं[10], अथवा

त्वं चिदस्य क्रतुभिर्निषत्तममर्मणो विददिदस्य मर्म । ऋ० 5.32.5.

1. अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः । ऋ० 6.20.2.
2. अहन्नहिं परिशयानमर्णः । ऋ० 4.19.2.
3. अहिमोहानमप आशयानं प्र मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः । ऋ० 5.30.6.
4. गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्स्वपीवृतं मायिनं क्षियन्तम् ।
   उतो अपो द्यां तस्तभ्वांसमहन्नहिं शूर वीर्येण ॥ ऋ० 2.11.5.
5. अध्वर्यवो यो अपो वव्रिवांसं वृत्रं जघानाशन्येव वृक्षम् । ऋ० 2.14.2.
6. पूर्वीरुषसः शरदश्च गूर्ता वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून् । ऋ० 4.19.8.
7. त्वं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् पर्वशश्चकर्तिथ ।
   अवासृजो निवृताः सर्तवा अपः ॥ ऋ० 1.57.6.
   बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः । ऋ० 10.89.7.
8. वज्रस्य यत्ते निहतस्य शुष्मात् स्वनाच्चिदिन्द्र परमो ददार । ऋ० 6.27.4.
9. महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद् वः सृजो वि धारा अव दानवं हन् । ऋ० 5.32.1.
   त्वमुत्साँ ऋतुभिर्बद्बधानाँ अरंह ऊधः पर्वतस्य वज्रिन् । ऋ० 5.32.2.
10. गा न व्राणा अवनीरमुञ्चत् । ऋ० 1.61.10.

बोलती हुई गौओं की भांति समुद्र की ओर प्रवाहित होते हैं[1]। उन्होंने गौओं और सोम को जीता एवं सात सरिताओं को प्रवाहित किया[2]। वे बन्दी जल को उन्मुक्त करते हैं[3]। वे दानव के द्वारा बाधित सरिताओं को प्रवाहित करते हैं[4] उन्होंने सरिताओं के लिए अपने वज्र से मार्ग बनाया[5], जल की बाढ़ को समुद्र की ओर प्रवाहित किया[6]। वृत्र द्वारा ग्रस्त सलिलों को प्रवाहित किया। वृत्र-वध करके उन्होंने सलिल[7] के बन्द द्वार का उद्घाटन किया[8]। उनके वज्र 90 सरिताओं में विकीर्ण हैं[9]। इन्द्र-वृत्र के युद्ध का और इन्द्र द्वारा जल-मोचन का उल्लेख ऋग्वेद में बार-बार आता है। इस गाथा के परिवर्तन एक सूक्त[10] में आद्योपान्त सूचित किये गये हैं। एक अन्य सूक्त में वृत्र-युद्ध का विवरण पूरा दिया गया है[11]। वृत्र के साथ युद्ध करना इन्द्र का विशिष्ट कार्य है, इस तथ्य का संकेत उस शैली में प्राप्य है, जिसमें ऋग्वेद के प्रथम दो मन्त्रों में इन्द्र-वृत्र-युद्ध का सारांश दिया गया है:—"मैं इन्द्र के कृत्यों की घोषणा करूंगा, जिन्हें वज्र धारण करनेवाले ने पहले-पहल किया:—उन्होंने पर्वत पर परिशयान दानव का वध किया, जलों को उन्मुक्त किया, पर्वतों के उदर विदीर्ण किये। भौतिक पदार्थों को प्रायः आलंकारिक पदों के द्वारा सूचित किया गया है—वज्र, पर्वत, जल या सरिताएं; जबकि विद्युत्, मेघगर्जन, मेघ, वर्षा (वृष्टि, वर्षा या √वृष्) का सीधा उल्लेख प्रायः नहीं के बराबर हुआ है[12]। प्रवाहित की गई सरिताएं बहुधा पार्थिव हैं, किंतु इसमें संदेह नहीं कि ऋग्वेद में जल और सरि-

---

1. वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः। ऋ० 1.32.2.
2. अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्। ऋ० 1.32.12.
   अवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्। ऋ० 2.12.12.
3. वज्रेण हत्वा निरपः ससर्ज। ऋ० 1.103.2.
4. सृजो महीरिन्द्र या अपिन्वः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः। ऋ० 2.11.2.
5. वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्। ऋ० 2.15.3.
6. स माहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्। ऋ० 2.19.3.
7. सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानान्। ऋ० 4.17.1.
8. अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार। ऋ० 1.32.11.
9. वि ते वज्रासो अस्थिरन्नवतिं नाव्या अनु। ऋ० 1.80.8.
10. इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम्।
    शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ऋ० 1.80.1. आ.
11. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
    अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्॥ ऋ० 1.32.1. आ.पू.सू
12. अभि स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यतो रघ्वीरिव प्रवणे सस्रुरूतयः। ऋ० 1.52.5.

ताएं बहुतायत से अन्तरिक्षस्थ अथवा दिव्य माने गये हैं[1] । कवि की इच्छा है कि वह वृत्र-गाथा को ऐसी शब्दावली में व्यक्त करे जो अन्य देवताओं के लिए प्रयुक्त शब्दावली से कुछ भिन्न हो। किंतु साथ ही इन्द्र के द्वारा उन्मुक्त हुए जलों की मात्रा इतनी अधिक है कि 'वर्षा' के स्थान पर 'सरित्' शब्द का प्रयोग किये बिना कवि से नहीं रहा जाता। इन्द्र के द्वारा उन्मुक्त की गई 'गौएं' अनेक स्थलों पर जलों की व्यापक हो सकती हैं, क्योंकि जलों की तुलना मौके-मौके पर रांभनेवाली गौओं के साथ की गई है। उदाहरणार्थ, कहा गया है कि इन्द्र ने दानव को मारकर मनुष्यों के लिए गौएं प्राप्त कीं[2] । प्रकरण से प्रतीत होता है कि जब यह वर्णन आता है कि इन्द्र ने वज्र की सहायता से गौओं को प्रकाश के साथ अन्धकार में से निकाला, तब तो तात्पर्य जलों से होता है[3]; किंतु अन्य स्थलों पर गौओं का संबन्ध इन्द्र के द्वारा की गई प्रकाश-प्राप्ति के साथ लगाया जा सकता है; क्योंकि रात्रि की कालिमा में से प्रस्फुटित होनेवाली उषा की लाल किरणों की उपमा बन्द बाड़े में से निकलते हुए पशुओं के साथ बहुत बार आती है। यद्यपि ऋग्वेद में अभ्र शब्द से गम्य बादलों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है तथापि यह अस्वीकार्य नहीं कि वे, जलपूर्ण होने के कारण, गाथात्मक ढंग से बहुधा गाय के रूप में हमारे सामने आते हैं। इसी प्रकार ऊधर्, उत्स, कवन्ध, कोश तथा अन्य अनेक शब्दों से इन्हीं को सूचित किया गया है। और जब यह कहा जाता है कि इन्द्र के जन्म के समय गौएं रांभीं तब तात्पर्य इन मेघों ही से है।

फिर भी इन्द्र-गाथा में बादल बहुधा पर्वत अथवा गिरि के रूप में आते हैं। वे ऐसे पर्वत हैं जिन पर दानव निवास करते हैं[4] अथवा जहां से इन्द्र उन्हें नीचे गिरा देते हैं[5] । इन्द्र अपने लक्ष्यवेधी बाणों को इन्हीं पर्वतों पर से छोड़ते हैं। गौओं

वृत्रस्य यत्प्रवणे दुर्गृभिश्वनो निजघन्थ हन्वोरिन्द्र तन्यतुम् । ऋ० 1.52.6.
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् । ऋ० 1.52.14.

1. जेषः स्वर्वतीरपः । ऋ० 1.10.8.
तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्र वाच्यं कृतम् । ऋ० 2.22.4.
2. तद्धि हव्यं मनुषे गा अविन्ददहन्नहिं पपिवाँ इन्द्रो अस्य । ऋ० 5.29.3.
जघन्वाँ उ हरिभिः संभृतक्रतविन्द्र वृत्रं मनुषे गातुयन्नपः । ऋ० 1.52.8.
3. युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत् । ऋ० 1.33.10.
4. अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणम् । ऋ० 1.32.2.
यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् । ऋ० 2.12.11.
5. अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत् । ऋ० 1.130.7.
उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि । अवाहन्निन्द्र शम्बरम् ॥ ऋ० 4.30.14.
अव गिरेर्दासं शम्बरं हन् । ऋ० 6.26.5.

को उन्मुक्त करने के लिए उन्होंने पर्वत को विदीर्ण कर दिया[1]। साथ ही यह बादल एक ऐसी चट्टान (अद्रि) है, जो गौओं को परिवृत किये हुए है और जिसे इन्द्र अपने स्थान से प्रच्युत करते हैं[2]। इन्द्र ने अद्रि को ढ़ीला करके गौओं को सुलभ बनाया[3]। उन्होंने पहाड़ (अश्मन्) के अन्दर बद्ध गौओं को मुक्त किया[4]। मेघाद्रि या मेघ-पर्वत स्थिर और जलविहीन बादलों का और मेघ-गौएं गतिमान् और शब्द करनेवाले बादलों के प्रतिरूप प्रतीत होते हैं। ओल्डेनबेर्ग का विचार है कि ऋग्वेदीय कवियों के लिए इन्द्र-वृत्र गाथा में आने वाले पर्वत तथा सरिताएं पृथिवीस्थ हैं, यद्यपि वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि मूलतः वे अन्तरिक्ष-स्थानीय थे और उत्तरकाल तक भी वैसे ही समझे जाते रहे हैं।

विद्युत्-तूफान की गाथात्मक कल्पना में मेघ भी बहुधा वायु में स्थित दानवों के पुर बन जाते हैं। उनकी संख्या 90 या 99 या 100 बतलाई गई है[5]। ये पुर् गतिमान्[6], शारद[7], धातु के बने हुए[8] अथवा पाषाण[9] हैं। इन्द्र इन्हें भेद डालते हैं[10]। इसीलिये पुरभिद् विशेषण इन्द्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। एक मन्त्र[11] में उन्हें पुरभिद् तथा साथ ही जल का प्रेमी कहा गया है। एक दूसरे मन्त्र में इस गाथा के विभिन्न पक्षों का एकत्र उल्लेख हुआ है:—उन्होंने वृत्र का वध किया, दुर्ग को तोड़ा, नदियों के लिये मार्ग बनाए, पर्वत को विदीर्ण किया, और अपने

---

1. यः कृन्तदिद्वि योन्यं त्रिशोकाय गिरिं पृथुम्।
   गोभ्यो गातुं निरेतवे॥ ऋ० 8.45.30.
2. महामद्रिं परि गा इन्द्र सन्तं नुत्था अच्युतं सदसस्परि स्वात्। ऋ० 6.17.5.
3. सतीनमन्युरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम्। ऋ० 10.112.8.
4. यस्य गा अन्तरश्मनो मदे दृळहा अवासृजः। ऋ० 6.43.3.
   अश्मानं चिच्छवसा दिद्युतो वि विदो गवामूर्वमुस्रियाणाम्। ऋ० 5.30.4.
5. अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः। ऋ० 2.14.6.
   दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्रः पुरो व्यैरच्छम्बरस्य। ऋ० 2.19.6.
   द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा। ऋ० 8.17.14.
6. त्वं पुरं चरिष्ण्वं वधैः शुष्णस्य सं पिणक्। ऋ० 8.1.28.
7. पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः। ऋ० 1.131.4.
   सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त्। ऋ० 1.174 2
   सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त्। ऋ० 6.20.10.
8. हत्वी दस्यून्पुर आयसीर्नि तारीत्। ऋ० 2.20.8.
9. शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत। ऋ० 4.30.20.
10. त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः। ऋ० 1.51.5.
11. सध्रीचीः सिन्धुमुशतीरिवायन्त्सनाज्जार आरितः पूर्भिदासाम्। ऋ० 10.111.10.

मित्र को गौएं दीं[1]।

वृत्र-गाथा की महत्ता ही के कारण इन्द्र का प्रमुख विशेषण 'वृत्रहन्' बन गया है। ऋग्वेद में इसका उनके लिए प्रयोग लगभग 70 बार हुआ है। अग्नि ही एक मात्र दूसरे देवता हैं जिनके लिए इसका प्रयोग अनेक बार हुआ है; और अग्नि के लिए इस विशेषण के प्रयोग का आधार यह है कि ये भी इन्द्र के साथ द्वन्द्व में बार-बार संबद्ध हुए हैं। सोम के लिए आनेवाले इस विशेषण के प्रयोग स्पष्टतः गौण हैं। यद्यपि कभी-कभी स्पष्ट शब्दों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि वृत्र को इन्द्र ने अकेले ही अपनी शक्ति से मारा[2] तथापि अन्य देवता भी उनके इस वीर कृत्य में उनका हाथ बंटाते दीख पड़ते हैं। फिर भी सेहरा इस काम का इन्द्र ही के सिर पर है। सामान्यतः देवता लोग किसी कार्य या युद्ध में[3] अथवा वृत्र-वध में[4] उन्हें अपना अग्रसर करते हुए कहे गए हैं। देवताओं ने वृत्र-वध में इन्द्र की शक्ति को बढ़ाया[5] उन्होंने इन्द्र में ओज का संचार किया[6] अथवा उनके हाथों में वज्र दिया है[7]। किंतु सबसे अधिक बार तो उन्हें इस काम के लिए मरुतों से प्रेरणा मिली है[8]। यहां तक कि वृत्र से भयभीत होकर जब अन्य सभी

---

1. जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून्।
   बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः॥
   ऋ० 10.89.7.
2. वधीं वृत्रं मरुत इन्द्रियेण स्वेन भामेन तविषो बभूवान्। ऋ० 1.165.8.
   स्वेना हि वृत्रं शवसा जघन्थ। ऋ० 7.21.6.
   एता त्या ते श्रुत्यानि केवला यदेक एकमकृणोरयज्ञम्। ऋ० 10.138.6.
3. प्र वीर्येण देवताति चेकिते विश्वस्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः। ऋ० 1.55.3.
   अध त्वा विश्वे पुर इन्द्र देवा एकं तवसं दधिरे भराय। ऋ० 6.17.8.
4. इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः। ऋ० 8.12.22.
5. विश्वे देवासो अध वृष्ण्यानि तेऽवर्धयन्सोमवत्या वचस्यया।
   रुद्धं वृत्रमहिमिन्द्रस्य हन्मनाग्निर्न जम्भैस्तृष्वन्नमावयत्॥ ऋ० 10.113.8.
6. तस्मिन्नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि सं दधुः। ऋ० 1.80.15
   दिवो न तुभ्यमन्विन्द्र सत्रासुर्यं देवेभिर्धायि विश्वम्। ऋ० 6.20.2.
   मयि देवासोऽवृजन्नपि क्रतुम्। ऋ० 10.48.3.
   त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे। ऋ० 10.120.3.
7. तस्मै तवस्यमनु दायि सत्रेन्द्राय देवेभिरर्णसातौ। ऋ० 2.20.8.
8. इन्द्रस्य शर्धो मरुतो य आसन्। येभिर्वृत्रस्येषितो विवेद। ऋ० 3.32.4.
   अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र। ऋ० 10.73.1.
   पुरू शंसेन वावृधुष्ट इन्द्रम्। ऋ० 10.73.2.

देवता भाग गये[1] तब मरुद्गण ने ही उनका साथ दिया था। किंतु एक मन्त्र में मरुतों द्वारा भी इन्द्र को छोड़ दिया गया दिखाया गया है[2]। वृत्र-युद्ध में अग्नि, सोम और विष्णु अनेक बार इन्द्र के सहायक बनते हैं। यहां तक कि पृथिवीस्थ पुरोहित भी वृत्र-युद्ध में इन्द्र का साथ देते हैं[3]। उपासकों ने (जरिता) इन्द्र के हाथ में वज्र धारण कराया[4], और यज्ञ ने वृत्र-वध में वज्र की सहायता की[5]। सूक्त, स्तुति, उपासना तथा सोम भी इन्द्र के ओज को बराबर बढ़ाते रहे हैं।

इन्द्र वृत्र के अलावा और बहुत-से छोटे-बड़े दानवों के साथ भी युद्ध में प्रवृत्त होते हैं। इनमें से उरण नामक राक्षस के, जिसका उल्लेख केवल एक बार हुआ है[6], 99 बांह हैं; विश्वरूप के तीन सिर और छः नेत्र हैं[7]। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि इन्द्र उन्हें वज्र से ही मारें। उदाहरणार्थ अर्बुद को वे अपने पैरों तले कुचलते अथवा हिम में दबाकर मारते हैं[8]। कभी-कभी यह भी कहा गया है कि इन्द्र दानव-सामान्य की हत्या करते हैं। इस प्रकार कहावत है कि वे अपने चक्र से असुरों का उन्मूलन करते हैं; अपने वज्र से वे राक्षसों को उसी तरह समाप्त करते हैं जैसे कि अग्नि सूखे बन को[9]। द्रोहियों का पराजय तो उनके बाएं हाथ का काम है[10]।

---

1. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।
   मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि॥ ऋ० 8.96.7.
   उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवाः। ऋ० 4.18.11.
   इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन्सर्वा देवता अब्रवीदनु मोपतिष्ठध्वमुप मा ह्वयध्वमिति तथेति तं हनिष्यन्त आद्रवन्सोऽवेन्मां वै हनिष्यन्त आद्रवन्ति हन्तेमान्भीषया इति तानभिप्राश्वसीत्तस्य श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अद्रवन् मरुतो हैनं नाजहुः।
   ऐ० ब्रा० 3.20.
2. कद्ध नूनं कधप्रियो यदिन्द्रमजहातन। को वः सखित्व ओहते। ऋ० 8.7.31
3. युजं हि मामकृथा आदिदिन्द्र शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन्। ऋ० 5.30.8.
   इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः। ऋ० 10.44.9.
4. आ ते वज्रं जरिता बाह्वोर्धात्। ऋ० 1.63.2.
5. यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत्। ऋ० 3.32.12.
6. अध्वर्यवो य उरणं जघान नव चख्वांसं नवतिं च बाहून्। ऋ० 2.14.4.
7. स इदासं तुवीरवं पतिर्दन्षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत्। ऋ० 10.99.6.
8. महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा। ऋ० 1.51.6.
   हिमेनाविध्यदर्बुदम्। ऋ० 8.32.26.
9. अग्निर्न शुष्कं वनमिन्द्र हेती रक्षो नि धक्ष्यशनिर्न भीमा। ऋ० 6.18.10.
10. द्रुहं जिघांसन्ध्वरसमनिन्द्रां तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका। ऋ० 4.23.7.

जल की मुक्ति के साथ ही प्रकाश, सूर्य और उषस् के जीतने का भी संबन्ध है। इन्द्र ने प्रकाश को और दिव्य जलों को जीता[1]। वृत्र की हत्या के लिए तथा प्रकाश की प्राप्ति के लिए इनका आह्वान बार-बार किया गया है। आयस वज्र के द्वारा वृत्र-वध करने के उपरान्त उन्होंने मनुष्य के लिए सलिल को प्रवाहित किया और सूर्य को उसके भासमान रूप में द्युलोक में स्थापित किया[2]। दानव-हन्ता इन्द्र ने जल के परिप्लाव को समुद्र की ओर प्रवाहित किया, सूर्य को जन्म दिया और गौओं को हासिल किया[3]। दानवों का वध करने के उपरान्त उन्होंने सूर्य तथा सलिलों को पाया[4]। दानवराज का वध करके और पर्वतों से जलों को उन्मुक्त करके उन्होंने सूर्य, आकाश और उषस् को जन्म दिया[5]। जब इन्द्र ने वायुमण्डल में से दानव को उड़ाया तो सूर्य जगमगा उठा[6]। यों तो सूर्य प्रायः युद्ध के परिणाम-स्वरूप चमकते हैं, तथापि इन्द्र के शस्त्र के रूप में भी उनका नाम आता है; क्योंकि इन्द्र सूर्य की किरणों द्वारा दानवों को जला डालते हैं[7]। वृत्र-युद्ध का उल्लेख किये बिना भी इन्द्र के लिए कहा गया है कि उन्होंने प्रकाश को[8] अन्धकार में[9] पाया। इन्द्र सूर्य के जनक

अधि ष्णुना बृहता वर्तमानं महो द्रुहो अप विश्वायु धायि। ऋ० 4.28.2.

1. ससवांसं स्वरपश्च देवीः। इन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः। ऋ० 3.34.8.
2. वृत्रं यदिन्द्र शवसावधीरहिमादित्सूर्यं दिव्या रोहयो दृशे। ऋ० 1.51.4.
   जघन्वाँ उ हरिभिः संभृतक्रतविन्द्र वृत्रं मनुषे गातुयन्नपः।
   अयच्छथा बाह्वोर्वज्रमायसमधारयो दिव्या सूर्यं दृशे॥ ऋ० 1.52.8.
3. स माहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्। ऋ० 2.19.3.
4. अजनयत्सूर्यं विदद् गाः॥ ऋ० 2.19.3. दे० 3.34.8. ऊपर
   ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्।
   हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून्प्रार्यं वर्णमावत्॥ ऋ० 3.34.9.
5. यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः।
   आत्सूर्यं जनयन् द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से॥ ऋ० 1.32.4.
   साकं सूर्यं जनयन्द्यामुषासम्। ऋ० 6.30.5.
6. निरग्नयो रुरुचुर्निरु सूर्यो निः सोम इन्द्रियो रसः।
   निरन्तरिक्षादधमो महामहिं कृषे तदिन्द्र पौंस्यम्॥ ऋ० 8.3.20.
7. इन्द्रः सूर्यस्य रश्मिभिर्न्यर्शसानमोषति। ऋ० 8.12.9.
8. अविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय। ऋ० 3.34.4.
   येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ। ऋ० 8.15.5.
   विदत्स्व१र्मनवे ज्योतिरार्यम्। ऋ० 10.43.4.
9. स्व१र्यद् वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः।

हैं[1]। उन्होंने शुक्र-ज्योति सूर्य को आकाश में स्थित किया[2]। उन्होंने सूर्य को प्रकाशित किया[3] और उन्हें आकाश में आरोहित कराया[4]। उन्होंने सूर्य को प्राप्त किया[5] अथवा उन्होंने सूर्य को अन्धकार में पाया, जहां कि वह निवास कर रहा था[6]। साथ ही इन्द्र ने सूर्य के लिए पथ भी तैयार किया[7]।

सूर्य की भांति उषा का आविर्भाव भी इन्द्र करते हैं[8]। उन्होंने उषाओं और सूर्य को प्रकाशित किया है[9]। उन्होंने उषस् और सूर्य के द्वारा अन्धकार को खोल दिया[10]। वे सूर्य के द्वारा उषस् को चुरा लेते हैं[11]। उषस् और सूर्य के साथ[12] अथवा केवल सूर्य के साथ[13] उल्लिखित गौएं, जिन्हें इन्द्र प्राप्त करते, उन्मुक्त करते, अथवा जीत लेते हैं, संभवतः जल अथवा मेघ की उतनी प्रतिरूप नहीं है जितनी कि वे प्रातःकालीन किरणों की; और बेर्गेन तथा कतिपय अन्य विद्वानों के अनुसार प्रातः-

अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥ ऋ० 4.16.4.

1. क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य । ऋ० 3.49.4.
2. यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः । ऋ० 8.12.30.
3. इन्द्रः सूर्यमरोचयत् । ऋ० 8.3.6.
4. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि । ऋ० 1.7.3.
5. स मन्युमीः समदनस्य कर्ताऽस्माकेभिर्नृभिः सूर्यं सनत् । ऋ० 1.100.6.
   सनत्सूर्यं सनदपः सुवज्रः । ऋ० 1.100.18.
6. सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम् । ऋ० 3.39.5.
7. इन्द्रः किल श्रुत्या अस्य वेद स हि जिष्णुः पथिकृत्सूर्याय । ऋ० 10.111.3.
8. यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः । ऋ० 2.12.7.
   इन्द्रः सुयज्ञ उषसः स्वर्जनत् । ऋ० 2.21.4.
   इन्द्रो नृभिरजनद् दीद्यानः साकं सूर्यमुषसं गातुमग्निम् । ऋ० 3.31.15.
   जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः । ऋ० 3.32.8.
9. हर्यन्नुषसमर्चयः सूर्यं हर्यन्नरोचयः । ऋ० 3.44.2.
10. वि वरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः । ऋ० 1.62.5.
11. मुष्णन्नुषसः सूर्येण स्तवानश्नस्य चिच्छिश्नथत्पूर्व्याणि । ऋ० 2.20.5.
12. येभिः सूर्यमुषसं मन्दसानोऽवासयोऽप दृळ्हानि दर्द्रत् ।
    महामद्रिं परि गा इन्द्र सन्तं नुत्था अच्युतं सदसस्परि स्वात् ॥ ऋ० 6.17.5.
13. वि गोभिरद्रिमैरयत् । ऋ० 1.7.3.
    आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि । ऋ० 6.17.3.
    स मातरा सूर्येणा कवीनाम् । उदुस्त्रियाणामसृजन्निदानम् । ऋ० 6.32.2.
    उदाज उस्रा अपिबो मधुप्रियम् ।
    शुशोच सूर्यं ऋतजातया गिरा । ऋ० 10.138.2.

कालीन लाल बादलों की। उस्रिया एवं अप्या गौओं[1] से संभवतः जल अभिप्रेत है, किंतु विशिष्ट मन्त्रों में उनसे प्रातःकालीन किरण अथवा मेघ अभिप्रेत है। इन्द्र को देखते ही उषाएं उनसे मिलने को गईं, जबकि वे गौओं के स्वामी बने[2]। जब उन्होंने वृत्र का मानमर्दन किया तभी रात्रि की गौएं (धेनाः) दृष्टिगम्य बनीं[3]। कतिपय मन्त्रों में उषस् का उल्लेख ऐसे शब्दों में हुआ है जो गोविजय की ओर ध्यान दिलाते हैं। उदाहरणार्थ उषस् अन्धकार को उसी प्रकार खोलती है जैसे गौएं गोव्रज को खोलती हैं[4]। उषस् दृढ़ अद्रि के द्वारों को खोलती है[5]। गौएं उषाओं की ओर रांभती हैं[6]। अङ्गिरा ऋषियों ने उषस् के गोव्रज को ऊंचाई पर पहुंचकर उद्घाटित किया[7]। सूर्य के साथ उषा की उत्पत्ति का उल्लेख कभी-कभी उन्हीं मन्त्रों में हुआ है, जिनमें कि सलिलों की विजय मनाई गई है[8]। इस प्रकार विद्युत्-तूफान के बवंडर में से निकलनेवाले सूर्य के साथ संबद्ध विचारों में और रात्रि के अन्धकार से उन्मुक्त होनेवाले सूर्य-संबन्धी विचारों में अनजाने ही एक संमिश्रण-सा हो गया प्रतीत होता है। इन्द्र की गाथा में यह द्वितीय तत्त्व पहले तत्त्व का ही प्रसृत रूप प्रतीत होता है।

विद्युत्-तूफान के मध्य संपादित हुए इन्द्र के क्रिया-कलापों की अभिव्यक्ति कहीं-कहीं अधिक स्पष्ट रूप से संपन्न हुई है। कहा गया है कि इन्द्र ने द्युलोक की विद्युतों को बनाया[9] और जलों के प्रवाह नीचे की ओर प्रवृत्त किये[10]।

वृत्र-युद्ध और गौओं तथा सूर्य की जीत के साथ सोम की जीत का संबन्ध भी उभर आया है। जब इन्द्र ने अहि को वायु, अग्नि, सूर्य और सोम से दूर भगाया, तब इन्द्रिय रस प्रदीप्त हो उठा। दानव पर विजय करने के उपरान्त उन्होंने सोम को अपने पेय रूप में वरा[11]। दानवों पर विजय पाने के बाद सोम

1. य उस्रिया अप्या अन्तरश्मनो निर्गा अकृन्तदोजसा। ऋ० 9.108.6.
2. तं जानतीः प्रत्युदायन्नुषासः पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः। ऋ० 3 31.4.
3. इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः। आविर्धेना अकृणोद् राम्याणाम्। ऋ० 3.34.3.
4. गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः। ऋ० 1.92.4.
5. वि दृळ्हस्य दुरो अद्रेरौर्णोः। ऋ० 7.79.4.
6. प्रति गाव उषसं वावशन्त। ऋ० 7.75.7.
7. इदा हि त उषो अद्रिसानो गोत्रा गवामङ्गिरसो गृणन्ति। ऋ० 6.65.5.
8. यत्रा दशस्यन्नुषसो रिणन्नपः। ऋ० 10.138.1.
9. यश्चासमा अजनो दिद्युतो दिव उरुरूर्वाँ अभितः सास्युक्थ्यः। ऋ० 2.13.7.
10. अधराचीनमकृणोदपामपः। ऋ० 2.17.5.
11. अत्रा यदिन्द्रः प्रथमा व्याश वृत्रं जघन्वाँ अवृणीत सोमम्। ऋ० 3.36.8.

उनकी निजी संपत्ति बन गया[1] और वे सोम-मधु के राजा बन गये[2]। उन्होंने ग्रावा द्वारा अभिषुत सोम को अनावृत किया और गौओं को (घेर से) बाहर निकाला[3]। उन्होंने सोम को गौओं के साथ ही जीता[4]। द्युलोक में उन्होंने गुप्त अमृत को पाया[5]। उन्होंने लोहित गौओं (उस्त्रियायाम) में मधु को एकत्र पाया[6]। आमा गाय पके दूध के साथ विचरण करती है और लोहित गाय में सभी स्वाद संनिहित हैं, जिन्हें इन्द्र ने भोग के लिए वहां स्थापित किया है[7]। इन्द्र ने 'आमा' काली या लोहित[8] गौओं[9] में पके दूध का निधान किया, और उन गौओं के लिए उन्होंने द्वार खोल दिये[10]। इस विषय के अधिकांश स्थलों पर इन्द्र के अखिल सृष्टि-विषयक कार्यों का वर्णन हुआ है; फलतः लक्षित होता है कि इन मन्त्रों में मौलिक रूप से मेघ की ओर संकेत है।

इन्द्र ने चलायमान पर्वतों और पृथिवी को स्थिर किया[11]। एक परवर्ती रचना में आता है कि इन्द्र ने पर्वतों के पर काट लिये। ये पर्वत पुराने युग में जहां चाहते उतर पड़ते थे और पृथिवी को कंपा देते थे। इनके कटे पर ही गरजनेवाले बादल बन गये[12]। वेदोत्तरकालीन साहित्य की यह एक प्रिय गाथा बन गई है। पिशल के अनुसार इसका मूल ऋग्वेद के[13] मन्त्र में है। इन्द्र ने ही आकाश के प्रकाशमान लोक को स्थित किया[14]। उन्होंने पृथिवी को संभाला और द्युलोक को

---

1. यदेदर्देवीरसंहिष्ट माया अथाभवत्केवलः सोमो अस्य। ऋ० 7.98.5.
2. राजाभवन्मधुनः सोम्यस्य। ऋ० 6.20.3.
3. अपावृणोद्धरिभिरद्रिभिः सुतमुद्गा हरिभिराजत। ऋ० 3.44.5.
4. अजयो गा अजयः शूर सोमम्। ऋ० 1.32.12.
5. अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळहम्। ऋ० 6.44.23.
6. इन्द्रो मधु संभृतमुस्त्रियायां पद्वद् विवेद शफवन्नमे गोः। ऋ० 3.39.6.
7. विश्वं स्वाद्म संभृतमुस्त्रियायां यत्सीमिन्द्रो अदधाद् भोजनाय। ऋ० 3.30.14.
8. आमासु चिद्दधिषे पक्वमन्तः पयः कृष्णासु रुशद् रोहिणीषु। ऋ० 1.62.9.
9. यो गोषु पक्वं धारयत्। ऋ० 8.32.25.
10. और्णोर्दुर उस्त्रियाभ्यो वि दृळहो दूर्वाद् गा असृजो अङ्गिरस्वान्। ऋ० 6.17.6.
11. यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। ऋ० 2.12.2.
    गिरीँरज्रान् रेजमानाँ अधारयत्। ऋ० 10.44.8.
12. इन्द्रः पक्षानछिनत्तैरिमामदृंहद् ये पक्षा आसँस्ते जीमूता अभवन्। मै० सं० 1.10.13.
13. इन्द्रज्येष्ठान् बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः।
    यथायथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते॥ ऋ० 4.54.5.
14. इन्द्रेण रोचना दिवो दृळहानि दृंहितानि च।
    स्थिराणि न पराणुदे॥ ऋ० 8.14.9.

स्तम्भित किया है[1]। जैसे दो चक्र धुरी के द्वारा अलग-अलग रहते हैं, वैसे ही इन्द्र ने द्युलोक और पृथिवीलोक को पृथक्-पृथक् संभाल रखा है[2]। वे द्यु और पृथिवी को[3] चर्म की भांति फैलाते हैं[4]। इन्द्र द्यु और पृथिवी के जनक हैं[5]। अपने महान् गुह्य नाम से ही उन्होंने भूत और भव्य को जन्म दिया[6] और क्षणमात्र में असत् को सत् में परिवर्तित कर दिया[7]। द्युलोक और पृथिवी के पृथक्करण को और इन दोनों के विधारण को कभी-कभी इन्द्र के द्वारा एक राक्षस पर पाई विजय का परिणाम भी बताया गया है[8]। उस राक्षस ने इन दोनों को एक जगह जकड़ रखा था[9]। वृत्र से युद्ध करने के लिए जब इन्द्र आविर्भूत हुए तब उन्होंने पृथिवी को प्रसृत और आकाश को स्थिर किया। अहि-हन्ता ने जब सरिताओं के लिए मार्ग खोला तब उन्होंने पृथिवी को द्युलोक के लिए दृष्टिगोचर बनाया[10]। अन्यत्र कहा गया है कि इन्द्र ने गुप्त द्यावापृथिवी का आविर्भाव किया, अथवा प्रकाश और जलों के साथ इन दोनों को जीता[11]। संभवत: इस प्रकार की धारणाओं का आरंभबिन्दु इस बात में है कि प्रकाश खिलने पर आंख का व्यापारक्षेत्र विस्तृत हो जाता है, जिससे आकाश और धरती अलग-अ ग होते प्रतीत होते हैं, जोकि अंधकार के कारण अब तक एक जगह मिश्रित हु पड़े थे।

वज्रपाणि इन्द्र को, जोकि युद्ध में अन्तरिक्षस्थ दानवों को छिन्न-भिन्न करते हैं, योद्धा लोग अनवरत आमंत्रित करते हैं[12]। युद्ध के प्रमुख देवता होने के नाते उन्हें भौम शत्रुओं के साथ युद्ध करनेवाले आर्यों के सहायक के रूप में और सभी

---

1. अधारयत्पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः। ऋ० 2.17.5.
2. यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक् तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम्। ऋ० 10.89.4.
3. इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छवः। ऋ० 8.3.6.
4. उभे यत्समवर्तयत्। इन्द्रश्चर्मेव रोदसी। ऋ० 8.6.5.
5. जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। ऋ० 8.36.4.
   अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः। ऋ० 6.47.4.
6. महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग् येन भूतं जनयो येन भव्यम्। ऋ० 10.55.2.
7. असच्च सन्मुहुराचक्रिरिन्द्रः। ऋ० 6.24.5.
8. आद् रोदसी वितरं वि ष्कभायत् संविव्यानश्चिद् भियसे मृगं कः।
   जिगर्तिमिन्द्रो अपजर्गुराणः प्रति श्वसन्तमव दानवं हन्॥ ऋ० 5.29.4.
9. य इमे रोदसी मही समीची समजग्रभीत्। तमोभिरिन्द्र तं गुहः। ऋ० 8.6.17.
10. अधाकृणोः पृथिवीं संदृशे दिवे यो धौतीनामहिहन्नारिणक्पथः। ऋ० 2.13.5.
11. सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्वरपश्च देवीः।
    ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः॥ ऋ० 3.34.8.
12. तमिन्नरो वि ह्वयन्ते समीके। ऋ० 4.24.3.

देवताओं की अपेक्षा कहीं अधिक बार आमंत्रित किया गया है। वे आर्य-वर्ण के रखवाले और काले-वर्ण के उपदस्ता[1] हैं। उन्होंने 50,000 कृष्ण-वर्णों का अपाकरण किया और उनके दुर्गों को छेद-भेद डाला[2]। उन्होंने दस्युओं को आर्यों के सम्मुख झुकाया[3] और आर्यों को उन्होंने भूमि दी[4]। सप्त सिन्धु में वे दस्यु के शस्त्रों को आर्यों के संमुख पराभूत करते हैं। अन्य देवता तो आर्यों के रक्षक रूप में केवल यहां-वहां ही उल्लिखित हुए हैं: जैसेकि अश्विन्[5], अग्नि, अथवा अन्य विश्वेदेव[6]।

साधारण ढंग से तो इन्द्र को अद्वितीय उदारचेता सहायक[7], उपासकों के मुक्तिदाता और उनके अधिवक्ता, उनकी शक्ति[8], उनकी सुरक्षा की भित्ति इन रूपों में चित्रित किया गया है। उनके मित्र को कभी भी कोई क्षति नहीं पराभूत करती[9]। अनेक बार तो इन्द्र को उपासकों का मित्र अथवा कभी-कभी उनका भाई भी बताया गया है[10]। उन्हें पिता[11] या पिता-माता भी कहा गया है। पूर्व युग में वे पितरों के मित्र थे[12]; उनके लिए एक बार प्रयुक्त हुए कौशिक विशेषण[13] से ज्ञात होता है कि वे कुशिकों की संतति पर विशेष कृपा रखते थे।

1. इन्द्रः सम सु यजमानमार्यं प्रावद्विश्वेषु शतमूतिराजिषु स्वर्मीळ्हेष्वाजिषु। मनवे शासदव्रतान् त्वचं कृष्णामरन्धयत्। ऋ० 1.130.8.
2. पञ्चाशत् कृष्णा नि वपः सहस्रात्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः। ऋ० 4.16.13.
3. त्वं ह नु त्यददमायो दस्यूँरेकः कृष्टीरवनोरार्याय। ऋ० 6.18.3.
4. अहं भूमिमददामार्याय। ऋ० 4.26.2.
5. यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा। अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥ ऋ० 1.117.21.
6. नू म आ वाचमुप याहि विद्वान् विश्वेभिः सूनो सहसो यजत्रैः। ये अग्निजिह्वा ऋतसाप आसुर्ये मनुं चक्रुरुपरं दसाय॥ ऋ० 6.21.11.
7. न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः। ऋ० 1.84.19. प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं मन्दद्वीरायेन्दवे। धिया वो मेधसातये पुरंध्या विवासति। ऋ० 8.69.1.
8. त्वे अपि क्रतुर्मम। ऋ० 7.31.5.
9. न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन। ऋ० 10.152.1.
10. परा याहि मघवन्ना च याहीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम्। ऋ० 3.53.5.
11. सखा पिता पितृतमः पितॄणाम्। ऋ० 4.17.17. मां हवन्ते पितरं न जन्तवः। ऋ० 10.48.1.
12. त्वं ह्यापिः प्रदिवि पितॄणाम्। ऋ० 6.21.8. जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितॄणामक्षमव्ययं न किला रिषाथ। ऋ० 7.33.4.
13. आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब। ऋ० 1.10.11.

जो हविष् दान नहीं करते, इन्द्र उन्हें नहीं चाहते[1]। किंतु पूतात्मा मनुवर्ग को वे कल्याण और धन-जन देते हैं[2]। उनसे यह प्रार्थना भी की गई है कि वे इतर उपासकों की ओर न देखें[3] किंतु फिर भी सारे ही मनुष्य उनसे लाभ उठाते हैं[4]। उनके दोनों हाथ धन से भरपूर हैं[5]। वे धन के अटूट कोष हैं[6]। वे अपने उपासकों पर धन की वर्षा उसी प्रकार करते हैं जैसे कि कोई मनुष्य अंटकवे के द्वारा पेड़ को हिलाकर पके फलों को नीचे गिराता है[7]। कोई भी देवता या मर्त्य देने की चाह-वाले उस इन्द्र को भीषण वृषभ के समान नहीं रोक सकते, वे धन के आगार हैं[8]; और सारे ही धन-पथ उन्हीं की ओर अग्रसर होते हैं जैसे अशेष नदियां समुद्र की ओर जाती हैं[9]। एक सूक्त में आद्योपान्त इन्द्र-प्रदत्त विविध धनों की तालिका मिलती है[10]। अन्य देवताओं की भांति इन्द्र से भी गाय और घोड़े बार-बार मांगे गये हैं[11]। गोपति विशेषण प्रधानरूप से उन्हीं पर फबता है। उनके युद्धों को बार-बार 'गविष्टि' (गौओं की इच्छा) कहा गया है[12] और उनकी देय वस्तुएं उनकी विजयों की प्रतिफल समझी जाती हैं[13]। इन्द्र पत्नियां भी देते

---

1. नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः। ऋ० 10.42.4.
2. सो अप्रतीनि मनवे पुरूणीन्द्रो दाशद्दाशुषे हन्ति वृत्रम्। ऋ० 2.19.4.
   दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु। ऋ० 2.22.3.
   इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति।
   ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद् राध उपस्तुतश्चिदर्वाक्॥ ऋ० 7.27.3.
3. मो षु त्वामत्र बहवो हि विप्रा नि रीरमन् यजमानासो अन्ये। ऋ० 2.18.3.
4. सन्ति ह्यर्य आशिष इन्द्र आयुर्जनानाम्।
   अस्मान्नक्षस्व मघवन्नुपावसे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम्॥ ऋ० 8.54.7.
5. उभा ते पूर्णा वसुना गभस्ती। ऋ० 7.37.3.
6. प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम्। कोशं न पूर्णं वसुनान्यृष्टम्। ऋ० 10.42.2.
7. वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूनुहीन्द्र संपारणं वसु। ऋ० 3.45.4.
8. इन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम्। ऋ० 1.51.1.
9. सं जग्मिरे पथ्या रायो अस्मिन्त्समुद्रे न सिन्धवो यादमानाः ऋ० 6.19.5.
10. जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
    विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ ऋ० 10.47.1.
11. सेमं नः काममापृण गोभिरश्वैः शतक्रतो। ऋ० 1.16.9.
    यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी। ऋ० 1.101.4.
12. न परि बाधो हरिवो गविष्टिषु। ऋ० 8.24.5.
13. अयं शृण्वे अध जयन्नुत घ्नन्नयमुत प्र कृणुते युधा गाः। ऋ० 4.17.10.
    समिन्द्रो गा अजयत्सं हिरण्या समश्विया मघवा यो ह पूर्वीः। ऋ० 4.17.11.

हैं[1] और पुत्र भी[2]। उदारता उनकी अपनी बपौती है यहां तक कि 'मघवन्' विशेषण ऋग्वेद में इनका अपना ही बन गया है; और वेदोत्तर-कालीन साहित्य में तो यह इनका नाम ही बन गया है। इन्द्र के लिए 'वसुपति' विशेषण भी बार-बार आता है।

यद्यपि इन्द्र की अपनी प्रधान गाथा वृत्र-युद्ध ही है, तथापि 'शौर्य-वीर्य' के कर्ता होने के नाते उनके साथ और बहुत-सी कहानियां भी जुड़ गई हैं। कुछ मन्त्रों में इन्द्र का उषस् के साथ विरोध दिखाया गया है। यहां तक कि उन्होंने उषस् का अनस् तोड़ डाला था[3]। उन्होंने उषस् का अनस् तहसनहस कर डाला था और उसके मन्दगामी (घोड़ों) को अपने तीव्रजवा घोड़ों के द्वारा तितर-बितर कर दिया[4] था। इन्द्र के वज्र से भयभीत होकर उषस् अपने अनस् को छोड़ भागी[5]। अभद्र विचार करने वाली 'दिवो दुहिता' को कुचल डालने का आरोप भी इन्द्र पर हुआ है। उषा का अनस् विपाश् नदी पर टूटा हुआ पड़ा है और भयभीत उषस् वहां से भाग जाती है[6]। इस गाथा का आधार विद्युत्-तूफान के द्वारा उषस् के आच्छादन में निहित प्रतीत होता है। किंतु इस व्याख्या के विरोध में बेर्गेन का कथन है कि उषस् को आच्छादित करनेवाले इन्द्र नहीं, प्रत्युत एक राक्षस हैं; और इन्द्र के अचूक अस्त्र वज्र का प्रयोग वृत्र-युद्ध तक ही सीमित करना अन्याय है। उपसंहार में वे कहते हैं कि देर करनेवाली उषा को पराभूत करके उदित होनेवाले सूर्य को ही इस गाथा में इन्द्र-विजय के रूप में ढाला गया है[7]।

---

1. गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्राः । जनीयन्तो जनिदामक्षितोतिम् । ऋ० 4.17.16.
2. समिन्द्र राया समिषा रभेमहि । सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया । ऋ० 1.53.5.
3. अवाहन्निन्द्र उषसो यथानः । ऋ० 10.73.6.
4. ....वज्रेणान उषसः सं पिपेष ।
   अजवसो जविनीभिर्विवृश्चन्त्सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ ऋ० 2.15.6.
5. इन्द्रस्य वज्रादबिभेदभिश्नथः प्राक्रामच्छुन्ध्यूरजहादुषा अनः । ऋ० 10.138.5.
6. एतद्घेदुत वीर्यमिन्द्र चकर्थ पौंस्यम् ।
   स्त्रियं यद्दुर्हणायुवं वधीर्दुहितरं दिवः ॥ ऋ० 4.30.8.
   दिवश्चिद्घा दुहितरं महान्महीयमानाम् ।
   उषासमिन्द्र सं पिणक् ॥ ऋ० 4.30.9.
   अपोषा अनसः सरत्सं पिष्टादह बिभ्युषी ।
   नि यत्सीं शिश्नथद्वृषा ॥ ऋ० 4.30.10.
   एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या ।
   ससार सीं परावतः ॥ ऋ० 4.30.11. देखो 2.15.6. ऊपर
7. व्युच्छा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः ।

तीव्रजवा एतश और हरित अश्वों द्वारा वहन किये जाते सूर्य के साथ होनेवाली प्रतियोगिता को झलकानेवाली गाथा में इन्द्र की सूर्य के साथ कलह दिखाई गई है। सूर्य आगे बढ़ते हैं पर इन्द्र उनके मार्ग में बाधा डालते हैं। सूर्य के रथ का एक चक्र तिड़क जाता है और इस बात का उत्तरदायी इन्द्र को ठहराया जाता है। इसी गाथा से संभवत: इस बात का भी संबन्ध है कि इन्द्र ने सूर्य के हरित अश्वों को रोक दिया[1]। सोम-विजयक गाथा से भी इन्द्र का संबन्ध स्पष्ट है; क्योंकि श्येन-पक्षी अमृत के इस पान को उन्हीं के पास लाता है। एक और गाथा, जिसके संकेत अनेक स्थलों पर मिलते हैं, और जिसके विवरण में एक पूरा सूक्त[2] मिलता है, इन्द्र द्वारा पणियों की गौओं को स्वतन्त्र करने के विषय में है। ये राक्षस, धर्म-पथ पर आरूढ़ हुए याज्ञिकों से अपनी गौएं छिपानेवाले अनुदारचेता मनुष्यों के प्रतिरूप प्रतीत होते हैं। ये राक्षस गौओं को रसा नदी के सुदूर पार एक गुहा में छिपाकर रखते हैं। इन्द्र की दूती सरमा गौओं की ढूंढ में निकलती है और उन्हें वहां पाकर इन्द्र की ओर से उनकी मांग करती है। किंतु पणि तो निरे सूम ठहरे; वे उसे चिढ़ाते हैं। एक अन्य मन्त्र[3] में आता है कि इन्द्र ने गौएं पाने की लालसा से वल के अभेद्य दुर्ग को तोड़ डाला और उसमें छिपे पणियों पर विजय पाई। अन्य स्थलों पर गौओं का अवरोधक वल को बताया गया है; इसे भी इन्द्र ने मार भगाया था। किंतु इस प्रसंग में पणियों का उल्लेख नहीं है[4]। वल के भेदन में, उसके दुर्ग के विदारण में और गौओं के उन्मोचन के कार्यों में अङ्गिरस् लोग इन्द्र की सहायता करते हैं।

इन्द्र के द्वारा दासों या दस्युओं पर पाई विजय के आंशिक संकेत जहां-तहां मिलते हैं। मौलिक रूप में तो ये लोग मानवीय शत्रु हैं, जिनका रंग काला है[5], जो अनास् हैं[6] अदेव तथा अयज्वा हैं। यद्यपि इन्द्र के द्वारा पाई गई व्यक्तिगत दस्युविजय के वर्णनों में गाथात्मक तत्त्व घुल-मिल कर अस्पष्ट-से हो गये हैं,

---

नेत्वा स्तेनं यथा रिपुं तपासि सूर अर्चिषा ॥ ऋ० 5.79.9.

1. सूरश्चिद्रा हरितो अस्य रीरमदिन्द्रादा कश्चिद्भयते तवीयसः । ऋ० 10.92.8.
2. किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।
   कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि ॥ ऋ० 10.108.1.
3. रुजदरुग्णं वि वलस्य सानुं पणीँर्वचोभिरभि योधदिन्द्रः । ऋ० 6.39.2.
4. यो गा उदाजदपधा वलस्य । ऋ० 2.12.3.
   अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार । ऋ० 3.30.10.
   दे० 1.130.8. पृ० 152.
5. स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासीरैरयद्वि । ऋ० 2.20.7.
6. अनासो दस्यूँरमृणो वधेन । ऋ० 5.29.10.

तथापि इन गाथाओं का आधार पार्थिव एवं मानवीय है। क्योंकि जहां एक ओर वृत्र का वध मनुष्य सामान्य के हितार्थ दिखाया गया है वहां जिनके लिए या जिनके साथ इन्द्र ने दास या दासों को पराभूत किया वे खुले मानव व्यक्ति हैं। इन्द्र के ये शत्रु पुरोहितों के पूर्वज नहीं प्रत्युत राजकुमार योद्धा हैं, जो संभवतः ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हों। उदाहरणार्थ; दिवोदास अतिथिग्व सुप्रसिद्ध राजा सुदास् के पिता हैं और उनका दास शत्रु कुलितर-पुत्र शम्बर है। किंतु जिन मन्त्रों में दास शब्द का प्रयोग उस अहि के लिए हुआ है, जिससे कि इन्द्र सलिल को स्वतंत्र करते हैं,[1] या इसका प्रयोग तीन सिर और छः नेत्रोंवाले उस दैत्य के लिए हुआ है, जिसके साथ कि त्रित का युद्ध होता है[2] अथवा उस व्यंस के लिए हुआ है, जिसने कि इन्द्र के हनु पर आघात किया था[3] वहां निःसंदेह दास शब्द वास्तविक दैत्यों का बोधक है। नमुचि और उसी कोटि के अन्य दासों का विवरण दास-अध्याय में किया जायगा।

एक और गाथा, जो सर्व-साधारण के लिए महत्त्व की नहीं है, किंतु जिसकी कल्पना किसी उत्तरकालीन ऋग्वेदीय कवि के द्वारा की गई प्रतीत होती है; इन्द्र और वृषाकपि की है, जिसके कुछ अस्पष्ट-से विवरण ऋग्वेद[4] में मिलते हैं। उद्दिष्ट सूक्त में इन्द्र और उनकी पत्नी इन्द्राणी के मध्य एक बन्दर (वृषाकपि) के विषय में विवाद होता है। यह कपि इन्द्र का विश्वासभाजन है और इसने इन्द्राणी को आघात पहुंचाया है। फिर भी अन्त में वृषाकपि को बचा लिया जाता है और वह निकल भागता है। बाद में सन्धि हो जाती है और वह लौट आता है। वी० व्राड्के के अनुसार यह कथा एक व्यंग है; जिसमें इन्द्र और इन्द्राणी इन नामों से कोई राजकुमार और राजकुमारी अभिप्रेत हैं।

ऐतिहासिक तथ्य-संपन्न गाथाओं में एक वह गाथा है जिसमें इन्द्र तुर्वशी और यदु को सहीसलामत नदियों के पार उतार देते हैं[5]। वे दोनों परस्पर-संबद्ध दो आर्य

---

1. सृजो महीरिन्द्र या अपिन्वः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः।
अमर्त्यं चिद्दासं मन्यमानमवाभिनदुक्थैर्वावृधानः॥ ऋ० 2.11.2.
2. स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन्षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत्।
अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रया हन्॥ ऋ० 10.99.6.
3. ममच्चन ते मघवन्व्यंसो नि विविध्वाँ अप हनू जघान।
अधा निविद्ध उत्तरो बभूवाञ्छिरो दासस्य सं पिणग् वधेन॥ ऋ० 4.18.9.
4. वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ऋ० 10.86.1.
5. त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीर्ऋणोरपः सीरा न स्रवन्तीः।
प्र यत्समुद्रमति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति॥ ऋ० 1.174.9.

जत्थों के उन्नायक हैं, और इन्हीं के नाम पर इन जत्थों का नाम पड़ा है। किंतु कहीं-कहीं कवियों ने इन जत्थों को परस्पर-विरोधी दिखाकर इनका वर्णन किया है। इस प्रकार का भेदगर्भ दृष्टिकोण किसी हद तक इन जातियों की ऐतिहासिकता का परिचायक है। इस प्रकार के प्रसंगों में भारत के युद्ध-देवता विदेशों की ओर अग्रसर होनेवाले आर्यों के संरक्षक बन कर सामने आते हैं। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र ने सुश्रवस् के साथ 20 सेना-नायकों और उनके 60099 योद्धाओं को अपने रथ के पहिये से दरड़ डाला। राजा सुदास् की लड़ाई के वर्णन तो सच-मुच ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं। इस प्रसङ्ग में कहा गया है कि इन्द्र ने दाशराज्ञ समर में सुदास् की सहायता की[1]; यह सहायता उन्होंने सुदास् के पुरोहित तृत्सु की स्तुतियों से प्रसन्न होकर की थी और इसी के परिणाम-स्वरूप उन्होंने उनके शत्रुओं को परुष्णी नदी में डुबा दिया था[2]।

अन्ततः, ऋग्वेद के एक सूक्त[3] में आता है कि अपाला नाम की एक युवती ने नदी के किनारे सोम पाया और अपने दांतों से इसका सवन करके इसे इन्द्र के लिए प्रस्तुत किया; इन्द्र अपाला के पास आये और उन्होंने उसकी इच्छाओं को पूर्ण किया।

ध्यान से विचार करने पर ज्ञात होता है कि शारीरिक पौरुष और भौतिक लोक पर आधिपत्य इन्द्र की ये दो प्रमुख विशेषताएं हैं। शौर्य-वीर्य उनकी बपौती है, जबकि शीलसंपन्न स्वाराज्य वरुण का धन है। इन्द्र एक दिगन्तव्यापी शासक हैं; किंतु उनका यह शासकत्व सनातन नियमों के प्रवर्धन में नहीं खिला है, और न ही वह नैतिक शासन की स्थापना में उघड़ा है; वह तो उनकी अबाध युद्ध-लालसा में प्रस्फुटित हुआ है। तब जबकि इनकी बलवती भुजाएं विजय लाभ करती हैं; उनकी असीम उदारता में उभरा है—जबकि वे मनुष्यों का सर्वोच्च कल्याण सम्पादित करते हैं, उनकी दानशीलता में चमका है—जबकि वे सोम से मत्त होकर अपने उपासक याज्ञिकों को मनचाहे पुरस्कार देते हैं। उनके निमित्त कहे गये सूक्तों की बहुसंख्या में उनके चरित्र के इन्हीं पक्षों का कुछ उतार-चढ़ाव के साथ वर्णन किया गया है और ये सूक्त कदाचित् ही सोम-हवन की परिधि से बाहर जा

1. एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः। ऋ० 7.33.3.
2. ईयुरर्थं न न्यर्थं परुष्णीमाशुश्चनेदभिपित्वं जगाम।
सुदास इन्द्रः सुतुकाँ अमित्रानरन्धयन्मानुषे वध्रिवाचः॥ ऋ० 7.18.9.
वि सद्यो विश्वा दृंहितान्येषामिन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः।
व्यानवस्य तृत्सवे गयं भाग्जेष्म पूरुं विदथे मृध्रवाचम्॥ ऋ० 7.18.13.
3. नह्यन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो।
त्वं न इन्द्र मृळय॥ ऋ० 8.80.1. इत्यादि पूर्ण सूक्त

पाये हैं। कुछ भी हो उनका वर्णन वरुण की न्याईं नैतिक उत्कर्ष की दृष्टि से नहीं हुआ है। फिर भी अनेक सूक्तों में वरुण के विशिष्ट कार्यों का कर्तृत्व इन्द्र में निक्षिप्त किया गया है। अपेक्षाकृत बाद के मण्डलों में कुछ सूक्त ऐसे भी मिलते हैं जिनमें इन्द्र के नैतिक चरित्र का दिग्दर्शन कराया गया है और उनके प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट किया या कराया गया है[1]। अनीश्वरवादियों की अविश्वास भावना के विरोध में इन्द्र के अस्तित्व में विश्वास प्रकट किया गया है[2]। ऋग्वेद के एक बाद के मन्त्र में यह भी आता है कि इन्द्र ने तप के द्वारा स्वर्लोक की प्राप्ति की थी[3]।

इन्द्र के स्वरूप की बढ़ी-चढ़ी मानवीयता के कारण उनके चरित्र में कतिपय ऐन्द्रिय और अनैतिक तत्त्व आ घुसे हैं जो उस नैतिक परिपूर्णता के विपरीत जा पड़ते हैं, जो अन्यत्र उनके लिए वर्णन की गई है और जो एक वैदिक देवता के चरित्र के लिए आवश्यक भी है। इस चारित्रिक असामञ्जस्य का कारण क्या है? इसका उत्तर इन्द्र-विषयक विभिन्न मन्त्रों को एक लम्बे काल-क्रम में तरतीबवार रखकर और यह धारणा बनाकर कि इन मन्त्रों में प्रलंब काल विभिन्न नैतिक स्तर झलकते हैं, नहीं दिया जा सकता; क्योंकि यह चारित्रिक असामञ्जस्य तो एक ही कवि के शब्दों में, और एक ही मन्त्र में व्यक्त है। इसका सबन्ध मुख्यतः उनके सोम-पान से है। एक मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र सब-कुछ देखते और सुनते हैं, वे मनुष्यों के उत्साह को आंकते हैं। पर दूसरे ही मन्त्र में उनके उदर का वर्णन किया गया है—जोकि ओजप्रद पेय से परिपूर्ण है। एक संपूर्ण सूक्त[4] में, जो स्वगत भाषण के रूप में है, इन्द्र सोम-पान से मत्त होकर अपनी महत्ता और शक्ति पर दर्प-भरे शब्द बोलते हैं। एक स्थल पर तो यहां तक कहा गया है कि एक बार अत्यधिक सोम-पान के कारण इन्द्र को अपच का रोग हो गया था। सोम में बौराकर इन्द्र ने पितृहत्या तक कर डाली थी—इस बात का भी वर्णन मिलता है। इन्द्र के असामान्य सोम-व्यसन का नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन करते समय यह बात याद रखनी चाहिए कि वैदिक कवियों की दृष्टि में सोम-पान से उत्पन्न होने वाला उन्माद धार्मिक उन्माद था; और इस उन्माद ही के कारण सोम को अमृतत्व का

1. अधा चन श्रद् दधति त्विषीमत इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम्। ऋ० 1.55.5.
2. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
   सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥ ऋ० 2.12.5.
3. तुभ्येदमिन्द्र परि षिच्यते मधु। त्वं तपः परितप्याजयः स्वः। ऋ० 10.167.1.
   येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।
   इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम् ॥ ऋ० 10.159.4.
4. इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।
   कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ऋ० 10.119.1. इत्यादि पूर्ण सूक्त

पेय कहा गया था। संभवतः इन्द्र की कल्पना एक ऐसे देवता के रूप में, जो सोम-पान करके विश्व के बड़े-से-बड़े अनहोने काम कर देते हैं जैसे धरती-आकाश को स्थित करना, सोम के इसी मादक पक्ष से उद्‌भूत होती है[1]। इन्द्र देव पर होने वाले सोम के प्रभाव के साथ कवि की नैतिक सहानुभूति में उस युग का नैतिक स्तर किसी सीमा तक प्रतिबिम्बित हैं। दूसरी ओर ऋग्वैदिक इन्द्र के चरित्र में प्रेम-लीला का अभाव है; और इस बात के संकेत ब्राह्मणों में भी नहीं के बराबर हैं। अलबत्ता यहां उन्हें 'अहल्यायै जार' अवश्य कहा गया है। यह बात स्वाभाविक है कि सोम-सवन-विषयक कविता में इन्द्र के व्यक्तित्व का तृष्णा-पक्ष उल्बण बन कर गायक के सामने आवे।

रॉथ के मत में प्राचीनतर देव-समुदाय से संबद्ध वरुण का परंपरागत महत्त्व ऋग्वैदिक काल में पहुंचकर इन्द्र पर संक्रमित हो गया। ह्विटनी इसी मत के अनुयायी हैं। इस बात का अंशतः आधार यह है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल में वरुण के निमित्त एक भी सूक्त नहीं कहा गया है, जबकि उसमें इन्द्र के निमित्त 45 सूक्त कहे गये हैं। किंतु स्मरण रहे कि उसी मण्डल में दो सूक्त (126, 185) ऐसे हैं, जिनमें वरुण का गुणगान दो आदित्यों के साथ हुआ है, और उसी मण्डल के अनेक एकाकी मन्त्रों में वरुण का आह्वान अथवा संकेतन अन्य देवताओं के साथ किया गया है। सूक्तों की संख्या पर आधृत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऋग्वेद के सभी पूर्वतर मण्डलों में इन्द्र के निमित्त कहे गये सूक्तों की संख्या वरुण-सूक्तों की अपेक्षा बहुत अधिक है। तृतीय मण्डल में वरुण के निमित्त एक भी सूक्त नहीं कहा गया है, जबकि उसमें इन्द्र के लिए 22 सूक्त आये हैं। द्वितीय मण्डल में वरुण-सूक्त 1 और इन्द्र-सूक्त 23 हैं। साथ ही ये दोनों मण्डल मिलकर भी दशम मण्डल से कहीं छोटे पड़ते हैं। यह सत्य है कि वरुण का उल्लेख दशम मण्डल में पूर्व मण्डलों की अपेक्षा कम बार हुआ है। इस तथ्य के अतिरिक्त और कोई भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रमाण इस बात की पुष्टि में नहीं मिलता कि ऋग्वेद-रचना-काल में, कालक्रम से इन्द्र ने वरुण के महत्त्व पर अधिकार करके उन्हें पीछे धकेल दिया हो। ऋग्वेद के प्राचीनतर भाग के एक सूक्त[2] में कथोप-कथन के रूप में इन्द्र-वरुण के बीच कटुता की बातें आई हैं। विद्वानों की दृष्टि में इस सूक्त के कथोपकथन में इन दोनों देवताओं के आपेक्षिक उत्कर्ष की अधिकता एवं न्यूनता का क्रम प्रतिफलित है जो कि वरुण से हटकर इन्द्र पर आ गया है।

---

1. अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तम् आ रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
   स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ऋ० 2.15.2.
2. मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः।
   क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः॥ ऋ० 4.42.1. पू० सू०

किंतु अन्तिम मण्डल में आनेवाले एक सूक्त के कथोपकथन से इस बात की पुष्टि नहीं होती। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जहां एक ओर भारत-ईरानी काल में संभवतः इन्द्र की अपेक्षा वरुण की महत्ता कहीं अधिक थी, वहां दूसरी ओर ब्राह्मणों[1] एवं महाकाव्यों में इन्द्र स्वर्ग के प्रधान देवता बन गये हैं; और ब्रह्मा-विष्णु-शिव की पौराणिक त्रयी के समय में भी अपने इसी स्थान पर बने रहते हैं, यद्यपि यहां पहुंचकर वे इनके अधीन हो जाते हैं। अथर्ववेद के काल तक पहुंचते-पहुंचते वरुण अपने उच्च पद से च्युत हो जाते हैं। फलतः ऋग्वैदिक काल में भी इन्द्र का महत्त्व क्रमशः अधिक व्यापक होता रहा होगा। बेन्फे और ब्रील के अनुसार वैदिक काल में इन्द्र ने प्राचीन देवता द्यौस् के महत्त्व को आत्मसात् किया था। संभवतः भारत-ईरानी त्रित आप्त्य के संबन्ध में यह मत अधिक उचित हो सकता है। क्योंकि यद्यपि त्रित आप्त्य का ऋग्वेद में बहुत कम उल्लेख हुआ है तो भी उसमें उन्हें उसी प्रकार के विजयकर्म करते दिखाया गया है जैसे कि इन्द्र ने किये हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो गाथा में वे इन्द्र से भी बढ़-चढ़ कर महत्त्वशाली दीख पड़ते हैं।

इन्द्र का नाम अवेस्ता में केवल दो बार आया है। वहां वे देवता नहीं, अपितु दानव बनकर आते हैं। साथ ही वहां उनका स्वरूप भी कुछ अनिश्चित-सा है। इन्द्र का निजी वैदिक विशेषण वृत्रघ्न भी वेरेथ्रघ्न के रूप में अवेस्ता में आता है। किंतु वहां इसका इन्द्र या विद्युत्-तूफान की गाथा के साथ संबन्ध नहीं है। वहां तो यह केवल 'युद्ध के देवता' का बोधक है। फलतः संभव है कि भारत-ईरानी काल में वृत्रघ्न इन्द्र की तरह का कोई देवता रहा हो। यह भी संभव है कि भायोरपीय काल में द्युलोक की गर्जन के देवता के साथ-साथ एक और स्पष्टतर विद्युत्-देवता रहा हो, जिसका आकार महान् रहा हो; जो अधिक खाने-पीने वाला रहा हो और जो अपने विद्युत्-वज्र के द्वारा दानवों का हनन करता रहा हो।

इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। किंतु यह संभव है कि इसकी निष्पत्ति उसी धातु से हुई हो जिससे कि 'इन्दु' (बूंद) शब्द की हुई है।

त्रित आप्त्य (§ 23)—

त्रित आप्त्य के निमित्त ऋग्वेद में एक भी सूक्त नहीं आया है, किंतु 29 सूक्तों में आनेवाले 40 मन्त्रों में उनका सामयिक उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद के चार सूक्तों में आप्त्य विशेषण सात बार त्रित के साथ अथवा उसके स्थान पर आता है[2]।

---

1. अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इम मेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वै तादिन्द्रमेव ॥ ऐत० ब्रा० 8.12.
2. प्र स॒क्षणो॑ दि॒व्यः कण्व॑होता त्रि॒तो दि॒वः स॒जोषा॒ वातो॑ अ॒ग्निः। ऋ० 5.41.4.

सब से अधिक बार उनका उल्लेख इन्द्र के साथ हुआ है। सात बार उनकी अग्नि के साथ तुलना या तद्रूपता की गई है। अनेक बार वे मरुतों के साथ आते हैं और दस बार पेय अथवा देवता सोम के साथ उनका संबन्ध जोड़ा गया है। त्रित के विषय में यह भी उल्लेख आता है कि सोमपान की शक्ति से उन्होंने वृत्र का भेदन किया था[1]।

वृत्र-विजय में मरुतों ने त्रित और इन्द्र की सहायता की[2]। इस प्रकार का वीरकृत्य त्रित की विशेषता रहा होगा, क्योंकि इसका उल्लेख उदाहरण के रूप में हुआ है। वृत्र-युद्ध में जब इन्द्र ने वृष्टि-निरोधक दानव पर आघात किया तो उन्होंने उसे उसी प्रकार विदीर्ण कर दिया जैसे त्रित वल के घेरों को विदीर्ण करते हैं[3]। अतः जिस मनुष्य की इन्द्र और अग्नि सहायता करते हैं, वह त्रित की भांति प्रबल बाधाओं को निरस्त कर देता है[4]। त्रित आप्त्य ने अपने पैतृक अस्त्रों के बल पर और इन्द्र के द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर त्वष्टा के त्रिशीर्ष पुत्र से युद्ध किया और उसका वध किया एवं गौओं को उन्मुक्त किया[5]। निम्न मन्त्र में इन्द्र ठीक वही कार्य करते हैं, क्योंकि वे त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के तीन सिरों पर आघात करते हैं और गौओं को स्वायत्त करते हैं। इन्द्र (अथवा संभवतः अग्नि) ने दारुण शब्द करनेवाले त्रिशीर्ष और षट्नेत्र वाले राक्षस का दमन किया, और उनकी शक्ति से शक्तिमान् होकर त्रित ने आयस वज्र के द्वारा[6] वराह (=राक्षस) को मार डाला[7]। यहां भी दोनों देवताओं के द्वारा संपादित कार्य तद्रूप हैं। इन्द्र

पनित आप्त्यो यजतः सदा नो वर्धान्नः शंसं नर्यो अभिष्टौ। ऋ० 5.41.9.
वृष्णो अस्तोषि भूम्यस्य गर्भं त्रितो नपातमपां सुवृक्ति। ऋ० 5.41.10.
त्रिते दुःष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परि दद्मस्यनेहसो व ऊतयः सु ऊतयो व ऊतयः।
ऋ० 8.47.15. आदि

अस्य त्रितः क्रतुना वव्रे अन्तः। ऋ० 10.8.7.

1. पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥ ऋ० 1.187.1.
2. अनु त्रितस्य युध्यतः शुष्ममावन्नुत क्रतुम्। अन्विन्द्रं वृत्रतूर्ये॥ ऋ० 8.7.24.
3. भिनद्वलस्य परिधीँरिव त्रितः। ऋ० 1.52.5.
4. इन्द्राग्नी यमवथ उभा वाजेषु मर्त्यम्।
दृळहा चित्स प्रभेदति द्युम्ना वाणीरिव त्रितः॥ ऋ० 5.86.1.
5. स पित्र्याण्यायुधानि विद्वानिन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत्।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः॥ ऋ० 10.8.8.
6. त्वं वृत्रमाशयानं सिरासु महो वज्रेण सिष्वपो वराहुम्। ऋ० 1.121.11.
7. अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रया हन्। ऋ० 10.99.6.

ने राक्षस के यहां से त्रित के लिए गौएं प्रकट कीं[1] । इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को त्रित के हाथों में सौंप दिया[2] । सोम-सवन करनेवाले त्रित के द्वारा शक्तिमान् किये जाने पर इन्द्र ने अर्बुद को नीचे ढकेला और अङ्गिराओं के साथ वल का भेदन किया[3] । जब बलवान् मरुद्गण आगे बढ़ते हैं और विद्युत् की चमक झमालती है तब त्रित गर्जन करते हैं और पानी जोर का शब्द[4] । मरुत् सूक्त के दो अस्पष्ट मन्त्रों में कहा गया है कि मरुतों का प्रकाशमय पथ त्रित के प्रकट होने[5] पर प्रभासित हो जाता है और प्रतीत होता है कि त्रित अपने रथ पर बिठाकर मरुतों को लाते हैं[6] । एक अग्निसूक्त[7] में मरुतों के लिए कहा गया है कि उन्होंने त्रित को अपनी (मरुतों की) सहायता करने की सोचते हुए पाया । जब त्रित आकाश में ध्माता की भांति अग्नि को धमित करते हैं तब अग्नि की लपटें ऊपर उठती हैं और अग्नि भभक उठता है[8] । वे जब गृहों में उत्पन्न होते हैं तब युवक की भांति प्रकाश के केन्द्र बन जाते हैं और आवासों में अपनी प्रतिष्ठा करते हैं । त्रित (लपटों से) परिवेष्टित होकर अपने स्थान पर बैठ गये[9] । त्रित का निवास स्वर्ग में भी बताया गया है । उनका निवास-स्थान गुप्त है[10] । यह सुदूर है; क्योंकि उषस् और आदित्यों से प्रार्थना की गई है कि वे उपासक के दुष्कर्म

---

1. अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि । ऋ० 10.48.2.
2. अस्मभ्यं तत्त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयः साख्यस्य त्रिताय । ऋ० 2.11.19.
3. अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः ।
   अवर्तयत्सूर्यो न चक्रं भिनद्वलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान् ॥ ऋ० 2.11.20.
4. प्र वो मरुतस्तविषा उदन्यवो वयोवृधो अश्वयुजः परिज्रयः ।
   सं विद्युता दधति वाशति त्रितः स्वरन्त्यापोऽवना परिज्रयः ॥ ऋ० 5.54.2.
5. चित्रं तद्वो मरुतो याम चेकिते पृश्न्या यदूधरप्यापयो दुहुः ।
   यद्वा निदे नवमानस्य रुद्रियास्त्रितं जराय जुरतामदाभ्याः ॥ ऋ० 2.34.10.
6. ताँ इयानो महि वरूथमूतय उप घेदेना नमसा गृणीमसि ।
   त्रितो न यान्पञ्च होतॄनभिष्टय आववर्तदवराञ्चक्रियावसे ॥ ऋ० 2.34.14.
7. वि यस्य ते ज्रयसानस्याजर धक्षोर्न वाताः परि सन्त्यच्युताः ।
   आ रण्वासो युयुधयो न सत्वनं त्रितं नशन्त प्र शिषन्त इष्टये ॥ ऋ० 10.115 4.
8. अध स्म यस्यार्चयः सम्यक् संयन्ति धूमिनः ।
   यदीमह त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति ॥ ऋ० 5.9.5.
9. इमं त्रितो भूर्यविन्ददिच्छन् वैभूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः ।
   स शेवृधो जात आ हर्म्येषु नाभिर्युवा भवति रोचनस्य ॥ ऋ० 10.46.3.
   नि पस्त्यासु त्रितः स्तभूयन् परिवीतो योनौ सीददन्तः । ऋ० 10.46.6.
10. उप त्रितस्य पाष्यो३ रभक्त यद्गुहा पदम् । ऋ० 9.102.2.

तथा दुःस्वप्न को त्रित आप्त्य के यहां ले जायें[1]। उनका यह आवास सूर्यलोक में प्रतीत होता है। क्योंकि कवि कहता है, "मेरा उद्भव-स्थान वहां फैला हुआ है जहां वे सात किरणें हैं; त्रित आप्त्य उसे जानते हैं।

उसी सूक्त में[2] त्रित के लिए वर्णन आता है कि वे कूप में गिरा दिये गये थे और सहायता के लिए देवताओं से प्रार्थना कर रहे थे। बृहस्पति ने उनकी पुकार सुनकर उन्हें कष्ट से मुक्त किया। एक अन्य मन्त्र[3] में त्रित एक गर्त में से अपने पिता से प्रार्थना करते हैं और अपने पैतृक अस्त्रों की मांग करते हुए आगे बढ़ते हैं। अगले मन्त्र[4] में वे विश्वरूप से लड़ते हैं। इन्द्र के लिए कहा गया है कि उन्होंने विष्णु, त्रित आप्त्य या मरुतों के साथ सोम-पान किया[5] और प्रशंसा के एक सूक्त में त्रित के साथ वे आनन्दित हुए[6]। नवम मण्डल में त्रित सोम-सोता के विशिष्ट रूप में आते हैं। उनके चरित्र का यह पक्ष शेष ऋग्वेद में केवल एक बार सूचित किया गया है[7]। सोम को त्रित के द्वारा पवित्र किया जाता है[8]। त्रित की युवतियां (अंगुलियां) हरित बूंदों को इन्द्र के द्वारा पिये जाने के लिए उत्तेजित करती[9] हैं। त्रित के दो सवन-पाषाणों के समीप सोम का गुह्य स्थान है[10]। सोम से प्रार्थना की गई है कि धन-सरित् को त्रित के पृष्ठ पर लावें[11]। सोम ने वहनों के साथ

---

1. यदाविर्यदपीच्यं देवासो अस्ति दुष्कृतम्।
   त्रिते तद्विश्वमाप्त्य आरे अस्मद्दधातन ॥ ऋ० 8.47.13.
   यच्च गोषु दुःष्वप्न्यं यच्चास्मे दुहितर्दिवः।
   त्रिताय तद्विभावर्याप्त्याय परा वह ॥ ऋ० 8.47.14.
2. त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये।
   तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं मे अस्य रोदसी। ऋ० 1.105.17.
3. अस्य त्रितः क्रतुना वव्रे अन्तरिच्छन् धीतिं पितुरेवैः परस्य।
   स चस्यमानः पित्रोरुपस्थे जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति ॥ ऋ० 10.8.7.
4. दे० 10.8.8. पृ० 161
5. यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये।
   यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥ ऋ० 8.12.16.
6. यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम्। बा० खि० 4.1.
7. अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः। ऋ० 2.11.20.
8. भुवत् त्रितस्य मर्ज्यो भुवदिन्द्राय मत्सरः। ऋ० 9.34.4.
9. आदीं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दुमिन्द्राय पीतये। ऋ० 9.32.2.
   एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दुमिन्द्राय पीतये। ऋ० 9.38.2.
10. दे० 9.102.2. पृ० 162
11. त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वेरया रयिम्। ऋ० 9.102.3.

सूर्य को त्रित की चोटी (सानु) पर चमकाया[1]। वे सोमलता को पीसते हैं—उस वृष को, जो पर्वतों पर रहता है और जिसे भैंसे की भांति चोटी पर पवित्र किया जाता है। जब वह गरजता है तब सूक्त उसके साथ चलते हैं। त्रित वरुण का समुद्र में भरण करते हैं[2]। जब सोम मधु को उड़ेलते हैं तब वे त्रित के नाम का ऊंचे स्वर में उच्चारण करते हैं[3]।

अनेक मन्त्रों में तो त्रित के मौलिक स्वरूप के विषय में कुछ भी नहीं, जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ उनका नाम कुछ नाम-गणनाओं में आता है, जिनसे उनके विषय में कोई भी निश्चयात्मक सूचना नहीं मिलती[4]। अन्य दो मन्त्रों की व्याख्या अनिश्चित-सी है, क्योंकि उनका पाठ अशुद्ध-सा प्रतीत होता है। वरुण सूक्त के अन्तर्गत एक मन्त्र में त्रित के लिए आता है कि उनमें सभी काव्य (बुद्धिमत्ता) उसी प्रकार केन्द्रित हैं जैसे चक्र में नाभि[5]। एक अन्य मन्त्र में त्रित के लिए आता है कि उन्होंने एक दिव्य अश्व को जोड़ा, जिसे सूर्य में से घड़ा गया था और जो यम के द्वारा दिया गया था। इस अश्व को परवर्ती मन्त्र में यम, सूर्य और त्रित के तद्रूप बताया गया है; इसे गुह्य व्रत के द्वारा बनाया गया था[6]। अथर्ववेद के आधे दर्जन मन्त्रों से, जिनमें कि त्रित का उल्लेख आता है—उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। उनके पढ़ने से इतनी ही धारणा बनती है कि त्रित एक सुदूर स्थित देवता है, जिनमें मानव जाति के पाप या स्वप्न प्रक्षिप्त कर दिये गये हैं[7]। त्रित का वर्णन दीर्घायु देनेवाले के रूप में

---

1. स त्रितस्याधि सानवि पवमानो अरोचयत्। जामिभिः सूर्यं सह ॥ ऋ० 9.37.4.
2. तं मर्मृजानं महिषं न सानावंशुं दुहन्त्युक्षणं गिरिष्ठाम्।
   तं वावशानं मतयः सचन्ते त्रितो बिभर्ति वरुणं समुद्रे ॥ ऋ० 9.95.4.
3. त्रितस्य नाम जनयन् मधुक्षरत्। ऋ० 9.86.20.
4. उत वः शंसमुशिजामिव श्मस्यहिर्बुध्न्यो ऽजएकपादुत।
   त्रित ऋभुक्षाः सविता च नो दधेऽपां नपादाशुहेमा धियाशमि ॥ ऋ० 2.31.6.
   प्र सक्षणो दिव्यः कण्वहोता त्रितो दिवः सजोषा वातो अग्निः। ऋ० 5.41.4.
   नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा।
   सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना ॥ ऋ० 10.64.3.
5. यस्मिन्विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिता।
   त्रितं जूती सपर्यत ... ... ॥ ऋ० 8.41.6.
6. यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
   गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥ ऋ० 1.163.2.
   असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन। ऋ० 1.163.3.
7. त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः। अथ० 19.56.4.

हुआ है[1] । निःसंदेह यह एक ऐसी विशेषता है जो त्रित के चरित्र में उनके सोम-सोता होने के नाते प्रविष्ट हो जाती है, क्योंकि सोम अमृतत्व का पेय है । ब्राह्मणों में त्रित को तीन देवों में से एक कहा गया है; इस देवत्रयी के अन्य दो देवता हैं, अग्निपुत्र एकत और द्वित[2] । ऋग्वेद 1.105 के भाष्य में सायणाचार्य शाट्यायनीयों की कहानी उद्धृत करते हैं, जिसमें वे ही तीन भाई ऋषि हैं, और उनमें से त्रित अन्य दोनों के द्वारा कूप में गिरा दिये गये हैं। अतः यह स्पष्ट है कि यहां इन तीनों नामों का संख्यापरक अर्थ है। द्वित स्वयं ऋग्वेद में आता है—एक बार त्रित के साथ[3], और एक बार अग्निसूक्त में[4] अकेले ही, और प्रत्यक्षरूप में अग्नि का तद्रूप बनकर। नैघण्टुक की देव-सूची में त्रित के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है । यास्क[5] इस शब्द का अर्थ करते हैं 'अत्यन्त विकसित बुद्धिवाला' (√तॄ धातु)। अथवा एकत, द्वित, त्रित इन तीन भाइयों की ओर लक्ष्य करके यास्क इसका संख्यापरक अर्थ करते हैं। एक अन्य परिच्छेद[6] में वे त्रित का अर्थ करते हैं 'त्रिलोक में रहने-वाला इन्द्र' ।

ऋग्वेद के उद्धरणों की परीक्षा करके हम पाते हैं कि इन्द्र और त्रित तीन या चार मन्त्रों में एक ही कार्य करते हैं और वह कार्य है—राक्षस-वध । एक मन्त्र में त्रित इन्द्र के द्वारा विवश किये जाते हैं और दूसरे में इन्द्र त्रित के द्वारा प्रोत्साहित । और साथ ही यह भी आया है कि इन्द्र दो बार त्रित के स्थानापन्न बने । पुनश्च, त्रित मरुतों के साथ विद्युत्-तूफान के साथ संबद्ध होते हैं । इसके अतिरिक्त वे अग्नि को प्राप्त करते; स्वर्ग में अग्नि को समिद्ध करते, और स्पष्टतः अग्नि के रूप

---

1. व्युं त्रितो जरिमाणं न आनट् । तै० सं० 1.8.10.2.
2. अथ योऽयमेतर्ह्यग्निः स भीषा निलिल्ये सोऽपः प्रविवेश तं देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्य आनिन्युः सोऽपोऽभितिष्ठेवा वष्ठ्यूता स्थ या अप्रपदनं स्थ याभ्यो वो मामकामं नयन्तीति तत आप्त्याः संबभूवुस्त्रितो द्वित एकतः । शत० ब्रा० 1.2.3.1.
   शश्वद्धैनं त्रित एव जघानात्य ह तदिन्द्रोऽमुच्यत देवो हि सः । शत० ब्रा० 1.2.3.2.
   व्युं त्रितो जरिमाणं न आनट् । तै० सं० 1.8.10.2.
   सोऽङ्गारेणापः । अभ्यपातयत् । तत एकतोऽजायत । स द्वितीयमभ्यपातयत् ततो द्वितोऽजायत । स तृतीयमभ्यपातयत् । ततस्त्रितोऽजायत । यदद्भ्योऽजायन्त । तदाप्त्यानामाप्त्यत्वम् । तै० ब्रा० 3.2.8.10-11.
3. त्रिताय च द्विताय चोषो दुःष्वप्न्यं वह । ऋ० 8.47.16.
4. द्विताय मृक्तवाहसे स्वस्य दक्षस्य मंहना । इन्दुं स धत्त आनुषक् । ऋ० 5.18.2.
5. त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव । अपि वा संख्या नामैवाभिप्रेतं स्यात् एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः । नि० 4.6.
6. त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं त्रिपर्वाणं व्यर्दयति । नि० 9.25.

में मनुष्यों के मध्य अपना आवास बनाते हैं। उनका आवास सुदूर और गुप्त है, और सोम के निकट है। नवम मण्डल में सोम-सोता के रूप में त्रित इन्द्र से कुछ विलग जाते हैं, क्योंकि इन्द्र केवल सोम-पाता हैं, सोम के सोता नहीं। त्रित के सजातीय व्यक्ति अवेस्ता में थ्रित हैं जो एक मनुष्य हैं। एक बार यस्न में उन्हें सोम-सोताओं में तीसरा मनुष्य बताया गया है, जिसने भौतिक संसार के लिए होम (=सोम) प्रस्तुत किया (आथ्व्य=आप्त्य दूसरे मनुष्य हैं) और एक बार वेन्दिदाद में उन्हें प्रथम वैद्य बताया गया है, जिन्हें अहुरमज़्दा ने दश सहस्र ओषधियां दी थीं जोकि अमृतत्व के वृक्ष, श्वेत होम के चारों ओर उगती हैं। दो मन्त्रों (यस्न 5.72; 13.113) में थ्रित को शायुभ्रद्रि का पुत्र कहा गया है। उन मन्त्रों में से एक में उल्लेख मिलता है कि वे अपां नपात् (पृथिवीस्थ स्थान विशेष) में निवास कर रहे थे। इससे झलकता है कि त्रित सोम के साथ भारत-ईरानी काल ही में संबद्ध हो गये थे। त्रित के कार्य का अन्य पक्ष—अर्थात् उनकी त्रिशीर्षता, षडक्षत्रता और उनके द्वारा किया गया राक्षस या अहि का वध—अवेस्ता में एक संबद्ध व्यक्ति थ्रेतोन में आक्षिप्त हो गये हैं, जोकि तीन मुख, तीन सिर और छः नेत्रवाले दानव को मारते हैं। यह उल्लेखनीय है कि जब थ्रेतोन दहाक के विरुद्ध अभियान करते हैं तब उनके साथ दो भाई हो लेते हैं जो उन्हें पथ में मार डालने का उद्योग करते हैं। त्रित शब्द ध्वनि की दृष्टि से ग्रीक शब्द त्रितोस् (तीन) का सजातीय है। इसका अर्थ 'तृतीय' समझा जाता था। यह इस बात से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में इसके साथ द्वित शब्द आया है और ब्राह्मणों में इन दोनों के अतिरिक्त 'एकत' भी कहीं से उठ बैठा है। त्रित के साथ त्रीणि का संयोग[1] भी इसी बात की ओर संकेत करता है। यह संभव है कि ऋग्वेद के एक मन्त्र[2] में त्रित शब्द के बहुवचन रूप का अर्थ 'तृतीय' हो।

त्रित के साथ सतत आनेवाला विशेषण 'आप्त्य' 'आप्' से निष्पन्न हुआ प्रतीत होता है। फलतः यह 'अपां नपात्' का पर्याय दीख पड़ता है। सायण (ऋग्वेद 8.47.15 के भाष्य में) इसकी व्याख्या करते हैं 'जलोंका पुत्र'। त्रित का एक दूसरा विशेषण 'वैभूवस', जो रचना में पैतृक-सा प्रतीत होता है और जिसका प्रयोग केवल एक बार हुआ है, सोम के साथ संयुक्त किया जा सकता है[3]।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि त्रित विद्युत् के देवता थे। विद्युत् अग्नि का तृतीय या वायुगत रूप है। मूलरूपेण यह अग्नि, वायु या इन्द्र और सूर्य की देवत्रयी का मध्यम-स्थानीय है। प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया के अनु-

---

1. त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि। अथ० 5.1.1. दे० 9.102.3 पृ० 163
2. त्रितेषु विन्दद्मृतं निगूळहम्। ऋ० 6.44.23.
3. दे० 10.46.3. पृ० 162.

सार इन्द्र ने, जो मूलतः त्रित के तद्रूप से थे, त्रित को निकाल बाहर किया जिसका परिणाम यह हुआ कि ऋग्वेद में भी त्रित को एक महत्त्वहीन स्थान मिल पाया। यदि यह निष्कर्ष सही है तो त्रित और सोम के मौलिक संबन्ध का तात्पर्य होगा—विद्युत् के द्वारा स्वर्ग से सोम का लाना (जैसाकि सोम-श्येन गाथा में है)। फिर भी ठोस प्रमाण के अपर्याप्त होने के कारण आप्त्य के विषय में अनेक प्रकार के विभिन्न मत उत्पन्न हो गये हैं। इनमें से कुछेक का ही उल्लेख करना यहां पर्याप्त होगा। रॉथ त्रित को जल और वायु का देवता मानते हैं। हिलेब्राण्ड्ट उन्हें प्रकाशमय आकाश का देवता मानते हैं। पेरी उन्हें तूफान का देवता—जोकि इन्द्र से भी प्राचीनतर है—बताते हैं। पिशल पहले यह मानते थे कि आप्त्य समुद्र और जलों के देवता हैं। किंतु बाद में उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि त्रित मूलतः एक मानव भिषक् थे जो बाद में देवता के रूप में परिवर्तित कर दिये गये। हार्डी त्रित को चन्द्र-देव मानते हैं।

अपां नपात् (§ 24)—

'अपां नपात्' नामक देवता के निमित्त एक संपूर्ण सूक्त[1] कहा गया है; और जलों के सूक्त के दो मन्त्रों में इनका आह्वान हुआ है। इनका नामोल्लेख ऋग्वेद में कुल 30 बार हुआ है। प्रकाशमान जलपुत्रों के चारों ओर जल विराजमान हैं। युवक के चारों ओर युवक जल जाते हैं। तीन देवियां उस दिव्य व्यक्ति को भोजन देना चाहती हैं। वे प्रथम माताओं का दूध पीते हैं[2]। उस वृषभ ने उनके भीतर गर्भाधान किया। वह बच्चा दूध पीता है और वे उसका चुम्बन करती हैं[3]। जलों का पुत्र जलों में बलवान् होकर बाहर चमकता है[4]। वह बिना ईंधन के जल में प्रकाशित होता है[5]। विद्युत् से परिवेष्टित होकर 'अपां नपात्' तिरछे गिरते हुए जलों की गोद में चढ़ते हैं। उन्हें लेकर शीघ्रगामी स्वर्णिम जल उनके चारों ओर

---

1. उपेमसृक्षि वाजयुर्वचस्यां चनो दधीत नाद्यो गिरो मे।
   अपां नपादाशुहेमा कुवित्स सुपेशसस्करति जोषिषद्धि ॥ ऋ० 2.35.1. आ.पू.सू.
2. तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपां नपातं परि तस्थुरापः। ऋ० 2.35.3.
   तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः। ऋ० 2.35.4.
   अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्।
   कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥ ऋ० 2.35.5.
3. स ईं वृषाजनयत्तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति। ऋ० 2.35 13.
4. सो अपां नपादूर्जयन्नप्स्व१न्तर्वसुदेयाय विधते विभाति। ऋ० 2.35.7.
5. दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु। ऋ० 2.35.4.
   यो अनिध्मो दीदयदप्स्व१न्तः। ऋ० 10.30.4.

फिरते हैं[1]। 'अपां नपात्' रूप, दर्शन और वर्ण से स्वर्णिम हैं। हिरण्मयी योनि से आविर्भूत होकर वे आते और अपने उपासकों को भोजन देते हैं[2]। उच्चतम पद पर खड़े होकर वे सदैव अमन्द प्रभा से प्रभासित होते हैं। तीव्र गति वाले जल अपने पुत्र के लिए घी का भोजन लेकर अपने वस्त्रों समेत चारों ओर उड़ते हैं[3]। अपां नपात्, जिन्हें युवतियां प्रज्वलित करती हैं, जिनका वर्ण स्वर्णिम है, और जिनका भोजन घी है, उनका मुखड़ा गुप्त रूप से बढ़ता है[4]। उनके पास एक गौ है जो उन्हीं के घर में भरपूर दूध देती है[5]। मनोजवा घोड़े उन्हें ले जाते हैं[6]। अपां नपात् नदियों से संबद्ध है (नाद्य)। अपां नपात् ने सभी प्राणियों को, जो उन्हीं की शाखाएं हैं[7], जन्म दिया है। अपां नपात् सूक्त के अन्तिम मन्त्र में इस देवता का आह्वान अग्नि के रूप में हुआ है; फलतः उसे उनका तद्रूप ही होना चाहिए। इसके विपरीत कतिपय सूक्तों में अग्नि का आह्वान अपां नपात् के रूप में हुआ है[8]। अग्नि जलों के पुत्र हैं[9]। वे उन जलों के पुत्र हैं जो पृथिवी पर प्रिय पुरोहित की तरह

1. अपां नपाद्धा ह्यस्थादुपस्थं जिह्मानामूर्ध्वो विद्युतं वसानः।
तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्णाः परि यन्ति यह्वीः॥ ऋ० 2.35.9.
क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातृर्जनयत स्वधाभिः।
बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान्महान्कविर्निश्चरति स्वधावान्॥ ऋ० 1.95.4.
आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे।
उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते॥ 1.95.5.
2. हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥ ऋ० 2.35.10.
3. अस्मिन्पदे परमे तस्थिवांसमध्वस्मभिर्विश्वहा दीदिवांसम्।
आपो नप्त्रे घृतमन्नं वहन्तीः स्वयमत्कैः परि दीयन्ति यह्वीः॥ ऋ० 2.35.14.
4. तदस्यानीकमुत चारु नामापीच्यं वर्धते नप्तुरपाम्।
यमिन्धते युवतयः समित्था हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य॥ ऋ० 2.35.11.
5. स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनुः स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति। ऋ० 2.35.7.
6. उत नोऽहिर्बुध्न्यो मयस्कः शिशुं न पिप्युषीव वेति सिन्धुः।
येन नपातमपां जुनाम मनोजुवो वृषणो यं वहन्ति॥ ऋ० 1.186.5.
7. अपां नपादसुर्यस्य मह्ना विश्वान्यर्यो भुवना जजान। ऋ० 2.35.2.
वया इदन्या भुवनान्यस्य प्र जायन्ते वीरुधश्च प्रजाभिः। ऋ० 2.35.8.
8. अग्नेरनीकमप ऽ आविवेशापान्नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम्।
दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा॥ वाज० सं० 8.24.
9. सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये।
अपां नपातं सुभगं सुदीदितिं सुप्रतूर्तिमनेहसम्॥ ऋ० 3.9.1.

बैठते हैं[1]। किंतु उनका परस्पर भेद भी किया गया है। अपां नपात् के अनुकूल अग्नि वृत्र के ऊपर विजय प्रदान करते हैं[2]। अपां नपात् यहां मानों दूसरे के शरीर से सम्मिलित होते हैं[3]। आशुहेमन् विशेषण, जो अपां नपात् के लिए तीन बार प्रयुक्त हुआ है, केवल एक बार ही अग्नि के लिए आया है।

अपां नपात् का उल्लेख देव-नामों की अनेक गणनाओं के क्रम में भी आता है, विशेषतया अज एकपाद्[4], अहिर्बुध्न्य[5] और सविता[6] के साथ। यह विशेषण सविता के लिए एक बार प्रयुक्त हुआ है और यह संभवतः इसलिए कि सविता अग्नि के उर्वरक पक्ष के प्रतिरूप हैं।

अपां नपात्, जो स्वर्णिम हैं, विद्युत् से परिवेष्टित हैं, उच्चतम स्थान में रहते हैं, गुप्त स्थान में बढ़ते हैं, प्रभासित होते हैं, जलों के अपत्य हैं, पृथिवी पर अवतरित होते हैं और अग्नि के तद्रूप हैं, अग्नि के विद्युत्-पक्ष के प्रतिरूप प्रतीत होते हैं—उस अग्नि के जो बादलों में छिपे हैं। क्योंकि अग्नि को प्रत्यक्षतः अपां नपात् के साथ-साथ 'अपां गर्भ' का भी अभिधान मिला है[7]। इस रूप में वे मानवीय आवासों में रखे गये हैं[8]। उनका निवास-स्थान जलों में है[9]; और इन्हें दो अरणियां उत्पन्न करती हैं; ये ओषधियों और जलों के गर्भ हैं[10]। अग्नि को 'अद्रेः सूनु' भी कहा गया है[11], जो मुश्किल से ही विद्युत् के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु

1. अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीदद् ऋत्वियः। ऋ० 1.143.1
2. स सत्पतिः शवसा हन्ति वृत्रमग्ने विप्रो वि पणेर्भर्ति वाजम्।
   यं त्वं प्रचेत ऋतजात राया सजोषा नप्त्रापां हिनोषि॥ ऋ० 6.13.3.
3. सो अपां नपादनभिम्लातवर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेष। ऋ० 2.35.13.
4. दे० 2.31.6. पृ० 164.
   शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
   शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपाः॥ ऋ० 7.35.13.
5. दे० 1.186.5. पृ० 168, दे० 2.31.6. पृ० 164. दे० 7.35.13. ऊपर
6. उत स्य देवः सविता भगो नोऽपां नपादवतु दानु पप्रिः।
   त्वष्टा देवेभिर्जनिभिः सजोषा द्यौर्देवेभिः पृथिवी समुद्रैः॥ ऋ० 6.50.13.
7. अमूरः कविरदितिर्विवस्वान्त्सुसंसन् मित्रो अतिथिः शिवो नः।
   चित्रभानुरुषसां भात्यग्रेऽपां गर्भः प्रस्व आ विवेश॥ ऋ० 7.9.3.
   गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्॥ ऋ० 1.70.2.
8. अधाय्यग्निर्मानुषीषु विक्ष्वपां गर्भो मित्र ऋतेन साधन्। ऋ० 3.5.3.
9. अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सञ्जायसे पुनः॥ ऋ० 8.43.9.
10. अपां गर्भं दर्शतमोषधीनां वना जजान सुभगा विरूपम्। ऋ० 3.1.13.
11. यज्ञा साहं दुव इषेऽग्निं पूर्वस्य शेवस्य। अद्रेः सूनुमायुमाहुः। ऋ० 10.20.7.

का संकेत कर सकना है—उस विद्युत् का जोकि मेघ-पर्वतों से आविर्भूत होती है। अग्नि के दिव्य और पार्थिव रूपों के विपरीत, इनके तृतीय रूप के विषय में उल्लेख आता है कि यह जलों में, समुद्र में, द्युलोक के स्तन में, जलों की गोद में समिद्ध होता है[1]। वस्तुतः दिव्य अग्नि का जलों में आवास वैदिक गाथा के सुनिश्चित तथ्यों में से एक है। त्रित के लिए प्रयुक्त आप्त्य पद की भी कुछ इसी प्रकार से व्याख्या करनी उचित प्रतीत होती है।

अपां नपात् भारतीय गाथा की रचना न होकर भारत-ईरानी काल तक जाता है। अवेस्ता में अपां नपात् जलों की एक आत्मा (Spirit) है। यह जलों की गहराई में रहती है, स्त्रियों के द्वारा परिवृत है और अनेक बार उनके साथ इसका आह्वान किया गया है। यह तीव्र घोड़ों पर चलता है, साथ ही समुद्र की गहराई में उसने प्रकाश को पकड़ा था। स्पिगेल के अनुसार अवेस्ता में अपां नपात् का आग्नेय रूप लक्षित होता है। दर्मेस्टेटर के अनुसार ये मेघ से उत्पन्न विद्युत् के रूप में अग्नि-देव हैं। एल० वी० श्रॉडर इस मत से सहमत हैं। ओल्डेनबेर्ग के मत में अपां नपात् मूलतः जल के साधारण प्रेत थे जो जल-जात अग्नि—जो एक पूर्णतः भिन्न प्राणी हैं—के साथ अज्ञान के कारण तद्रूप बन गये। इस मत का आधार है—अपां नपात् के निमित्त कहे गये दो सूक्तों में से एक सूक्त का कर्मकाण्ड में जलीय क्रियाओं से संबद्ध होना, तथा ऋग्वेद (2.35.) में भी इनके जलीय स्वरूप का प्रधान होना। दूसरी ओर हार्डी का अनुसरण करते हुए हिल्लेब्रांड्ट् कहते हैं कि अपां नपात् चन्द्रमा हैं। मैक्समूलर के अनुसार अपां नपात् सूर्य अथवा विद्युत् हैं।

मातरिश्वन् (§ 25)—

मातरिश्वन् के लिए ऋग्वेद में एक भी सूक्त नहीं आता। ऋग्वेद में इनके नाम का उल्लेख 27 बार हुआ है, जिनमें से 21 बार तो इसके सबसे बाद के भागों में, 5 बार तृतीय मण्डल में और एक बार षष्ठ मण्डल में। इन प्राचीनतर छः मंत्रों में मातरिश्वन् या तो अग्नि के तद्रूप हैं अथवा वे इसके उत्पादक हैं। यद्यपि मातरिश्वन् से संबद्ध गाथा का आधार अग्नि और इसके मानवीकृत रूप का विभेद है, तथापि इस गाथा की मीमांसा से प्रकट होता है कि वे

यमापो अद्रयो वना गर्भमृतस्य पिप्रति।
सहसा यो मथितो जायते नृभिः पृथिव्या अधि सानवि॥ ऋ० 6.48.5.

1. दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥ ऋ० 10.45.1.
विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ॥ ऋ० 10.45.2.

दोनों तद्रूप हैं। ऋग्वेद के परवर्ती मण्डलों में भी इस प्रकार की सामग्री नहीं मिलती जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि मातरिश्वन्-विषयक जो धारणाएं अन्य संहिताओं में तथा वेदोत्तरकालीन साहित्य में बनी हैं वे ऋग्वेद में पूरी तरह प्रकट हो चुकी थीं।

तीन मन्त्रों में मातरिश्वा नाम अग्नि के लिए आया है[1]। संभवतः यही बात इसके उस प्रयोग पर भी लागू होती है जहां यह एक अग्नि-सूक्त के अन्तिम मन्त्र में संबोधन रूप में आया है। एक अन्य मन्त्र में, जहां इस शब्द की व्याख्या दी हुई है, इन्हें अग्नि का एक रूप कहा गया है:—'दिव्य गर्भ के रूप में इन्हें तनूनपात् कहा गया है; उत्पन्न होकर ये नराशंस बन जाते हैं। जब इन्हें मातरिश्वन् का अभिधान प्राप्त होता है तब ये अपनी माता में सृष्ट होते हैं। वे अग्नि की त्वरित उड़ान बन जाते हैं[2]। आगे कहा गया है:—'एक ही सत् के विषय में विप्र नाना प्रकार की बातें करते हैं—वे उसे अग्नि, यम, मातरिश्वन् कहते हैं[3]। एक स्थल पर मातरिश्वन् बृहस्पति के एक रूप बनते हैं, जिस बृहस्पति का तादूप्य अग्नि के साथ अनेक बार स्थापित किया गया है। उदाहरणार्थ यज्ञ में बृहस्पति मातरिश्वन् के रूप में आविर्भूत हुए[4]।

कुछ स्थलों पर मातरिश्वन् की अग्नि से पृथक्ता दिखाई गई है। वे (अग्नि) परमे व्योमन् में उत्पन्न होकर मातरिश्वन् के रूप में आविर्भूत हुए[5]। 'अग्नि प्रथमतः मातरिश्वन् और विवस्वत् के समक्ष प्रकट हुए; पुरोहित के चयन करने पर दोनों लोक प्रकम्पित हो गए[6]'। ज्योतिष्पुञ्जों में सर्वोच्च अग्नि अपनी ज्वाला से

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्॥ ऋ० 10.45.3.

1. मित्रो अग्निरीड्यो मातरिश्वाऽऽदूतो वक्षद् यजथाय देवान्। ऋ० 3.5.9.
तं शुभ्रमग्निमवसे हवामहे वैश्वानरं मातरिश्वानमुक्थ्यम्। ऋ० 3.26.2.
स मातरिश्वा पुरुवारपुष्टिर्विदद् गातुं तनयाय स्वर्वित्।
विशां गोपा जनिता रोदस्योर्देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्॥ ऋ० 1.96.4.
2. तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि॥ ऋ० 3.29.11.
3. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० 1.164.46.
4. बृहस्पतिः स ह्यञ्जो वरांसि विभ्वाभवत्समृते मातरिश्वा। ऋ० 1.190.2.
5. स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने।
अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत्॥ ऋ० 1.143.2.
6. त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव सुक्रतूया विवस्वते।

गगन को धारण करते हैं, जबकि मातरिश्वन् गुप्त हविर्वाट् को समिद्ध करते हैं[1]। यह मन्त्र उस मन्त्र के ठीक बाद आता है, जिसमें कि अग्नि को मातरिश्वन् कहा गया है। एक ही क्रम में आनेवाले मन्त्रों में इस प्रकार की असंगति की एकमात्र व्याख्या यह है कि परवर्ती मन्त्र में जिस मातरिश्वन् शब्द का प्रयोग अग्नि के एक विशिष्ट मानवीय रूप के लिए हुआ है, उसी का प्रयोग पूर्ववर्ती मन्त्र में उनके एक विशेषण के रूप में हुआ है। मातरिश्वन् भृगु के लिए उपहार रूप में यशस्वी होता को लाया, जो यज्ञ-संग्राम की पताका है और द्विजन्मा दूत है[2]। मातरिश्वा एक (अग्नि) को आकाश से लाये, और श्येन ने दूसरे (सोम) को चट्टान में से निकाला[3]। मातरिश्वा यज्ञ के पुरोहित स्वर्गस्थ अग्नि को लाये[4], मातरिश्वा (और) देवताओं ने अग्नि की सृष्टि की, जिसे भृगुओं ने मनुष्यों के लिए प्रथम यजनीय देव के रूप में आविर्भूत किया[5]। उस अग्नि को मातरिश्वा देव मनुष्य के लिए सुदूर से लाये हैं[6]। विवस्वत् के दूत मातरिश्वा वैश्वानर अग्नि को सुदूर से लाये हैं, जिसे बलवान् (देव) ने जलों की गोद में जकड़ लिया था[7]। मातरिश्वा घर्षण से उत्पन्न होने वाले गुप्त अग्नि को, देवताओं के यहां से लाये हैं[8]। मातरिश्वा ने घर्षण द्वारा गुप्त अग्नि को आविर्भूत किया[9]। अग्नि को मातरिश्वा ने घर्षण द्वारा उत्पन्न किया और उसे मनुष्यों के आवासों में स्थापित किया[10]।

अरेजेतां रोदसी होतृवूर्येऽसघ्नोर्भारमयजो महो वसो ॥ ऋ० 1.31.3.

1. उदस्तम्भीत्समिधा नाकमृष्वोऽग्निर्भवन्नुत्तमो रोचनानाम् ।
   यदी भृगुभ्यः परि मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं समीधे ॥ ऋ० 3.5.10.
2. वह्निं यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्योअर्थम् ।
   द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तं रातिं भरद् भृगवे मातरिश्वा ॥ ऋ० 1.60.1.
3. आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः । ऋ० 1.93.6.
4. ऋतावानं यज्ञियं विप्रमुक्थ्यमा यं दधे मातरिश्वा दिवि क्षयम् ।
   तं चित्रयामं हरिकेशमीमहे सुदीतिमग्निं सुविताय नव्यसे ॥ ऋ० 3.2.13.
5. द्यावा यमग्निं पृथिवी जनिष्टामापस्त्वष्टा भृगवो यं सहोभिः ।
   ईळेन्यं प्रथमं मातरिश्वा देवास्ततक्षुर्मनवे यजत्रम् ॥ ऋ० 10.46.9.
6. यं मातरिश्वा मनवे परावतो देवं भाः परावतः । ऋ० 1.128.2.
7. अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम् ।
   आ दूतो अग्निमभरद् विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥ ऋ० 6.8.4.
8. ससृवांसमिव त्मनाऽग्निमित्था तिरोहितम् ।
   ऐनं नयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि ॥ ऋ० 3.9.5.
9. यदीमनु प्रदिवो मध्व आधवे गुहा सन्तं मातरिश्वा मथायति । ऋ० 1.141.3.
10. मथीद् यदीं विभृतो मातरिश्वा गृहेगृहे श्येतो जेन्यो भूत् । ऋ० 1.71.4.

इन्द्र ने त्रित के लिए अहि से गौएं उत्पन्न कीं और दध्यञ्च् (तथा) मातरिश्वन् के लिए गोव्रज प्रदान किया[1]।

बाद के सूक्तों में कतिपय ऐसे अस्पष्ट मन्त्र हैं जिनसे मातरिश्वा के चरित्र पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। इन मन्त्रों में से दो में वे सोम-पावक और सोम-पाता के रूप कल्पित हुए प्रतीत होते हैं[2]। और एक अन्य मन्त्र में उनका उल्लेख उन पितरों के साथ हुआ है जिनके साथ इन्द्र ने सोम-पान किया था[3]। इन्द्र की तुलना इनके साथ एक बार कार्य-कुशल ऋभुओं के रूप में की गई है[4]। यह तुलना संभवतः मातरिश्वा की अग्नि उत्पादन करने की कुशलता को दृष्टि में रखकर की गई हो[5]। विवाह-सूक्त के एक मन्त्र[6] में भी कार्य-कुशलता की यह धारणा वर्तमान प्रतीत होती है जहां कि दो प्रेमियों में हार्दिक मिलन कराने के लिए अन्य देवों के साथ मातरिश्वा का आह्वान किया गया है। अन्त में, एक अत्यन्त अस्पष्ट मन्त्र[7] में मातरिश्वा को असीम और सलिल कहा गया है (सलिल विशेषण का प्रयोग अथर्ववेद में वात के लिए अनेक बार हुआ है)। ये दोनों विशेषण मातरिश्वा-विषयक परवर्ती धारणा के पूर्व-रूप को प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से मातरिश्वा अग्नि के एक पक्ष के मानवीय रूप प्रतीत होते हैं, जोकि इसी के साथ प्रोमेथियस् की भांति गुप्त अग्नि को स्वर्ग से पृथिवी पर लाये थे। इनका प्राकृतिक आधार विद्युत् के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? उन्हें जो स्वर्ग से पृथिवी[8] पर जानेवाला विवस्वान् का दूत बताया गया है,

---

मथीद् यदीं विष्टो मातरिश्वा होतारं विश्वाप्सुं विश्वदेव्यम्।
नि यं दधुर्मनुष्यासु विक्षु स्वर्ण चित्रं वपुषे विभावम्॥ ऋ० 1.148.1.

1. अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने॥ ऋ० 10.48.2.
2. यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना॥ ऋ० 9.67.31.
घर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस्तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम। ऋ० 10.114.1.
3. पृषध्रे मेध्ये मातरिश्वनीन्द्र सुवाने अमन्दथाः। बा० खि० 4.2.
4. प्रास्तौ दृष्वौजा ऋष्वेभिस्ततक्ष शूरः शवसा।
ऋभुर्न क्रतुभिर्मातरिश्वा॥ ऋ० 10.105.6.
5. दे० 10.46.9. पृ० 172.
6. समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥ ऋ० 10.85.47.
7. अकूपारः सलिलो मातरिश्वा। ऋ० 10.109.1.
8. दे० 6.8.4 पृ० 172.

उसकी व्याख्या भी इस बात से हो जाती है। अथर्ववेद में भी मातरिश्वा शब्द अग्नि के गुह्य नाम के रूप में प्राप्त होता है[1]। किंतु साधारणत: इस संहिता में[2] शेष दो संहिताओं में, और ब्राह्मणों तथा सम्पूर्ण परवर्ती साहित्य में मातरिश्वा शब्द से वायु का बोध होता है। इस परिवर्तन का आदि-बिन्दु ऊपर उद्धृत एक मन्त्र में दिखाया जा चुका है[3]। मातरिश्वा के रूप में माता में निर्मित होकर अग्नि वायु की तीव्र उड़ान बन गए। एक अन्य स्थान पर क्रुद्ध सर्प जैसे वायुस्थ अग्नि की तुलना गतिमान् वायु के साथ की गई है[4]। इस प्रकार की उक्तियों से मातरिश्वा का अर्थ 'वायु' बन गया प्रतीत होता है।

मातरिश्वा का सजातीय शब्द किसी भी भायोरपीय भाषा में उपलब्ध नहीं होता। फलत: इसे हर प्रकार से विशुद्ध भारतीय समास समझा जा सकता है जैसे कि मातरिश्वरी, ऋजिश्वन्, दुर्गृभिश्वन् आदि हैं। 'मातरिश्वा यदमिमीत मातरि'—में इस शब्द की व्युत्पत्ति-संबन्धी व्याख्या आदरणीय है। इसका संभवत: अर्थ है 'माता के अन्दर बढ़नेवाला (√शू बढ़ना, जिससे शिशु बालक तथा अन्य शब्द निष्पन्न होते हैं)। अग्नि के लिए भी कहा गया है कि वे माताओं के अन्दर बढ़ते हैं।—वन् प्रत्यय में समाप्त होनेवाले अनेक शब्दों (जैसे प्रातरित्वन्) के प्रभाव के कारण मातरिश्वन् शब्द में द्वितीय अक्षर से तृतीय पर उदात्त स्वर का विपर्यय संभव है। मातृ पद से अधोऽरणि अथवा विद्युन्मय मेघ लिये जा सकते हैं। किंतु इन दोनों में भी द्वितीय तात्पर्य ही अधिक संभव प्रतीत होता है, क्योंकि मातरिश्वन् का आगमन द्युलोक से होता है। यास्क[5] मातरिश्वा को वायु का बोधक मानते हैं, और इस समास का विच्छेद वे इस प्रकार करते हैं—मातरि (अन्तरिक्षे)+श्वन् (√श्वस्, श्वास लेना या आशु √अन् तेज़ी से श्वास लेना); जिसका अर्थ है "अन्तरिक्ष में श्वास लेनेवाला" वायु।

अहिर्बुध्न्यः (§ 26)—

गहराई के सर्प अहिर्बुध्न्य का नामोल्लेख केवल विश्वेदेवा सूक्तों में हुआ

---

1. यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत्प्रदहन्विश्वदाव्यः।
   यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात्क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम्॥ अथ० 10.8.39.
   अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन्। अथ० 10.8.40.
2. यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
   वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः॥ अथ० 12.1.51.
3. दे० 3.29.11. पृ० 171.
4. हिरण्यकेशो रजसो विसारेऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान्। ऋ० 1.79.1.
5. आदिन्मातॄराविशद् यास्वाशुचिरहिंस्यमान उर्विया वि वावृधे।

है और ऋग्वेद में यह कुल 12 बार आया है। यह नाम अकेले बहुत कम आता है। पांच बार इसका उल्लेख अज एकपाद् के साथ, तीन बार अपां नपात्, तीन बार समुद्र और दो बार सविता के साथ हुआ है। केवल तीन मन्त्रों[1] में वे अकेले आते हैं। जहां कहीं उनके साथ केवल एक अन्य देवता का उल्लेख हुआ है वहां वे देवता अपां नपात्[2] अथवा अज एकपाद्[3] हैं। और जहां अहिर्बुध्न्य और अज एकपाद् का उल्लेख एक ही मन्त्र में हुआ है, वहां[4] (केवल अंशतः अपवाद के साथ) वह एक दूसरे के समानाधिकरण हुआ है। उन देव-नामों की गण-नाओं में, जिनमें कि अहिर्बुध्न्य का नाम आता है, निम्नलिखित प्रमुख हैं:—अज एकपाद्, अहिर्बुध्न्य, समुद्र, अपां नपात्, पृश्नि[5]; अहिर्बुध्न्य, अज एकपाद्, त्रित, ऋभुक्षन्, सविता, अपां नपात्[6]; समुद्र, सरित्, रजस्, वायु, अज एकपाद्, तनयित्नु अर्णव, अहिर्बुध्न्य, विश्वेदेवा[7]। इन संबन्धियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अहिर्बुध्न्य एक अन्तरिक्षस्थ देवता हैं, और नैघण्टुक में इनकी गणना मध्यम-स्थानीय या वायु-स्थानीय देवताओं में हुई भी है। किंतु उनके विषय में और अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके एकाकी उल्लेखों का अनुशीलन करना आवश्यक है। उनके विषय में सबसे अधिक रहस्यों को उघाड़ने-वाले मन्त्र में कवि कह उठा है:—'तू अपने उक्थ, अर्थात् मन्त्रों से अब्ज अर्थात् सलिल में उत्पन्न हुए अहि की स्तुति करता है, जो अन्तरिक्ष में सरिताओं के बुध्न पर अधिष्ठित हैं[8]। इससे सूचित होता है कि अहिर्बुध्न्य अन्तरिक्ष-सागर के

मातरिश्वा वायुः। मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति।
मातर्याश्वनितीति वा। नि० 7.26.

1. मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धादस्माकं भूदुपमातिवनिः। ऋ० 5.41.16.
   अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन्। ऋ० 7.34.16.
   मानोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्त्रिधदृतायोः। ऋ० 7.34.17.
2. दे० 1.186.5. पृ० 168.
3. अज एकपात् सुहवेभिर्ऋक्वभिरहिः शृणोतु बुध्न्यो हवीमनि। ऋ० 10.64.4.
4. समुद्रः सिन्धू रजो अन्तरिक्षमज एकपात् तनयित्नुरर्णवः।
   अहिर्बुध्न्यः शृणवद् वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम॥ ऋ० 10.66.11.
5. दे० 7.35.13. पृ० 169.
6. दे० 2.31.6. पृ० 164.
7. दे० 10.66.11, 7.34.16. ऊपर
8. मानोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्त्रिधदृतायोः। ऋ० 7.34.17.
   उत नो नक्तमपां वृषण्वसू सूर्यामासा सदनाय सधन्या।
   सचा यत्साद्येषामहिर्बुध्नेषु बुध्न्यः॥ ऋ० 10.93.5.

सलिलों में निवास करते हैं। यास्क बुध्न का अर्थ 'अन्तरिक्ष' करते हैं, जबकि सायण इसे 'स्थान' अथवा अन्तरिक्ष बताते हैं[1]। इसके ठीक बाद आनेवाले मन्त्र में अहिर्बुध्न्य से प्रार्थना की गई है कि वे अपने उपासकों को रिष् अर्थात् हानि के गर्त में न डालें और ऋतायु पुरुष के यज्ञ को क्षति से बचावें और इन्हीं शब्दों का प्रयोग उनके लिए एक अन्य मन्त्र में भी किया गया है[2]। इससे प्रतीत होता है कि उनके स्वभाव में किसी सीमा तक नाशक तत्त्वों का संनिवेश भी विद्यमान है। नहीं तो अहि पद का प्रयोग तो साधारणतया केवल वृत्र के लिए ही आता है। वृत्र के विषय में वर्णन आता है कि वह जलों को आवृत करके उनमें परिप्लुत हो जाता है, वह उनमें निवास करता है अथवा वह अन्तरिक्ष के बुध्न पर रहता है[3]। अहि को अन्तरिक्ष (सायण 'उदक') (मेघों का) विधूनन करनेवाला बताया गया है[4]। यह भी वर्णन आता है कि अग्नि व्यापक रजस् के बुध्न में आविर्भूत हुए हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि अहिर्बुध्न्य मूलतः अहिवृत्र से भिन्न नहीं थे, यद्यपि उनका आह्वान एक देवता के रूप में आता है, जोकि 'अपां नपात्' जैसे लगते हैं; और जहां उनके चरित्र के नाशक पक्ष का संकेत मिल जाता है। परवर्ती वैदिक साहित्य में अहिर्बुध्न्य को अग्नि गार्हपत्य के साथ जोड़ दिया गया है[5]; और वेदोत्तर-कालीन साहित्य में अहिर्बुध्न्य रुद्र का एक नाम बन जाता है और तब यह शिव का विशेषण बनकर आता है।

अज एकपाद् (§ 27)—

अज एकपाद् अहिर्बुध्न्य के ही निकट संबन्धी हैं। इनका नाम पांच बार अहिर्बुध्न्य के साथ और एक बार उनसे पृथक् आता है। ऋग्वेद[6] में आहूत देवता—'पावी

1. बुध्नमन्तरिक्षम्। नि० 10.44.
2. मानोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धादस्माकं भूदुपमातिवनिः। ऋ० 5.41.16.
3. परी घृणा चरति तित्विषे शवोऽपो वृत्वी रजसो बुध्नमाशयत्।
   वृत्रस्य यत्प्रवणे दुर्गृभिश्वनो नि जघन्थ हन्वोरिन्द्र तन्यतुम्॥ ऋ० 1.52.6.
4. दे० 1.79.1. पृ० 174.
5. समुद्रोऽसि विश्वव्यचाऽ अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदो ऽस्यृतस्य। वाज० सं० 5.33.
   एष ह वा अहिर्बुध्न्यो यदग्निर्गार्हपत्यः। ऐ० ब्रा० 3.36.
   अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपायेति। अग्नीन्वाव सा तान्व्यक्रमत।
   तान् प्रजापतिः पर्यगृह्णात्। तै० ब्रा० 1.1.10.3.
6. पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः।
   विश्वे देवासः शृणवन् वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरंध्या॥ ऋ० 10.65.13.

रवी, एकपाद् अज, दिवो धर्ता, सिन्धु, समुद्रियः, आपः, विश्वेदेवाः, सरस्वती'—उसी वेद के मन्त्र में आहूत देवताओं के लगभग तद्रूप है, जैसे—समुद्र, नदी, वायु-लोक, अज एकपाद्, तन्यतु अर्णव, अहिर्बुध्न्य और विश्वेदेवा[1]। इन दोनों मन्त्रों से सूचित होता है कि अज एकपाद् अन्तरिक्षस्थ देवता हैं। तथापि नैघण्टुक 5.6. में इनकी गणना द्युस्थानीय देवताओं में की गई है। अथर्ववेद में कहा गया है कि अज एकपाद् ने द्यावापृथिवी को दृढ़ किया[2]। तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] का कथन है कि अज एकपाद् पूर्व में उदित हुए हैं। इस परिच्छेद के व्याख्याकार ने अज एकपाद् को एक प्रकार की अग्नि बताया है, किंतु दुर्गाचार्य इसका अर्थ करते हैं 'सूर्य'। यास्क अज एकपाद् के आधार के विषय में स्वयं अपना कुछ भी मत नहीं प्रकट करते। उन्होंने केवल अज का अर्थ किया है 'अजन' (गतिमान् करनेवाला) और एकपाद् का अर्थ दिया है 'एक पैरवाला' या 'जो एक पैर से रक्षा या पान करते हैं'। गृह्यसूत्रों में यद्यपि अज एकपाद् का स्वतन्त्र देवता के रूप में अस्तित्व प्रायः नहीं के बराबर रह गया था, तथापि गृह्य अनुष्ठानों में अहिर्बुध्न्य के समान अज एकपाद् के लिए भी हविष् का प्रदान होता था[4]। महाकाव्यों में अजैकपाद् रुद्र के ग्यारह नामों में से एक नाम है और यहां पहुंच कर वह शिव का विशेषणमात्र रह गया है।

राथ और ग्रासमान, अज एकपाद् को तूफान का प्रेत मानते हैं और इस नाम का अनुवाद करते हैं 'एक पैरवाला, हांकनेवाला, या तूफ़ान उत्पन्न करने-वाला'। बलूमफ़ील्ड और विक्टर हेनरी के मत में अज एकपाद् सौर-देवता हैं। हार्डी के अनुसार अज एकपाद् 'अकेले चलनेवाला बकरा' चन्द्रमा है। बेर्गेन इस शब्द का अर्थ करते हैं 'अजन्मा (अज), जिसके केवल एक पैर है'। और वे इसका तात्पर्य लगाते हैं उस देवता से, जो अद्वितीय एकान्त रहस्यमय स्थान में निवास करते हैं। किंतु यदि एक और अटकल लगाई जाय तो इस नाम का अर्थ होगा 'एक पैरवाला बकरा' जो मूलतः विद्युत् का आलंकारिक अभिधान रहा होगा—बकरा शब्द मेघ-पर्वत में उसकी त्वरित-गति का बोधक है और 'एक पैर' विद्युत् की एक रेखा का लक्षक है जोकि पृथिवी पर ठोकर मारती हुई गिरती है।

रुद्र (§ 28)—

ऋग्वेद में रुद्र को गौण स्थान मिला है। इनके निमित्त कहे गये सकल सूक्त

---

1. दे० 10.66.11. पृ० 175.
2. तत्रं शिश्रियेऽज एकंपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन। अथ० 13.1.6.
3. अज एकंपादुदंगात्पुरस्तात्। तै० ब्रा० 3.1.2.8.
4. पायसमैन्द्रं श्रपयित्वापूपाँश्चापूपैस्तीत्वाज्य भागाविष्ट्वा ज्याहुतीर्जुहोतीन्द्रायेन्द्राण्या-

केवल 3 हैं; अंशतः सूक्त एक है, एवं सोम के साथ एक अन्य सूक्त में भी इसका नाम आता है। इनका नामोल्लेख लगभग 75 बार हुआ है।

ऋग्वेद में इनकी शारीरिक विशेषताएं निम्नस्थ हैं। इनके एक हाथ है[1], इनकी भुजाएं[2], और अवयव दृढ़ एवं संनद्ध हैं[3]। इनका रंग भूरा (बभ्रु) है[4]। इनके होठ सुन्दर हैं[5], और (पूषन् की भांति) इनके बाल घुंघराले हैं[6]। इनका आकार आंखों को चौंधिया देनेवाला है[7] और इनके रूप अनेक हैं[8]। ये द्युतिमान् सूर्य की भांति एवं स्वर्ण की भांति चमकते हैं[9]। ये स्वर्णिम आभूषणों से प्रसाधित हैं[10] और भांति-भांति के रूपोंवाला निष्क पहनते हैं[11]। ये रथ पर बैठते हैं। परवर्ती संहिताएं—विशेषतया वाजसनेयि संहिता, इनके साथ कुछ और विशेषताओं को जोड़ देती हैं जैसेकि—वे सहस्राक्ष हैं[12]; उनके उदर, मुख, जिह्वा और दांत

अजायैकपदेऽहिर्बुध्न्याय। पार० गृ० सू० 2.15.2.

1. क्व१स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
   अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः॥ ऋ० 2.33.7.
2. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
   पर्षिणः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥ ऋ० 2.33.3.
   नमस्ते रुद्र मन्यवऽउतो तऽइषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः। वा० सं० 16.1.
3. स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः। ऋ० 2.33.9.
4. हवीमभिर्हवते यो हविर्भिरव स्तोमेभी रुद्रं दिषीय।
   ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै॥ ऋ० 2.33.5.
5. दे० 2.33.5. ऊपर।
6. इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
   यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ ऋ० 1.114.1.
7. दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा नि ह्वयामहे।
   हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्मच्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्॥ ऋ० 1.114.5.
8. दे० 2.33.9 ऊपर।
9. यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। ऋ० 1.43.5.
10. दे० 2.33.9. ऊपर।
11. अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
    अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥ ऋ० 2.33.10.
    स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।
    मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः॥ ऋ० 2.33.11.
12. अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना। रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि।
    अथ० 11.2.7.

हैं[1]। उनका उदर काला और पीठ लाल है[2]। वे नील-कण्ठ हैं[3]। वे नीले बालों वाले (नील-शिखण्ड) हैं[4]। वे ताम्र और लोहित वर्ण के हैं[5]। वे चर्म पहने हुए हैं[6] और पर्वतों पर रहते हैं[7]।

ऋग्वेद में रुद्र के शस्त्रों का उल्लेख आता है। एक स्थान पर कहा गया है कि उनके हाथ में वज्र है[8]। उनका विद्युत्-कृपाण (दिद्युत्) आकाश से छूटकर पृथिवी पर भ्रमण करता है[9]। यह भी कहा गया है कि उनके पास धनुष्-बाण[10] हैं,

---

नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य। अथ० 11.2.3.
नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे। वा० सं० 16.8.

1. अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते। दद्भ्यो गन्धाय ते नमः। अथ० 11.2.6.
2. नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम्। अथ० 15.1.7.
नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन।
द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति॥ अथ० 15.1.8.
3. असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः। वा० सं० 16.7.
4. रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ अथ० 2.27.6.
5. दे० वा० सं० 16.7. ऊपर।
6. एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि।
अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाऽअहिंसन्नः शिवोऽतीहि॥ वा० सं० 3.61.
मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव।
परमे वृक्षऽआयुधं निधाय कृत्तिं वसानऽआचर पिनाकं बिभ्रदागहि॥ वा०सं० 16.51
7. या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥ वा० सं० 16.2.
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥ वा० सं० 16.3.
शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्॥ वा० सं० 16.4.
8. दे० 2.33.3. पृ० 178.
9. या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः॥ ऋ० 7.46.3.
10. दे० 2.33.10-11 पृ० 178.
तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य॥ ऋ० 5.42.11.
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ। ऋ० 10.125.6.

जो स्थिर और तीव्र-गतिवाले हैं[1]। उनका आह्वान कृशानु और तीर चलानेवालों के साथ हुआ है[2]। जिन मन्त्रों में इन्द्र की तुलना रथ में बैठे हुए अस्ता अर्थात् तीरंदाज़ से की गई है वहां हो सकता है अभिप्राय इन्हीं से हो[3]। अथर्ववेद में इन्हें अस्ता भी बताया गया है[4]। अथर्ववेद और अन्य परवर्ती वैदिक साहित्य में उनके शरु, अस्त्र, वज्र या चक्र का पुनः पुनः संकेत मिलता है ।

रुद्र के विषय में सबसे अधिक बार कथित बातों में से एक है—उनका मरुतों के साथ साहचर्य। वे उनके पिता हैं[5]; मरुतों के बारे में उल्लेख मिलता है कि वे रुद्र के पुत्र हैं, और अनेक बार उन्हें 'रुद्राः' या 'रुद्रियाः' भी कहा गया है। रुद्र ने रुक्मवक्षस् मरुतों को पृश्नि (सा. माध्यमिका वाक्) के शुक्ल ऊधस् से उत्पन्न किया[6]। रुद्र कभी भी मरुतों के युद्ध-कौशल से संपृक्त नहीं होते क्योंकि वे राक्षसों के साथ युद्ध में प्रवृत्त ही नहीं होते। त्र्यम्बक विशेषण जो वेदोत्तरकालीन साहित्य में शिव का एक प्रमुख विशेषण बन गया है; वैदिक साहित्य ही में रुद्र के लिए प्रयुक्त हो चुका है[7], और प्रतीत होता है कि ऋग्वेद[8] ही में एक बार रुद्र त्र्यम्बक बन चुके हैं। इस शब्द का अर्थ है 'वह जिसके तीन माताएं हैं'[9] इस बात का जगत् के तीन भागों में विभाजन से संबन्ध दीख पड़ता है। वेदोत्तरकालीन शिव-पत्नी अम्बिका का नामोल्लेख सर्वप्रथम वा० सं०[7] में हुआ है; किंतु यहां यह रुद्र की पत्नी नहीं अपितु उनकी बहन बनकर आती हैं।

---

1. इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ।
   अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥ ऋ० 7.46.1.
2. कृशानुमस्तॄन् तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे । ऋ० 10.64.8.
3. तिष्ठद्धरी अध्यस्तेव गर्ते वचोयुजा वहत इन्द्रं मृष्वम् । ऋ० 6.20.9.
   दे० 2.33.11. पृ० 178.
4. यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः । अथ० 6.93.1.
   तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् । अथ० 15.5.1.
   एनं भव इष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति । अथ० 15.5.2-15 आदि
5. इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम् । ऋ० 1.114.6.
   उप ते स्तोमान्पशुपा इवाकरं रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे । ऋ० 1.114.9.
   आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु । प्रजायेमहि रुद्र प्रजाभिः । ऋ० 2.33.1.
6. रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि । ऋ० 2.34.2.
7. अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् । वा० सं० 3.58.
8. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
   उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ ऋ० 7.59.12.
9. त्री षधस्था सिन्धवस्त्रिः कवीनामुत त्रिमाता विदथेषु सम्राट् । ऋ० 3.56.5

शिव-पत्नी के स्थायी नाम उमा और पार्वती सर्वप्रथम संभवत: तैत्तिरीय आरण्यक और केनोपनिषद् में आते हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्र[1] में अग्नि के साथ तद्रूपित देवताओं में से एक रुद्र भी हैं। अग्नि के साथ उनका तादूप्य अथर्ववेद[2], तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण[3] में किया जा चुका है। रुद्र शब्द बहुधा विशेषण के रूप में भी आता है और अनेक स्थलों पर तो यह अग्नि के गुण-विशेष का वाचक भी बनता है, यद्यपि अश्विनों के विशेषण-रूप में इसके प्रयोग और भी बहुल हैं। अनेक अन्य नामों के साथ-साथ सर्व और भव ये दो नाम भी वाजसनेयि-संहिता[4] में रुद्र के लिए आये हैं। ये दोनों नाम अथर्ववेद में आ चुके हैं और वहां रुद्र के नाशक शरु एवं विद्युत् की ओर संकेत किया गया है[5]। किंतु इन मन्त्रों में वे एक दूसरे से, और सच पूछिए तो रुद्र से भिन्न देवताओं के रूप में आये प्रतीत होते हैं। भव और सर्व को तो एक सूत्र-परिच्छेद में रुद्र के पुत्र भी बताया गया है और शांखायन श्रौतसूत्र[6] में इनकी तुलना शिकार के लिए उत्कट इच्छा रखनेवाले घातुक भेड़िये से की गई है। वाजसनेयि संहिता[7] में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, सर्व, ईशान, महादेव, उग्रदेव तथा अन्य देवताओं की गणना एक ही देव के अनेक रूपों की न्याई हुई है। शतपथ ब्राह्मण में रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान् देव: ये अग्नि

---

1. त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः। ऋ० 2.1.6.
2. तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये। अथ० 7.87.1.
3. अग्निर्वै रुद्रः। शत० ब्रा० 6.1.3.10.
   अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र रुद्रो देवता। शत० ब्रा० 9.1.1.1.
4. नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमः। वा० सं० 16.18.
   नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च। वा० सं० 16.28.
5. दे० अथ० 2.27.6. पृ० 179. दे० अथ० 6.93.1. पृ० 180.
   भवा शर्वावस्यतां पापकृते कृत्या कृते। दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम्। अथ० 10.1.23.
   भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
   प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः॥ अथ० 11.2.1.
   धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्।
   रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीऽतः॥ अथ० 11.2.12.
6. यावरण्ये पतयतो वृकौ जजभताविव।
   महादेवस्य पुत्राभ्यां भव शर्वाभ्यां नमः॥ शां० श्रौ० सू० 4.20.1.
7. अग्निं हृदयेनाशनिं हृदयाग्रेण पशुपतिं कृत्स्नहृदयेन भवं यक्ना।
   शर्वं मतस्नाभ्यामीशानं मन्युना महादेवमन्तः पर्शव्येनोग्रं देवं वनिष्ठुना वसिष्ठहनुः शिङ्गीनि कोश्याभ्याम्। वाज० सं० 39.8.

के आठ रूप बनकर आये हैं[1], एक अन्य स्थल पर सर्व, भव, पशुपति और रुद्र को अग्नि के नाम कहा गया है[2]। अशनि जो उपर्युक्त नामों में से एक है और जो शतपथ ब्राह्मण[3] में कुमार का एक नाम बनकर आया है, उसी ब्राह्मण में विद्युत् के अर्थ में भी आता है, किंतु शांखायन ब्राह्मण में इसका अर्थ 'इन्द्र' किया गया है। पशुपति विशेषण रुद्र के लिए वाजसनेयि-संहिता, अथर्ववेद, एवं परवर्ती साहित्य में प्रयुक्त हुआ है; और यह संभवतः इसीलिए हुआ हो कि गृह से बाहर के पशु रुद्र के लिए आक्रमणीय होते हैं, और उनकी रक्षा का भार उन्हीं पर छोड़ दिया जाता है।

रुद्र के लिए ऋग्वेद में आता है कि वे मृग की भांति भीम[4] एवं उपहत्नु अर्थात् घातक हैं[5]। वे द्युलोक के अरुष वराह हैं[6]। वे वृषभ हैं[7]। वे बृहत्[8], दृढ़[9], बलवानों में बलिष्ठ[10], अषाढ अर्थात् अजेय[11], अमेय शक्तिवाले[12], और त्वरितगति[13]

1. तान्येतान्यष्टावग्नि रूपाणि। शत० ब्रा० 6.1.3.18.
2. अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आ चक्षते भव इति यथा बाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति। शत० ब्रा० 1.7.3.8.
3. तमब्रवीदशनिरसीति। तद् यदस्य तन्नामाकरोद् विद्युत्तद्रूपमभवद् विद्युद्वा अशनिः। शत० ब्रा० 6.1.3.14.
4. दे० 2.33.9, 2.33.11. पृ० 178.
   उग्रं मरुद्भी रुद्रं हुवेम। ऋ० 10.126.5.
5. दे० 2 33.11. पृ० 178.
6. 1.114.5. पृ० 178.
7. दे० 2.33.7. पृ० 178.
   प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि।
   नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम॥ ऋ० 2.33.8.
   एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि। ऋ० 2.33.15.
8. इन्द्रं नो अग्ने वसुभिः सजोषा रुद्रं रुद्रेभिरा वहा बृहन्तम्।
   आदित्येभिरदितिं विश्वजन्यां बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम्॥ ऋ० 7.10.4.
9. कद् रुद्राय प्रचेतसे मीळ्हुष्टमाय तव्यसे।
   वोचेम शंतमं हृदे। ऋ० 1.43.1.
   दे० 1.114.1. पृ० 178
10. दे० 2.33.3. पृ० 178
11. दे० 7.46.1. पृ० 180
12. दे० 2.33.10. पृ० 178
13. प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे। ऋ० 10.92.5.

हैं और त्वेष[1] हैं। वे युवा हैं[2], और ऋष्व, अजर एवं सुषुम्न हैं[3]। उन्हें असुर[4] अथवा द्युलोक का सबसे महान् असुर कहा गया है[5]। वे स्वयशस्[6], क्षयद्वीर[7], और इस प्रभूत जगत् के ईशान हैं[8], वे जगत्-पिता हैं[9]। वे अपने साम्राज्य के मानव-जात के शुभाशुभ को देखते हैं[10]। वे सरिताओं को धरती पर प्रवाहित करते हैं और गर्जन-तर्जन करते हुए वहां की हर वस्तु को ओदी करते हैं[11]। वे प्रचेतस् हैं[12], वे कवि हैं[13], और उनका हाथ मृडयाकु है[14]। अनेक बार उन्हें मीढवस् कहा गया है[15], और परवर्ती वेदों में तो इस शब्द का प्रयोग हुआ ही केवल रुद्र के लिए है। वे कामों के पूरक हैं, वे प्रदीप्त अन्नादि के देनेवाले हैं। वे कल्याणकारी 'शिव' हैं[16]।

---

1. त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं वङ्कुं कविमवसे नि ह्वयामहे।
   आरे अस्मद् दैव्यं हेळो अस्यतु सुमतिमिद् वयमस्या वृणीमहे ॥ ऋ० 1.114.4.
2. दे० 2.33.11. पृ० 178.
   युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः। ऋ० 5.60.5.
3. भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ।
   बृहन्तं ऋष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः ॥ ऋ० 6.49.10.
4. दे० 5.42.11. पृ० 179.
5. दे० 2.1.6. पृ० 181.
6. तद् रुद्राय स्वयशसे। ऋ० 1.129.3.
   स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
   येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः ॥ ऋ० 10.92.9.
7. दे० 1.114.1. पृ० 178.
   मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते। ऋ० 1.114.2.
8. ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम्। ऋ० 2.33.9.
9. दे० 6.49.10. ऊपर
10. स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति।
    अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चराऽनमीवो रुद्र जासु नो भव ॥ ऋ० 7.46.2.
11. प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे।
    येभिः परिज्मा परियन्नुरु ज्रयो वि रोरुवज्जठरे विश्वमुक्षते ॥ ऋ० 10.92.5.
12. दे० 1.43.1. पृ० 182.
13. दे० 1.114.4. ऊपर
14. दे० 2.33.7. पृ० 178 दे० 6.49.10. ऊपर
15. अश्याम ते सुमतिं देवयज्यया क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढ्वः। ऋ० 1.114.3.
16. दे० 10.92.9. ऊपर

ऋग्वेद में अनेक बार रुद्र की अनुदारता के भी संकेत मिलते हैं; क्योंकि उनके निमित्त कहे गए सूक्तों में उनके भीषण अस्त्रों से भीति और उनके अमर्ष से भय के भाव झलकते हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे क्रोध में आकर अपने उपासकों, उनके माता-पिताओं, उनके अपत्यों एवं परिजनों, पशुओं एवं अश्वों की क्षति न करें[1]। इसके विपरीत उनसे कहा गया है कि वे उनके अश्वों को छोड़ दें[2], अपने क्रोध एवं वज्र को उपासकों की ओर से लौटा लें और उनसे दूसरों को ध्वस्त करें[3]। उनसे अनुनय किया गया है कि क्रोध आने पर भी वे अपने वज्र को लौटा लें, और अपने उपासकों, उनके बाल-बच्चों और गौओं को किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचायें[4], और उन सबसे अपने गोघ्न और नृघ्न वज्र को दूर ही रखें[2]। उनके दौर्मनस्य एवं मन्यु से भय प्रदर्शित किया गया है[5], और उनसे विनती की गई है कि वे मानव-जाति के पैरवाले सहायकों (अवस) के प्रति दयालु हों[6]। उपासक प्रार्थना करते हैं कि वे नीरोग बने रहें और उन पर रुद्रदेव की कृपा बनी रहे[7]। उन्हें भिषक्तम कहकर उनसे मांग की गई है कि वे अपनी भेषजों से स्तोताओं को वीर नर प्रदान करें। एक स्थान पर उनके लिए नृघ्न विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है[8], और एक सूत्र-परिच्छेद में तो यह भी आया है कि ये महाभाग कभी-कभी

---

1. मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ अर्भ॒कं मा न॒ उक्ष॑न्तमु॒त मा न॑ उक्षि॒तम् ।
   मा नो॑ वधीः पि॒तरं॒ मोत मा॒तरं॒ मा नः॑ प्रि॒यास्त॒न्वो॑ रुद्र रीरिषः ॥ ऋ० 1.114.7.
   मा न॑स्तो॒के तन॑ये॒ मा न॑ आ॒यौ मा नो॒ गोषु॒ मा नो॒ अश्वे॑षु रीरिषः ।
   वी॒रान्मा नो॑ रुद्र भामि॒तो व॑धीर्ह॒विष्म॑न्तः॒ सद॒मित्त्वा॑ हवामहे ॥ ऋ० 1.114.8.
2. अ॒भि नो॑ वी॒रो अर्व॑ति क्षमेत॒ प्र जा॑येमहि रुद्र प्र॒जाभिः॑ । ऋ० 2.33.1.
3. दे० 2.33.11 पृ० 178.
   परि॑ णो हे॒ती रु॒द्रस्य॑ वृज्याः॒ परि॑ त्वे॒षस्य॑ दुर्म॒तिर्म॒ही गा॑त् ।
   अव॑ स्थि॒रा म॒घव॑द्भ्यस्तनुष्व॒ मीढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृळ ॥ ऋ० 2.33.14.
4. प्र॒जाव॑तीः सू॒यव॑सं रि॒शन्तीः॑ शु॒द्धा अ॒पः सु॑प्रपा॒णे पिब॑न्तीः ।
   मा व॑ स्ते॒न ई॑शत॒ माघशं॑सः॒ परि॑ वो हे॒ती रु॒द्रस्य॑ वृज्याः ॥ ऋ० 6.28.7.
5. मा त्वा॑ रुद्र चुक्रुधामा॒ नमो॑भि॒र्मा दुष्टु॑ती वृषभ॒ मा सहू॑ती ।
   उन्नो॑ वी॒राँ अ॑र्पय भेष॒जेभि॑र्भि॒षक्त॑मं त्वा भि॒षजां॑ शृणोमि ॥ ऋ० 2.33.4.
   उन्मा॑ ममन्द वृष॒भो म॒रुत्वा॒न् त्वक्षी॑यसा॒ वय॑सा॒ नाध॑मानम् ।
   घृणी॑वच्छा॒याम॑र॒पा अ॑शी॒याऽऽवि॑वासेयं रु॒द्रस्य॑ सु॒म्नम् ॥ ऋ० 2.33.6.
   दे० 2.33.15. पृ० 182.
6. अ॒व॒सा॒य॑ प॒द्वते॑ रुद्र मृळ । ऋ० 10.169.1.
7. दे० 2.33.1, 2.33.6. ऊपर ।
8. अव॑: क॒र्द्मे रु॒द्राय॒ नृ॒घ्ने । ऋ० 4.3.6.

मनुष्यों को मारने तक की ठान लेते हैं । रुद्र का दौर्मनस्य परवर्ती वैदिक साहित्य में और भी भीम बनकर उघड़ता है । बार-बार उनके अमर्ष से विभीषिका दिखाई गई है[1]। उनका आह्वान किया गया है कि वे दिव्य अग्नि के द्वारा अपने उपासकों को नष्ट न करें और अपनी विद्युत् को कहीं और फेंक देवें[2]। यहां तक वर्णन मिलता है कि वे ज्वर, कासिका (खांसी), हेति और विष के द्वारा जन-जानपदों को सालते हैं[3]। रुद्र के कुत्तों का भी, जो खुलेमुंह घूमते, भौंकते-फिरते एवं अपने शिकार को बिना चबाये ही निगल जाते हैं, उल्लेख मिलता है[4]। यहां तक कहा गया है कि देवगण भी एक बार रुद्र के सज्य धनुष और शरु को देखकर कांप उठे थे; और डर रहे थे कि कहीं वे उन्हें भी धराशायी न कर दें[5]। अपने महादेव रूप में रुद्र पशुओं की हत्या करते हैं । एक अन्य ब्राह्मण-परिच्छेद में उल्लेख मिलता है कि वे सभी भयानक तनुओं के संभार अथवा समवाय से बने हैं[6]। संभवतः उनके इसी अप्रशस्त स्वभाव के कारण उन्हें ब्राह्मणों और सूत्रों में अन्य देवों की कोटि से पृथक् रखा गया है। जब देवताओं ने स्वर्ग प्राप्त किया तब रुद्र वास्तु (बस्ती) में ही रह गये थे[7]। वैदिक यज्ञों में देवताओं के लिए हविष् देने के उपरान्त अवशिष्ट हविष् बहुधा रुद्र को दी जाती है[8]। उनके गणों को जो

1. दे० वा० सं० 3.61. पृ० 179.
2. मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना ।
   अन्यत्रास्मद्विद्युतं पातयैताम् ॥ अथ० 11.2.26. दे० अथ० 10.1.23 पृ० 181.
3. यस्य तक्मा कासिका हेतिरेकमश्वस्येव वृषणः क्रन्द एति ।
   अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै ॥ अथ० 11.2.22. दे० अथ० 11.2.26. ऊपर ।
   यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः । तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ।
   अथ० 6.90.2.

   यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।
   देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ अथ० 6.93.1.
4. नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः । वा० सं० 16.28.
5. तस्माद्देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयं न हिंस्यादिति । शत० ब्रा० 9.1.1.1.
   तस्माद्देवा अबिभयुः । शत० ब्रा० 9.1.1.6.
6. तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरंस्ता संभृता एष देवोऽभवत्त-
   दस्यैतद्भूतवन्नाम । ऐ० ब्रा० 3.33.1.
7. यज्ञेन वै देवा दिवमुपोदक्रामन्नथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे स इहाहीयत तस्माद्
   वास्तव्य इत्याहुर्वास्तौ हि तदहीयत ॥ शत० ब्रा० 1.7.3.1.
8. अथैनमद्भिरभ्युक्ष्याप्रावर्त्य जपेत् "यः पशूनामधिपती रुद्रस्तन्तिचरो वृषा ।
   पशूनस्माकं मा हिंसीरेतदस्तु हुतं तव स्वाहा" इति गोभिल गृह्यसूत्र 1.8.28.

मनुष्यों और पशुओं पर व्याधि, जरा और मृत्यु के साथ आक्रमण करते हैं, शिकार की शोणितमिश्र अंतड़ियां दी जाती हैं[1], जैसेकि यज्ञों में दानवों के निमित्त उनके यज्ञांश रूप में शोणित दिया जाता है[2]।

परवर्ती ग्रन्थों में रुद्र का आवास साधारणतया उत्तर में माना गया है, जबकि अन्य देवों का आवास पूर्व में है। संभवतः अपने इस अप्रशस्त स्वभाव के कारण ही रुद्र ऋग्वेद में, केवल एक स्थल पर, चार मन्त्रों के छोटे-से सूक्त में अन्य देवता (सोम) के साथ देवता-द्वन्द्व में आते हैं।

वाजसनेयि संहिता में रुद्र के अन्य बहुसंख्यक विशेषणों के साथ-साथ कतिपय अभद्र विशेषणों का भी उल्लेख हुआ है। उन्हें स्तायुपति, स्तेन-पति एवं तस्कर-पति कहा गया है[3]। सच पूछिये तो, इन विशेषणों द्वारा प्रदर्शित उनका चरित्र वेदोत्तर-कालीन शिव के भयावह, अशुचि एवं वीभत्स चरित्र के पास जा पहुंचता है।

इतना होने पर भी रुद्र राक्षस की भांति केवल अशिव ही नहीं हैं। ऋग्वेद में उनके लिए यह उल्लेख भी मिलता है कि वे देवताओं के यहां से आनेवाले अमर्ष और एनस् को निवृत्त करते हैं[4]। उनका अनुनय न केवल आपत्ति से बचाने के लिए, अपितु कल्याण (शम्) प्राप्ति के लिए भी किया गया है[5]। उनकी रोग-निवारिणी शक्ति का पुनःपुनः उल्लेख मिलता है। वे औषध देते हैं[6]। वे प्रत्येक

यत्र भुज्यते तत्समूह्य निर्हृत्यावोक्ष्य तं देशममत्रेभ्यो लेपान्संकृष्याद्भिः संसृज्योत्तरतः शुचौ देशे रुद्राय निनयेत्। एवं वास्तु शिवं भवति। आप०ध०सू० 2.2.4.23.

1. तेषु लोहितमिश्रमूवध्यमवधाय। रुद्रसेनाभ्योऽनुदिशति। आघोषिण्यः प्रतिघोषिण्यः सं घोषिण्यो विचिन्वत्यः श्वसनाः क्रव्याद् एष वो भागस्तं जुषध्वं स्वाहेति।
   शां० श्रौ० सू० 4.19.7. एवं 8.
2. असना रक्षः संसृजतादित्याह रक्षांस्येव तत्स्वेन भागधेयेन यज्ञान्निरवदयते।
   ऐ० ब्रा० 2.7.1.
3. स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः। वा०सं० 16.20.
   नमो वञ्चते परि वञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमः। वा० सं० 16.21.
4. दे० 1.114.4. पृ० 183. दे० 2.33.7. पृ० 178.
5. स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः। ऋ० 5.51.13. दे० 2.33.6. पृ० 184.
   यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु। ऋ० 1.114.2.
   शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये।
   नृभ्यो नारिभ्यो गवे॥ ऋ० 1.43.6.
6. स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे। ऋ० 2.33.12.

ओषधि के शासक हैं[1] और वे सहस्रों ओषधियां रखते हैं[2]। वे अपने हाथ में वरणीय भेषज लिये हुए हैं[3]; और उनका हाथ यशस्कर एवं पीयूषमय है[4]। वे अपनी ओषधियों से वीरों को उत्साहित करते हैं; क्योंकि वे वैद्यों के मूर्धन्य हैं[5], और उनकी सौख्यकारी ओषधियों के द्वारा उनके उपासक 'शतं हिमाः' पर्यन्त जीने की आशा करते हैं[6]। उनसे अनुरोध किया गया है कि वे अपने उपासकों के परिवारों से व्याधियों को दूर रखें[7] और द्विपदों और चतुष्पदों के प्रति मीठे बनें, जिससे कि सभी ग्रामवासी सुपुष्ट एवं अनातुर बने रहें[8]। इस संबन्ध में रुद्र के दो असामान्य विशेषण हैं: 'जलाष' और जलाष-भेषज (=पीयूषपाणि)[9]। रोगों की संभवत: यह औषध वर्षा हैं[10]। रुद्र की यह विशेषता उनके स्वभाव का एक अटूट घटक है; इस तथ्य का अभिज्ञान ऋग्वेद के सूक्त (8. 29.)[11] में होता है जिसमें सभी देवों की विशेषताएं गिनाई गई हैं। इसी सूक्त के पूर्व मन्त्र में रुद्र को शुचि, उग्र, पीयूष-पाणि एवं हाथ में आयुध लिये दिखाया गया है। रुद्र की विद्युत् और उनकी भेषजों का एक मन्त्र में साथ-साथ उल्लेख आया है[12]। जलाष रुद्र का और उनके गणों का उपासकों पर कृपा करने के लिए आह्वान किया गया है[13]। मरुत् भी एक

---

1. दे० 5.42.11. पृ० 179.
2. दे० 7.46.3. पृ० 179.
3. दे० 1.114.5. पृ० 178.
4. दे० 2.33.7. पृ० 178.
5. दे० 2.33.4. पृ० 184.
6. त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः। ऋ० 2.33.2.
7. दे० 7.46.2. पृ० 183.
8. दे० 1.114.1. पृ० 178.
9. गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम्। तच्छंयोः सुम्नमीमहे॥ ऋ० 1.43.4.
   दे० अथ० 2.27.6. पृ० 179.
10. अतीयाम निदस्तिरः स्वस्तिभिर्हित्वावद्यमरातीः।
    वृष्ट्वी शं योराप उस्रि भेषजं स्याम मरुतः सह॥ ऋ० 5.53.14.
    अव द्वके अव त्रिका दिवश्चरन्ति भेषजा।
    क्षमा चरिष्ण्वेककं भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मोषु ते किं चनाममत्॥
    ऋ० 10.59.9.
11. तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुधं शुचिरुग्रो जलाषभेषजः। ऋ० 8.29.5.
12. या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः।
    सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः॥ ऋ० 7.46.3.
13. शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः। ऋ० 7.35.6.

अन्य मन्त्र में शुचि और शंतम भेषज रखने के कारण रुद्र से संबद्ध दिखाये गये हैं[1]। रुद्र की उपचार-शक्ति का उल्लेख कहीं-कहीं अन्य संहिताओं में भी मिलता है[2]; किंतु उनके विघटक व्यापारों की अपेक्षा उनकी उपचार-शक्ति का उल्लेख कम हुआ है। सूत्रों में पशुओं की बीमारी का उपचार या निरोध करने के लिए रुद्र-यज्ञों का विधान किया गया है ।

ऋग्वेद के उद्धरणों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि रुद्र का प्राकृतिक आधार क्या है। साधारणतया इन्हें तूफ़ान का देव समझा जाना है। किंतु इन्द्र के विपरीत रुद्र का वज्र क्रूर है। इन्द्र का वज्र केवल अपने उपासकों के शत्रुओं पर पड़ता है। फलतः प्रतीत होता है कि रुद्र मूलतः तूफ़ान के शुचि एवं भद्र पक्ष के नहीं, अपितु उसके घातक वैद्युत पक्ष के प्रतिरूप थे। इस मान्यता के द्वारा उनके घातक शस्त्र का, और 'मरुतों के पिता या प्रमुख' इस अभिधान का आधार स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि मरुत् का शस्त्र विद्युत् है और कहा गया है कि मरुत् विद्युत् के हस्कार (अट्टहास) दीप्तिकर एवं दीप्यमान अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुए हैं[3]। उनके दया-प्रवण एवं भैषज्य कार्यों का आधार अंशतः तूफ़ान के प्रशामक और भूमि को उर्वर बनानेवाले व्यापार रहे होंगे. कुछ इसी प्रकार की प्रक्रिया ने उनके क्रोध-प्रशमनार्थ की गई प्रार्थनाओं द्वारा उनके सौख्यपरक 'शिव' विशेषण को जन्म दिया होगा, जोकि आगे चलकर रुद्र के ऐतिहासिक उत्तराधिकारी देवता का वेदोत्तर-कालीन गाथा में परिनिष्ठित नाम बनकर देश के संमुख आया है। इसी मान्यता से ऋग्वेद में मिलनेवाले रुद्र और अग्नि के निकट संबन्ध की भी व्याख्या हो जाती है।

वेबर मानते हैं कि रुद्र प्रारम्भ में तूफ़ान-गर्जन के प्रतिरूप थे (अतः रुद्र के बहुवचन रूप का अर्थ होता है 'मरुद्गण')। किंतु अग्नि का गर्जन भी तो इसी प्रकार का है। फलतः तूफ़ान और अग्नि इन दोनों के संमेलन से क्रोध और संहार के इस देवता का जन्म हुआ होगा। शतरुद्रिय में आनेवाले विशेषण अंशतः रुद्र (=तूफ़ान) और अंशतः अग्नि (=भौतिक अग्नि) से लिये गये हैं। एच० एच० विल्सन के विचार में रुद्र निश्चित रूप से अग्नि अथवा इन्द्र के एक रूप-विशेष थे। एल० वी०

---

1. या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शंतमा वृषणो या मयोभु। ऋ० 2.33.13.
2. भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै। वा० सं० 3 59.
   अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। वा० सं० 16.5.
   या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
   शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥ वा० सं० 16.49.
   दे० अथ० 2.27.6. पृ० 179.
3. हस्काराद् विद्युतस्पर्यतो जाता अवन्तु नः। मरुतो मृळयन्तु नः। ऋ० 1.23.12.

श्रॉडर के अनुसार रुद्र मूलत. उन प्रेतात्माओं के प्रमुख थे, जो वायु के साथ मिलकर तूफ़ान उत्पन्न करती हैं। ओल्डनबेर्ग का मत है कि रुद्र मूलतः पर्वत एवं अरण्य के देवता थे, जहां से आकर व्याधियों के बर्छे मनुष्यों पर गिरा करते हैं।

अर्थ की दृष्टि से रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति कुछ अनिश्चित-सी है। साधारणतया इस शब्द की व्युत्पत्ति √रुद् (चिल्लाना) से की जाती है, जिससे इसका अर्थ होता है 'चिल्लानेवाला'। यह भारतीय व्युत्पत्ति है। ग्रासमान ने इसे एक कल्पित √रुद् (=चमकना) धातु से निष्पन्न हुआ बताया है जबकि पिशल इसे √रुद् ('=लोहित होना') इस कल्पित धातु से व्युत्पन्न हुआ बताते हैं और इसका अर्थ करते हैं 'चमकीला' या 'लोहित'।

मरुत् (§ 29)—

ऋग्वेद में मरुत् को ऊंचा स्थान प्राप्त हुआ है। अकेले इनके लिए 33, इन्द्र के साथ कम-से-कम 7 और अग्नि तथा पूषा के साथ एक-एक सूक्त कहे गये हैं। मरुतों का एक देवगण है (गण शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से मरुतों के लिए हुआ है, अथवा उनका एक शर्ध है[1]। इनका उल्लेख केवल बहुवचन में हुआ है। इनकी संख्या 60 की तिगुनी या 7 की तिगुनी है[2]। उनके जन्म का जहां-तहां उल्लेख मिलता है[3]। वे रुद्र के पुत्र हैं। अतः इन्हें बहुधा 'रुद्राः'[4] अथवा कभी-कभी 'रुद्रियाः' भी कहा गया है[5]। इन्हें पृश्नि का पुत्र भी बताया गया है[6]। फलतः इनके लिए अनेक वार 'पृश्निमातरः' यह विशेषण भी प्रयुक्त हुआ

1. क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम्। कण्वा अभि प्र गायत॥ ऋ० 1.37.1
   प्र शंसा गोष्वघ्न्यं क्रीळं यच्छर्धो मारुतम्। जम्भे रसस्य वावृधे। ऋ० 1.37.5.
2. शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर्वधैरुग्रेभिरीयसे।
   अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभिस्त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः॥ ऋ० 1.133.6.
   यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
   आ वो रोहितः शृणवत्सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः॥ अथ० 13.1.3.
3. पुरुद्रप्सा अञ्जिमन्तः सुदानवस्त्वेषसंदृशो अनवभ्रराधसः।
   सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे॥ ऋ० 5.57.5.
4. युष्माकमस्तु तविषी तना युजा रुद्रासो नू चिदाधृषे। ऋ० 1.39.4.
   आ वो मक्षू तनाय कं रुद्रा अवो वृणीमहे। ऋ० 1.39.7.
5. सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः। ऋ० 1.38.7.
   चित्रं तद्वो मरुतो याम चेकिते पृश्न्या यदूधरप्यापयो दुहुः।
   यद्वा निदे नवमानस्य रुद्रियास्त्रितं जराय जुरतामदाभ्याः॥ ऋ० 2.34.10.
6. रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि। ऋ० 2.34.2.

है[1]। एक जगह एक गौ भी इनकी माता बनती है; इसलिए इन्हें 'गोमातरः' यह विशेषण भी मिला है[2]। यह गौ, हो सकता है विचित्र-वर्ण के तूफान-मेघ का ही प्रतिरूप हो। प्रभूत स्तनोंवाली समिद्ध गौएं, जिनके साथ मरुद्गण आते हैं, वर्षा और विद्युत् से परिच्छिन्न मेघ की परिचायक हो सकती हैं[3]। पृश्नि से उत्पन्न मरुतों की तुलना अग्नि के साथ की गई है[4]। यह भी वर्णन मिलता है कि वे विद्युत् के अट्टहास से उत्पन्न हुए हैं[5]। कहा गया है कि अग्नि ने उनकी रचना की अथवा उन्हें जन्म दिया[6]। वायु ने उन्हें स्वर्ग की वक्षणाओं में से (सा. वक्षणाओं के लिए) जन्म दिया[7] और एक बार उन्हें 'दिवस्पुत्रासः' भी कहा गया है[8]। मरुत् 'दिवो नरः' या 'दिवो मर्याः' भी कहाये हैं[9]। एक बार इन्हें 'सिन्धुमातरः' भी

प्र ये मे बन्ध्वेषे गां वोचन्त सूरयः पृश्निं वोचन्त मातरम्। ऋ० 5.52.16.
रुद्रस्य ये मीळहुषः सन्ति पुत्रा यांश्चो नु दाधृविर्भरध्यै।
विदे हि माता महो मही षा सेत् पृश्निः सुभ्वे ३ गर्भमाधात्॥ ऋ० 6.66.3.
दे० 5.60.5. पृ० 183.

1. विश्वान् देवान् हवामहे मरुतः सोमपीतये। उग्रा हि पृश्निमातरः। ऋ० 1.23.10.
यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातरः। अथ० 5.21.11. दे०5.52.16. ऊपर
2. गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः। ऋ० 1.85.3.
गोभिर्वाणो अज्यते सोभरीणां रथे कोशे हिरण्यये।
गोबन्धवः सुजातास इषे भुजे महान्तो नः स्परसे नु॥ ऋ० 8.20.8.
3. इन्धन्वभिर्धेनुभी रप्शदूधभिरध्वस्मभिः पथिभिर्भ्राजदृष्टयः।
आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन मधोर्मदाय मरुतः समन्यवः॥ ऋ० 2.34.5.
4. ये अग्नयो न शोशुचन्निधाना द्विर्यत् त्रिर्मरुतो वावृधन्त। ऋ० 6.66.2.
5. दे० 1.23.12. पृ० 188.
शर्धो वा यो मरुतां ततक्ष ऋभुर्न त्वेषो रभसानो अद्यौत्॥ ऋ० 6.3.8.
वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति। यदेषां वृष्टिरसर्जि॥ ऋ० 1.38.8.
6. अग्निः शर्धमनवद्यं युवानं स्वाध्यं जनयत् सूदयच्च। ऋ० 1.71.8.
7. अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिव आ वक्षणाभ्यः। ऋ० 1.134.4.
8. श्रिये मर्यासो अञ्जीँरकृण्वत सुमारुतं न पूर्वीरति क्षपः।
दिवस्पुत्रास एता न येतिर आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधुः॥ ऋ० 10.77.2.
9. साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः। ऋ० 1.64.4.
दिवो अस्तोष्यसुरस्य वीरैरिषुध्येव मरुतो रोदस्योः। ऋ० 1.122.1.
यन्मरुतः सभरसः स्वर्णरः सूर्य उदिते मदथा दिवो नरः। ऋ० 5.54.10.
विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः। ऋ० 3.54.13.
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन। ऋ० 5.59.6.

कहा गया है[1] और कुछ स्थलों पर इन्हें 'स्वयंजात' भी बताया गया है[2]।

वे सब भाई हैं; जिनमें न कोई ज्येष्ठ है और न कोई कनिष्ठ,[3] क्योंकि वे सारे ही आयु में समान हैं[4]। वे एकत्र बढ़े हैं[5] और समन्यु अर्थात् समान विचारवाले हैं[6]। उनकी योनि समान है और नीड अर्थात् आवास भी उन सब का समान है[7]। कहा गया है कि वे पृथिवी पर, द्युलोक में और अन्तरिक्ष के पथों पर एक-साथ ही फैल जाते हैं[8] और तीनों स्वर्गों में निवास करते हैं[9]। एक बार उन्हें पर्वतवासी भी बताया गया है। उनका इन्द्राणी के साथ उल्लेख आता है जोकि उनकी मित्र है[10]। सरस्वती के साथ भी उनका नाता है[11]। उनका घनिष्ठ संबन्ध 'रोदसी' के साथ है, जिनके विषय में वर्णन आता है कि वे उनके साथ रथ पर खड़ी हैं और आनन्द देती हैं[12] या साधारणतः उनके साथ खड़ी हैं[13]। जिन पांच मन्त्रों में

---

1. ग्रावाणो न सूरयः सिन्धुमातर आदर्दिरासो अद्रयो न विश्वहा। ऋ० 10.78.6.
2. वव्रासो न ये स्वजाः स्वतवसः। ऋ० 1.168.2.
   प्र ये जाता महिना ये च नु स्वयं प्र विद्मना ब्रुवत एवयामरुत्।
   क्रत्वा तद्वो मरुतो नाधृषे शवो दाना मह्ना तदेषामधृष्टासो नाद्रयः॥ ऋ० 5.87.2.
3. ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः। ऋ० 5.59.6.
   अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। ऋ० 5.60.5.
4. कया शुभा सवयसः सनीळाः समान्या मरुतः सं मिमिक्षुः। ऋ० 1.165.1.
5. मरुतां पुरुतममपूर्व्यं गवां सर्गमिव ह्वये। ऋ० 5.56.5.
   प्र साकमुक्षे अर्चता गणाय यो दैव्यस्य धाम्नस्तुविष्मान्। ऋ० 7.58.1.
6. आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो माप स्थाता समन्यवः। ऋ० 8.20.1.
   गावश्चिद् घा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः। रिहते ककुभो मिथः। ऋ० 8.20.21.
7. दे० 1.165.1. ऊपर
   क ईं व्यक्ता नरः सनीळा रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः ऋ० 7.56.1.
8. प्रवत्वतीयं पृथिवी मरुद्भ्यः प्रवत्वती द्यौर्भवति प्रयद्भ्यः।
   प्रवत्वतीः पथ्या अन्तरिक्ष्याः प्रवत्वन्तः पर्वता जीरदानवः॥ ऋ० 5.54.9.
9. यदुत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद्वावमे सुभगासो दिवि ष्ठ। ऋ० 5.60.6.
10. उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा। ऋ० 10.86.9.
11. सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा। ऋ० 7.96.2.
    आग्ने गिरो दिव आ पृथिव्या मित्रं वह वरुणमिन्द्रमग्निम्।
    आर्यमणमदितिं विष्णुमेषां सरस्वती मरुतो मादयन्ताम्॥ ऋ० 7.39.5.
12. रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे।
    आ यस्मिन् तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी॥ ऋ० 5.56.8.
13. अध स्मैषु रोदसी स्वशोचिरामवत्सु तस्थौ न रोकः। ऋ० 6.66.6.

'रोदसी' का नाम आता है, उनमें वे मरुतों के साथ उल्लिखित हुई हैं[1]। इससे प्रतीत होता है कि वे मरुतों की वधू रही होंगी (जैसेकि सूर्या को अश्विनों की वधू बताया गया है) संभवतः इसी नाते मरुतों को 'भद्रजानय' अर्थात् भद्र भार्यावाले यह विशेषण मिला हो[2]; और साथ ही उनकी तुलना वर[3] के साथ की गई है।

मरुतों की द्युतिमत्ता का बार-बार उल्लेख हुआ है। वे स्वर्णिम हैं, सूर्य सदृश प्रतिभावाले हैं, समिद्ध अग्नि के समान हैं और लोहित हैं[4]। वे अग्नि-जिह्वाओं (लपटों) की न्याईं चमकवाले हैं[5]। उनकी रचना या ज्योतिष्मत्ता अग्नि जैसी है[6]। भ्राजस् या चमक में इनकी तुलना रुक्मवक्षस् अग्नि के साथ की गई है[7]। ऋजीषी अर्थात् गतसार सोम के पाता मरुत् समिद्ध अग्नि के सदृश शुशुचाव अर्थात् दीप्तिवाले हैं[8]। यहां तक कि स्पष्ट शब्दों में उन्हें उनकी शक्तियों के कारण अग्नि बताया गया है[9]। वे सर्प-जैसे-(अहिभानवः)[10] चमकते हैं। वे पर्वतों पर फबते हैं[11]। वे अपनी चमक से स्वभानु अर्थात् स्वयंदीप्त हैं[12]; स्वभानु विशेषण का प्रयोग निरपवादतः रूप से मरुतों के लिए हुआ है। अनेक बार उन्हें

---

1. परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः ।
   न रोदसी अप नुदन्त घोरा जुषन्त वृधं सख्याय देवाः ॥ ऋ० 1.167.4.
   जोषद् यदीमसुर्या सचध्यै विषितस्तुका रोदसी नृमणाः ।
   आ सूर्येव विधतो रथं गात् त्वेषप्रतीका नभसो नेत्या ॥ ऋ० 1.167.5.
2. परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानयः । अग्नितपो यथासथ । ऋ० 5.61.4.
3. वरा इवेद् रैवतासो हिरण्यैरभि स्वधाभिस्तन्वः पिपिश्रे । ऋ० 5.60.4.
4. ये अग्नयो न शोशुचन्निधाना द्विर्यत्त्रिर्मरुतो वावृधन्त ।
   अरेणवो हिरण्ययास एषां साकं नृम्णैः पौंस्येभिश्च भूवन ॥ ऋ० 6.66.2.
   इहेह वः स्वतवसः कवयः सूर्यत्वचः । यज्ञं मरुत आ वृणे ॥ ऋ० 7.59.11.
   उदु त्ये अरुणप्सवश्चित्रा यामेभिरीरते । वाश्रा अधि ष्णुना दिवः ॥ ऋ० 8.7.7.
5. वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः । ऋ० 10.78.3.
6. त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः ।
   तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ ऋ० 10.84.1.
   अग्निश्रियो मरुतो विश्वकृष्टयः । ऋ० 3.26.5.
7. अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजः सद्यऊतयः । ऋ० 10.78.2.
8. अग्नयो न शुशुचाना ऋजीषिणः । ऋ० 2.34.1. दे० 6.66.2. ऊपर
9. प्र यन्तु वाजास्तविषीभिरग्नयः । बृहदुक्षो मरुतो विश्ववेदसः । ऋ० 3.26.4.
10. मरुतो अहिभानवः । ऋ० 1.172.1.
11. प्र यद् वस्त्रिष्टुभमिषं मरुतो विप्रो अक्षरत् । वि पर्वतेषु राजथ ॥ ऋ० 8.7.1.
12. अजायन्त स्वभानवः । ऋ० 1.37.2.

'रोचमानाः' और 'चन्द्रवर्णाः' भी बताया गया है[1]।

अनेक बार उनका संबन्ध विद्युत् के साथ जोड़ा गया है[2]। जब मरुत् घृत की वर्षा करते हैं तब विद्युत् पृथिवी की ओर मुस्कराती है[3]। जब वे बरसते हैं तव विद्युत् गौ की भांति रांभती है ठीक उसी तरह जैसे माता अपने बछड़े को देखकर[4]। वे वर्षा से चमकती हुई विद्युत् के सदृश द्युतिमान् हैं[5]। विद्युत् उनकी इतनी संनिकट की सहचरी है कि ऋग्वेद में विद्युत् के पांचों समास इनके साथ बनकर आये और केवल एक बार को छोड़ सभी एकमात्र इन्हीं के साथ बने हैं। अभिद्यु मरुत् विद्युत् को अपने हाथ में लेते हैं[6]; वे विद्युत् कम गरिमावाले हैं और अश्मदिद्यु फेंकते अर्थात् अश्मा (अशनि) की चमकवाले हैं[7]। उनके भालों (ऋष्टि) का पुनःपुनः उल्लेख आया है; और उनके 'ऋष्टिविद्युत्' इस विशेषण से ज्ञात होता है कि ये भाले और कुछ न होकर विद्युत् के ही प्रतिरूप थे[8]। अपेक्षाकृत कम बार इन्हें वाशीवाला कहा गया है[9]। इनकी वाशी हिरण्मयी

---

1. एवेदेते प्रति मा रोचमाना अनेद्यः श्रव एषो दधानाः।
संचक्ष्या मरुतश्चन्द्रवर्णा अच्छान्त मे छदयाथा च नूनम्॥ ऋ० 1.165.12.
2. प्र वो मरुतस्तविषा उदन्यवो वयोवृधो अश्वयुजः परिज्रयः।
सं विद्युता दधति वाशति त्रितः स्वरन्त्यापोऽवना परिज्रयः॥ ऋ० 5.54.2.
विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो वातत्विषो मरुतः पर्वतच्युतः। ऋ० 5.54.3.
अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः॥ ऋ० 5.54.11
ईशानकृतो धुनयो रिशादसो वातान् विद्युतस्तविषीभिरक्रत। ऋ० 1.64.5.
3. अव स्मयन्त विद्युतः पृथिव्यां यदी घृतं मरुतः प्रुष्णुवन्ति। ऋ० 1.168.8.
अन्वेनाँ अह विद्युतो मरुतो जज्झतीरिव भानुरर्त त्मना दिवः। ऋ० 5.52.6.
4. दे० 1.38.8. पृ० 190
5. अंसेष्वा मरुतः खादयो वो वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः।
वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना अनु स्वधामायुधैर्यच्छमानाः॥ ऋ० 7.56.13.
6. विद्युद्धस्ता अभिद्यवः शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः।
शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये॥ ऋ० 8.7.25. दे० 5.54.11. ऊपर।
7. दे० 5.54.3. ऊपर।
8. को वोऽन्तर्मरुत ऋष्टिविद्युतो रेजति त्मना हन्वेव जिह्वया। ऋ० 1.168.5.
य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः।
तमृषे मारुतं गणं नमस्या रमया गिरा॥ ऋ० 5.52.13.
9. ये पृषतीभिर्ऋष्टिभिः साकं वाशीभिरञ्जिभिः। अजायन्त स्वभानवः॥ ऋ० 1.37.2.
श्रिये कं वो अधि तनूषु वाशीर्मेधा वना न कृणवन्त ऊर्ध्वा।

है[1]। एक बार उन्हें वज्र-हस्त भी बताया गया है। कहीं-कहीं धनुष्-तीर भी उनके पास बताये गये है[2]। एक बार उन्हें उस्ता अर्थात् तीर चलानेवाला भी कहा गया है। किंतु उनके निमित्त कहे गये बहुसंख्यक सूक्तों में उनकी इस विशेषता का अपेक्षा-कृत कम वर्णन हुआ है; फलतः अनुमान होता है कि उन्हें यह विशेषता अपने पिता रुद्र से देन के रूप में मिली थी। मरुत् आभरणों से सजे हुए हैं; उनके गले में माला है, वक्ष पर कण्ठी है, हाथ में आयुध हैं और पैरों में बांक हैं[3]। वे हिरण्मयी द्रापि पहनते हैं। धनी वर की भांति वे अपने शरीर को सुनहरे आभूषणों से सजाते हैं[4]। खादि उनका फवता आभूषण है। इन अलंकारों से अलंकृत होकर वे वैसे ही सजते हैं जैसे आकाश तारों से और बादल से आनेवाली जल की बूंदें[5]। एक मन्त्र में उनके रूप का वर्णन विशद रूप से किया गया है। वे अपने कंधों पर भाले लिये हैं, उनके पैरों में बांक हैं, उनके वक्षःस्थल पर सुनहरे आभूषण हैं, उनके हाथों में अग्निमयी विद्युत् है। उनके सिर पर सुनहरी टोपी है[6]। एक मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि कहीं अनितभा रसा, कुभा, क्रुमु, सिन्धु और पुरीषिणी सरयु ही मरुतों को न रोक लें, वे हम तक पहुंचें और हम पर दयार्द्र हों[7]।

मरुत् रथों पर चलते हैं; और ये रथ विद्युत्-जैसे चमकते हैं[8], ये रथ

युष्मभ्यं कं मरुतः सुजातास्तुविद्युम्नासो धनयन्ते अद्रिम् ॥ ऋ० 1.88.3.
वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः ।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥ ऋ० 5.57.2.
प्र धन्वान्यैरत शुभ्रखादयो यदेजथ स्वभानवः । ऋ० 8.20.4.

1. सहो षु णो वज्रहस्तैः कण्वासो अग्निं मरुद्भिः ।
स्तुषे हिरण्यवाशीभिः ॥ ऋ० 8.7.32.
2. ये अञ्जिषु ये वाशीषु स्वभानवः स्रक्षु रुक्मेषु खादिषु ।
श्राया रथेषु धन्वसु ॥ ऋ० 5.53.4. दे० 5.57.2. ऊपर
त उग्रासो वृषण उग्रबाहवो नकिष्टनूषु येतिरे ।
स्थिरा धन्वान्यायुधा रथेषु वोऽनीकेष्वधि श्रियः ॥ ऋ० 8.20.12.
3. दे० 5.53.4. ऊपर
4. दे० 5.60.4 पृ० 192.
5. द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः ।
रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ॥ ऋ० 2.34.2.
6. दे० 5.54.11. पृ० 193.
7. मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुर्मा वः सिन्धुर्नि रीरमत् ।
मा वः परि ष्ठात्सरयुः पुरीषिण्यस्मे इत्सुम्नमस्तु वः ॥ ऋ० 5.53.9.
8. आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः । ऋ० 1.88.1.

सुनहरे हैं[1], और इनके पहिये स्वर्णिम हैं[2], इनमें शस्त्र रखे हैं[3], और इनमें कोश अर्थात् जल की मशकें लगी हैं[4]। उनके रथ को खींचनेवाले अश्व लाल या भूरे वर्ण के हैं[5], ये अश्व सुवर्ण-पाणि अर्थात् इनके अगले पैर सुनहरे हैं[6], और ये मनो-जवा हैं[7]। ये अश्व चित्रवर्ण हैं, जैसाकि 'पृषदश्व' इस विशेषण से प्रतीत होता है। यह विशेषण अनेक बार और एकान्त रूप से मरुतों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इनके रथ को खींचनेवाले अश्वों का अपेक्षाकृत अधिक बार स्त्रीलिंग में उल्लेख हुआ है, जैसेकि पृषती:[8] इत्यादि। दो मन्त्रों में इनका उल्लेख पुंल्लिङ्ग 'अश्वा:' के साथ भी हुआ है[9]। यह भी वर्णन आता है कि मरुतों ने अपने रथ में अश्वों के रूप में वायु को जोड़ा था[10]। मरुत् व्योम के समान उरु अर्थात् व्यापक हैं[11], वे सूर्य के समान द्युलोक एवं पृथिवीलोक को अतिक्रान्त किये हुए हैं[12], इनकी गरिमा अमेय है[13] और इनकी शवस् अर्थात् शक्ति का पार किसी ने नहीं पाया है[14]।

दे० 3.54.13. पृ० 190

1. आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन। ऋ० 5.57.1.
2. हिरण्ययेभिः पविभिः पयोवृध उज्जिघ्नन्त आपथ्यो३ न पर्वतान्। ऋ० 1.64.11.
   एतत्त्यन्न योजनमचेति सस्वर्ह यन्मरुतो गोतमो वः।
   पश्यन् हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून्॥ ऋ० 1.88.5.
3. अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः — ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम्। नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे। ऋ० 5.57.6.
4. श्चोतन्ति कोशा उप वो रथेष्वा घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते। ऋ० 1.87.2.
5. तेऽरुणेभिर्वरमा पिशङ्गैः शुभे कं यान्ति रथतूर्भिरश्वैः। ऋ० 1.88.2.
   पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः। ऋ० 5.57.4.
6. आ नो मखस्य दावनेऽश्वैर्हिरण्यपाणिभिः।
   देवास उप गन्तन॥ ऋ० 8.7.27.
7. मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम्। ऋ० 1.85.4.
8. उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वम्। ऋ० 1.39.6.
9. यदश्वान् धूर्षु पृषतीरयुग्ध्वं हिरण्ययान् प्रत्यत्काँ अमुग्ध्वम्।
   विश्वा इत् स्पृधो मरुतो व्यस्यथ शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ऋ० 5.55.6.
   यत्प्रायासिष्ट पृषतीभिरश्वैर्वीळुपविभिर्मरुतो रथेभिः। ऋ० 5.58.6.
10. वातान् ह्यश्वान् धुर्यायुयुज्रे वर्षं स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः। ऋ० 5.58.7.
11. वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुसदृशः सुपेशसः।
    पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः॥ ऋ० 5.57.4.
12. प्र ये दिवः पृथिव्या न बर्हणा त्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्यः। ऋ० 10.77.3.
13. मयोभुवो ये अमिता महित्वा। ऋ० 5.58.2.
14. नही नु वो मरुतो अन्त्यस्मे आरात्ताच्चिच्छवसो अन्तमापुः। ऋ० 1.167.9.

मरुत् युवा हैं[1] और वे अजर[2] हैं। वे विपुल हैं, सेचक हैं, रुद्र के पुत्र हैं, असुर और अरेपस् अर्थात् बेदाग हैं; वे पावन हैं, शुचि हैं, सूर्य की तरह सारवान् हैं, द्रप्सों (जलबिन्दुओं) से भरे हैं और घोररूप हैं[3]। वे असुर, ऋष्व, उक्षण, अलेप और शुचि हैं। वे भयानक[4], धृष्णु[5] एवं भीमसंदृक् हैं[6] ऋक्ष (सा० अग्नि) एवं अन्य दुध्र पशुओं की न्याई भीमयु अर्थात् भयावह हैं। वे बछड़ों या बच्चों की भांति क्रीडालु हैं[7]। वे नीलपृष्ठ हंसों के सदृश शुम्भमान अर्थात् अलंकारों से शोभायमान हैं[8]। वे अयोदंष्ट्र वराह हैं[9]। वे सिंह समान हैं[10]।

मरुतों के घोष का बार-बार उल्लेख आता है और स्पष्ट शब्द में इस घोष को 'तन्यतुः' कहा गया है[11]; किंतु यही गर्जन वायु का भी है[12]। उनके आते

---

1. ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः ।
   पावकासः शुचयः सूर्या इव सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः ॥ ऋ० 1.64.2.
   धारावरा मरुतो धृष्ण्वोजसो मृगा न भीमास्तविषीभिरर्चिनः । ऋ० 2.34.1.
   कस्य ब्रह्माणि जुजुषुर्युवानः को अध्वरे मरुत आ ववर्त । ऋ० 1.165.2.
   एष स्तोमो मारुतं शर्धो अच्छा रुद्रस्य सूनूँर्युवन्यूँरुदश्याः । ऋ० 5.42.15.
2. युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो ववक्षुरध्रिगावः पर्वता इव । ऋ० 1.64.3.
3. पावकासः शुचयः सूर्या इव सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः । ऋ० 1.64.2.
   रजस्तुरं तवसं मारुतं गणमृजीषिणं वृषणं सश्चत श्रिये । ऋ० 1.64.12.
   दे० 6.66.2. पृ० 190.
4. य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा । मरुद्भिरग्न आ गहि । ऋ० 1.19.4.
5. शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णोः । ऋ० 7.56.8.
6. ये ते नेदिष्ठं हवनान्यागमन् तान्वर्ध भीमसंदृशः । ऋ० 5.56.2.
   ऋक्षो न वो मरुतः शिमीवाँ अमो दुध्रो गौरिव भीमयुः । ऋ० 5.56.3.
   जनूश्चिद् वो मरुतस्त्वेष्येण भीमासस्तुविमन्यवोऽयासः । ऋ० 7.58.2.
   दे० 5.56.2. ऊपर
   ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः । मरुद्भिरग्न आ गहि । ऋ० 1.19.5.
7. नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीळन्ति क्रीळा विदथेषु घृष्वयः । ऋ० 1.166.2.
   ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीळिनः पयोधाः । ऋ० 7.56.16.
   शिशूला न क्रीळयः सुमातरः । ऋ० 10.78.6.
8. सस्वश्चिद्धि तन्वः शुम्भमाना आ हंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन् । ऋ० 7.59.7.
9. दे० 1.88.5. पृ० 195
10. सिंहा इव नानदति प्रचेतसः । ऋ० 1.64.8.
11. जयतामिव तन्यतुर्मरुतामेति धृष्णुया । यच्छुभं याथना नरः । ऋ 1.23.11.
12. अभि स्वपूभिर्मिथो वपन्त वातस्वनसः श्येना अस्पृध्रन् । ऋ० 7.56.3.

ही द्युलोक मानों भय से चीखने लगता है[1]। यह भी वर्णन आता है कि मरुत् पर्वतों को हिलाते हैं और पृथिवी या दोनों लोकों को डुला देते हैं। उनके रथों की घोड़ियां अपनी टापों से पर्वतों या अद्रियों को दरड़ डालती हैं[2]। जब वे वायु के साथ धावते हैं और मेंह बरसाते हैं तब पर्वतों तक को कंपा देते हैं[3]। वे वृक्षों को चीर डालते और वन्य हस्ती की भांति जंगलों को चबा जाते हैं[4]। बड़े-बड़े पेड़ उनके समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं[5]। पर्वतों के समान अबाधगति मरुत् अपनी शक्ति से पृथिवी और द्युलोक के प्राणियों अथवा पदार्थों को कंपित कर देते हैं[6]। सभी प्राणी उनका लोहा मानते हैं[7]। वे प्रचण्ड वायु की तरह चलते हैं[8] और धूल उड़ाते हैं[9]। वे वायु या उसकी ध्वनि को पैदा करते हैं[10]। वे वायु के साथ आते हैं[11] और वे वायु पर सवारी करते हैं[12]।

मरुतों के प्रधान कार्यों में से एक है—वर्षा करना। वे वर्षा से आवृत हैं[13]। वे समुद्र से उठते और वर्षा बरसाते हैं[14]। अचूक कूप को उलीचते हुए मरुत दोनों लोकों

1. उशना यत्परावत उक्ष्णो रन्ध्रमयातन। द्यौर्न चक्रदद् भिया। ऋ० 8.7.26.
2. हिरण्ययेभिः पविभिः पयोवृध उज्जिघ्नन्त आ पथ्यो न पर्वतान्। ऋ० 1.64.11.
   उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा। ऋ० 5.52.9.
3. वपन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान्। यद् यामं यान्ति वायुभिः। ऋ० 8.7.4.
4. प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्।
   प्रो आरत मरुतो दुर्मदा इव देवासः सर्वया विशा॥ ऋ० 1.39.5.
   मिहिषासो मायिनश्चित्रभानवो गिरयो न स्वतवसो रघुष्यदः।
   मृगा इव हस्तिनः खादथा वना यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम्॥ ऋ० 1.64.7.
5. वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया पृथिवी चिद्रेजते पर्वतश्चित्। ऋ० 5.60.2.
6. युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो ववक्षुरध्रिगावः पर्वता इव।
   दृळहा चिद् विश्वा भुवनानि पार्थिवा प्र च्यावयन्ति दिव्यानि मज्मना॥ ऋ० 1.64.3.
7. भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भयः। ऋ० 1.85.8.
8. वातासो न ये धुनयो जिगत्नवः। ऋ० 10.78.3.
9. दे० 1.64.12. पृ० 196.
10. दे० 7.56.3. पृ० 196.
11. उदीरयन्त वायुभिर्वाश्रासः पृश्निमातरः। ऋ० 8.7.3.

   दे० 8.7.4. ऊपर

   उदु स्वानेभिरीरत उद्रथैरुदु वायुभिः। उत् स्तोमैः पृश्निमातरः। ऋ० 8.7.17.
12. दे० 5.58.7. पृ० 195.
13. दे० 5.57.4. पृ० 195.
14. दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोद वाहेन। यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति॥ ऋ० 1.38.9.

के मध्य पानी की रेल-पेल कर देते हैं[1]। वर्षा उनका अनुगमन करती है[2]। वे जल लाते और वृष्टि को उकसाते हैं[3]। वे वर्षा से अपनी प्रभा को ढक लेते हैं[4]। वे वर्षा द्वारा सूर्य के नेत्र को मूंदे देते हैं[5]। जब वृष्टि आती है तब मरुत् बादलों द्वारा अँधेरा-घुप्प कर देते हैं[6]। जब वे हवा के साथ भागते हैं तब चहुं ओर कुहरा बिछा देते हैं[7]। वे दिव्य कोश को[8] उडेलते और पर्वत-स्रोतों को खोल देते हैं[9]। जब वे जल्दी करते हैं तब जल-प्रवाह बह निकलते है[10]। उनकी इस विशेषता के कारण एक भौतिक नदी को मरुद्वृध् यह संज्ञा मिली है[11]। रुद्र-पुत्रों का स्वेद ही वृष्टि[12] है। मरुतों द्वारा बरसाई गई वृष्टि को आलंकारिक रूप से दुग्ध[13], घृत[14], दूध-घी[15] आदि यह नाम मिले हैं। वे उत्सों को उकसाते हैं[16] और पृथिवी

---

1. पिन्वन्त्यपो मरुतः सुदानवः पयो घृतवद् विदथेष्वाभुवः ।
   अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनमुत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितम् ॥ ऋ० 1.64.6.
   ये द्रप्सा इव रोदसी धमन्त्यनु वृष्टिभिः ।
   उत्सं दुहन्तो अक्षितम् ॥ ऋ० 8.7.16.
2. तं वः शर्धं रथानां त्वेषं गणं मारुतं नव्यसीनाम् ।
   अनु प्र यन्ति वृष्टयः ॥ ऋ० 5.53.10.
3. आ वो यन्तूदवाहासो अद्य वृष्टिं ये विश्वे मरुतो जुनन्ति । ऋ० 5.58.3.
4. अनु स्वं भानुं श्रथयन्ते अर्णवैः । ऋ० 5.59.1.
5. सूर्यस्य चक्षुः प्र मिनन्ति वृष्टिभिः । ऋ० 5.59.5.
6. दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन ।
   यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति । ऋ० 1.38.9.
7. वपन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान् । यद् यामं यान्ति वायुभिः ॥ ऋ० 8.7.4.
8. आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः । ऋ० 5.53.6.
   आ चुच्यवुर्दिव्यं कोशमेत ऋषे रुद्रस्य मरुतो गृणानाः । ऋ० 5.59.8.
9. प्र पर्वतस्य नभनूँरचुच्यवुः । ऋ० 5.59.7.
10. यत्प्रायासिष्ट पृषतीभिरश्वैर्वीळुपविभिर्मरुतो रथेभिः ।
    क्षोदन्त आपो रिणते वनान्यवोस्रियो वृषभः क्रन्दतु द्यौः ॥ ऋ० 5.58 6.
11. असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया । ऋ० 10.75.5.
12. वर्षं स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः । ऋ० 5.58.7.
13. उक्षन्त्यस्मै मरुतो हिता इव पुरू रजांसि पयसा मयोभुवः । ऋ० 1.166.3.
14. वर्त्मान्येषामनु रीयते घृतम् । ऋ० 1 85.3.
    वरे यवो न मर्या घृतप्रुषः । ऋ० 10.78.4.
15. पिन्वन्त्यपो मरुतः सुदानवः पयो घृतवद् विदथेष्वाभुवः । ऋ० 1.64.6.
16. जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशासिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे । ऋ० 1.85.11.

को मधु से मदिर बना देते हैं[1]। वे समुद्र के सलिलों को आकाश में उभारते और वहां से उन्हें पृथिवी पर बरसाते हैं[2]। कहना न होगा कि उनके द्वारा बरसाये हुए जल विद्युत्-तूफ़ान के साथ संबद्ध हैं। जल बरसाने की हूक से, कुहरा बिछाते हुए उद्दाम मरुत् स्तनयित्नु के साथ आगे बढ़ते हैं[3]। वे अपनी शक्ति से वायु और बिजली को जन्म देते हैं। वे 'स्वर्गीय स्तन' से दिव्य दानों को दुहते, और पृथिवी को सलिल से प्लुत कर देते हैं[4]। जब वे जल-वृष्टि करते हैं तब लोहित वृषभ (आकाश) रांभ उठता है[5]। देखिए उनकी शक्ति को; वे अवध्रि बैल तक से वृष्टि करा देते हैं[6]। वे स्वर्गीय वृष्टि देते और अवध्रि बैल की धाराओं का तांता लगा देते हैं[7]। जब वे अश्व के साथ मूत्र उत्सर्ग करते हैं तब उनका रंग सुनहरा बन जाता है[8]। जब वे बादलों को गरजाते-तरजाते हैं तब मरुतों की घोड़ियों के साथ सरिताएं सांय-सांय करने लगती हैं[9]। इन्द्र द्वारा विसृष्ट जल को "मरुत्वती" यह नाम मिला है[10]। वृष्टि-देवता के रूप में मरुतों के लिए 'पुरुद्रप्सा'[11], या 'द्रप्सिनः'[12] और 'सुदानवः' इन विशेषणों का प्रयोग हुआ है। वे गरमी को दबाते[13] और अन्धकार का ध्वंस करते हैं[14]। वे प्रकाश को झिलमिलाते[15], और

1. व्युन्दन्ति पृथिवीं मध्वो अन्धसा। ऋ० 5.54.8.
2. अपः समुद्राद् दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति।
   ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ अथ० 4.27.4.
3. अब्दया चिन्मुहुरा ह्रादुनीवृतः स्तनयदमा रभसा उदोजसः। ऋ० 5.54.3.
4. दुहन्त्यूधर्दिव्यानि धूतयो भूमिं पिन्वन्ति पयसा परिज्रयः। ऋ० 1.64.5.
   उत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितम्। ऋ० 1.64.6.
5. दे० 5.58.6. पृ० 198
6. अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनम्। ऋ० 1.64.6.
7. दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः। ऋ० 5.83.6.
8. निमेघमाना अत्येन पाजसा सुश्चन्द्रं वर्णं दधिरे सुपेशसम्। ऋ० 2.34.13.
9. प्रतिष्टोभन्ति सिन्धवः पविभ्यो यदभ्रियां वाचमुदीरयन्ति। ऋ० 1.168.8.
10. निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः।
    सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपः॥ ऋ० 1.80.4.
11. पुरुद्रप्सा अञ्जिमन्तः सुदानवः। ऋ० 5.57.5.
12. सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः। ऋ० 1.64.2.
13. प्र शर्धाय मारुताय स्वभानव इमां वाचमनजा पर्वतच्युते।
    घर्मस्तुभे दिव आ पृष्ठयज्वने द्युम्नश्रवसे महि नृम्णमर्चत॥ ऋ० 5.54.1.
14. अप बाधध्वं वृषणस्तमांसि धत्त विश्वं तनयं तोकमस्मे। ऋ० 7.56.20.
15. गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।

सूर्य के लिए पथ बिछाते हैं[1]। उन्होंने वायु को माप लिया[2], और पृथिवी एवं द्युलोक को बिछा दिया है। दोनों लोकों को पृथक्-पृथक् मरुतों ने ही धारण कर रखा है।

इनकी गरज को दृष्टि में रखकर इन्हें अनेक बार गायक भी कहा गया है[3]। वे दिव्य गायक हैं[4]। वे एक प्रकार का गीत गाते हैं[5]। इस गान द्वारा ही उन्होंने सूर्य को प्रकाशित किया है[6], और अपनी बांसुरी की लय से ही उन्होंने पर्वत का भेदन किया है[7]। जब इन्द्र ने अहि का संहार किया था तब मरुतों ने एक गीत गाया था और उनके संमुख सोम को प्रस्तुत किया था[8]। इस गान के बल से ही उन्होंने इन्द्र की शक्ति को जन्म दिया था[9]। यद्यपि उनका यह गान मूलतः वायु की ध्वनि ही रहा होगा तथापि इसे सूक्त की संज्ञा भी दी गई है[10]। फलतः इस प्रकार इन्द्र के साथ चलने पर उन्हें पुरोहित भी कहा गया है[11] और उनकी तुलना पुरोहितों के साथ की गई है[12]। दशग्वा की तरह वे भी प्रथम याज्ञिक थे। याज्ञिक

ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥ ऋ० 1.86.10.

1. सृजन्ति रश्मिमोजसा पन्थां सूर्याय यातवे। ऋ० 8.7.8.
2. उतान्तरिक्षं ममिरे व्योजसा। ऋ० 5.55.2.
3. प्र श्यावाश्व धृष्णुयार्चा मरुद्भिर्ऋक्वभिः। ऋ० 5.52.1.
   अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिः सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः। ऋ० 5.60.8.
   शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः। ऋ० 7.35.9.
4. दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे। ऋ० 5.57.5.
5. य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ऋ० 1.19.4.
   अर्चन्त्यर्कं मदिरस्य पीतये विदुर्वीरस्य प्रथमानि पौंस्या। ऋ० 1.166.7.
6. अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन्। ऋ० 8.29.10.
7. ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा दादृहाणं चिद् बिभिदुर्वि पर्वतम्।
   धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे ॥ ऋ० 1.85.10.
8. अनु यदीं मरुतो मन्दसानमार्चन्निन्द्रं पपिवांसं सुतस्य।
   आदत्त वज्रमभि यदहिं हन्नपो यह्वीरसृजत्सर्तवा उ ॥ ऋ० 5.29.2.
   तुभ्येदेते मरुतः सुशेवा अर्चन्त्यर्कं सुन्वन्त्यन्धः।
   अहिमोहानमप आशयानं प्र मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः ॥ 5.30.6.
9. अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधि श्रियो दधिरे पृश्निमातरः। ऋ० 1.85.2
   आ मातरा भरति शुष्म्या गोर्नृवत्परिज्मन्नोनुवन्त वाताः। ऋ० 4.22.4.
10. मित्रश्च तुभ्यं वरुणः सहस्वोऽग्ने विश्वे मरुतः सुम्नमर्चन्। ऋ० 3.14.4.
11. उत ब्रह्माणो मरुतो मे अस्येन्द्रः सोमस्य सुषुतस्य पेयाः। ऋ० 5.29.3.
12. विप्रासो न मन्मभिः स्वाध्यः। ऋ० 10.78.1.

के घर में उन्होंने ही अग्नि का मार्जन किया था, और भृगुओं ने उसे प्रज्वलित किया था[1]। अन्य देवों की भांति इन्हें भी अनेक बार सोम-पान करनेवाला बताया गया है[2]। गर्जन-तूफ़ान-दृश्य के तद्रूप होने के कारण मरुद्गण स्वभावतः इन्द्र के सगे संगी हैं; वे अगणित मन्त्रों में इन्द्र के मित्र या सहायक बन कर आते हैं[3]। अपने स्तवन, अर्चन एवं गान के द्वारा वे इन्द्र की शक्ति और कुशलता को शतगुण बनाते हैं[4]। वृत्र-युद्ध में वे इन्द्र की सहायता करते हैं[5]। वृत्र-हनन में वे त्रित एवं इन्द्र के दक्षिण हस्त बनते हैं[6]। उनसे अनुरोध किया गया है कि वे ऐसा गान गावें जो वृत्र को धराशायी कर दे। अहि और शम्बर के युद्ध में उन्होंने इन्द्र की सहायता की थी[7]। उनके साहाय्य से ही इन्द्र प्रकाश का मुख देखते, गौओं को प्राप्त करते[8] और आकाश को धारण करते हैं। सच पूछो तो इन्द्र की जितनी भी दिव्य विजय हैं वे उन्होंने मरुतों की सहायता से ही पाई हैं[9]। कहीं-कहीं मरुत् इन विजयों में अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र रूप में आते हैं।

1. त्वां मर्जयन्मरुतो दाशुषो गृहे त्वां स्तोमेभिर्भृगवो वि रुरुचुः। ऋ० 10.122.5.
2. पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः। ऋ० 2.36.2.
   आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन् रोचना दिवः।
   मरुतः सोमपीतये॥ ऋ० 8.94.9.
   त्यं नु मारुतं गणं गिरिष्ठां वृषणं हुवे।
   अस्य सोमस्य पीतये। ऋ० 8.94.12.
3. याँ आभजो मरुत इन्द्र सोमे ये त्वामवर्धन्नभवन्गणस्ते। ऋ० 3.35.9.
   वर्धान्यं विश्वे मरुतः सजोषाः पचच्छतं महिषाँ इन्द्र तुभ्यम्। ऋ० 6.17.11.
4. अमन्दन्मा मरुतः स्तोमो अत्र यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र।
   इन्द्राय वृष्णे सुमखाय मह्यं सख्ये सखायस्तन्वे तनूभिः॥ ऋ० 1.165.11.
5. वृत्रेण यदहिना बिभ्रदायुधा समस्थिथा युधये शंसमाविदे।
   विश्वे ते अत्र मरुतः सह त्मनाऽवर्धन्नुग्र महिमानमिन्द्रियम्॥ ऋ० 10.113.3.
6. अनु त्रितस्य युध्यतः शुष्ममावन्नुत क्रतुम्।
   अन्विन्द्रं वृत्रतूर्ये॥ ऋ० 8.7.24.
7. याँ आभजो मरुतो ये त्वान्वहन्वृत्रमदधुस्तुभ्यमोजः। ऋ० 3.47.3.
   ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
   ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमं सगणो मरुद्भिः॥ ऋ० 3.47.4.
8. वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः। अविन्द उस्रिया अनु॥ ऋ० 1.6.5.
9. स यो वृषा वृष्ण्येभिः समोका महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट्।
   सतीनसत्वा हव्यो भरेषु मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ऋ० 1.100.1 आदि पूर्णसूक्त
   प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।

उदाहरणार्थ—इन्द्र की सहायता पाकर वे वृत्र पर आघात करते हैं[1] और अकेले भी उन्होंने यदा-तदा वृत्र के पर्व-पर्व को छिन्न-भिन्न किया[2] और गौओं को पणियों के हाथों से उन्मुक्त किया है[3]। अन्य देवताओं की भांति उनके प्रधान भी इन्द्र हैं[4] और वे इन्द्र के साथ चलते हैं[5]। वे इन्द्र के लिए पुत्रवत् हैं[6] और उन्हें इन्द्र का भाई भी बताया गया है[7]। यह सब कुछ होते हुए भी दो-तीन बार आता है कि मरुतों ने इन्द्र का आपत्ति में साथ छोड़ दिया था। अहि-युद्ध में उन्होंने इन्द्र को अकेले ही भिड़ने दिया था[8] और चुपचाप उनका साथ छोड़ दिया था[9]। एक मन्त्र में इन्द्र और मरुतों के बीच वैमनस्य का संकेत भी मिलता है। इस अवस्था में मरुत् कहते हैं, 'हमें मारने का उद्योग क्यों करता है तू इन्द्र ? समर में हमारा वध न कर[10]।' तैत्तिरीय ब्राह्मण[11] में भी मरुत् और इन्द्र के बीच झगड़े का उल्लेख मिलता है।

जब मरुतों का इन्द्र के साथ संबन्ध नहीं रहता तब कभी-कभी वे अपनी संहारक प्रवृत्तियां भी प्रकट कर देते हैं। ऐसी अवस्था में वे एक सीमा तक अपने

अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥ ऋ० 1.101.1. आ. पू.सू.
कया शुभा सवयसः सनीळाः समान्या मरुतः सं मिमिक्षुः ।
कया मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति शुष्मं वृषणो वसूया ॥ ऋ० 1.165.1.
अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः ।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत्सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः ॥ ऋ० 10.65.1.

1. हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा । ऋ० 1.23.9.
2. वि वृत्रं पर्वशो ययुर्वि पर्वताँ अराजिनः ।
   चक्राणा वृष्णि पौंस्यम् ॥ ऋ० 8.7.23.
3. धारावरा मरुतो धृष्ण्वोजसः । भूमिं धमन्तो अप गा अवृण्वत ॥ ऋ० 2.34.1.
4. इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणाः । ऋ० 1.23.8.
5. इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः । ऋ० 10.128.2.
6. स सूनुभिर्न रुद्रेभिर्ऋभ्वा । मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती । ऋ० 1.100.5.
7. किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।
   तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः ॥ ऋ० 1.170.2.
8. क्व स्या वो मरुतः स्वधासीद् यन्मामेकं समधत्ताहिहत्ये । ऋ० 1.165.6.
9. कद्ध नूनं कधप्रियो यदिन्द्रमजहातन ।
   को वः सखित्व ओहते ॥ ऋ० 8.7.31.
10. दे० 1.170.2. ऊपर
    त्वं पाहीन्द्र सहीयसो नॄन्भवा मरुद्भिरवयात हेळाः । ऋ० 1.171.6.
11. अगस्त्यो मरुद्भ्य उक्ष्णः प्रौक्षत । तानिन्द्र आदत्त । त एनं वज्रमुद्यत्याभ्यायन्त । तानगस्त्यश्चैवेन्द्रश्च कयाशुभीयेनाशमयताम् । तै० ब्रा० 2.7.11.1.

पिता रुद्र की संहारक प्रकृति का अनुसरण करते हैं। उनसे अनुरोध किया गया है कि वे अपने उपासकों की ओर से विद्युत् को लौटा लें, जिससे कि उनका दौर्मनस्य उपासकों तक न पहुंचने पावे[1]। वे अपने शरु को और अपने अश्मा (अशनि) को उपासकों से दूर रखें[2]। और अपने नृहा और गोहा अर्थात् गौओं को मारनेवाले आयुध (वज्र) को परे रखें[3]। उनसे पाप भी हो जाता है[4]; उनके क्रोध से भय दिखाया गया है[5], और कहा गया है कि वे अहिमन्यु अर्थात् अमर्ष सांप-जैसे क्रोधवाले हैं[6]। यह सब होते हुए भी मरुत् अपने पिता की भांति औषधियां भी लाते हैं जो सिन्धु, असिक्नी, समुद्र और पर्वतों पर पाई जाती हैं[7]। शुद्ध शंतम और कल्याणकारी औषध रखने के कारण वे एक बार रुद्र के साथी भी बन गये हैं[8]। उनके औषध, हो सकता है, जल रहे हों क्योंकि वे वृष्टि द्वारा जन-जानपदों को औषध एवं चैतन्य प्रदान करते हैं[9]। अग्नि की भांति उन्हें भी अनेक बार 'पावक' बताया गया है[10]।

विद्युत्, स्तनयित्नु, वायु और वर्षा के साथ स्थिर संबन्ध होने से एवं उनकी उपर्युक्त विशेषताओं से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में मरुत् तूफ़ान के देवता रहे हों। भारतीय व्याख्याकारों के अनुसार मरुत् वायुओं के प्रतीक हैं और इस शब्द का वेदोत्तर-कालीन अर्थ तो है ही केवल 'वायु'। किंतु निश्चय ही ऋग्वेद में वे

---

1. सनेम्यस्मद् युयोत दिद्युं मा वो दुर्मतिरिह प्रणङ्नः। ऋ० 7.56.9.
2. आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरुः।
   आरे अश्मा यमस्यथ॥ ऋ० 1.172.2.
   ऋधक् सा वो मरुतो दिद्युदस्तु। ऋ० 7.57.4.
3. आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु। ऋ० 7.56.17.
4. युष्मेषितो मरुतो मर्त्येषित आ यो नो अभ्व ईषते। ऋ० 1.39.8.
5. रराणता मरुतो वेद्याभिर्निहेळो धत्त वि मुचध्वमश्वान्। ऋ० 1.171.1.
   यत्सस्वर्ता जिहीळिरे यदाविरव तदेन ईमहे तुराणाम्। ऋ० 7.58.5.
6. क्षपो जिन्वन्तः पृषतीभिर्ऋष्टिभिः समित्सबाधः शवसाहिमन्यवः। ऋ० 1.64.8.
   नृषाचः शूराः शवसाहिमन्यवः। स्थिरा तस्थौ मरुतो रथेषु वः॥ ऋ० 1.64.9.
7. मरुतो मारुतस्य न आ भेषजस्य वहता सुदानवः। ऋ० 8.20.23.
   यत् सिन्धौ यदसिक्न्यां यत्समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः।
   यत्पर्वतेषु भेषजम्॥ ऋ० 8.20.25.
8. या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शन्तमा वृषणो या मयोभु।
   यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि॥ ऋ० 2.33.13.
9. वृष्ट्वी शं योराप उस्रि भेषजं स्याम मरुतः सह। ऋ० 5.53.14.
10. शुची वो हव्या मरुतः शुचीनाम्। शुचिं जन्मानः शुचयः पावकाः। ऋ० 7.56.12.

एकान्ततः अमिश्रित वायु नहीं थे; क्योंकि उनकी कतिपय विशेषताएं मेघ और विद्युत् से भी ली गई हैं। ए० कुह्न और बेन्फ़े के अनुसार मरुत् प्रेतात्माओं के मानवीकरण हैं। इस विचार से मेयर और वी० श्रॉडर सहमत हैं। मरुतों का इस प्रकार का उद्गम एवं विकास ऐतिहासिक दृष्टि से संभव है; किंतु ऋग्वेद में इसके संकेत नहीं के समान मिलते हैं। मरुत् शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है और उससे मरुत् के मौलिक अर्थ पर प्रकाश नहीं पड़ता। मरुत् की व्युत्पत्ति √मर् धातु से प्रतीत होती है, किंतु यहां यह मरणार्थक है, अथवा दमनार्थक या रोचनार्थक— इस बात का निर्णय करना कठिन है। कुछ भी हो, इनमें से 'रोचन' अर्थ ही ऋग्वेद में मरुतों के वर्णन के साथ सबसे अधिक संगत बैठता है।

वायु-वात (§ 30)—

वायु के दोनों नामों अर्थात् वायु और वात में से प्रत्येक का प्रयोग भौतिक वायु और उसके दिव्य मानवीकरण के लिए हुआ है। किंतु प्रमुख रूप से 'वायु' शब्द वायु-देवता का और 'वात' शब्द भौतिक वायु का बोधक है। अकेले वायु के निमित्त एक सकल सूक्त कहा गया है और अंशतः तो कई सूक्त उनके लिए आये हैं। अन्य आधे दर्जन सूक्तों में वायु की इन्द्र के साथ स्तुति आई है। वात की स्तुति दशम मण्डल के अन्त में आनेवाले दो (168,186) छोटे-छोटे सूक्तों में आई है। कहीं-कहीं एक मन्त्र में दोनों नाम आ जाते हैं[1]। दोनों का अन्तर इस तथ्य से ज्ञात होता है कि केवल वायु ही देवरूप में इन्द्र के साथ संयुक्त हुए हैं और तब इनका 'इन्द्रवायु' इस द्वन्द्व समास में आह्वान किया गया है। इन युगल देवताओं को भारतीय व्याख्याकार इतना अधिक परस्पर-संबद्ध समझते थे कि इनमें से प्रत्येक देवता अन्तरिक्षस्थ देवताओं का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम था[2]। किंतु वात अपेक्षा-कृत कम मानवीकृत होने के कारण, केवल पर्जन्य के साथ संपृक्त हुआ है, जिसका कि स्तनयित्नु-तूफ़ान के साथ संबन्ध इन्द्र की अपेक्षा कहीं अधिक सजीव संपन्न हुआ है। दोनों वायु-देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के विशेषणों का प्रयोग हुआ है। वात के विशेषणों में जव और उपद्रव जैसे भौतिक गुणों के वाचक विशेषण प्रमुख हैं।

वायु के मूलरूप-बोधक उल्लेख प्रायः नहीं के बराबर हुए हैं। द्यावापृथिवी

1. ते नो रुद्रः सरस्वती सजोषा मीळहुष्मन्तो विष्णुर्मृळन्तु वायुः।
ऋभुक्षा वाजो दैव्यो विधाता पर्जन्यावाता पिप्यता मिषं नः॥ ऋ० 6.50.12.
प्र नः पूषा चरथं विश्वदेव्योऽपां नपादवतु वायुरिष्टये।
आत्मानं वस्यो अभि वातमर्चत तदश्विना सुहवा यामनि श्रुतम्॥ ऋ० 10.92.13.
2. वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। नि० 7.5.

ने रै अर्थात् धन के निमित्त उन्हें उत्पन्न किया है [1]। एक बार उन्हें त्वष्टा का जामाता भी बताया गया है[2] यद्यपि उनकी स्त्री का नाम नहीं बताया गया है। पुरुष-सूक्त में उनकी उत्पत्ति विश्व-पुरुष के प्राण से बताई गई है[3]। वायु कुछेक स्थलों पर मरुत् के साथ भी संपृक्त होकर आये हैं। एक बार यह भी कहा गया है कि वायु ने उन्हें दिव्य योनि से वक्षणा अर्थात् कुल्याओं के लिए उत्पन्न किया है[4]। एक मन्त्र में पूषण्वन्, विश्वदेव, वायु और गायत्र वेपस् के साथ मरुत्वत् भी इन्द्र का विशेषण बनकर आया प्रतीत होता है[5]। वायु की व्यक्तिगत विशेषताएं अनिश्चित हैं। वे सुन्दर हैं[6] और इन्द्र के साथ आकाश को छूते हैं। वे मनोजवा हैं और सहस्रचक्षु हैं[7]। एक स्थान पर आया है कि उनका वेग गर्जन का-सा है (क्रन्ददिष्टये)[8]। वायु के पास एक चन्द्र अर्थात् चमकवाला रथ है, जिसे लोहित या अरुण अश्व खींचते हैं। उनके अश्वों की संख्या 99[9], 100 या 1000 हैं[10]; जो उनकी इच्छा से रथ में जुड़ जाते हैं। 'नियुत्वत्' विशेषण का प्रयोग वायु या उनके रथ के लिए बार-बार आया है; साथ ही इसका प्रयोग एक-दो बार इन्द्र, अग्नि, पूषन् या मरुतों में से प्रत्येक के लिए भी आया है। वायु का रथ, जिस पर कि उनका सहायक भी विराजमान है[11], हिरण्य-वन्धुर है और दिविस्पृश् अर्थात्

---

1. राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे। ऋ० 7.90.3.
2. तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत। ऋ० 8.26.21.
   त्वष्टुर्जामातरं वयमीशानं राय ईमहे।
   सुतावन्तो वायुं द्युम्ना जनासः॥ ऋ० 8.26.22.
3. प्राणाद्वायुरजायत। ऋ० 10.90.13.
4. अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिव आ वक्षणाभ्यः। ऋ० 1.134.4.
5. पूषण्वते मरुत्वते विश्वदेवाय वायवे।
   स्वाहा गायत्रवेपसे हव्यमिन्द्राय कर्तन॥ ऋ० 1.142.12.
6. वायवा याहि दर्शत। ऋ० 1.2.1.
7. उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे। ऋ० 1.23.2.
   इन्द्र वायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये। सहस्राक्षा धियस्पती॥ ऋ० 1.23.3.
8. भराय सु भरत भागमृत्वियं प्र वायवे शुचिपे क्रन्ददिष्टये। ऋ० 10.100.2.
9. वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव। ऋ० 4.48.4.
   वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।
   उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा॥ ऋ० 4.48.5.
10. आ वां सहस्रं हरय इन्द्रवायू अभि प्र यः।
    वहन्तु सोमपीतये॥ ऋ० 4.46.3.
11. शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः।

द्युलोक को स्पर्श करनेवाला है[1]। अन्य देवताओं की भांति वायु भी सोम के अभिलाषी हैं। सोम-पान के लिए उनका उनके अश्वों के साथ आह्वान किया गया है और उनके पधारते ही सर्वप्रथम यह पान उन्हें दिया जाता है; क्योंकि वे देवताओं में सबसे अधिक शीघ्रजूति हैं। ऐतरेय ब्राह्मण[2] में गाथा आती है कि एक बार देवताओं में इस बात के लिए कि सबसे पहले सोम को कौन पीता है, दौड़ की प्रतियोगिता हुई। इस प्रतियोगिता में वायु प्रथम और इन्द्र दूसरे आये। ऋग्वेद में उन्हें सोम का रक्षिता भी बताया गया है[3]। उनके लिए उनके खास विशेषण 'शुचिपा' का भी प्रयोग हुआ है। यह विशेषण इन्द्र के लिए भी वायु के साथ एक बार आया है। अमृत के समान दूध देनेवाली (सबर्दुघा) गौ के साथ भी उनका संबन्ध एक बार देखा गया है[4]। वायु यश, संतान, घोड़े, वृषभ और स्वर्ण देते हैं[5]। वे शत्रुओं को नष्ट करते और दुर्बल व्यक्ति उन्हें अपनी रक्षा के लिए बुलाते हैं[6]।

वायु के सामान्य नाम के रूप में 'वात' इस शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। 'वात' इस नाम का प्रयोग पुनःपुनः√ वा वहना इस धातु के साथ हुआ है जिससे 'वात' शब्द की निष्पत्ति हुई है। उनकी स्तुति में आये एक सूक्त[7] में उनका

वायो॑ सुतस्य॑ तृम्पतम् ॥ ऋ० 4.46.2.

निर्युवाणो अश॑स्तीर्नियुत्वाँ इन्द्र॑सारथिः। ऋ० 4.48 2.

नियुवाना नियुतः स्पार्हवीरा इन्द्रवायू सरथं यातमर्वाक्। ऋ० 7.91.5.

1. रथं हिरण्यवन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम्।
   आ हि स्थाथो दिविस्पृशम् ॥ ऋ० 4.46.4.
   पिबतं मध्वो अन्धसः पूर्वपेयं हि वां हितम्।
   वायवा चन्द्रेण राधसा गतमिन्द्रश्च राधसा गतम् ॥ ऋ० 1.135.4.
2. देवा वै सोमस्य राज्ञोऽग्रपेये न समपादयन्नहं प्रथमः पिबेयमहं प्रथमः पिबेयमित्येवाकामयन्त ते संपादयन्तोऽब्रुवन्हन्ताऽऽजिमयाम स यो न उज्जेष्यति स प्रथमः सोमस्य पास्यतीति तथेति त आजिमयुस्तेषामाजिं यतामभिसृष्टानां वायुर्मुखं प्रथमः प्रत्यपद्यताथेन्द्रोऽथ मित्रावरुणावथाश्विनौ। ऐ० ब्रा० 2.25.
3. वायुः सोमस्य रक्षिता। ऋ० 10.85.5.
4. तुभ्यं धेनुः सबर्दुघा विश्वा वसूनि दोहते। ऋ० 1.134.4.
5. ईशानाय प्रहुतिं यस्त आनट् शुचिं सोमं शुचिपास्तुभ्यं वायो।
   कृणोषि तं मर्त्येषु प्रशस्तं जातोजातो जायते वाज्यस्य ॥ ऋ० 7.90.2.
   ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभि र्वसुभिर्हिरण्यैः।
   इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरैः पृतनासु सह्युः ॥ ऋ० 7.90.6.
6. त्वां त्सारी दसमानो भगमीट्टे तक्ववीये। ऋ० 1.134.5.
7. वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।

वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है। सामने आई हर वस्तु को धूल में मिलाते हुए प्रचण्ड रव करनेवाले उनके रथ का तुमुल घोष कानों के परदे फाड़ देता है। वह धरती पर धूल उड़ाता हुआ आसमान से बातें करता है। वे अपने पथ पर वायु में विचरण करते रहते हैं। एक दिन का भी आराम वायु ने अपने जीवन में नहीं देखा। वे जलों के प्रथमजात सखा हैं। फिर भी उनका जन्म-स्थान अज्ञात है। वे यथेच्छ विचरण करते हैं। उनका घोष तो सुनाई पड़ता है किंतु उनका रूप देखने में नहीं आता[1]। वे देवताओं के प्राण हैं[2]। हविष् के साथ भी उनकी उपासना की जाती है।

रुद्र की भांति वात भी रोगियों का उपचार करते और मानव वर्ग को दीर्घायु प्रदान करते हैं; क्योंकि उनके घर में अमृतत्व का अखण्ड कोश है[3]। वात की इस भैषज्य-शक्ति से निःसंदेह उनकी शोधक-शक्ति ही अभिप्रेत हो सकती है। वात के क्रिया-कलाप का उल्लेख मुख्यतः स्तनयित्नु-तूफ़ान के संबन्ध में आता है[4]। झंझा के झोंके विद्युत् की दमक के साथ अपृथक्त्वेन संबद्ध हैं, और वे सूर्य के पुनरावर्तन से पहले ही आ जाते है। फलतः कहा गया है कि वात लोहित विद्युत् को प्रकट करते[5] और उषाओं को प्रभासित करते हैं[6]। वात के प्रचण्ड जव का कभी-कभी देवताओं के वेग से सांमुख्य किया गया है[7]। इनके घोष का तो बार-

---

दिवि स्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥ ऋ० 10.168.1.

1. विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् । ऋ० 1.164.44.
2. आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत् ।
   विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि ॥ ऋ० 7.87.2.
   आत्मानं वस्यो अभिवातमर्चत तदश्विना सुहवा यामनि श्रुतम् । ऋ० 10.92.13.
3. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
   प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ऋ० 10.186.1.
   यददो वात ते गृहे३ऽमृतस्य निधिर्हितः ।
   ततो नो देहि जीवसे ॥ ऋ० 10.186.3.
4. वातो न जूतः स्तनयद्भिरभ्रैः । ऋ० 4.17.12.
   प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युतः । ऋ० 5.83.4. दे० 10.168.1. ऊपर
   संप्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः । ऋ० 10.168.2.
5. दे० 10.168.1. ऊपर
6. प्र चक्षय रोदसी वासयोषसः श्रवसे वासयोषसः । ऋ० 1.134.3.
7. कियत्स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत्पितुर्जनितुर्यो जजान ।
   यो अस्य शुष्मं मुहुकैरियर्ति वातो न जूतः स्तनयद्भिरभ्रैः ॥ ऋ० 4.17.12.
   आ वां येष्ठाश्विना हुवध्यै वातस्य पत्मन् रथ्यस्य पुष्टौ । ऋ० 5.41.3.

बार उल्लेख आता ही है[1]। 'वात' शब्द का तादूप्य तूफ़ान और युद्ध के जर्मन देवता ओधिन या वोदन के साथ स्थापित किया गया है। कहा जाता है कि यह जर्मन शब्द प्रत्यय-विशेष के साथ वात में निहित धातु के सजातीय धातु से निष्पन्न हुआ है। किंतु यह तादूप्य संदिग्ध प्रतीत होता है।

पर्जन्य (§ 31)—

ऋग्वैदिक देवताओं में पर्जन्य का स्थान गौण है। उनके निमित्त केवल तीन सकल सूक्त कहे गये हैं और उनका नामोल्लेख भी केवल 30 बार हुआ है। अथर्ववेद के एक सूक्त में भी उनकी स्तुति की गई है[2], किंतु इस सूक्त के मन्त्र प्रधानतः ऋग्वेद से लिये गये हैं। निम्न मन्त्र में पर्जन्य शब्द 'बरसनेवाला बादल' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह जल दिन-प्रतिदिन घटता-बढ़ता रहता है। वर्षुक पर्जन्य पृथिवी को उर्वरा बनाते हैं और अग्नि-देव द्युलोक को[3]। मरुत् अपने वारिवाह जलधरों के द्वारा पृथिवी को आप्लावित कर देते और दिन में भी अन्धकार का घमसान मचा देते हैं[4]। वे द्युलोक के अखण्ड कोश को उंडेलते हैं; वे दोनों लोकों के मध्य से मेघों को भगाते हैं; वर्षा नीरस भूमि में समा जाती है[5]। बृहस्पति से अनुरोध किया गया है कि वे जलधरों को बरसावें और वर्षुक अभ्रों को भेजें[6]। सोम वृष्टिमत् पर्जन्यों की भांति स्तुत होता है[7] और सोम की बूंदें

अभ्रश्चिदत्र वातो न जूतः पुरुमेधश्चित्तकवे नरं दात्। ऋ० 9.97.52.
तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्। ऋ० 1.163.11.
पड्भिर्गृध्यन्तं मेधयुं न शूरं रथतुरं वातमिव ध्रजन्तम्। ऋ० 4.38.3.

1. नूवत्परिज्मन्नोनुवन्त वाताः। ऋ० 4.22.4. दे० 10.168.1. पृ० 207
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम। ऋ० 10.168.4.
2. समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु। अथ० 4.15.1.
3. समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥ ऋ० 1.164.51.
4. दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन। यत्पृथिवीं व्युन्दन्ति॥ ऋ० 1.38.9.
5. आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः।
वि पर्जन्यं सृजन्ति रोदसी अनु धन्वना यन्ति वृष्टयः॥ ऋ० 5.53.6.
6. बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद्वसुभिर्मरुत्वान्त्स पर्जन्यं शंतनवे वृषाय॥ ऋ० 10.98.1.
विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानः प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम्। ऋ० 10.98.8.
7. अस्मभ्यमिन्दविन्द्रयुर्मध्वः पवस्व धारया।
पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव। ऋ० 9.2.9.

बादलों की वृष्टि के समान गतिमान् होती हैं[1]। अथर्ववेद में वृष्टि करानेवाली वशा गौ को इस प्रकार पुकारा गया है : हे वशे ! मेघ तेरा स्तन है; हे भद्रे ! मेघ और विद्युत् तेरे स्तन हैं[2]। इन सभी मन्त्रों में भारतीय व्याख्याकार पर्जन्य का अर्थ मेघ करते हैं। दूसरी ओर पर्जन्य का प्रयोग वाजसनेयि संहिता में द्यौस् की व्याख्या के लिए और शत० ब्रा० में स्तनयित्नु की व्याख्या के लिए आया है। कुछ स्थलों पर यह बताना कठिन हो जाता है कि वहां पर्जन्य शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है अथवा मानवीकृत देवता के लिए। उदाहरण के लिए कहा गया है कि अग्नि की शक्ति पर्जन्य की भांति प्रतिध्वनित होती है ; और मेंढकों के विषय में कहा गया है कि वे पर्जन्य द्वारा उद्बुद्ध होने पर टर्र-टर्र करने लगते हैं[3]। फिर भी बहुसंख्यक मन्त्रों में पर्जन्य शब्द से उस विग्रहवान् देवता का बोध होता है, जो मेघों का अधिष्ठाता है। किंतु भौतिक मेघ की विशेषताएं अब भी लुप्त नहीं हो पाई हैं। फलतः समय-समय पर पर्जन्य ऊधस्, कोश या दृति भी बन जाता है[4]। यह वस्तुतः पशु-मानवीय है; क्योंकि पर्जन्य को बहुधा वृषभ कहा गया है। हां, इस प्रसङ्ग में लिङ्ग-संबन्धी गड़बड़ हो गई है; क्योंकि पर्जन्यों को कई जगह गौ भी बताया गया है। द्रुतगति से बरसनेवाली बूंदों के नाते पर्जन्य एक धड़कनेवाला वृषभ है, जो वीरुधों में वीर्य का निधान करता है[5]। वायु के द्वारा प्रेरित होने पर अभ्र आपस में मिल जाते हैं और नभस्वान् वृषभ के धारापाती सलिल धरती को तर कर देते हैं[6]। कभी-कभी पर्जन्य को स्तरी गौ भी बताया गया है, कभी वह गर्भ धारण करने के योग्य है और कभी-कभी वह अपने

---

1. एते वाता इवोरवः पर्जन्यस्येव वृष्टयः ।
   अग्नेरिव भ्रमा वृथा ॥ ऋ० 9.22.2.
2. अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा ।
   ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥ अथ० 10.10.7.
3. वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः । ऋ० 7.103.1.
4. महान्तं कोशमुदचा निषिञ्च स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात् । ऋ० 5.83.8.
   दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं समा भवन्तूद्वतो निपादाः । ऋ० 5.83.7.
   त्रयः कोशास उपसेचनासो मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् । ऋ० 7.101.4.
5. कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् । ऋ० 5.83.1.
   अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धा उदन्वता परि दीया रथेन । ऋ० 5.83.7.
   यत्पर्जन्य कनिक्रदत्स्तनयन्हंसि दुष्कृतः ।
   प्रतीदं विश्वं मोदते यत्किं च पृथिव्यामधि ॥ ऋ० 5.83.9.
6. समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।
   महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ अथ० 4.15.1.

शरीर को तिरोहित कर लेता है[1]।

वृष्टि उसकी सबसे प्रमुख विशेषता है। वह जलमय रथ पर चढ़कर चारों ओर दौड़ता और जल-दृति को खोलकर पानी को नीचे उंडेल देता है[2]। अपने अश्वों को हांकनेवाले सारथि की भांति वह अपने वृष्टि-दूतों को प्रकट करता है; जब वह धारापातेन पानी बरसाता है तब सिंह के गर्जन-जैसी ध्वनि उठती है। हमारे 'असुर' पिता के रूप में गर्जन-तर्जन के साथ वृष्टि करता हुआ वह आता है[3]। उससे वर्षा की भीख मांगी गई है[4] और प्रार्थना की गई है कि उचित वर्षा के बाद वह अपने बादलों की मशक को थाम ले[5]। यह सब होते हुए भी इतना निश्चित है कि वृष्टि करने में पर्जन्य का स्थान मित्र-वरुण की अपेक्षा गौण है[6]। अनेक बार उल्लेख आया है कि पर्जन्य गरजते हैं[7]। गरजते हुए पर्जन्य वनस्पतियों, दानवों और पापियों को मार गिराते हैं। उनके दारुण अस्त्र से समग्र संसार भयभीत है[8]। वे और वात दोनों विद्युत् को धारण करते हैं[9]। पर्जन्य का विद्युत् के साथ भी संपर्क है, भले ही उनका विद्युत् के साथ संबन्ध स्तनयित्नु की अपेक्षा कम रहा हो। जब पर्जन्य पृथिवी में सत्त्व निधान करते हैं तब वायु बह निकलता है और विद्युत् कौंधने लगती है[10]। अन्तरिक्षस्थ सागर में पर्जन्य बिजली के साथ गरजता है। ऋग्वेद के एक 'विश्वेदेवाः' सूक्त में निम्न वर्णन वाला देवता पर्जन्य ही जान पड़ता है, वे गरजते और दहाड़ते हैं, जल और मेघ से वे पूर्ण हैं,

---

1. स्तरीरु त्वद्भवति सूत उ त्वद् यथावशं तन्वं चक्र एषः। ऋ० 7.101.3.
2. दे० 5.83.7. पृ० 209.
3. रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान्कृणुते वर्ष्याँ अह।
   दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः॥ ऋ० 5.83.3.
   अर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः। ऋ० 5.83.6.
4. इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत्।
   मयोभुवो वृष्टयः सन्त्वस्मे सुपिप्पला ओषधीर्देवगोपाः॥ ऋ० 7.101.5.
5. अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभायाकर्धन्वान्यत्येतवा उ। ऋ० 5.83.10.
6. वाचं सु मित्रावरुणा विरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम्।
   अभ्रा वसत मरुतः सु मायया द्यां वर्षयतमरुणामरेपसम्। ऋ० 5.63.6.
7. दे० 5.83.7. पृ० 209.
8. वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्।
   उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः॥ ऋ० 5.83.2.
9. धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतोः। ऋ० 10.66.10.
10. प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युतः।
    यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति। ऋ० 5.83.4.

जल बरसाकर वे दोनों लोकों को विद्युत् के द्वारा चेतन बनाते हैं[1]।

वृष्टि-देव होने के नाते पर्जन्य स्वभावतः वनस्पति के उत्पादक और पोषक हैं। जब वे अपने वीर्य से पृथिवी को सत्त्ववती बनाते हैं तब पौधे उग आते हैं। उनके क्रिया-कलाप में वनस्पति वर्ग की वृद्धि संमिलित है। उन्होंने मानव के पोषणार्थ ओषधि उत्पन्न की है[2]। वे ओषधियों को अंकुरित एवं पल्लवित करते हैं। पर्जन्य-देव की देख-रेख में वृक्षों पर भरपूर फल लगते हैं[3]। उनके प्रताप से घासें उत्पन्न होती हैं[4]। पर्जन्य केवल पौधों ही में नहीं, अपितु गौओं, अश्वाओं और स्त्रियों तक में सत्त्व-निधान कराते हैं[5]। गर्भ-धारण के लिए उनका आह्वान भी किया गया है[6]।

---

1. प्र सुष्टुतिः स्तनयन्तं रुवन्तमिळस्पतिं जरितर्नूनमेश्याः।
   यो अब्दिमाँ उदनिमाँ इयर्ति प्र विद्युता रोदसी उक्षमाणः॥ ऋ० 5.42.14.
2. प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
   इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति॥ ऋ० 5.83.4.
   यस्य व्रत ओषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म यच्छ। ऋ० 5.83.5.
   अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम्। ऋ० 5.83.10.
   पर्जन्यो न ओषधीभिर्मयोभुरग्निः सुशंसः सुहवः पितेव। ऋ० 6.52.6.
   समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।
   वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः॥ अथ० 4.15.2.
   वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः। अथ० 4.15.3.
   महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः।
   तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनी रोषधयो भवन्तु॥ अथ० 4.15 16.
   उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभि क्रन्दत्योषधीः।
   यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति। अथ० 8.7.21.
3. स वत्सं कृण्वन् गर्भमोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति। ऋ० 7.101.1
   दे० 7.101.5. पृ० 210.
4. पर्जन्याय प्र गायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे। स नो यवसमिच्छतु॥ ऋ० 7.102.1.
   विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्। अथ० 1.2.1.
   विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्। अथ० 1.3.1.
   यत्समुद्रो अभ्यक्रन्दत् पर्जन्यो विद्युता सह।
   ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत॥ अथ० 19.30.5.
5. यो गर्भमोषधीनां गवां कृणोत्यर्वताम्। पर्जन्यः पुरुषीणाम्। ऋ० 7.102.2.
6. अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धाः। ऋ० 5.83.7.
   अग्नीपर्जन्या ववतं धियं मेऽस्मिन्हवे सुहवा सुष्टुतिं नः।
   इळामन्यो जनयद् गर्भमन्यः प्रजावतीरिष आ धत्तमस्मे॥ ऋ० 6.52.16.

वे ऐसे वृषभ हैं, जो सभी को सिञ्चित करते हैं। चर और अचर की आत्मा उन्हीं में है[1]। एकच्छत्र सम्राट् के रूप में वे सकल जगत् पर शासन करते हैं; उन्हीं में प्राणिजात और तीन स्वर्ग स्थित हैं और उन्हीं में तीनों प्रकार के सलिल प्रवाहित होते हैं[2]। उनके उत्पादन-व्यापार को ध्यान में रखकर अनेक बार उन्हें पिता भी कहा गया है[3]। एक बार वे 'असुर पिता' भी कहलाये हैं[4]। एक अन्य मन्त्र[5] में 'असुरस्य माया' पद से उन्हीं की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है।

उनकी स्त्री पृथिवी है[6]। अथर्ववेद[7] में कहा गया है कि पृथिवी माता है और पर्जन्य पिता हैं। किंतु कुछ अन्य स्थलों पर उनकी पत्नी स्पष्ट शब्दों में वशा बताई गई है[8]। इन बातों में और पशुमानवीय रूप में, विद्युत् स्तनयित्नु और वृष्टि के साथ इनका संबन्ध होने से, इनकी कल्पना द्यौस् के समीप जा पहुंचती है[9]; पर्जन्य को एक बार द्यौस् का पुत्र भी बताया गया है[10]। स्वयं पर्जन्य के लिए

---

1. स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ० 7.101.6.
   सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ० 1.115.1.
2. यो वर्धन ओषधीनां यो अपां यो विश्वस्य जगतो देव ईशे। ऋ० 7.101.2.
   यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः। ऋ० 7.101.4.
   दे० 7.101.5. पृ० 210.
3. पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता वर्धते तेन पुत्रः। ऋ० 7.101.3.
   पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनः। ऋ० 9.82.3.
   अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः। अथ: 4.15.12.
   पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु। अथ० 12.1.12.
4. अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः। ऋ० 5.83.6.
5. द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया। ऋ० 5.63.3.
   व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया। ऋ० 5.63.7.
6. इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति। ऋ० 5.83.4.
   दे० 7.101.3. ऊपर
   धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य धुक्षत। ऋ० 1.160.3.
7. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
   पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥ अथ० 12.1.12.
8. वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा। अथ० 10.10.6.
9. अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः। ऋ० 10.45.4.
   द्यौरिव स्मयमानो नभोभिः। ऋ० 2.4.6.
   उभे अस्मै पीपयतः समीची दिवो वृष्टिं सुभगो नाम पुष्यन्। ऋ० 2.27.15.
10. दे० 7.102.1. पृ० 211.

आया है कि वे ओषधियों के गर्भभूत वत्स को उत्पन्न करते हैं[1]; यह वत्स संभवतः और कुछ न होकर विद्युत् ही रहा हो। यह सोम का बोधक भी हो सकता है, क्योंकि एक बार[2] पर्जन्य को सोम का पिता बताया गया है, और यह भी कहा जाता है कि सोम पर्जन्य के द्वारा बढ़ाये जाते हैं[3]।

पर्जन्य का संबन्ध कुछ और देवताओं के साथ भी है। वात के साथ तो उनका निकट संबन्ध है। केवल एक मन्त्र को छोड़कर अग्नि-पर्जन्य का द्वन्द्व सदैव वात के साथ आया है। पर्जन्य के साथ मरुतों का भी आह्वान हुआ है[4]; मरुतों से प्रार्थना की गई है कि वे पर्जन्य के स्तोत्रों को गावें[5]। एक सूक्त के दो मन्त्रों में उनके साथ अग्नि का भी स्तवन हुआ है[6]। इन्द्र में भी पर्जन्य की बहुत-सी विशेषताएं वर्तमान हैं और वृष्टि के प्रकरण में इन्द्र की तुलना पर्जन्य के साथ की गई है[7]। दोनों देवताओं का प्राकृतिक आधार बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। फिर भी उस आधार के साथ पर्जन्य का संबन्ध इन्द्र की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट है।

पर्जन्य शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में संदेह है। फिर भी चरित्रगत समानता के आधार पर पर्जन्य का तादूप्य लिथुएनियन स्तनयित्नु-देव पेर्कुनस् के साथ स्थापित-सा हो गया है। किंतु इस तादूप्य में ध्वनि-संबन्धी कठिनाइयां बनी हुई हैं। ऋग्वेद में पर्जन्य की कल्पना कुछ नूतन-सी है और संभव है कि यदि इन दोनों नामों का परस्पर संबन्ध है तो उनका भायोरपीय रूप विशेषण-मात्र रहा हो। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में पर्जन्य शब्द मेघ का विशेषण है और साथ ही मानवीकृत देव का भी बोधक है। मेघ और वृष्टि-देव दोनों ही अर्थ ब्राह्मणों में से होकर परवर्ती साहित्य में प्रचलित मिलते हैं। कोशों में पर्जन्य की व्याख्या 'गर्जन्-मेघ' यह आई है किन्तु महाभारत में पर्जन्य देव इन्द्र के तद्रूप भी बनाये गये हैं।

---

1. दे० 7.101.1. पृ० 211. दे० 7.101.3. पृ० 210. दे० 5.83.1. पृ० 209.
2. दे० 9.82.3. पृ० 212.
3. पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभरत्।
   तं गंधर्वाः प्रत्यगृभ्णन्तं सोमे रसमादधुः ॥ ऋ० 9.113.3.
4. वाचं सु मित्रा वरुणा विरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम्।
   अभ्रा वसत मरुतः सु मायया द्यां वर्षयतमरुणामरेपसम् ॥ ऋ० 5.63.6.
5. गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक्। अथ० 4.15.4.
6. पर्जन्यो न ओषधीभिर्मयोभुरग्निः सुशंसः सुहवः पितेव ! ऋ० 6.52.6. दे० 6.52.16. पृ० 211.
7. महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव। ऋ० 8.6.1.

आपः (§ 32)—

आपः के लिए ऋग्वेद में चार सूक्त आये हैं[1]। साथ ही कतिपय छिट-पुट मन्त्र भी इनके निमित्त कहे गये हैं। कुछेक मन्त्रों में अन्य देवताओं के साथ भी इनका निर्देश हुआ है। आपके विषय में मानवीकरण अपनी आरम्भावस्था ही में है। उन्हें केवल माता, युवती स्त्रियां, वर देनेवाली और यज्ञ में पधारनेवाली देवियां कहा गया है। वे देवताओं का अनुगमन करनेवाली देवियां हैं[2]। इन्द्र ने अपने वज्र से उनके लिए पथ बनाये हैं[3]। स्वप्न में भी वे इन्द्र के विधानों को नहीं तोड़तीं[4]। उन्हें सविता के द्वारा भी नियमित हुई बताया गया है। वे दिव्य हैं; नियमित रूप से अपने पथों पर बहती हैं और उनका इस यात्रा का लक्ष्य समुद्र है[5]। उनके वर्णनों में इस बात पर जोर दिया गया है कि जहां-कहीं देवता निवास करते हैं और जहां भी मित्र-वरुण का अधिष्ठान है वहीं आपः रहती हैं[6]। वे सूर्य के समीप हैं और सूर्य उनके साथ हैं[7]। मर्त्यलोक में मनुवर्ग के सत्य-अनृत का सर्वेक्षण करते हुए विराट् वरुण उनके मध्य में विचरण करते हैं[8]।

---

1. आपो यं वः प्रथमं देवयन्त इन्द्रपानमूर्मिमकृण्वतेळः।
तं वो वयं शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुषं मधुमन्तं वनेम॥ ऋ० 7.47.1. पूर्ण सूक्त।
समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात् पुनाना यन्त्यनिविशमानाः।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥ ऋ० 7.49.1. आदि
आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे। ऋ० 10.9.1. आदि
प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेत्वपो अच्छा मनसो न प्रयुक्ति।
महीं मित्रस्य वरुणस्य धासिं पृथुज्रयसे रीरधा सुवृक्तिम्॥ ऋ० 10.30.1. आदि.
2. शतपवित्राः स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपि यन्ति पाथः।
ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत॥ ऋ० 7.47.3.
3. याः सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद् गातुमूर्मिम्।
ते सिन्धवो वरिवो धातना नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ऋ० 7.47.4.
दे० 7.49.1. ऊपर।
4. दे० 7.47.3. ऊपर।
5. या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥ ऋ० 7.49.2.
6. दे० 10.30.1. ऊपर।
7. अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्। ऋ० 1.23.17.
8. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥ ऋ० 7.49.3.

संभव है कि इन प्रकरणों में आपः से तात्पर्य मेघ ही से हो। किंतु निघण्टु में आपः की गणना पृथिवीस्थानीय देवताओं में की गई है।

अग्नि को बहुधा जल में बसनेवाला या सोनेवाला बताया गया है। यह भी आता है कि वैश्वानर अग्नि जलों में प्रविष्ट हुए हैं[1]। माता के रूप में आपः अग्नि को उत्पन्न करती हैं[2]। अग्नि के एक रूप को अपां नपात् बताया गया है। आपः माताएं हैं[3]; वे भुवन की पत्नियां हैं; ये साथ-साथ बढ़नेवाली एवं समान योनि-वाली हैं[4]। उनसे अनुरोध किया गया है कि वे उशती माता की भांति अपने शिव-तम रस का हमें प्रदान करें[5]। वे मातृतमा हैं और चराचर की जननी हैं[6]।

आपः हमें शुद्ध एवं संस्कृत बनाती हैं। ये देवियां अशेष दोषों को दुराती हैं। और याज्ञिक लोग उनके मध्य में से शुचि एवं शुद्ध बनकर निकलते हैं[7]। दुरितों से, अभिद्रोहों से, अभिशाप और अनृत से भी मुक्त करने के निमित्त उनका आह्वान किया गया है[8]। वे भेषजमयी हैं[9]। वे हमें भेषज देतीं और दीर्घायु प्रदान करती हैं; क्योंकि सकल औषध, अशेष अमृतत्व और निःशेष उपचार उन्हीं में संनिहित हैं[10]। गृह में भी वे मनुष्यों के स्वास्थ्य की देख-भाल करती हैं। वे वर

---

1. यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वेदेवा यासूर्जं मदन्ति।
   वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिहमामवन्तु॥ ऋ० 7.49.4.
2. तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः। ऋ० 10.91.6.
   यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान।
   पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो वि भाहि॥ ऋ० 10.2.7.
   हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः।
   या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शंस्योना भवन्तु॥ अथ० 1.33.1.
3. आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
   विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि॥ ऋ० 10.17.10.
   अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः॥ ऋ० 1.23.16.
4. ऋषे जनित्रीर्भुवनस्य पत्नीरपो वन्दस्व सवृधः सयोनीः। ऋ० 10.30.10.
5. यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ ऋ० 10.9.2.
6. ओमानमापो मानुषीरमृक्तं धात तोकाय तनयाय शं योः।
   यूयं हि ष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः॥ ऋ० 6.50.7.
7. दे० 10.17.10. ऊपर
8. इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
   यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्॥ ऋ० 1.23.22; 10.9.8.
9. दे० 6.50.7. ऊपर
10. ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्। अपो याचामि भेषजम्॥ ऋ० 10.9.5.

प्रदान करतीं, धन वितरित करतीं और सुशक्ति एवं अमृतत्व का दान देती हैं[1]। आशीर्वाद और सहायता के लिए उनसे बार-बार विनती की गई है[2]। सोमयाजियों के यज्ञों में अपां नपात् के साथ दर्भ पर आ विराजने के लिए आपः को निमन्त्रित किया गया है[3]।

अनेक बार आपः का संबन्ध मधु के साथ जोड़ा गया है। माता के नाते वे अपने क्षीर में मधु मिलाती हैं[4]। आपः की लहरें मधुपूर्ण हैं, घृत के साथ मिश्रित होने पर आपः इन्द्र का पेय बन जाती हैं। इन्द्र को आपः ने ही मदमत्त किया था[5]। अपां नपात् से अनुरोध किया गया है कि वे मधु-पूर्ण आपः दें जिससे इन्द्र शौर्य-कृत्यों के लिए संनद्ध हो सकें[6]। आपः से प्रार्थना की गई है कि वे इन्द्र के लिए जिसने कि उन्हें वृत्र की चपेट से बचाया है, मधुपूर्ण ऊर्मियां प्रवाहित करें[7]। कुछ

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्॥ ऋ० 10.9.6.
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे॥ ऋ० 10.9.7.
अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः॥ ऋ०1.23.19.
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवमापश्चविश्वभेषजीः॥ ऋ० 1.23.20.
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे१मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे॥ ऋ० 1.23.21.

1. दे० 10.9.5. पृ० 215
आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।
रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद्गृणते वयो धात्॥ ऋ० 10.30.12.
2. दे० 7.47.4. पृ० 214 दे० 7.49.1. पृ० 214
3. हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥ ऋ० 10.30.11.
एमा अग्मन् रेवतीर्जीवधन्या अध्वर्यवः सादयता सखायः।
नि बर्हिषि धत्तन सोम्यासोऽपां नप्त्रा संविदानास एनाः॥ ऋ० 10.30.14.
आग्मन्नाप उशतीर्बर्हिरेदं न्यध्वरे असदन् देवयन्तीः।
अध्वर्यवः सुनुतेन्द्राय सोममभूदु वः सुशका देवयज्या॥ ऋ० 10.30.15.
4. दे० 1.23.16. पृ० 215
5. दे० 7.47.1. पृ० 214
तमूर्मिमापो मधुमत्तमं वोऽपां नपादवत्वाशुहेमा।
यस्मिन्निन्द्रो वसुभिर्मादयाते तमश्याम देवयन्तो वो अद्य॥ ऋ० 7.47.2.
6. अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय। ऋ० 10.30.4.
7. यो वो वृताभ्यो अकृणोदु लोकं यो वो मह्या अभिशस्तेरमुञ्चत्।
तस्मा इन्द्राय मधुमन्तमूर्मिं देवमादनं प्र हिणोतनापः॥ ऋ० 10.30.7.

मन्त्रों से प्रकट होता है कि किसी समय दिव्य आपः को दिव्य सोम से पूर्ण अथवा सोम के तद्रूप माना जाता था। कुछ मन्त्रों में निःसंदिग्ध आपः से सोम प्रस्तुत करने में प्रयुक्त पृथिवीस्थ जल अभिप्रेत है। जब वे घी, दूध और मधु लेकर प्रकट होती हैं तब वे सोमसावी पुरोहित के अनुकूल हो जाती हैं[1]। सोम को आपः में वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा कि एक युवक को एक सुन्दरी युवती में। प्रणयी की भांति आपः सोम के पास जाती हैं। आपः ऐसी युवतियां हैं, जो प्रणयी के समक्ष नत हो जाती हैं[2]।

पृथिवीस्थानीय देवता

नदियां (§ 33)—

ऋग्वेद में दिव्या आपः के साथ-साथ नदियों का स्थान कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। एक सकल सूक्त में केवल पञ्चम मन्त्र को छोड़कर, सिन्धुनद का यशोगान किया गया है। पांचवें मन्त्र में अन्य सरिताओं के साथ-साथ सिन्धु की कतिपय सहायक नदियों की ओर निर्देश किया गया है। षष्ठ मन्त्र में अनेक सरिताओं का सिन्धु की सहायक नदियों के रूप में उल्लेख हुआ है। एक अन्य सकल सूक्त में विपाश और शुतुद्री का विश्वामित्र के साथ संभाषण आया है[3]।

किंतु नदियों में भी सरस्वती का स्तवन सबसे बढ़कर हुआ है। यद्यपि सरस्वती के विषय में मानवीकरण अन्य सरिताओं की अपेक्षा बहुत अधिक विक-

---

प्रास्मै हिनोत मधुमन्तमूर्मिं गर्भो यो वः सिन्धवो मध्व उत्सः।
घृतपृष्ठमीड्यमध्वरेष्वाऽऽपो रेवतीः शृणुता हवं मे॥ ऋ० 10.30.8.
तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति।
मदच्युतमौशानं नभोजां परि त्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम्॥ ऋ० 10.30.9.

1. प्रति यदापो अदृश्रमायतीर्घृतं पयांसि बिभ्रतीर्मधूनि।
अध्वर्युभिर्मनसा संविदाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तीः॥ ऋ० 10.30.13.

2. याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः।
ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात्॥ ऋ० 10.30.5.
एवेद्यूने युवतयो नमन्त यदीमुशन्नुशतीरेत्यच्छ।
सं जानते मनसा सं चिकित्रेऽध्वर्यवो धिषणापश्च देवीः॥ ऋ० 10.30.6.
प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः।
प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा॥ ऋ० 10.75.1.

3. प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते॥ ऋ० 3.33.1. आदि.

सित हो गया है, तथापि सरस्वती देवी का पार्थिव नदी के साथ संबन्ध ऋग्वेदीय कवि के मस्तिष्क में सदा बना रहता है। ऋग्वेद में सरस्वती का स्तवन तीन सकल सूक्तों में और अनेक छिटपुट मन्त्रों में हुआ है। सरस्वती, सरयु, और सिन्धु को बड़े नदों के रूप में पुकारा गया है[1] और अन्यत्र[2] गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी और अन्य ज्ञात-अज्ञात, सब मिलाकर 21 नदियों का उल्लेख आया है। सरस्वती के तटों पर बसनेवाले राजाओं और मनुष्यों का उल्लेख उल्लास के साथ किया गया है[3]। आयस पुरों से संवलित सरस्वती जनपदों के पोषक जल-प्लाव के साथ आगे बढ़ती है। यह सरित् गरिमा में अन्य सभी नदियों से बढ़कर है। नदियों में एकमात्र वही एकान्ततः शुचि प्रतीत हुई है, जो पर्वतों से निकलती है और (दिव्य) समुद्र में प्रवाहित होती है[4]। अपनी प्रबल वीचियों द्वारा वह पर्वतशृङ्गों को तोड़ती हुई बहती है और उसकी तुमुल जलधारा गरजती हुई छलांगें भरती है[5]। महत्ता में तो वह बड़ों की भी बड़ी है; और क्रियाशीलता उसकी अपने-जैसी आप है। उससे अनुनय किया गया है कि कहीं वह अपने दुग्ध-प्रवाह को रोक न ले; कहीं उसे बन्द न कर ले[6]। कवि शङ्का करता है कि कहीं उसे सरस्वती के तट पर से उखाड़ कर किसी अज्ञात स्थान में न ठेल दिया जाय[7]। सरस्वती की सात बहनें हैं और वह सप्त धातु हैं[8]। वह सातों में से एक है; वह सरि-

---

1. सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः। ऋ० 10.64.9.
2. इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
   असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ ऋ० 10.75.5.
3. उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः। ऋ० 7.96.2.
   चित्र इद् राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु। ऋ० 8.21.18.
4. प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः।
   प्र बाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः॥ ऋ० 7.95.1.
   एकाचेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्। ऋ० 7 95.2.
   आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम्। ऋ० 5.43.11.
5. इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
   पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वती मा विवासेम धीतिभिः॥ ऋ० 6.61.2.
   यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः। अमश्चरति रोरुवत्॥ ऋ० 6.61.8.
6. प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा।
   रथ इव बृहती विभ्वने कृतोपस्तुत्या चिकितुषा सरस्वती॥ ऋ० 6.61.13.
7. सरस्वत्यभि नो नेषि वस्यो माप स्फरीः पयसा मा न आ धक्।
   जुषस्व नः सख्या वेश्या च मा त्वत्क्षेत्राण्यरणानि गन्म॥ ऋ० 6.61.14.
8. उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्या भूत्। ऋ० 6.61.10.

ताओं की प्रसविनी है[1]। माताओं, नदियों और देवियों की वह मूर्धन्य है[2]। उसे पावीरवी अर्थात् विद्युत् की पुत्री बताया गया है। वह पार्थिव लोकों को और उरू अन्तरिक्ष लोक को भर कर प्रवाहित होती है। वह तीनों लोकों में एक-साथ अवस्थित है; वह पञ्चजनों की पोषक है; युद्धों में बहादुर लोग उसी को पुकारते हैं[3]। आकाश से गिरकर महान् पर्वत पर से होती हुई यज्ञ में पधारने के लिए उससे प्रार्थना की गई है[4]। अन्तिम तीन मन्त्रों में सरस्वती के दिव्य उद्गम का भाव व्यक्त होता प्रतीत होता है, जैसाकि वेदोत्तर-कालीन साहित्य में गङ्गा के विषय में आम है। एक बार उसे असुर्या या दिव्य भी बताया गया है[5]। यह देवी पितरों की न्याईं रथ पर बैठकर यज्ञ में आती और बर्हि पर अधिष्ठित हो जाती है[6]। यहां भी उसे नदी-देवी मानना चाहिए; क्योंकि दो मन्त्रों में जलों का आह्वान दोषों के प्रक्षालन के लिए किया गया है।

वह स्वतः पावन, अन्नसंपन्न है और धनों की दात्री है[7]। प्रार्थना की गई है कि वह सरिताओं से समृद्ध होकर आवें[8] क्योंकि वे धनसंपन्न हैं, शक्ति और अमृत की स्रोत हैं, धन और संतति की पालिका हैं, इसलिए उनसे इन सभी के लिए प्रार्थना की गई है[9]। वह जनजानपदों को जीवनी शक्ति देतीं और उन्हें अपत्य प्रदान करती हैं[10]। संतानोत्पादन में सहायता देनेवाले देवों के साथ सर-

---

त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्चजाता वर्धयन्ती। वाजेवाजे हव्या भूत्॥ ऋ० 6.61.12.

1. आ यत्साकं यशसो वावशानाः सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता। ऋ० 7.36.6.
2. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। ऋ० 2.41.16.
   पावीरवी तन्यतुरेकपादजः। ऋ० 10.65.13.
   पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात्। ऋ० 6.49.7.
3. आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम्। सरस्वती निदस्पातु। ऋ० 6.61.11.
   दे० 6.61.12. ऊपर।
4. दे० 5.43.11. पृ० 218. दे० 7.95.2. पृ० 218.
5. बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम्। ऋ० 7.96.1.
6. सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
   आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वाऽनमीवा इष आ धेह्यस्मे॥ ऋ० 10.17.8.
   सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः। ऋ० 10.17.9.
7. पावकानः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥ ऋ० 1.3.10.
8. सरस्वती सिन्धुभिः पिन्वमाना। ऋ० 6.52.6.
9. आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।
   रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते वयो धात्॥ ऋ० 10.30.12.
10. त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम्।

स्वती का संबन्ध है[1]। उन्होंने दिवोदास नाम का पुत्र वध्र्यश्व को दिया था[2]। उनका मयोभू स्तन, हर प्रकार के धन का दाता है[3]। वह धन देतीं, रायस्पोष देतीं और पोषक पदार्थों का दान करती हैं[4]। सरस्वती के लिए 'सुभगा'—इस विशेषण का बार-बार प्रयोग आया है[5]। माता के नाते वे अज्ञात व्यक्तियों को ख्याति प्रदान करती हैं[6]। वे याज्ञिकों में पवित्र मन्त्रों को प्रेरित करतीं और भद्र मतिवाले उपासकों को उनका अनुष्ठेय कर्म दिखाती हैं[7]। स्तुति की देवियों के साथ भी उनका आह्वान मिलता है[8]। वे देवताओं के शत्रुओं का संहार करती हैं। वे भीम हैं और वृत्र का संहार करनेवाली हैं[9]। वे अपने उपासकों की देख-

---

शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ ऋ० 2.41.17.

1. गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ऋ० 10.184.2.
2. इयमददाद् रभसमृणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे । ऋ० 6 61.1.
वाचो वाव द्वौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते । ऐ० ब्रा० 4.1.
3. यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि ।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ ऋ० 1.164.49.
4. रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय । ऋ० 7.95.2.
इन्द्रो वा घेदियन्मघं सरस्वती वा सुभगा ददिर्वसु ।
त्वं वा चित्र दाशुषे ॥ ऋ० 8.21.17.
पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥ ऋ० 9.67.32. दे० 1.3.10. पृ० 219
5. सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् । ऋ० 1.89.3.
उत स्या नः सरस्वती जुषाणोप श्रवत् सुभगा यज्ञे अस्मिन् ।
मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना राया युजा चिदुत्तरा सखिभ्यः ॥ ऋ० 7.95.4.
अयमु ते सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुभगे व्यावः । ऋ० 7.95.6.
दे० 8.21.17. ऊपर
6. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति ।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥ ऋ० 2.41.16.
7. दे० 1.3.10. पृ० 219
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् । यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ऋ० 1.3.11.
सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः । ऋ० 2.3.8.
प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । धीनामवित्र्यवतु ॥ ऋ० 6.61.4.
8. विश्वे देवास श‍ृणवन् वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरंध्या । ऋ० 10.65.13.
9. सरस्वति देवनिदो नि बर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्य मायिनः । ऋ० 6.61.3.

भाल करती हैं और शत्रुओं पर उन्हें विजयी बनाती हैं[1]।

सरस्वती का अनेक बार अन्य देवताओं के साथ भी निर्देश आता है। इन्द्र और पूषन् के अतिरिक्त वे विशेषतया मरुतों के साथ भी संबद्ध हैं[2]। कहा गया है कि वे मरुत् वाली हैं[3] अथवा मरुत् उनके सखा हैं[4]। ऋग्वेद में एक बार उनका नाम अश्विनों के साथ भी आया है। जब अश्विनों ने इन्द्र की सहायता की तब सरस्वती ने उन्हें ज़िन्दादिली बख़्शी थी[5]। उसी गाथा के संबन्ध में वाजसनेयि संहिता कहती है कि जब देवताओं ने उपचार-यज्ञ किया तब अश्विनों ने भिषक् बनकर और सरस्वती ने वाणी द्वारा इन्द्र को बढ़ावा दिया[6]। वाजसनेयि संहिता[7] ने तो सरस्वती को अश्विनों की पत्नी तक बताया है। आप्री और आप्र सूक्तों के आठवें या नवें मन्त्र में सरस्वती का संबन्ध यज्ञ की देवी इला और भारती के साथ मिलता है। इला और भारती के साथ मिलकर इनकी देवत्रयी बनती है। कभी-कभी मही और होत्रा के साथ भी उनका नाम आता है। संभवतः इस संबन्ध का आधार इस नदी की पावनता रही हो। सरस्वती और दृषद्वती के तटों पर

उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः।
वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्। ऋ० 6.61.7.

1. दे० 7.95.4. पृ० 220.
इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभिः प्रति स्तोमं सरस्वती जुषस्व। ऋ० 7.95.5.
सरस्वति त्वमस्माँ अविड्ढि मरुत्वती धृषती जेषि शत्रून्। ऋ० 2.30.8.
पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात्।
ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत्॥ ऋ० 6.49.7.

2. विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः।
सरस्वती शृणवन् यज्ञियासो धाता रयिं सहवीरं तुरासः॥ ऋ० 3.54.13.
सरस्वतीं मरुतो अश्विनापो यक्षि देवान् रत्नधेयाय विश्वान्। ऋ० 7.9.5.
सरस्वती मरुतो मादयन्ताम्। ऋ० 7.39.5.
सेदुग्रो अस्तु मरुतः स शुष्मी यं मर्त्यं पृषदश्वा अवाथ।
उतमग्निः सरस्वती जुनन्ति न तस्य रायः पर्येतास्ति॥ ऋ० 7.40 3.

3. दे० 2.30.8. ऊपर

4. सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम्। ऋ० 7.96.2.

5. पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभि सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्। 10.131.5.

6. देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना।
वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः॥ वा० सं० 19.12.

7. सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति। वा० सं० 19.94.

यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के संकेत मिलते हैं[1]; और ऐतरेय ब्राह्मण[2] में ऋषियों द्वारा सरस्वती के तट पर किये यज्ञों का उल्लेख गर्व के साथ आता है। हो सकता है कि सरस्वती के तटों पर भरतों की यज्ञशालाएं रही हों। उस अवस्था में स्वाभाविक है कि भरतों की हविष् की विग्रहवत् भारती आप्री ने यज्ञों में, सरस्वती के साथ स्थान पा लिया हो।

यद्यपि ऋग्वेद में इस बात के लिए कि सरस्वती नदी, देवी के अतिरिक्त और कुछ भी हैं, कोई संकेत[3] नहीं मिलता, तथापि ब्राह्मणों में उनका ताद्रूप्य वाक् के साथ स्थापित हो गया है[4]। वेदोत्तर-कालीन गाथा में तो वह विद्वत्ता एवं प्रज्ञा की अधिष्ठात्री देवी बन गई हैं और जगह-जगह उनका ग्रीस के म्यूज़ की भांति आह्वान किया गया है और उन्हें ब्रह्मा की पत्नी होने का आदर दिया गया है। उनके विषय में प्राचीन धारणा से हटकर नवीन धारणा पर पहुंचने का परिवर्तन-बिन्दु संभवतः वाजसनेयि संहिता[5] में संनिहित है।

जिस नदी के आधार पर सरस्वती देवी का विग्रहवत्त्व संपन्न हुआ है उसके विषय में मतभेद है। सरस्वती अवेस्ता में उल्लिखित और अफ़ग़ानिस्तान में प्रवाहित हरक्वैती नदी की तद्रूप है और हो सकता है कि हरक्वैती ही का आरम्भ में सरस्वती नाम से गुण-गान किया गया हो। किंतु रॉथ, ग्रासमान, लुडविग और त्सिमर के मत में ऋग्वेद में सरस्वती मूलतः एक बड़ी नदी रही थी। संभवतः सिन्धु का ही सरस्वती एक धार्मिक नाम रहा हो और सिन्धु एक धर्म निरपेक्ष नाम। किंतु कहीं-कहीं सरस्वती से मध्यदेश में बहनेवाली छोटी नदी का भी बोध होता है। हो सकता है कि बाद के काल में देवी का नाम और उनकी पवित्रता इस सामान्य नदी पर संक्रान्त हो गई हो। मैक्समूलर के अनुसार सरस्वती नाम की एक छोटी-सी सरित् थी जोकि दृषद्वती के साथ ब्रह्मावर्त के पुण्य-प्रदेश की सीमा थी। भले ही यह आज मरुभूमि में विलीन हो गई है; फिर भी वैदिक युग में यह समुद्र में जा मिलती थी। ओल्धम् के अनुसार प्राचीन नदियों के पथों की परीक्षा से निष्कर्ष निकलता है कि सरस्वती मूलतः शुतुद्री (वर्तमान सतलज) की सहायक नदी थी, और जब शुतुद्री अपना प्राचीन पथ छोड़कर विपाश् से जा मिली तब सरस्वती ने शुतुद्री का पुराना पथ अपना लिया।

---

1. दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि। ऋ० 3.23.4.
2. ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। ऐत० ब्रा० 2.19.
3. शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु। ऋ० 7.35.11.
4. वाग्वै सरस्वती। शत० ब्रा० 3.9.1.7.
   वाक् तु सरस्वती। ऐ० ब्रा० 3.1.10.
5. दे० वा० सं० 19.12. पृ० 221.

सरस्वती से बना हुआ पुंल्लिङ्ग नाम सारस्वत आता है। एक सूक्त के आरम्भ के तीन मन्त्रों में सरस्वती का गुण-गान करने के उपरान्त अन्तिम तीन मन्त्रों में पत्नी, अपत्य, रक्षा और संपत्ति की इच्छा से उपासक ने सारस्वत का आह्वान किया है। यहां उसके गर्भधारक जल और मञ्जुल वक्षःस्थल की ओर संकेत किया गया है। एक अन्य मन्त्र[1] में सारस्वत के विषय में—जोकि अग्नि-पक्षी का दूसरा नाम है—कहा गया है कि वह वृष्टि मिलने पर चेतन हो जाता है। रॉथ उसे दिव्य जलों का संरक्षक मानते हैं, जिसका काम गर्भ धारण कराना है। हिलेब्राण्ड्ट सारस्वत का तादूप्य अपां नपात् (=सोम, चन्द्रमा) के साथ स्थापित करते हैं।

पृथिवी (§ 34)—

पहले कहा जा चुका है कि पृथिवी का गुण-गान सामान्यतया द्यौस् के साथ होता है। अकेली पृथिवी के लिए ऋग्वेद में एक छोटा-सा सूक्त[2] और अथर्ववेद में एक गंभीर एवं रुचिर सूक्त आता है[3]। पृथिवी का विग्रहवत्त्व स्वल्प है, क्योंकि इस देवी में मिलनेवाली विशेषताएं प्रायः सभी भौतिक पृथिवी में मिल जाती हैं। ऋग्वेद के अनुसार पृथिवी उद्वतों से भरपूर है। वह पर्वतों के भार को संभालती और वन्य ओषधियों को धारण करती है। वह धरती को उर्वरा बनाती है, क्योंकि वह पानी बरसाती है। उसके मेघों की विद्युत् ही द्युलोक से जलबिन्दुओं को बरसाती है। वह मही है, दृढ़ा है और अर्जुनी है।

पृथिवी का अर्थ है 'विस्तृत'; और ऋग्वेद के एक कवि ने[4] जहां यह कहा है कि इन्द्र ने पृथिवी का प्रथन किया (पप्रथत्), वहां उसने इस शब्द की व्युत्पत्ति की ओर संकेत किया है। तैत्तिरीय संहिता[5] और तैत्तरेय ब्राह्मण[6] में पृथिवी के मूल का वर्णन करते हुए पृथिवी की व्युत्पत्ति स्पष्ट शब्दों में √प्रथ् 'फैलना' से दी है।

---

1. दि॒व्यं सु॑प॒र्णं वा॑य॒सं बृ॒हन्त॑म॒पां गर्भं॑ दर्श॒तमोष॑धीनाम्।
अ॒भी॒प॒तो वृ॒ष्टिभि॑स्त॒र्पय॑न्तं॒ सर॑स्वन्त॒मव॑से जोहवीमि॥ ऋ० 1.164.52.
2. बळि॒त्था पर्व॑तानां खि॒द्रं बि॑भर्षि पृथिवि।
प्र या भूमिं॑ प्रवत्वति म॒ह्ना जि॒नोषि॑ महिनि॥ ऋ० 5.84.1. आदि पूर्णसूक्त
3. स॒त्यं बृ॒हदृ॒तमु॒ग्रं दी॒क्षा तपो॒ ब्रह्म॑ य॒ज्ञः पृ॑थि॒वीं धा॑रयन्ति।
सा नो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य॒ पत्न्यु॒रुं लो॒कं पृ॑थि॒वी नः॑ कृणोतु॥ अथ० 12.1.1.
4. दे० 2.15.2. पृ० 132.
5. साऽप्र॑थत सा पृ॑थि॒व्य॑भव॒त्तत्पृ॑थि॒व्यै पृ॑थिवि॒त्वम्। तै० सं० 7.1.5.1.
6. यदप्र॑थय॒त्तत्पृ॑थि॒व्यै पृ॑थि॒त्वम्। तै० ब्रा० 1.1.3.5.

पृथिवी को 'सुशेवा माता भूमि' कहा गया है, जहां मनुष्य मरने के उपरान्त जाता है[1]। द्यौस् के साथ उल्लिखित होने पर पृथिवी को 'माता' विशेषण दिया जाता है।

अग्नि (§ 35)—

पृथिवी-स्थानीय देवताओं में अग्नि प्रमुख है। यज्ञ से घनिष्ठ संबन्ध रखनेवाली वैदिक कविता के केन्द्रीभूत यज्ञाग्नि का विग्रहवत् रूप होने के नाते वे प्राथमिक महत्व के हैं। इन्द्र के बाद वैदिक देवताओं में उन्हीं का स्थान है। ऋग्वेद में उनके निमित्त कम-से-कम 200 सकल सूक्त आये हैं और अनेक सूक्तों में अन्य देवों के साथ भी उनका स्तवन किया गया है।

अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का भी बोधक है। फलतः अग्नि का विग्रहवत्त्व अभी आरम्भिक अवस्था में ही है; क्योंकि उनके शरीरावयवों से भौतिक अग्नि, विशेषतया यज्ञाग्नि के विभिन्न पहलू द्योतित होते हैं। वे घृत-पृष्ठ[2], घृत-प्रतीक[3], और मन्द्र-जिह्व[4] हैं। वे घृत-लोम[5], ज्वाल-लोम[6] हरिकेश[7] हैं, और हिरण्यश्मश्रु हैं[8]। उनके जबड़े तेज एवं तप्त हैं[9]; उनके दांत स्वर्णाभ अथवा प्रकाशयुक्त हैं[10]। एक

---

1. उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्। ऋ० 10.18.10.
2. विशां कविं विश्पतिं मानुषीणां शुचिं पावकं घृतपृष्ठमग्निम्।
   नि होतारं विश्वविदं दधिध्वे स देवेषु वनते वार्याणि ॥ ऋ० 5.4.3.
3. नि दुरोणे अमृतो मर्त्यानां राजा ससाद विदथानि साधन्।
   घृतप्रतीक उर्विया व्यद्यौदग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान् ॥ ऋ० 3.1.18.
4. तान् यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि। मध्वः सुजिह्व पायय ॥ ऋ० 1.14.7.
5. अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे।
   ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥ ऋ० 8.60.2.
6. त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः।
   शोचिष्केशं पुरुप्रियाऽग्ने हव्याय वोळ्हवे ॥ ऋ० 1.45.6. इत्यादि।
7. ऋतावानं यज्ञियं विप्रमुक्थ्यमा यं दधे मातरिश्वा दिवि क्षयम्।
   तं चित्रयामं हरिकेशमीमहे सुदीतिमग्निं सुविताय नव्यसे ॥ ऋ० 3.2.13.
8. स हि ष्मा धन्वाक्षितं दाता न दात्या पशुः।
   हिरिश्मश्रुः शुचिदन्नृभुरनिभृष्टतविषिः ॥ ऋ० 5.7.7.
9. तपुर्जम्भो वन आ वातचोदितो यूथे न साह्वाँ अव वाति वंसगः।
   अभिव्रजन्नक्षितं पाजसा रजः स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणः ॥ ऋ० 1.58.5
10. हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
    ददानो अस्मा अमृतं विपृक्वत् किं मामनिन्द्राः कृणवन्ननुक्थाः ॥ ऋ० 5.2.3.

बार उन्हें अपाद और अशीर्षा भी कहा गया है[1] किंतु एक स्थान पर उन्हें तपुर्मूर्धा अर्थात् प्रतापी मूर्धावाला बताया गया है[2] साथ ही वे त्रिमूर्धा और सप्तरश्मि भी हैं[3]। वे सभी भुवनों की ओर उन्मुख रहते हैं[4]। उनकी जिह्वा का पुनःपुनः उल्लेख आता है[5]। उनके तीन या सात जिह्वाएं हैं, यहां तक कि उनके अश्व भी सप्त-जिह्व हैं[6]। आगे चलकर इन सातों जिह्वाओं में से प्रत्येक का नामकरण हुआ। घृत अग्नि का नेत्र है[7] उनके चार नेत्र हैं[8], वे सहस्र-चक्षु[9] और सहस्र-शृङ्ग हैं। मनुष्य के लिए वे अपने हाथ में नाना उपहार लिये हुए हैं[10]। इन्द्र की भांति इनके लिए भी सहस्र-मुष्क विशेषण का प्रयोग हुआ है[11]। उन्हें अस्ता

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृक्त्व्यपि धत्स्वासन्॥ ऋ० 10.87.2.

1. स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ताऽऽयोयुवानो वृषभस्य नीळे॥ ऋ० 4.1.11.

2. अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम्।
यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः॥ ऋ० 7.3.1.

3. त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषेऽनूनमग्निं पित्रोरुपस्थे।
निषत्तमस्य चरतो ध्रुवस्य विश्वा दिवो रोचनापप्रिवांसम्॥ ऋ० 1.146.1.
दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्माणि वेरु तत्।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभवत्॥ ऋ० 2.5.3.

4. समिद्धो अग्निर्निहितः पृथिव्यां प्रत्यङ् विश्वानि भुवनान्यस्थात्।
होता पावकः प्रदिवः सुमेधा देवो देवान् यजत्वग्निरर्हन्॥ ऋ० 2.3.1.

5. उतोन्वस्य यत् पदं हर्यतस्य निधान्यम्।
परि द्यां जिह्वयातनत्॥ ऋ० 8.72.18.

6. अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ऋतजातपूर्वीः।
तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन्॥ ऋ० 3.20.2.
आ रोदसी अपृणा जायमान उत प्र रिक्था अध नु प्रयज्यो।
दिवश्चिदग्ने महिना पृथिव्या वच्यन्तां ते वह्नयः सप्तजिह्वाः॥ ऋ० 3.6.2.

7. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो धर्मो हविरस्मि नाम॥ ऋ० 3.26.7.

8. त्वमग्ने यज्यवे पायुरन्तरोऽनिषङ्गाय चतुरक्ष इध्यसे।
यो रातहव्योऽवृकाय धायसे कीरेश्चिन् मन्त्रं मनसा वनोषि तम्॥ ऋ० 1.31.13.

9. सहस्राक्षो विचर्षणिरग्नी रक्षांसि सेधति। ऋ० 1.79.12.

10. निकाव्या वेधसः शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरूणि। ऋ० 1.72.1.

11. तमागन्म सोभरयः सहस्रमुष्कं स्वभिष्टिमवसे। ऋ० 8.19.32.

अर्थात् तीर चलानेवाले की न्याई शूर कहा गया है[1] और वे अपनी ज्वलन्त दीप्ति को लोहे की धारा की तरह तेज़ करते हैं[2]।

उनकी उपमा विभिन्न पशुओं से दी गई है। इनमें से बहुसंख्यक उपमाएं उनके विग्रह की अपेक्षा उनके कार्यों की अधिक परिचायक हैं। उन्हें पुनः-पुनः वृषभ कहा गया है[3]। वे पीवरस्कन्ध बलीवर्द हैं[4]। वे रांभते[5] हैं, सुवीर्य हैं[6] और उनके सींग हैं[7], इन सींगों को वे पैनाते और डुलाते हैं और इनके कारण ही वे दूणाश अर्थात् दुष्प्राप्य हैं[8]। उत्पन्न होने पर उनका नाम वत्स पड़ जाता है। अनेक बार उनकी तुलना अश्व के साथ भी की गई है और स्पष्ट शब्दों में उन्हें अश्व कह कर पुकारा गया है[9]। जिस पूंछ को वे घोड़े की तरह हिलाते हैं वह और कुछ न होकर उनकी ज्वालाएं ही हैं। यज्ञ-पूत हो जाने पर उनकी उपमा मलकर फेरे हुए घोड़े से दी गई है[10]। याज्ञिक उन्हें अश्व की भांति फेरते[11] मलते, और गतिमान् बनाते हैं[12]। वे इस प्रकार के अश्व हैं जिन्हें लोग (पिता बनकर) पालना चाहते हैं[13]। उन्हें देवताओं के वाहन अश्व की भांति समिद्ध किया जाता है और उसकी स्तुति की जाती है[14]। वे यज्ञभूमि की धुरी पर बैठनेवाले हैं[15]। यज्ञ को देवताओं तक पहुंचाने के लिए उन्हें जोता जाता है[16]।

---

1. साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु। ऋ० 1.70.6.
2. स इदस्तेव प्रति धादसिष्यञ्छिशीत तेजोऽयसो न धाराम्। ऋ० 6.3.5.
3. तपुर्जम्भो वन आ वातचोदितो यूथे न साह्वाँ अव वाति वंसगः। ऋ० 1.58.5.
4. तुविग्रीवो वृषभो वावृधानोऽशत्र्वर्यः समजाति वेदः। ऋ० 5.2.12.
5. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति। ऋ० 10.8.1.
6. साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता वृषभस्तुविष्मान्। ऋ० 4.5.3.
7. सहस्रशृङ्गो वृषभस्तदोजा विश्वाँ अग्ने सहसा प्रास्यन्यान्। ऋ० 5.1.8.
8. आजायमानस्तन्वश्च शुम्भते भीमो न शृङ्गा दविधाव दुर्गृभिः। ऋ० 1.140.6.
9. स त्वं नो अर्वन् निदाया विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिधानः। ऋ० 6.12.6.
10. आशुं न वाजंभरं मर्जयन्तः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्। ऋ० 1.60.5.
11. सो अध्वराय परिणीयते कविः। ऋ० 3.2.7.
12. प्र वो देवं चित् सहसानमग्निमश्वं न वाजिनं हिषे नमोभिः॥ ऋ० 7.7.1.
13. होता जनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये।
    प्रयक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम्॥ ऋ० 2.5.1.
14. वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते॥ ऋ० 3.27.14.
15. समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम्॥ ऋ० 2.2.1.
16. कुर्मस्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः।
    अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात॥ ऋ० 10.51.7.

उनकी तुलना हिनहिनाने और हेषारव करनेवाले घोड़े से भी की गई है[1]। विजय करानेवाले या शत्रुओं को अपास्त करनेवाले घोड़े से भी उनकी उपमा दी गई है[2]। साथ ही अग्नि एक पक्षी के रूप में भी आकाश के श्येन हैं[3] और एक दिव्य पक्षी हैं[4]। सलिल में बसने के कारण उन्हें जलीय हंस जैसा बताया गया है[5]। जैसे एक पक्षी वृक्ष पर बैठता है वैसे ही वे वृक्षों पर अधिष्ठित होते हैं[6]। वे परों से युक्त हैं[7], उनका पथ ध्रजस् अर्थात् तीव्र उड़ान का है[8], और वे बलों से उपोद्वलित होकर आसानी से उड़ते हुए देवताओं की ओर चले जाते हैं[9]। एक बार उन्हें अहिर्धुनि अर्थात् झुंझलाया हुआ सर्प भी बताया गया है[10]।

अग्नि की तुलना अनेक बार अचेतन पदार्थों से भी की गई है। सूर्य की भांति वे स्वर्णिम हैं[11]। जब वे अपनी जिह्वा को लपलपाते हैं तब वह कुल्हाड़ी जैसी दीख पड़ती है[12]। कुल्हाड़ी से तो उनकी उपमा अनेक बार दी गई है। वे रथ-जैसे[13] हैं। उन्हें स्वयं ऐसा रथ भी बताया गया है[14], जो धन लाता है[15]

---

1. अश्वो न क्रन्दन्नुनिभिः समिध्यते वैश्वानरः कुशिकेभिर्युगेयुगे ॥ ऋ० 3.26.3.
2. तमर्वन्तं न सानसिं गृणीहि विप्र शुष्मिणम् ॥ ऋ० 8.102.12.
   अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान् तमंहसः पीपरो दाश्वांसम् । ऋ० 4.2.8.
3. नव्यं नु स्तोममग्नये दिवः श्येनाय जीजनम् ॥ ऋ० 7.15.4.
4. दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तम् ॥ ऋ० 1.164.52.
5. श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन् ॥ ऋ० 1.65.5.
6. तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति । ऋ० 1.66.2.
   चित्रध्रजतिररतिर्यो अक्तोर्वेर्न द्रुषद्वा रघुपत्मजंहाः ॥ ऋ० 6.3.5.
   स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव ॥ ऋ० 10.91.2.
7. स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणः ॥ ऋ० 1.58.5.
8. घृणा न यो ध्रजसा पत्मना यन्ना रोदसी वसुना दं सुपत्नी ॥ ऋ० 6.3.7.
   चित्रो नयत् परि तमांस्यक्तः शोचिषा पत्मन्नौशिजो न दीयन् ॥ ऋ० 6.4.6.
9. देवाँ अच्छा रघुपत्वा जिगाति ॥ ऋ० 10.6.4.
10. हिरण्यकेशो रजसो विसारेऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान् ॥ ऋ० 1.79.1.
11. समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरम् ॥ ऋ० 2.2.1.
    वि यद् रुक्मो न रोचस उपाके । ऋ० 7.3.6.
12. विजेहमानः परशुर्न जिह्वाम् ॥ ऋ० 6.3.4.
13. रथो न यातः शिक्वभिः कृतो ॥ ऋ० 1.141.8.
14. तूर्णी रथः सदा नवः ॥ ऋ० 3.11.5.
15. रथो न विक्ष्वृञ्जसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति ॥ ऋ० 1.58.3.

जो युद्ध में दुर्दान्त है[1]। प्रतीत होता है कि उन्हें ऐसा रथ समझा जाता था, जिसे अन्य लोग चलाते हैं, क्योंकि वे भारवाही रथ की भांति यज्ञ में ले जाये जाते हैं[2]। उनकी तुलना धन से[3] या पितृवित्त अर्थात् पितरों से प्राप्त रिक्थ से[4] भी की गई है। समिध एवं घृत ही उनका भोजन है[5], पिघलाया हुआ नवनीत उनका पेय है[6]। उनके मुख में डाले गये घृत से उनका पोषण होता है[7], और स्नेह के तो वे सच्चे प्रेमी हैं[8]। अपने तीक्ष्ण दांतों से वे वनों को खाते, भसकते और चबाते हैं[9] अथवा अपनी जिह्वाओं से उन्हें चाट-चाटकर काला बना देते हैं[10]। वे सर्व-भक्षक हैं[11]। दिन में तीन बार उन्हें भोजन दिया जाता है[12]। कभी-कभी उन्हें मुख और जिह्वा भी कहा गया है; जिसके द्वारा देवगण हविष् का भक्षण करते हैं[13]। उनकी ज्वालाएं स्रुवा हैं, जिनके द्वारा वे देवताओं के लिए हविष् प्रदान करते हैं[14]। किंतु अपेक्षाकृत अधिक बार स्वयं उन्हें अग्नि, उषस्, अश्विन् और

1. चित्रो यदभ्राट्, छ्वेतो न विक्षु रथो न रुक्मी, त्वेषः समत्सु ॥ ऋ० 1.66.6.
2. अयमु ष्य प्र देवयुर्होता यज्ञाय नीयते ।
   रथो न योरभीवृतो घृणीवाञ्चेतति त्मना ॥ ऋ० 10.176.3.
3. रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्यः ॥ ऋ० 1.58.6.
   द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तम् ॥ ऋ० 1.60.1.
4. रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः ॥ ऋ० 1.73.1.
5. द्वन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः । ऋ० 2.7.6.
   तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः । ऋ० 7.3.1.
6. दे० 2.7.6. ऊपर ।
7. हव्या जातवेदो जुषस्व । ऋ० 3.21.1.
8. आज्यस्य परमेष्ठिन जातवेदस्तनूवशिन् ।
   अग्ने तौलस्य प्राशान् यातुधानान्विलापय । अथ० 1.7.2.
9. अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून्त्स वना न्यृञ्जते । ऋ० 1.143.5.
10. कृष्णा करोति जिह्वया । ऋ० 6.60.10.
11. युवानं विश्पतिं कविं विश्वादं पुरुवेपसम् । ऋ० 8.44.26.
12. त्रिस्ते अन्नं कृणवत् सस्मिन्नहन् । ऋ० 4.12.1.
13. त्वामग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे ।
    त्वां रातिषाचो अध्वरेषु सश्चिरे त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम् ॥ ऋ० 2.1.13.
    त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुह आसा देवा हविरदन्त्याहुतम् ।
    त्वया मर्तासः स्वदन्त आसुतिं त्वं गर्भो वीरुधां जज्ञिषे शुचिः ॥ ऋ० 2.1.14.
14. एवा होतः सत्यतर त्वमद्याग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व । ऋ० 1.76.5.
    मन्द्रो होता स जुह्वा यजिष्ठः संमिश्लो अग्निरा जिघर्ति देवान् । ऋ० 10.6.4.

दधिक्रा आदि को बुलानेवाला बताया गया है[1]। अपने देवप्रवण रूप में वे हवन में डाले गये घृत की ओर अग्रसर होते हैं[2]। यद्यपि उनका स्थायी हविष् समिध् एवं घृत है, तथापि कभी-कभी अन्य देवों के साथ उन्हें सोमपान के लिए भी न्यौता गया है[3]। एक सूक्त में उन्हें सोम-गोपा की संज्ञा भी दी गई है[4]। यज्ञ में उन्हें निमन्त्रित किया गया है[5] और अनेक बार वर्णन आता है कि वे यज्ञ में बर्हि पर अन्य देवों के साथ आकर विराजते हैं[6]।

अग्नि के प्रकाश का प्ररोचक वर्णन किया गया है। वे भास्वर हैं[7], भास्वर ज्वालाओं वाले हैं[8], शोचिष्केश अर्थात् चमकीली ज्वालाओं वाले हैं[9] और उनका वर्ण भास्वर है[10]। वे हिरण्यरूप हैं[11] और सूर्य की भांति भासित होते हैं[12]। उनकी प्रभा उषा, सूर्य और मेघ-विद्युत् जैसी है[13]। वे रात्रि में भी चमचमाते हैं[14]। सूर्य की भांति अपनी किरणों से वे अन्धकार को ध्वस्त करते हैं। वे अन्धकार-

1. इमं नो यज्ञममृतेषु धेहि मा हव्या जातवेदो जुषस्व।
   स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान प्रथमो निषद्य॥ ऋ० 3.21.1–4.
2. घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः। ऋ० 1.127.1.
3. विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः॥ ऋ० 1.14.10.
   अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ऋ० 1.19.9.
   इहेन्द्राग्नी उप ह्वये तयोरित् स्तोममुश्मसि। ता सोमं सोमपातमा॥ ऋ० 1.21.1.
   प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृप्णुहि। ऋ० 2.36.4.
4. मनीषीणां प्रार्पणः सोमगोपाः। ऋ० 10.45.5.
5. आ नो यज्ञं रोहिदश्वोप याहि॥ ऋ० 10.98.9.
6. विद्वाँ आ वक्षि विदुषो नि षत्सि मध्य आ बर्हिरूतये यजत्र। ऋ० 3.14.2.
   इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः। ऋ० 5.11.2.
   यस्य देवैरासदो बर्हिरग्ने। ऋ० 7.11.2.
7. श्रया अग्निश्चित्रभानुर्हवं मे। ऋ० 2.10.2.
8. चित्राभिस्तमूतिभिश्चित्र शोचिः। ऋ० 6.10.3.
9. अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः। ऋ० 7.15.10.
10. वेदिषदे प्रियधामाय सुद्युते। ऋ० 1.140.1.
    हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात्। ऋ० 5.2.3.
11. अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्। ऋ० 4.3.1.
12. सूरो न रुरुक्वाञ्छतात्मा। ऋ० 1.149.3.
13. आ ते चिकित्र उषसामिवेतयोऽरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः। ऋ० 10.91.4.
    तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसां न केतवः। ऋ० 10.91.5.
14. स स्मा कृणोति केतुमा नक्तं चिद् दूर आ सते। ऋ० 5.7.4.

नाशक हैं और रात्रि की कालिमा के झरोखे में से देखते हैं[1]। प्रज्वलित होने पर वे अन्धकार का द्वार खोल देते हैं[2]। जब अग्नि उद्दीप्त होती है तब अन्धकार में परिविष्ट पृथिवी और आकाश स्वच्छ हो जाते हैं[3]। वे प्रातःकाल के समय समिद्ध किये जाते हैं और वे ही एकमात्र ऐसे देवता हैं जिनके लिए उषर्बुधः विशेषण का प्रयोग हुआ है (यद्यपि सामूहिक रूप से सभी देवों को कभी-कभी यही विशेषण मिल गया है)।

अग्नि का पथ, पद्धति और वन्धुर सब कृष्णवर्ण हैं[4]। उनके रघुद्रु अर्थात् तेज़ भागनेवाले घोड़े काले खूड़ (=सीता) बनाते चलते हैं[5]। वायु के झोंके खाकर वे जंगलों में फांदते हुए आगे बढ़ते हैं[6]। वे जंगलों पर आक्रमण करते और पृथिवी के बालों (वनस्पतियों) को जला डालते हैं[7]; वे वप्ता अर्थात् नापित की भांति बालों को काट डालते हैं[8]।

उनकी लपटों में समुद्र-वीचियों की गर्जन-तर्जन है[9]। उनकी ध्वनि वायु अथवा स्तनयित्नु जैसी है[10]। वे कड़कने वाली द्यौस्, पर्जन्य अथवा सिंह-का-सा शब्द करते हैं[11]। जब वे वन-वनान्तरों पर धावा बोलते हैं तब वे वृषभ की भांति

---

1. विशां गोपा अस्य चरन्ति जन्तवो द्विपच्च यदुत चतुष्पदक्तुभिः। ऋ० 1.94.5.
होता मन्द्रो विशां दमूनास्तिरस्तमो ददृशे राम्याणाम्। ऋ० 7.9.2.
2. पृथुपाजा देवयद्भिः समिद्धोऽप द्वारा तमसो वह्निरावः। ऋ० 3.5.1.
3. गीर्णं भुवनं तमसापगूळहमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ। ऋ० 10.88.2.
4. तस्य पत्मन् दक्षुषः कृष्णजंहसः शुचिजन्मनो रज आ व्यध्वनः। ऋ० 1.141.7.
कृष्णाध्वा तपू रण्वश्चिकेत। ऋ० 2.4.6.
कृष्णव्यथिरस्वदयन्न भूम। ऋ० 2.4.7.
वृश्चद्वनं कृष्णयामं रुशन्तम्। ऋ० 6.6.1.
कृष्णपविरोषधीभिर्ववक्षे। ऋ० 7.8.2.
5. रघुद्रुवः कृष्णसीतास ऊ जुवः। ऋ० 1.140.4.
6. वि वातजूतो अतसेषु तिष्ठते वृथा जुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः। ऋ० 1.58.4.
7. यद् वातजूतो वना व्यस्थादग्निर्ह दाति रोमा पृथिव्याः। ऋ० 1.65.8.
8. यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम। ऋ० 10.142.4.
9. सिन्धोरिव प्रस्वनितास ऊर्मयोऽग्नेर्भ्राजन्ते अर्चयः। ऋ० 1.44.12.
10. उतो ते तन्यतुर्यथा स्वानो अर्त त्मना दिवः। ऋ० 5.25.8.
दिवो न ते तन्यतुरेति शुष्मश्चित्रो न सूरः प्रति चक्षि भानुम्। ऋ० 7.3.6.
11. अक्रन्दग्निः स्तनयन्निव द्यौः। ऋ० 10.45.4.
हुवे वातस्वनं कविं पर्जन्यक्रन्द्यं सहः। ऋ० 8 102.5.
वृषा चित्रेषु नानदन्न सिंहः। ऋ० 3.2.11.

धड़कते हैं और जब उनकी वनस्पतियों को चाटनेवाली चिनगारियां उछलती हैं तब पशु-पक्षी कांदिशीक हो उठते हैं[1] । उनकी गति उसी प्रकार अबाध है, जैसे मरुत् का ध्वान अथवा फेंकी गई शक्ति या आसमानी बिजली[2] ।

अग्नि की लपटें ऊपर को लपकती हैं[3] । वायु का झोंका खाकर उनकी ज्वालाएं गगन को चूमने लगती हैं[4] । उनका धुआं नाचता और अठखेलियां करता है; उनकी लपटें पकड़ से बाहर हैं[5] । उनका घुंघराला लोहित धूम्र स्वर्ग की ओर उठता[6] और आकाश में फैल जाता है[7] । अपनी शिखाओं से वे द्युलोक के शृङ्ग को छू लेते और सूर्य-किरणों में जा मिलते हैं[8] । अपनी जिह्वाओं से वे द्युलोक को परिवेष्टित कर लेते हैं[9] और द्युलोक के अर्णव को एवं सूर्य के ऊपर-नीचे स्थित भासमान लोक के सलिलों में पैठ जाते हैं[10] । दिवोदास के अग्निदेव पृथिवीमाता से लेकर देवताओं तक फैल गये थे और वे आकाश-शृङ्ग पर विराजित हो गये थे[11] । धूमकेतु विशेषण केवल अग्नि के लिए और वह भी बार-बार प्रयुक्त हुआ है ।

अग्निदेव अपने विद्युत्-रथ पर दमकते हैं[12], ऐसे रथ पर जोकि द्युतिमान्[13], प्रकाशवान्[14], भास्वर, चमकीला, स्वर्णिम और मञ्जुल है । इसे दो या इससे अधिक घोड़े खींचते हैं । ये घोड़े घृत-पृष्ठ, रोहित-अरुष, भूरे और हरित, मनोज्ञ,

---

1. वातजूता वृषभस्येव ते रवः । ऋ० 1.94.10.
   अध स्वनादुत बिभ्युः पतत्रिणो द्रप्सा यत् ते यवसादो व्यस्थिरन् । ऋ० 1.94.11.
2. न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः । ऋ० 1.143.5.
3. वनस्पतावीड्यमूर्ध्वशोचिषम् । ऋ० 6.15.2.
4. हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि । यतन्ते वृथगग्नयः । ऋ० 8.43.4.
5. चरिष्णुधूममगृभीत शोचिषम् । ऋ० 8.23.1.
6. अच्छा द्यामरुषो धूम एति । ऋ० 7.3.3.
   उद् धूमासो अरुषासो दिविस्पृशः । ऋ० 7.16.3.
7. त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिविषञ्छुक्र आततः । ऋ० 6.2.6.
8. उपस्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः सं रश्मिभिस्ततनः सूर्यस्य । ऋ० 7.2.1.
9. परि द्यां जिह्वयातनत् । ऋ० 8.72.18.
10. या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः । ऋ० 3.22.3.
11. प्र दैवोदासो अग्निर्देवाँ अच्छा न मज्मना ।
    अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य सानवि ॥ ऋ० 8.103.2.
12. विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः पृथिव्यां पाजो अश्रेत् । ऋ० 3.14.1.
13. ज्योतीरथं शुक्रवर्णं तमोहनम् । ऋ० 1.140.1.
14. उत नः सुद्योत्मा जीराश्वो होता मन्द्रः शृणवच्चन्द्ररथः । ऋ० 1.141.12.

विश्वरूप, चर्षणि, वायु-प्रेरित और मनोजवा हैं[1]। देवताओं को यज्ञों में लाने के लिए अग्नि अपने अश्वों को जोतते हैं[2]। क्योंकि वे यज्ञ के सारथि हैं[3]। घोड़ों से सजे रथ पर बैठकर वे देवों को लाते हैं[4]। वे उसी रथ पर बैठकर आते हैं जिस पर कि अन्य देवगण आते हैं[5]; यदा-कदा वे उन देवताओं से आगे आते हैं[6]। वे वरुण को यज्ञ में, इन्द्र को आकाश से एवं मरुतों को वायु-लोक से लाते हैं[7]।

वैदिक ऋषियों के अनुसार अग्नि के पिता द्यौस् हैं; अग्नि को उन्होंने ही जन्म दिया है[8]। वे द्यौस् के शिशु हैं[9] और असुर के उदर से उत्पन्न हुए। अनेक बार उन्हें द्यौस् और पृथिवी का पुत्र भी बताया गया है[10]। उन्हें त्वष्टा और आपः का, द्यावापृथिवी का अथवा केवल त्वष्टा या आपः का पुत्र भी कहा गया है[11]। प्रासङ्गिक रूप से यह भी आया है कि अग्नि को उषाओं ने तथा सूर्य और यज्ञ ने उत्पन्न किया है[12]; अथवा इन्द्र ने दो पाषाणों के मध्य अग्नि

1. घृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः। आ देवान्सोमपीतये। ऋ० 1.14.6.
2. युक्ष्वा ह्यरुषीरथे हरितो देव रोहितः। ताभिर्देवाँ इहा वह। ऋ० 1.14.12.
   ऋतस्य वा केशिना योग्याभिर्घृतस्नुवा रोहिता धुरि धिष्व।
   अथा वह देवान् देव विश्वान् त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः। ऋ० 3.6.6.
   युक्ष्वा हि देवहूतमाँ अश्वाँ अग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः। ऋ० 8.75.1.
3. वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम्।
   गीर्भिर्वरुण सीमहि ॥ ऋ० 1.25.3.
4. ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः।
   पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥ ऋ० 3.6.9.
5. आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङिन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः। ऋ० 3.4.11.
6. ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवतमः सुषूदत्। ऋ० 10.70.2.
7. आग्ने वह वरुणमिष्टये न इन्द्रं दिवो मरुतो अन्तरिक्षात्। ऋ० 10.70.11.
8. यदेनं द्यौर्जनयत् सुरेताः। ऋ० 10.45.8.
9. अरुषं न दिवः शिशुम्। ऋ० 4.15.6.
   दिवः शिशुं सहसः सूनुमग्निम्। ऋ० 6.49.2.
10. स रोचयज्जनुषा रोदसीउभे। ऋ० 3.2.2.
    अग्ने दिवः सूनुरसि प्रचेतास्तना पृथिव्या उतविश्ववेदाः। ऋ० 3.25.1.
11. यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान। ऋ० 10.2.7.
    दशेमं त्वष्टुर्जनयन्तगर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम्। ऋ० 1.95.2.
    तमापो अग्निं जनयन्त मातरः। ऋ० 10.91.6.
12. एता उ त्याः प्रत्यदृश्रन् पुरस्ता ज्ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातीः।
    अजीजनन् त्सूर्यं यज्ञमग्निमपाचीनं तमो अगादजुष्टम् ॥ ऋ०7.78.3.

को जन्म दिया है[1] । अग्नि को इडा का पुत्र[2] और ऋत का गर्भ भी कहा गया है[3] । कहीं-कहीं आता है कि देवताओं ने ही अग्नि को उत्पन्न किया है[4]—आर्यों के लिए प्रकाश के रूप में[5], मानव के जीवन (प्राण) के लिए[6]; अथवा उन्होंने अग्नि को मनुष्यों के मध्य स्थापित किया है[7] । साथ ही अग्निदेव देवताओं के पिता भी हैं[8] । दृष्टिकोण की विभिन्नता से ही इस प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न हुआ है ।

अग्नि संबन्धी विग्रहवत्ता की कल्पना अपेक्षाकृत कम विकसित हो पाई है फलतः अग्नि की गाथाओं में उनके कार्य के विषय में कम चर्चा हुई है; क्योंकि यज्ञिय कार्य-कलाप के अलावा उनके विभिन्न जन्मों, रूपों और आवासों ही का वर्णन किया जाना संभव था ।

अग्नि के जन्म-संबन्धी विभिन्न वर्णनों का उनके विभिन्न जन्म-स्थानों के साथ संबन्ध है । अरणियों के संघर्ष से हुए उनके पार्थिव जन्म की चर्चा बार-बार आई है[9] । इस नाते अरणियां भी अग्नि के माता-पिता हैं । इनमें ऊर्ध्वारणि पुरुष है और अधोऽरणि स्त्री है[10] । ये अरणियां माताएं भी हैं; क्योंकि कहा गया है कि अग्नि की दो माताएं हैं[11] । ऊर्ध्व और अधो—अरणियां इस नवोदित शिशु को उत्पन्न करती हैं; जो कि दुर्गृह्य है[12] । सूखे काष्ठों में से जीवन्त अग्नि उदित होते हैं[13] । इस देव की महिमा निराली है; ज्योंही शिशु के रूप में यह

---

1. यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान । ऋ० 2.12.3.
2. इलायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट । ऋ० 3.29.3.
3. यमापो अद्रयो वना गर्भमृतस्य पिप्रति । ऋ० 6.48.5.
4. कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः । ऋ० 6.7.1.
5. तं त्वा देवासोऽजनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय । ऋ० 1.59.2.
6. देवास्ततक्षुर्मनवे यजत्रम् । ऋ० 10.46.9.
7. यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन । ऋ० 1.36.10.
8. भुवो देवानां पिता पुत्रः सन् । ऋ० 1.69.1.
9. अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु । ऋ० 3.29.2.
   अमन्थिष्टां भारतारेवदग्निं देवश्रवा देववातः सुदक्षम् । ऋ० 3.23.2.
   अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् । ऋ० 7.1.1.
10. उत्तानायामव भरा चिकित्वान् त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान । ऋ० 3.29.3.
11. द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवे । ऋ० 1.31.2.
12. उत स्म यं शिशुं यथा नवं जनिष्टारणी ।
    धर्तारं मानुषीणां विशामग्निं स्वध्वरम् ॥ ऋ० 5.9.3.
    उतस्म दुर्गृभीयसे पुत्रो न ह्वार्याणाम् । ऋ० 5.9.4.
13. आदित् ते विश्वे क्रतुं जुषन्त शुष्काद् यद् देव जीवो जनिष्ठाः । ऋ० 1.68.2.

उत्पन्न होता है त्योंही यह अपने माता-पिता का भक्षण कर डालता है[1]। यह बात अरणियों को लक्ष्य करके कही गई प्रतीत होती है। साथ ही मनुष्य अग्नि को उत्पन्न करते हैं[2]; दस युवतियां अग्नि को जन्म देती हैं[3] दश अंगुलियां हैं, जो ऊर्ध्वारणि को मथती हैं।

अग्नि को उत्पन्न करने के लिए अपेक्षित दबाव वाला घर्षण ही संभवतः अग्नि के 'सहसः सानु', 'सहसः पुत्र' और एक बार 'सहसः युवन्' इन नामों का आधार बना है। इस संभावना की ऋग्वेद के इस कथन से पुष्टि होती है कि मनुष्यों के द्वारा शक्ति के साथ मथने पर अग्निदेव पृथिवी के सानु पर उत्पन्न होते हैं[4]। एक परवर्ती ग्रन्थ के अनुसार यह घर्षण सूर्योदय के पूर्व नहीं करना चाहिए[5]। यज्ञार्थ प्रति दिन प्रातःकाल के समय उत्पन्न किये जाने के कारण अग्नि को 'यविष्ठ' या 'यविष्ठ्य' यह विशेषण भी मिले हैं। पूर्व्य अर्थात् पुराण अग्नि के नव-नव जन्म होते हैं[6]। वृद्ध हो जाने पर भी अग्निदेव युवक के रूप में उत्पन्न होते हैं[7]। एक दृष्टि से तो अग्निदेव कभी वृद्ध होते ही नहीं[8] क्योंकि उनका नव-नव प्रकाश उनके विगत प्रकाश से भिन्न कहां है[9]? कतिपय अन्य देवों की भांति अग्नि को भी 'युवक' कहा गया है। साथ ही वे वृद्ध भी हैं। सच पूछिए तो अग्नि से पूर्व अर्थात् पुराना याज्ञिक कोई भी नहीं है[10]; क्योंकि प्रथम यज्ञ का सम्पादन तो उन्होंने ही किया था[11]। वे पूर्वतर उषाओं के पश्चात् प्रकाशित

---

1. जायमानो मातरा गर्भो अत्ति। ऋ० 10.79.4.
2. यमृत्विजो वृजने मानुषासः प्रयस्वन्त आयवो जीजनन्त। ऋ० 1.60.3.
   अमर्त्यं यजत मर्त्येष्वा देवमादेवं जनत प्रचेतसम्। ऋ० 4.1.1.
   दे० 7.1.1. पृ० 233.
3. दे० 1.95.2. पृ० 232.
4. यमापो अद्रयो वना गर्भमृतस्य पिप्रति।
   सहसा यो मथितो जायते नृभिः पृथिव्या अधि सानवि॥ ऋ० 6.48.5.
5. न पुरा सूर्यस्योदेतोर्मन्थितवा असु३र्यो विदेवा आधीयत उद्यत्सु रश्मिषु मथ्यः।
   मै० सं० 1.6.10.
6. एता ते अग्ने जनिमा सनानि प्र पूर्व्याय नूतनानि वोचम्। ऋ० 3.1.20.
7. स चित्रेण चिकिते रंसु भासा जुजुर्वां यो मुहुरा युवा भूत्। ऋ० 2.4.5.
8. स न ऊर्जामुपाभृत्यया कृपा न जूर्यति। ऋ० 1.128.2.
9. स प्रत्नवन्नवीयसाऽग्ने द्युम्नेन संयता। बृहत् ततन्थ भानुना। ऋ० 6.16.21.
10. न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः।
    विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि स यज्ञेन वनवद् देव मर्तान्॥ ऋ० 5.3.5.
11. अषाळ्हो अग्ने वृषभो दिदीहि पुरो विश्वाः सौभगा संजिगीवान्।

हुए हैं[1]। पितरों के यज्ञ में अग्नि द्वारा किये कार्यों का बार-बार निर्देश आता है[2]। फलतः एक ही मन्त्र में उनके लिए 'वृद्ध' और 'युवक' इस प्रकार के परस्पर-विरोधी शब्द प्रयुक्त होते देखे जाते हैं[3]।

अपेक्षाकृत बहुसंख्या में अग्नि का जन्म काष्ठ में होता बताया गया है[4]। वीरुधों के भीतर गर्भ रूप में भी उनका वर्णन हुआ है[5]। वे सभी ओषधियों में प्रविष्ट हैं[6]। जब अग्नि को वृक्ष-गर्भ[7] अथवा वृक्ष-वनस्पति-गर्भ[8] बताया गया है तब उसके पीछे दावाग्नि का भाव छिपा रहता है।

अग्नि के पार्थिव रूप को महत्ता देने के लिए उन्हें 'पृथिवी की नाभि' बताया गया है[9]। जिन अनेक मन्त्रों में यह उक्ति आती है वहां इससे वेदि-मध्य-स्थित अग्नि का बोध होना अभीष्ट है। वैदिक कर्मकांड में नाभि एक पारिभाषिक शब्द है, जो उत्तरा वेदि के अवकाश का बोधक है, जिसमें अग्न्याधान किया जाता है। इस शब्द का प्राथमिक प्रयोग संभवतः निम्न वाक्य में निर्दिष्ट केन्द्र-बिन्दु का सूचक रहा हो—'देवताओं ने अग्नि को अमृतत्व की नाभि अथवा केन्द्र बनाया'[10]। वेदिषद् विशेषण का दो बार प्रयोग अग्नि के लिए हुआ है।

अन्तरिक्षस्थ सलिल में अग्नि की उत्पत्ति के निर्देश भी मिलते हैं। यहां तक

यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायोर्जातवेदो बृहतः सुप्रणीते ॥ ऋ० 3.15.4.

1. अग्ने पूर्वा अनूषसो विभावसो दीदेथ विश्वदर्शतः ।
   असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः ॥ ऋ० 1.44.10.
2. उत त्वा भृगुवच्छुचे मनुष्वदग्न आहुत । अङ्गिरस्वद्धवामहे । ऋ० 8.43.13.
3. धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे पूरवे प्रत्न राजन् । ऋ० 10.4.1.
   यं त्वा जनासो अभि संचरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ । ऋ० 10.4.2.
4. कुत्राचिद्रण्वो वसतिर्वनेजाः । ऋ० 6.3.3.
   विषूचो अश्वान् युयुजे वनेजाः । ऋ० 10.79.7.
5. त्वं गर्भो वीरुधां जज्ञिषे शुचिः । ऋ० 2.1.14.
   अपां गर्भं दर्शतमोषधीनां वना जजान सुभगा विरूपम् । ऋ० 3.1.13.
   स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु ।
   चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून् प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद्गाः ॥ ऋ० 10.1.2.
6. अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे । ऋ० 8.43.9.
7. गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम् । ऋ० 1.70.3.
8. त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।
   त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥ ऋ० 2.1.1.
9. मूर्धा दिवो नाभिरग्निः पृथिव्या अथाभवदरती रोदस्योः । ऋ० 1.59.2.
10. त्वां दूतमरतिं हव्यवाहं देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम् । ऋ० 3.17.4.

कि अपां नपात् एक पृथक् देवता ही बन गये हैं। अग्नि जलों के गर्भ हैं[1]; वे जलों में समिद्ध होते हैं[2]। वे एक वृषभ हैं जो जलों के उपस्थ में बढ़ते हैं[3]। वे धनु पर (बादल का द्वीप) से अवतीर्ण हुए हैं[4]। वे शुक्र अवकाश पर विचरनेवाले भासमान स्तनयित्नु हैं[5]। इस प्रकार के निर्देशों में अग्नि के वैद्युत रूप का बोध युक्तियुक्त प्रतीत होता है। ऋग्वेद के कतिपय परवर्ती सूक्तों में कहानी आती है कि अग्नि जलों और वनस्पतियों में प्रच्छन्न हो गये थे और देवों ने उन्हें वहां से खोज निकाला था। यह कहानी ब्राह्मणों में भी बार-बार अधिक प्ररोचक रूप में आती है। अथर्ववेद में सलिलस्थ अग्नि को उन अग्नियों से विविक्त किया गया है जो विद्युत् के पथ पर चलते हैं; अथवा विद्युद्-युक्त दिव्य अग्नि हैं[6]। साथ ही यह भी कहा गया है कि वे पृथिवीस्थानीय हैं[7]। ऋग्वेद के एक मन्त्र में आया है कि अग्नि सभी सिन्धुओं में निवास करते हैं[8] और उत्तरकालीन कर्मकांड-ग्रन्थों में सलिलस्थ अग्नि का ह्रद या सोम-पात्र के संबन्ध में आह्वान किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग में भी वे सलिल, जिनमें कि अग्निदेव श्रित हैं, अनेक मन्त्रों में पार्थिव माने गये हैं। ओल्डनबेर्ग के अनुसार ऐसे प्रकरणों में तात्पर्य पार्थिव अग्नि से है और उन्हें इस बात के विषय में शंका है कि तृतीय मंडल के प्रथम सूक्त में तात्पर्य विद्युत् से है अथवा किसी और से। कुछ भी हो, वेदों में सर्वत्र सलिलस्थ अग्नि का ही विचार प्रधान है। जैसे द्युलोक सूर्य का आवास

---

1. उदुस्रिया जनिता यो जजानाऽपां गर्भो नृतमो यह्वो अग्निः। ऋ० 3.1.12.
   दे० 3.1.13. पृ० 235.
2. तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः। ऋ० 10.45.1.
   सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्व१न्यः समिध्यते।
   ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः॥ अथ० 13.1.50.
3. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।
   दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ उदानळपामुपस्थे महिषो ववर्ध॥ ऋ० 10.8.1.
4. धनोरधि प्रवत आ स ऋण्वत्यभिव्रजद्भिर्वयुना नवाधित। ऋ० 1.144.5.
   कूचिज्जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः। ऋ० 10.4.5.
5. स श्वितानस्तन्यतू रोचनस्था अजरेभिर्नानदद्भिर्यविष्ठः। ऋ० 6.6.2.
6. ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु। अथ० 3.21.1.
   दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति। अथ० 3.21.7.
   वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग्विद्युता सह। अथ० 8.1.11.
7. याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः। अथ० 12.1.37.
8. यो अग्निः सप्तमानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु।
   तमागन्म त्रिपस्त्यं मन्धातुर्दस्युहन्तममग्निं। ऋ० 8.39.8.

है वैसे ही सलिल अग्नि का घर है[1]। अग्नि के आवास रूप में वनस्पति या अतस के साथ-साथ सलिलों का भी उल्लेख प्रायः मिलता है[2]।

अग्नि का मूल स्वर्ग में है—इस तथ्य का अपेक्षाकृत अधिक बार उल्लेख आता है। अग्नि, 'परमे व्योमन्' में उत्पन्न हुए हैं[3]। वे बीज रूप से सर्वोच्च स्वर्ग में निवास करते थे[4]। मातरिश्वा उन्हें स्वर्ग से, सुदूर कहीं परावत् से लाये थे। इस प्रकार के मन्त्रों में अग्नि निःसंदेह विद्युत् का प्रतिरूप है, क्योंकि विद्युत् को स्वर्ग तथा सलिल दोनों लोकों से आता हुआ माना गया है[5]। एक ब्राह्मण में इस अग्नि को दिव्य और अप्सुमत् ये दोनों विशेषण दिये गये हैं। जब विद्युत् का उल्लेख अग्नि के साथ-साथ अपने वैयक्तिक नाम 'विद्युत्' के द्वारा किया गया है (यह नाम ऋग्वेद में मुश्किल से 30 बार आता है) तब इसकी अग्नि के साथ तुलना की जाती है और उससे इसका भेद किया जाता है। यह भेद निःसंदेह स्थूल दृश्यों की दृष्टि से किया जाता है, जोकि देव-दृष्टि के विपरीत है। द्युलोक से पृथिवी-लोक पर अवतीर्ण होने की अग्नि-विषयक गाथा में भी दिव्य अग्नि और वैद्युत अग्नि की तद्रूपता का भाव अन्तर्निहित है[6]।

कुछ मन्त्रों में अग्नि का ताद्रूप्य सूर्य के साथ दिखाया गया है, क्योंकि सूर्य को भी अग्नि का एकरूप मानना वैदिक कवियों का अपना प्रिय विश्वास है। इस दृष्टि से अग्नि भास्वर आकाश में स्वर् अर्थात् प्रकाश का नेत्र है, जो उषःकाल में जागृत होता है और जो स्वर्ग का मूर्धा है[7]। वे रजस् के पार कहीं दूर उत्पन्न हुए थे और उन्होंने जन्मते ही अशेष भुवनों को देख लिया था[8]। अग्नि रात्रि के समय पृथिवी

---

1. हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्व१ग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ। ऋ० 5.85.2.
 दे० अथ० 13.1.50. पृ० 236.
 सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम्। अथ० 19.33.1.
2. दे० 2.1.1. पृ० 235.
3. स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने। ऋ० 1.143.2.
 स जायमानः परमे व्योमनि व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत।
 व्य१न्तरिक्षममिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो महिना नाकमस्पृशत्॥ ऋ० 6.8.2.
4. असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
 अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥ ऋ० 10.5.7.
5. दे० अथ० 3.21.1. तथा 7 एवं 8.1.11. पृ० 236.
6. प्रियो विशा मतिथिर्मानुषीणाम्। ऋ० 5.1.9.
7. शुचिं न यामन्निषिरं स्वर्दृशं केतुं दिवो रोचनस्थामुषर्बुधम्।
 अग्निं मूर्धानं दिवो अप्रतिष्कुतं तमीमहे नमसा वाजिनं बृहत्॥ ऋ० 3.2.14.
8. यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। ऋ० 10.187.4.

के मूर्धा होते हैं और प्रातःकाल के समय उद्यन्त् सूर्य बन जाते हैं[1]। ऐतरेय ब्राह्मण[2] का कहना है कि अस्त होता हुआ सूर्य अग्नि में समा जाता है और उन्हीं में से वह फिर आविर्भूत होता है। जिस मन्त्र में कहा गया है कि अग्नि सूर्य या उसकी किरणों से संपृक्त होते हैं, वहां भी संभवतः इसी प्रकार का ताद्रूप्य अभिप्रेत है[3], और जब मनुष्यों ने पृथिवी पर अग्नि को प्रज्वलित किया[4] तभी देवों ने उसे स्वर्ग में प्रदीप्त किया, तभी से यह स्वर्ग में चमकती है[5]। फिर भी कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि अग्नि से विद्युत् अभिप्रेत है अथवा सूर्य। अग्नि के सौर-पक्ष का उल्लेख बहुत बार नहीं आया है, और कारण इसका यह है कि सूर्य स्वतः एक दृश्य व्यक्ति हैं, फलतः ऐसे प्रभूत व्यक्ति को अग्नि का एक रूप-मात्र मान लेना कठिन है। साधारणतया अग्नि से उसका पार्थिव रूप ही अभिप्रेत होता है, क्योंकि उसकी सूर्य के साथ तुलना की गई है, न कि तद्रूपता। उदाहरण के लिए कवि कहता है कि देवयु याज्ञिकों का मन अग्नि की ओर वैसे ही प्रवृत्त रहता है जैसे प्राणिजात की चक्षु सूर्य की ओर प्रवृत्त रहती है[6]। इसके साथ ही, अग्नि के अन्य पहलुओं पर भी, वैदिक कवि दृष्टिपात करता है, जिससे अनेक स्थलों पर यह संदेह हो जाता है कि वहां अग्नि से तात्पर्य उसके कौन से रूप से है।

अग्नि के विविध-जन्मा होने के कारण उन्हें त्रिविध स्वरूप का माना गया है और ये तीनों स्वरूप प्रसक्त मन्त्रों में संख्यावाचक 'त्रि' शब्द के रूप द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं। भारत की यह सबसे अधिक प्राचीन देवत्रयी भावना महत्वपूर्ण है, क्योंकि वैदिक युग का रहस्यमय दर्शन बहुत-कुछ इसी पर आधृत रहा है। अग्नि के जन्म तीन या त्रिविध हैं[7]। देवों ने उन्हें त्रिविध बनाया[8]। वे त्रि प्रकाश

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत। ऋ० 10.187.5.

1. मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्। ऋ० 10.88.6.
2. आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति। ऐ० ब्रा० 8.28.9.
3. सं भानुना यतते सूर्यस्याऽऽजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः। ऋ० 5 37.1.
   उप स्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः सं रश्मिभिस्ततनः सूर्यस्य। ऋ० 7.2 1.
4. सजोषस्त्वा दिवो नरो यज्ञस्य केतुमिन्धते। यद्धस्य मानुषोजनः सुम्नायुर्जुह्वे अध्वरे॥ ऋ० 6.2.3.
5. ऊर्जो नपातमध्वरे दीदिवांसमुप द्यवि। अग्निमीळे कविक्रतुम्॥ ऋ० 3.27.12.
   अग्ने दीदयसि द्यवि। ऋ० 8.44.29.
6. अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति। ऋ० 5.1.4.
7. त्रीणि जाना परि भूषन्त्यस्य समुद्रएकं दिव्येकमप्सु। ऋ० 1.95.3.
   त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः। ऋ० 4.1.7.
8. स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम्।

हैं[1], उनके तीन सिर[2], तीन जिह्वाएं, तीन शरीर और तीन सधस्थ हैं[3]। त्रिषधस्थ विशेषण प्रधानतया अग्नि के लिए ही आता है और त्रिपस्त्य शब्द अपने एकमात्र प्रयोग में अग्नि का विशेषण बना है[4]। इस त्रयी का हमेशा एक ही ढंग या क्रम से उल्लेख नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए एक कवि कहता है "पहले-पहल अग्नि स्वर्ग से उत्पन्न हुआ, द्वितीय बार हम लोगों से और तृतीय बार सलिलों में से[5]। कुछ मन्त्रों में अग्नि के आवास का क्रम स्वर्ग, पृथिवी, जल, इस प्रकार आता है[6]। किन्तु एक मन्त्र में यह क्रम इस रूप में बदल गया है: समुद्र, स्वर्ग, सलिल[7]। कभी-कभी पार्थिव अग्नि सर्वप्रथम आता है: "वह पहले-पहल घरों में उत्पन्न हुआ, महान् स्वर्ग के बुध्न पर, इस अन्तरिक्ष की योनि में"[8] "अमरों ने अग्नि की तीन ज्वालाओं को प्रज्वलित किया, इनमें से एक को उन्होंने मनुष्यों के उपयोग के लिए रखा और उसकी दो ज्वालाएं बहन-लोकों को चली गईं[9]। एक सूत्र-ग्रन्थ में अग्नि के तीन विभाग इस प्रकार आते हैं: पार्थिव अग्नि पशुओं में, अन्तरिक्षस्थ अग्नि सलिलों में और दिव्य अग्नि सूर्य में। कभी-कभी पृथिवीस्थ अग्नि का स्थान तृतीय आता है। वे तीन भ्राताओं में से एक हैं, जिनका मध्यम भाई विद्युत् है और तृतीय भ्राता घृतपृष्ठ है[10]। 'अग्नि आकाश से प्रकाशित होते हैं, यह विशाल अन्तरिक्ष अग्निदेव

तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ॥ ऋ० 10.88.10.

1. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥ ऋ० 3.26.7.
2. त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषेऽनूनमग्निं पित्रोरुपस्थे। ऋ० 1.146.1.
3. अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ऋतजात पूर्वीः।
तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन् ॥ ऋ० 3.20.2.
4. यो अग्निः सप्तमानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु।
तमागन्म त्रिपस्त्यं मन्धातुर्दस्युहन्तममग्निं यज्ञेषु पूर्व्यं नभन्तामन्यके समे ॥
ऋ० 8.39.8.
5. दे० 10.45.1. पृ० 170.
दे० 10.45.2. तथा 3. पृ० 171.
6. अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वति ॥ ऋ० 8.44.16.
दे० 10.2.7. पृ० 215. दे० 10.46.9. पृ० 172.
7. दे० 1.95.3. पृ० 238.
8. स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ। ऋ० 4.1.11.
9. तासामेकामदधुर्मर्त्ये भुजमु लोकमु द्वे उप जामिमीयतुः। ऋ० 3.2.9.
10. अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ ऋ० 1.164.1.

के अधीन है, मनु वर्ग अग्नि को समिद्ध करते हैं, यह अग्नि हव्यवाट् है और घृत का प्रेमी है[1]।

अग्नि के तृतीय रूप को एक बार सर्वोच्च कहा गया है[2]। यास्क[3] कहते हैं कि उनके पूर्ववर्ती विद्वान् शाकपूणी ऋग्वेद (10.88.10.) में अग्नि के तीन विभागों को पृथिवी, वायु और स्वर्गस्थानीय मानते हैं। एक ब्राह्मण अग्नि की तृतीय अभिव्यक्ति को, जोकि स्वर्ग में हुई है, सूर्य से अभिन्न मानता है।[4] ऋग्वेद में इतनी स्पष्टता के साथ अभिज्ञात अग्नि का यह त्रि-विभाग न केवल उत्तरकालीन सूर्य-वायु-अग्नि की देवत्रयी का[5] अपितु दूसरे मन्त्रों[6] में भी सूर्य-इन्द्र-अग्नि इस देवत्रयी का भी आधार बना है। इस त्रयी में वात या वायु और इन्द्र ने वैद्युत अग्नि का स्थान ग्रहण कर लिया है जैसाकि ब्राह्मण और भाष्यकार इस प्रसंग में कहते आये हैं। वायु और इन्द्र के विद्युत् का स्थान ले लेने का अंशतः एक कारण यह भी हो सकता है कि विद्युत् का स्वभाव क्षणिक है, और अंशतः यह कि अग्नि के अतिरिक्त विद्युत् के विग्रहवत्व के लिए और कोई अभिधान संभव नहीं है। अग्नि की इस देवत्रयी ने ही यज्ञाग्नि के तीन भागों में बंटने का मार्ग प्रशस्त किया होगा। यज्ञाग्नि के ये तीनों विभाग गृह्य अग्नि से पृथक् हैं और ब्राह्मणकालीन वैदिक उपासना के सार-अंश हैं। ऐसी अवस्था में हो सकता है कि कर्मकांड की भी इस गाथा पर प्रतिक्रिया पड़ी हो। कुछ भी हो, परवर्ती हिन्दू साहित्य ने तीनों अग्नियों को ऋग्वेदीय अग्नि के तीन पक्षों का प्रतिरूप माना है। तीनों यज्ञाग्नियों का मूल ऋग्वेद या संभवतः उससे भी प्राचीन काल तक पहुंचता दीख पड़ता है। इस प्रकार अग्नि से प्रार्थना की गई

पृक्षो वपुः पितुमान् नित्य आशये द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु।
तृतीयमस्य वृषभस्य दोहसे दशप्रमतिं जनयन्त योषणः॥ ऋ० 1.141.2.

1. अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम्॥ अथ० 12.1.20.

2. विष्णुरित्था परममस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्। ऋ० 10.1.3.
पदं यद् विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्। ऋ० 5.3.3.
अमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः। ऋ० 1.72.2.
विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्निं पदे परमे तस्थिवांसम्। ऋ० 1.72.4.

3. पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। नि० 7.28.

4. पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। नि० 12.19.

5. सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः॥ ऋ० 10.158.1.
पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः। सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्॥
अथ० 4.39.2.

6. त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। ऋ० 1.164.44.

है कि वे देवताओं को लावें और स्वयं तीन योनियों में आ विराजें[1]।

विश्व के दो खंडों, अर्थात् पृथिवी और स्वर्ग, में होनेवाले विभाजन के आधार पर अग्नि को अनेक मन्त्रों में दो जन्मोंवाला भी बताया गया है, और द्विजन्मा यह विशेषण देवों में केवल अग्नि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है[2]। ऊर्ध्व और अधो जन्मों का उल्लेख मिलता है[3]। अग्नि के 'उपर सानु' और 'पर सानु' पर विराजने की ओर भी निर्देश किया गया है[4] और यह विरोध प्रायः पार्थिव और दिव्य अग्नियों के बीच दिखाया गया है[5]। यद्यपि कम-से-कम एक मन्त्र में तो यह विरोध दिव्य और जलस्थ अग्नियों के मध्य भी बताया गया है[6]। अग्नि अपने उच्चतम आवास से न्यौते जाते हैं[7], और वे वहां से नीचे की ओर आते हैं। सर्वोच्च पिता के यहां से लाये जाने पर वे ओषधियों में प्ररूढ होते हैं[8]। सामान्यतया अग्नि के विषय में धारणा है कि वे वर्षा में नीचे उतरते और वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाते हैं। इन वनस्पतियों में से ही वे फिर से आविर्भूत होते हैं। जल की भांति अग्नि भी पृथिवी पर अवतीर्ण होकर फिर स्वर्ग को सजीव करते हैं[9]। अग्नि के इन दो भागों में विभक्त होने के ऊपर ही इस प्रकार की प्रार्थनाएं आधृत हैं : अग्नि अपने लिए

---

1. आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन् होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु। ऋ० 2.36.4.
यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समीधिरे। ऋ० 5.11.2.
ऊर्ध्वा यत्ते त्रेतिनी भूद् यज्ञस्य धूर्षु सद्मन्। ऋ० 10.105.9.
2. दे० 1.60.1. पृ० 172.
अभि द्विजन्मा त्रिवृदन्नमृज्यते संवत्सरे वावृधे जग्धमी पुनः। ऋ० 1.140.2.
अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्।
होता यजिष्ठो अपां सधस्थे॥ ऋ० 1.149.4.
अयं स होता यो द्विजन्मा। ऋ० 1.149.5.
3. विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे। ऋ० 2.9.3.
4. सद्यो दधान उपरेषु सानुष्वग्निः परेषु सानुषु। ऋ० 1.128.3.
5. शृणोतु नो दम्येभिरनीकैः शृणोत्वग्निर्दिव्यैरजस्रः। ऋ० 3.54.1.
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनदद्दुज्जनित्वैः। ऋ० 10.45.10.
6. यदग्ने दिविजा अस्यप्सुजा वा सहस्कृत।
तं त्वा गीर्भिर्हवामहे। ऋ० 8.43.28.
7. आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित्सधस्थात्।
अग्ने त्वां कामया गिरा। ऋ० 8.11.7.
8. प्र यत्पितुः परमान्नीयते पर्या पृक्षुधो वीरुधो दंसु रोहति। ऋ० 1.141.4.
9. समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥ ऋ० 1.164.51.

यज्ञ करें[1], वे अग्नि को लावें[2], या वे देवताओं के साथ यज्ञ में पधारें[3]। इस विभाजन के साथ ही इस विचार का संबन्ध है कि अग्नि मनुष्यों के हाथों समिद्ध न होकर देवताओं द्वारा समिद्ध हुए थे[4]। अन्तिम विचार का आधार यह धारणा रही होगी कि दिव्याग्नि को भी किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा समिद्ध होना चाहिए और देवताओं को भी मनुष्यों की भांति यज्ञ करना चाहिए[5]।

एक अन्य दृष्टि से भी बताया गया है कि अग्नि के अनेक जन्म हुए हैं[6]। अग्नि का यह जन्म-बाहुल्य हो सकता है कि मूलतः अनेक पार्थिव वेदियों में अग्नि को प्रज्वलित करने का बोधक रहा हो। क्योंकि बहुधा यह कहा गया है कि अग्नि हर कुल में, हर घर में और हर आवास में निवास करते हैं[7]। वे विविध स्थानों पर उत्पन्न होते हैं और उनके अनेक शरीर हैं[8]। अनेक स्थानों पर विराजने पर भी वे विश्व-भर के अकेले ही सम्राट् हैं[9]। अनेक स्थानों पर समिद्ध होने पर भी वे मूलतः एकाकी हैं[10]। अन्य अग्नि उनके साथ उसी प्रकार संपृक्त हैं जैसे शाखाएं वृक्ष के साथ[11]। इस दृष्टि से उन्हें सभी अग्नियों[12] के साथ यज्ञ में आमन्त्रित किया

1. एवा यजस्व तन्वं सुजात। ऋ० 10.7.6.
2. आग्ने गिरो दिव आ पृथिव्या मित्रं वह वरुण मिन्द्रमग्निम्। ऋ० 7.39.5.
3. दे० 3.6.9. पृ० 232.
4. दे० 6.2.3. पृ० 238.
5. अग्निर्देवेद्ध इति ऽसत्यसौ वा अग्निर्देवेद्ध एतं हि देवा इन्धते। ऐ० ब्रा० 2.34.
6. अस्मद् धृद्रो भूरिजन्मा वि चष्टे। ऋ० 10.5.1.
7. द्विर्यं पञ्च जीजनन्त्संवसानाः स्वसारो अग्निं मानुषीषु विक्षु। ऋ० 4.6.8.
   यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे। ऋ० 4.7.1.
   अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्ष्वीड्यम्। ऋ० 4.7.2.
   विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे। ऋ० 4.7.3.
   आ जभ्रुः केतुमायवो भृगवाणं विशेविशे। ऋ० 4.7.4.
   दमेदमे सप्तरत्ना दधानोऽग्निर्होता निषसादा यजीयान्। ऋ० 5.1.5.
   ते स्याम य आनृचुस्त्वादूतासो दमेदमे। ऋ० 5.6.8
8. देवानां दूतः पुरुध प्रसूतः। ऋ० 3.54.19.
9. समानो राजा विभृतः पुरुत्रा। ऋ० 3.55.4.
10. एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः। वा० खि० 10.2.
11. यस्य ते अग्ने अन्ये अग्नय उपक्षितो वया इव। ऋ० 8.19.33.
12. अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम्। ऋ० 7.3.1.
    शमग्निरग्निभिः करत्। ऋ० 8.18.9.
    अग्न आयाह्यग्निभिः। ऋ० 8.60.1.

गया है[1]।

अग्नि के आवास या जन्म-स्थान के विषय में दिये गये वर्णन कभी-कभी पार्थक्यपरक दीख पड़ते हैं। इस प्रकार द्युलोक, पृथिवी, वायु, जल और वनस्पतियों में उनके वर्चस् का संकेत मिलता है[2]। कहा गया है कि हे अग्नि! तुम दीप्तिमान होकर सलिलों से, अश्मा (पाषाण, विद्युत्) से, वृक्षों से और ओषधियों से उत्पन्न हुए हो[3]। कुछ स्थलों पर इससे भी अधिक लम्बी तालिकाएं आती हैं[4], जहां अग्नि को अद्रिवासी तक बताया गया है[5]। वहां तात्पर्य संभवतः अभ्रपरिवेशी विद्युत् से रहा हो। और हो सकता है कि वही लक्ष्य उन वर्णनों का भी रहा हो जहां यह कहा गया है कि अग्नि का आविर्भाव अश्मन् से हुआ है, अथवा उन्हें इन्द्र ने दो अश्माओं (पाषाणों) के मध्य से उत्पन्न किया है[6]। किन्तु इन स्थलों पर अरणियों के मथन से भी अग्नि की उत्पत्ति का आलंकारिक निरूपण माना जा सकता है। जहां यह आया है कि अग्नि मनुष्यों के हृदय में विराजमान हैं[7], वह वन्यपशुओं, अश्वों, पक्षियों, द्विपदों या चतुष्पदों में वर्तमान हैं[8], वहां सच पूछिए तो, तात्पर्य जीवट उष्णता से ही है। जीवनी और प्राणनी शक्ति के रूप में प्रकट होने और प्रकृति में परिव्याप्त रहने के कारण अग्नि का चराचर भूतजात के गर्भ-

---

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। ऋ० 10.141.6.

1. विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः। ऋ० 1.26.10.
विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिधानः। ऋ० 6.12.6.

2. अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र। ऋ० 3.22.2.

3. त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥ ऋ० 2.1.1.

4. ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु। अथ० 3.21.1. आदि पूर्ण सूक्त
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः॥ अथ० 12.1.19.

5. अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः। ऋ० 1.70.4.
दे० 6.48.5. पृ० 233. दे० 2.1.1. ऊपर

6. दे० 2.12.3. पृ० 233.

7. दे० 10.5.1. पृ० 242.

8. यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ अथ० 3.21.2.
दे० अथ० 12.1.19. ऊपर
यो नो अग्निः पितरो हृत्स्व१न्तराविवेशामृतो मर्त्येषु। अथ० 12.2.33.
पावको अस्मभ्यं शिवो भव। नृषदे वेडप्सुषदे॥ तै० सं० 4.6.1.3.

रूप में वर्णन करना सुतरां स्वाभाविक है[1]। हो न हो अग्नि के त्रिविध रूपों ने ही तीन भ्राताओं की कल्पना को जन्म दिया होगा[2], साथ ही हो सकता है कि यज्ञाग्नि की अनेकात्मकता ने भी अग्नि के, बहुवचन में उल्लिखित भ्राताओं की कल्पना के पल्लवन में सहायता दी हो[3]। बाद में अग्नियों की संख्या तीन आती है[4]। संभवतः उन स्थलों पर भी यही तीन अभिप्रेत हों जहां यह कहा गया है कि देवताओं के चार होता थे, इनमें से प्रथम तीन का अवसान हो गया[5]। वरुण को भी एक बार अग्नि का भ्राता बताया गया है[6]। एक स्थान पर इन्द्र को उनका यमल भ्राता कहा गया है[7]। सचमुच इन्द्र अन्य देवताओं की अपेक्षा अग्नि के साथ सबसे अधिक संबद्ध हुए हैं और केवल दो अपवादों को छोड़कर अग्नि का द्वन्द्व अकेले इन्द्र के साथ आता है। निःसंदेह इसी नाते यह कहा गया है कि अग्नि अपने ऊष्मा से अश्माओं को भेद देते हैं और आस्थारहित पणियों का दमन करते हैं[8]। एक संपूर्ण सूक्त[9] में अग्नि का द्वन्द्व सोम के साथ आया है।

अग्नि की तद्रूपता अनेक बार अन्य देवताओं के साथ, विशेषतः वरुण और मित्र के साथ की गई है[10]। जब अग्नि यज्ञ में पधारते हैं तब वे वरुण बन जाते हैं[11]। जन्म से वे वरुण हैं किन्तु समिद्ध होने पर वे मित्र बन जाते हैं[12]। अग्नि

1. गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्। ऋ० 1.70.3.
   गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः। अथ० 5.25.7.
2. दे० 1.164.1. पृ० 239.
3. अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्वावरीवुः। ऋ० 10.51.6.
4. अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन्। तै० सं० 2.6.6.1.
5. चत्वारो वै देवानां होतार आसन्भूपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिर्भूस्तेषां त्रयो होत्रेण प्रामीयन्त। काठक० 25.7.
6. स भ्रातरं वरुणमग्न आ ववृत्स्व। ऋ० 4.1.2.
7. समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा। ऋ० 6.59.2.
8. न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणींरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
   प्रप्र तान्दस्यूँ रग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥ ऋ० 7.6.3.
9. अग्नीषोमाविमं सु मे शृणुतं वृषणा हवम्। ऋ० 1.93.1. आदि पूर्णसूक्त
10. त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः। ऋ० 2.1.4.
    मित्रो अग्निर्भवति यत्समिद्धो मित्रो होता वरुणो जातवेदाः। ऋ० 3.5.4.
    त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने। ऋ० 7.12.3.
11. भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यदृताय वेषि।
    भुवो अपां नपाज्जातवेदो भुवो दूतो यस्य हव्यं जुजोषः॥ ऋ० 10.8.5.
12. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः। ऋ० 5.3.1.

सायंकाल के समय वरुण बन जाते और प्रातःकाल के समय उद्यन्त मित्र। सविता बनकर वे अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं और इन्द्र बनकर वे आकाश को भासित करते हैं[1]। ऋग्वेद के एक मन्त्र[2] में उनका तादूप्य क्रमशः लगभग द्वादश देवताओं से और पांच देवियों से दिखाया गया है। अग्नि भांति-भांति के दिव्य रूप धारण करते हैं, और जैसे रूप वैसे ही उनके नाम भी अनेक हैं[3]। उनमें सभी देवता संनिविष्ट हैं[4]। इन देवताओं को वे उसी प्रकार घेरे हुए हैं जैसे एक चक्र अपने अराओं को घेरे रहता है[5]। हो सकता है कि अग्नि की उपासना पहले-पहल भूत, प्रेतों एवं जादू-टोना को कीलने के निमित्त की जाती हो। यह आदिमकालीन धारणा ही वेद में अखंडरूपेण चली आ रही होगी। क्योंकि कहा गया है कि अग्नि अपनी चमक से राक्षसों को भगा देते हैं[6]। फलतः उन्हें 'रक्षोहन्' यह विशेषण भी मिला है[7]। समिद्ध होकर वे राक्षसों और यातुधानों को अपने आयस दांतों से बुड़कते और अपनी ज्वालाओं से उन्हें भुलस देते हैं[8]। वे अपनी ज्वलन्त दृष्टि से यज्ञ की रक्षा करते हैं। वे यातुधानों की सभी जातियों को चीन्हते और उन्हें नष्ट करते हैं[9]। यद्यपि पार्थिव दानवों को मारने का कार्य अग्नि के साथ-साथ इन्द्र, बृहस्पति, अश्विन् और विशेषतया सोम भी करते हैं, तथापि मुख्यरूपेण इसका उत्तरदायित्व अग्नि पर ही है। जिस प्रकार असुरों और अन्तरिक्षस्थ दानवों के वध का कार्य,

1. स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
   स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्। अथ॰ 13.3.13.
2. त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
   त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरंध्या॥ ऋ॰ 2.1.3. आदि
   अन्यदन्यदसुर्यं१ वसाना नि मायिनो ममिरे रूपमस्मिन्। ऋ॰ 3.38.7.
3. अग्ने भूरीणि तव जातवेदो देव स्वधावोऽमृतस्य नाम। ऋ॰ 3.20.3.
4. त्वे विश्वे सहस्पुत्र देवाः। ऋ॰ 5.3.1.
5. अग्ने नेमिरराँ इव देवाँस्त्वं परिभूरसि। ऋ॰ 5.13.6.
6. वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः। ऋ॰ 3.15.1.
7. रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि। ऋ॰ 10.87.1.
8. दे॰ 10.87.2. पृ॰ 225.
   अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
   प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोतु वृक्णम्। ऋ॰ 10.87.5.
   परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि। ऋ॰ 10.87.14.
   तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञम्। ऋ॰ 10.87.9.
9. यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः।
   तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने॥ अथ॰ 1.8.4.

जो वस्तुतः इन्द्र के साथ संबद्ध है, अग्नि में निक्षिप्त कर दिया गया है[1], उसी प्रकार यहां भी कार्य-विपर्यय हो गया है। इसका संकेतन इस तथ्य से हो जाता है कि सूक्तों और कर्मकांड में अग्नि को इन्द्र की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा 'रक्षोहन्ता' माना गया है।

मनुष्य जीवन के साथ अग्नि का संपर्क अन्य देवों की अपेक्षा कहीं अधिक संनिकट है। मनुष्यों के आवासों से उनका संबंध, सच पूछिए तो, अटूट-जैसा है। वे ही एक ऐसे देवता हैं जिनके लिए गृहपति विशेषण का बारंबार प्रयोग हुआ है। वे हर आवास में निवास करते हैं[2] त्रिकाल में भी वे अपने घर को नहीं छोड़ते[3]। 'दमूनस्' विशेषण व्यापक रूप से अग्नि ही के लिए आया है[4]। गृह-देवता के नाते हो सकता है, अग्नि इससे भी कहीं अधिक प्राचीन विचार-कोटि से संबद्ध रहे हों; क्योंकि परवर्ती विस्तृत कर्मकांड में प्रयुक्त होनेवाले तीन अग्नियों में से जिस एक अग्नि से अन्य दोनों अग्नियों का आविर्भाव माना गया है उसे 'गार्हपत्य' संज्ञा दी गई है। यहां यह बता देना उपयुक्त होगा कि ऋग्वेदकाल ही में यज्ञाग्नि को स्थानान्तर से लाया गया माना जाता था, क्योंकि अग्नि का परिणयन होता है[5], वे हव्य की परिक्रमा करते हैं[6] अथवा यों कहिए कि वे यज्ञ की तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं[7] और ज्यों ही वे अपने माता-पिता से विलग होते हैं, उन्हें पूर्व दिशा में तथा बाद में पश्चिम दिशा में ले जाया जाता है[8]।

अग्निदेव को मानवीय आवासों का प्रतिदिन का अतिथि बताया गया है। वे हर घर के अतिथि हैं[9]। वे बस्तियों के सर्वप्रथम अतिथि हैं[10]। वे अमर्त्य हैं

1. प्राग्नये विश्वशुचे धियं धेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्। ऋ० 7.13.1.
2. यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमेदमे। कविर्गृहपतिर्युवा॥ ऋ० 7.15.2.
3. अग्ने जरितर्विश्पतिस्तेपानो देव रक्षसः।
   अप्रोषिवान् गृहपतिर्महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः॥ ऋ० 8.60.19.
4. दमूना गृहपतिर्दम आँ अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणाम्। ऋ० 1.60.4.
5. स सद्म परि णीयते होता मन्द्रो दिविष्टिषु। उत पोता नि षीदति॥ ऋ० 4.9.3.
   अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन्परि णीयते। देवो देवेषु यज्ञियः॥ ऋ० 4.15.1.
6. परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे॥ ऋ० 4 15.3.
7. पर्यग्निः पशुपा न होता त्रिविष्ट्येति प्रदिव उराणः। ऋ० 4.6.4.
   परि त्मना मितद्रुरेति होताऽग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा। ऋ० 4.6.5.
   परि त्रिविष्ट्यध्वरं यात्यग्नी रथीरिव। आ देवेषु प्रयो दधत्॥ ऋ० 4.15.2.
8. श्वात्रेण यत्पित्रोर्मुच्यसे पर्या त्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः। ऋ० 1.31.4.
9. स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे। ऋ० 10.91.2.
10. त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे। ऋ० 5.8.2.

(अमर्त्य शब्द का प्रयोग अग्नि के लिए अन्य देवों की अपेक्षा अधिक व्यापक मात्रा में हुआ है) और उन्होंने मर्त्यों के मध्य अपना डेरा डाला है। वे मानवीय बस्तियों में स्थापित किये गये हैं[1]। सच पूछो तो इस दमूना अग्नि ने ही मनुष्यों को बसाया है[2] वे आवासियों के नेता[3] एवं उनके संरक्षक हैं[4]। 'विश्वपति' यह विशेषण प्रधानतः उन्हीं के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अग्निदेव को मनुजात का घनिष्ठ संबन्धी, केवल संबन्धी[5] अथवा मित्र[6] बताया गया है। किन्तु अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा अधिक बार उन्हें पिता की संज्ञा दी गई है[7]। कभी-कभी उन्हें उपासकों का भाई, पुत्र और माता तक कह दिया गया है[8]। इन विशेषणों से अग्नि के विषय में अति प्राचीन धारणा का आभास मिलता है। और यह धारणा उस काल की दीखती है जबकि अग्नि का यज्ञ के साथ संबन्ध अभी आरम्भ ही हो रहा था और जबकि वे मानवीय गृह्य-जीवन के अक्षय केन्द्र थे। और इस आरम्भिक धारणा के अनुसार अग्नि के साथ मानव मात्र का संनिकट संबन्ध बना होना सुतरां स्वाभाविक था।

घरों में अग्निदेव के अविराम उपस्थित रहने से उसका भूतकाल के साथ संपर्क अन्य देवों की अपेक्षा कहीं अधिक घना बनकर उभरता है। फलतः उपासक की पैतृक मित्रता अन्य देवों की अपेक्षा अग्नि के साथ कहीं अधिक स्पष्ट संपन्न हुई है[9]। अग्निदेव को पूर्व पितरों ने समिद्ध किया था, उन्होंने उनकी अर्चना की थी।

---

1. दे० 3.5.3. पृ० 169.
   अमूरो होतान्यसादि विक्ष्व१ग्निर्मन्द्रो विदथेषु प्रचेताः। ऋ० 4.6.2.
2. प्रति मर्ताँ अवासयो दमूना। ऋ० 3.1.17.
3. अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः। ऋ० 3.2.5.
4. दे० 1.96.4. पृ० 171.
5. यो नो नेदिष्ठ माप्यम्। ऋ० 7.15.1.
   त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं नक्षामहे वृधे। ऋ० 8.60.10.
   आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्यः।॥ ऋ० 1.26.3.
6. त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।
   सखा सखिभ्य ईड्यः॥ ऋ० 1.75.4.
7. त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्। ऋ० 6.1.5.
8. अग्ने भ्रातः सहस्कृत रोहिदश्व शुचिव्रत। ऋ० 8.43.16.
   अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्। ऋ० 10.7.3.
   त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत्। ऋ० 2.1.9.
   दे० 6.1.5. ऊपर
9. मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि प्र मर्षिष्ठा अभि विदुष्कविः सन्। ऋ० 1.71.10.

इस संबन्ध में भरत[1], वध्र्यश्व[2], देववात[3], दिवोदास, और त्रसदस्यु[4] की अग्नियों का उल्लेख गौरव के साथ किया गया है। पितरों के नाम—जिनके साथ अग्नि के नामों का कभी-कभी तादूप्य हो गया है—अंशतः ऋग्वेदीय कवियों के कुल-नाम हैं। इनमें से कतिपय नाम जैसेकि वशिष्ठ—ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं, किंतु अन्य नाम जैसेकि अंगिरस और भृगु—हो सकता है, निरे गाथिक हों।

अग्निदेव का मनुष्य के प्रतिदिन के याज्ञिक जीवन के साथ उभरा हुआ संबन्ध भी ध्यान देने योग्य है। वे यज्ञिय हविष् के स्वीकर्ता ही नहीं, अपितु पृथिवी और स्वर्ग को परस्पर मिलानेवाले भी हैं। वे हविष् को देवताओं तक लेजानेवाले हैं। इसके बिना देवता तृप्त नहीं होते[5]। इसके साथ ही वे देवताओं को भी यज्ञ में लाते और यज्ञ को देवताओं तक पहुंचाते भी हैं[6]। वे देवताओं को हविष्-भक्षण के लिए बर्हि पर ला बिठाते हैं[7]। वे देवताओं और पृथिवी दोनों की ओर जानेवाले पथों पर अग्रसर रहते हैं[8] क्योंकि इन पथों के जानकार वे ही अकेले हैं[9]। फलतः उन्हें बारबार 'दूत' कहा गया है; ऐसे दूत जो पथों के ज्ञाता हैं और हव्य के वोढा हैं[10]। उनकी मानव-मात्र के आवास में पहुंच है,[11] वे तेजी से उड़ते[12]

1. श्रेष्ठं यविष्ठ भारताग्ने द्युमन्तमा भर। वसो पुरुस्पृहं रयिम्। ऋ० 2.7.1.
   प्र प्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे। ऋ० 7.8.4.
2. भद्रा अग्नेर्वध्र्यश्वस्य संदृशो वामी प्रणीतिः सुरणा उपेतयः। ऋ० 10.69.1.
3. अग्निं स्तुहि दैववातं देवश्रवो यो जनानामसद् वशी। ऋ० 3.23.3.
4. तमागन्म सोभरयः सहस्रमुष्कं स्वभिष्टिमवसे। सम्राजं त्रासदस्यवम्॥ ऋ० 8.19.32.
5. महाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतो न ऋते त्वदमृता मादयन्ते। ऋ० 7.11.1.
   दे० 3.14.2. पृ० 229.
6. आग्ने वह हविरद्याय देवा निन्द्रज्येष्ठास इह मादयन्ताम्।
   इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ऋ० 7.11.5.
7. अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम्। ऋ० 1.31.17.
   अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ आ सादयादिह॥ ऋ० 8.44.3.
   एह देवान् हविरद्याय वक्षि। ऋ० 5.1.11.
8. विद्वान् पथ ऋतुशो देवयानानप्यौलानं दिवि देवेषु धेहि। ऋ० 10.98.11.
   यदङ्ग तविषीयवो यामं शुभ्रा अचिध्वम्। नि पर्वता अहासत॥ ऋ० 8.7.2.
9. वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा। ऋ० 6.16.3.
10. विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनां व्यानुषक् छुरुधो जीवसे धाः।
    अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट्॥ ऋ० 1.72.7.
11. स दूतो विश्वेदभि वष्टि सद्मा। ऋ० 4.1.8.
12. शूषेभिर्वृधो जुषाणो अर्कैर्देवाँ अच्छा रघुपत्वा जिगाति। ऋ० 10.6.4.

और पृथिवी एवं स्वर्ग के मध्य अबाध विचरण करते हैं[1]। वे देवताओं[2] एवं मनुष्यों द्वारा[3] उद्भावित किये गये[4] अपने हव्यवाट् रूप में उपासकों[5] की स्तुति को घोषित करने के निमित्त और देवताओं को यज्ञ-वेदी तक लाने के निमित्त नियुक्त किये गये हैं[6]। न केवल देवताओं के अपितु वे विवस्वान् के भी संदेशवाहक हैं[7]। किंतु स्वर्ग के अन्तरतम से परिचित होने के कारण, वहां तक हव्य को ले-जाने और देवताओं को मानवों की यज्ञ-वेदी तक लाने[8] के कारण उन्हें मुख्यतः मनुष्यों ही का दूत माना गया है। एक उत्तरकालीन ग्रन्थ में आता है कि अग्नि देवों के दूत हैं और वे काव्य उशनस् या दैव्य असुर-दूत हैं[9]। एक दूसरे ग्रन्थ में आता है कि अग्नि दूत नहीं, प्रत्युत उस देवयान के नेता हैं, जिस पर चलकर मानव स्वर्ग-शृंग पर पहुंच सकता है।

यज्ञ-चालक होने के नाते अग्नि पार्थिव पुरोहित भी माने गये हैं। फलतः व्यापक रूप से उन्हें ऋत्विज्, विप्र, पुरोहित और होता की संज्ञा दी गई है। वे मनुष्यों और देवताओं के द्वारा नियुक्त किये होता हैं[10]। होतृगणों के वे मूर्धन्य एवं पूज्य हैं[11]। उन्हें अध्वर्यु भी कहा गया है[12] और बृहस्पति, सोम और इन्द्र की

1. वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वानुभे अन्ता रोदसी संचिकित्वान्। ऋ० 4.7.8.
   स होता सेदु दूत्यं चिकित्वाँ अन्तरीयते। विद्वाँ आरोधनं दिवः। ऋ० 4.8.4.
   दूतो देवानामसि मर्त्यानामन्तर्महाँश्चरसि रोचनेन। ऋ० 10.4.2.
2. इह त्वं सूनो सहसो नो अद्य जातो जाताँ उभयाँ अन्तरग्ने। ऋ० 4.2.2.
   अन्तरीयसे अरुषा युजानो युष्मांश्च देवान् विश आ च मर्तान्। ऋ० 4.2.3.
3. यं त्वा देवा दधिरे हव्यवाहं पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम्। ऋ० 10.46.10.
4. त्वामग्ने समिधानं यविष्ठ्य देवा दूतं चक्रिरे हव्यवाहनम्। ऋ० 5.8.6.
5. इमम् षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम्। अग्ने देवेषु प्र वोचः। ऋ० 1.27.4.
6. स हि वेदा वसुधितिं महाँ आरोधनं दिवः। स देवाँ एह वक्षति। ऋ० 4.8.2.
7. दूतो देवानां रजसी समीयसे। ऋ० 6.15.9.
8. दे० 4.7.8., 4.8.2. ऊपर।
9. अग्निर्देवानां दूत आसीदुशना काव्योऽसुराणाम्। तै० सं० 2.5.8.5.
   अग्निर्देवानां दूत आसीद् दैव्योऽसुराणाम्। तै० सं० 2.5.11.8.
10. अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे। ऋ० 8.60.1.
    बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त विक्षु होतारं न्यसादयन्त। ऋ० 10.7.5.
    त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने। ऋ० 6.16.1.
11. त्वं होतॄणामस्यायजिष्ठ। ऋ० 10.2.1.
    मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतमं मतिम्। ऋ० 10.91.8.
12. मित्रो अध्वर्युरिषिरो दमूना मित्रः सिन्धूनामुत पर्वतानाम्। ऋ० 3.5.4.

भांति उन्हें ब्रह्मा की संज्ञा भी मिली है[1]। सच पूछो तो वे उपर्युक्त तथा अन्य पुरोहितों के कार्य-कलाप को अपने में समाहित करके विराजते हैं[2]। देवताओं के स्तवन एवं पूजन के लिए उन्हें बराबर आमंत्रित किया गया है[3], यहां तक कि देव-गण भी अग्नि का दिन में तीन बार समादर करते हैं[4]। वे ऋत के और ऋत पर आश्रित यज्ञ के विधाता हैं[5], अपनी आसुरी माया से वे इनकी अभिवृद्धि करते हैं[6]। वे हव्य को सुवासित करते[7] और उसे देवताओं तक ले-जाते हैं[8]। वे यज्ञ के पिता[9] राजा[10], शासक, निरीक्षक और केतु[11] हैं। एक सूक्त (10.51) में कथा आती है कि एक बार अग्नि को अपने इन कामों से थकान आ गई और उन्होंने इनसे हाथ सिकोड़ लिया। इस पर देवताओं ने उन्हें पारिश्रमिक देने का प्रलोभन दिया। तब जाकर अग्नि ने मनुष्यों का परम पुरोहित बनकर अपना क़दीमी कार्य करना प्रारम्भ किया। अग्नि की सबसे बड़ी विशेषता उनका पौरोहित्य है। सच पूछो तो जिस प्रकार इन्द्र महान् योद्धा हैं वैसे ही अग्नि महान् पुरोहित हैं। किंतु यद्यपि अग्नि की यह विशेषता ऋग्वेद में आद्योपान्त उल्लसित संपन्न हुई है तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से यह अपेक्षाकृत परवर्तीकाल की है। हव्यवाट् अग्नि से क्रव्याद् (शव-भक्षक) अग्नि को भिन्न दिखाया गया है। वाजसनेयि संहिता में अग्नि के तीन रूपों में भी विभेद किया गया है—आमाद (कच्चा मांस भक्षण करनेवाला) क्रव्याद् और

1. उत ग्ना अग्निरध्वर उतो गृहपतिर्दमे। उत ब्रह्मा नि षीदति। ऋ० 4.9.4.
2. त्वमध्वर्युरुत होतासि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः। ऋ० 1.94.6.
   तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
   तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥ ऋ० 2.1.2.
3. अच्छा वो अग्निमवसे देवं गासि स नो वसुः। ऋ० 5.25.1.
   अग्ने दिवः सूनुरसि प्रचेतास्तना पृथिव्या उत विश्ववेदाः।
   ऋधग्देवाँ इह यजा चिकित्वः॥ ऋ० 3.25.1.
   मनुष्वदग्न इह यक्षि देवान्। ऋ० 7.11.3.
4. यं देवासस्त्रिरहन्नायजन्ते। ऋ० 3.4.2.
5. केतुं यज्ञानां विदथस्य साधनं विप्रासो अग्निं महयन्त चित्तिभिः। ऋ० 3 3.3.
   ईळे अग्निं विपश्चितं गिरा यज्ञस्य साधनम्। श्रुष्टीवानं धितावानम्॥ ऋ० 3.27.2.
6. होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया। विदथानि प्रचोदयन्॥ ऋ० 3.27.7.
7. त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। ऋ० 10.15.12.
8. अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति॥ ऋ० 1.1.4.
9. पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम् ऋ० 3.3.4.
10. आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः। ऋ० 4.3.1.
11. ईशे यो विश्वस्या देववीतेः। ऋ० 10.6.3.

हव्यवाट्[1] । तैत्तिरीय संहिता में भी अग्नि के तीन भेद दिखाये गये हैं—देवताओं के पास हव्य ले-जानेवाले अग्नि को 'हव्यवाहन', अन्त्येष्टि-संस्कार में निक्षिप्त पदार्थों को ले-जानेवाले अग्नि को 'क्रव्यवाहन' और राक्षसों से संपृक्त अग्नि को 'सहरक्षस्' बताया गया है।

अग्नि ऋषि भी हैं और पुरोहित भी[2] । वे मूर्धन्य ऋषि के रूप में समिद्ध होते हैं,[3] वे सबसे बड़े यशस्वी ऋषि हैं[4], वे प्रथम ऋषि अंगिरस् हैं[5] । वे ऋषियों के भी दिव्य ऋषि हैं[6] । अग्निदेव यज्ञों के मर्मज्ञ हैं[7] । वे ऋत के अशेष रहस्यों को देखे हुए हैं[8] । ऋतुओं के विदग्ध पंडित होने के नाते वे देवताओं के यज्ञ-विधानों से अपरिचित मनुष्यों की त्रुटियों को क्षमा कर देते हैं[9] । वे स्वर्ग के अन्तराल को देखे हुए हैं[10] । अपनी प्रज्ञा से वे सभी कुछ जानते हैं[11] । उनमें सारे ही ज्ञान-विज्ञान संनिहित हैं[12] । इन सबको वे उसी प्रकार परिवेष्टित किये हुए हैं जैसे नेमि चक्र

विशां राजानमद्भुतमध्यक्षं धर्मणामिमम् । अग्निमीळे स उ श्रवत् । ऋ० 8.43.25.
दे० 3.3.3. पृ० 250.
स केतुरध्वराणामग्निर्देवेभिरागमत् । ऋ० 3.10.4.
दे० 6.2.3. पृ० 238.
होतारं चित्ररथमध्वरस्य यज्ञस्ययज्ञस्य केतुं रुशन्तम् । ऋ० 10.1.5.

1. धृष्टिरस्यपाऽग्नेऽअग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादं सेधा देवयजं वह । वा० सं० 1.17.
2. अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । ऋ० 9.66.20.
3. ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव । ऋ० 3.21.3.
4. अग्निरिद्धि प्रचेता अग्निर्वेधस्तमऋषिः । ऋ० 6.14.2.
5. त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः । ऋ० दे० 1.31.1.
6. दे० 3.3.4. पृ० 250.
7. आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः । ऋ० 10.110.1.
8. जुषाणो अग्ने प्रति हर्य मे वचो विश्वानि विद्वान् वयुनानि सुक्रतो । ऋ० 10.122.2.
9. यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः ।
   अग्निष्टद् विश्वमा पृणाति विद्वान् येभिर्देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति ॥ ऋ० 10.2.4.
   यत्पाकत्रा मनसा दीनदक्षा न यज्ञस्य मन्वते मर्त्यासः ।
   अग्निष्टद्धोता क्रतुविद्विजानन् यजिष्ठो देवाँ ऋतुशो यजाति ॥ ऋ० 10.2.5.
10. दे० 4.8.2., 4.8.4. पृ० 249.
11. विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया । ऋ० 10.11.1.
    अग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित् । ऋ० 10.91.3.
12. आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान् । ऋ० 3.1.17.
    अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या । ऋ० 10.21.5.

को[1]; इस अनूठी ऋद्धि-सिद्धि को उन्होंने उत्पन्न होते ही पा लिया था[2]। वे 'विश्वविद्' हैं। 'विश्ववेदस्', 'कवि' और 'कविक्रतु' विशेषण प्रमुखरूप से अग्नि के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। 'जातवेदस्' विशेषण केवल अग्नि के साथ आया है। यह ऋग्वेद में लगभग 120 बार आता है और वहां[3] इसकी व्याख्या मिलती है:— 'विश्वा वेद जनिमा'। वे दिव्य विधानों और मानव-जनिमाओं के ज्ञाता हैं[4]। वे सभी प्राणियों को परखते और देखते हैं[5]। अपने निमित्त किये गये आह्वानों को वे प्रेम से सुनते हैं[6]। अग्नि प्रज्ञा के जनक हैं। सच पूछो तो प्रज्ञा और प्रशंसा उन्हीं से उत्पन्न होती हैं[7]। वे भास्वर वाणी के प्रेरक हैं और उसके आविष्कर्ता हैं[8]। स्तुति के प्रथम आविष्कर्ता वे ही हैं[9]। उन्हें जरिता अथवा कारु भी कहा गया है।

अग्नि अपने उपासकों के सहज हितैषी हैं। वे सौ अयोनिर्मित दुर्गों द्वारा उनकी रक्षा करते हैं[10]। वे उन्हें विपदाओं से बचाते हैं और आपत्तियों के बीच से वैसे ही ले-जाते हैं जैसेकि एक नाविक नाव में बैठाकर यात्रियों को समुद्र के उस पार ले-जाता है[11]। वे मुक्तिदाता हैं और अपने आतिथेय के सखा

---

1. परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवा भवत्। ऋ० 2.5.3.
2. स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बळधत्त विश्वा। ऋ० 1.96.1.
3. विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः। ऋ० 6.15.13.
4. आ दैव्यानि व्रता चिकित्वाना मानुषस्य जनस्य जन्म। ऋ० 1.70 1.
   देवानां जन्म मर्तांश्च विद्वान्। ऋ० 1.70.3.
5. अग्निषा विश्वा भुवनानि वेद। ऋ० 3.55.10.
   यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। ऋ० 10.187.4.
6. तं त्वा वयं हवामहे शृण्वन्तं जातवेदसम्। ऋ० 8.43.23.
7. त्वदग्ने काव्या त्वन्मनीषा त्वदुक्था जायन्ते राध्यानि। ऋ० 4.11.3.
   प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरा अमूरं पुरां दर्माणम्।
8. नयन्तो गर्भं वनां धियं धुर्हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम्॥ ऋ० 10.46.5
   त्वं शुक्रस्य वचसो मनोता। ऋ० 2.9.4.
9. त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता। ऋ० 6.1.1.
10. तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि। ऋ० 7 3.7.
    ताँ अंहसः पिपृहि पर्तृभिष्ट्वं शतं पूर्भिर्यविष्ठ्य। ऋ० 7.16.10.
    शतं पूर्भिर्यविष्ठ पाह्यंहसः समेद्धारं शतं हिमाः स्तोतृभ्यो ये च ददति। ऋ० 6.48.8.
    अग्ने त्वं पारया नव्यो अस्मान् त्स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा। ऋ० 1.189.2.
11. स वृत्रहा सनयो विश्ववेदाः पर्षद् विश्वाति दुरिता गृणन्तम्। ऋ० 3.20 4.
    विश्वानि नो दुर्गहा जातवेदः सिन्धुं न नावा दुरितानि पर्षि। ऋ० 5.4.9.
    स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः। ऋ० 7.12.2.

हैं[1]। जो याज्ञिक उनके निमित्त समित्कुश जुटाने में स्वेद बहाता है उसकी सुरक्षा में वे कटिबद्ध रहते हैं[2]। वे सहस्र नेत्रों से उस मनुष्य की ओर निहारते हैं जो उनके लिए भोज्य लाता है और उन्हें हव्य द्वारा समृद्ध करता है[3]। वे सूखे झाड़ों की न्याईं अपने उपासकों के शत्रुओं को भस्मसात् कर डालते हैं[4] और पणियों (मनुष्यों) को वैसे ही पीस डालते हैं जैसे वृक्ष को विद्युत् मसल डालती है[5]। फलतः युद्ध में उनका आह्वान किया जाता है[6] और वे वहां आकर सैन्य की ध्वज का नेतृत्व करते हैं। जिस मनुष्य को वे युद्ध में बढ़ावा देते और सुरक्षित करते हैं, वह सभी-कुछ जीत लेता है और उसका बाल भी बांका नहीं होता[7]। सभी आनन्द उनसे प्रादुर्भूत होते हैं जैसे वृक्ष से शाखाएं[8]। वे द्रविण के दाता हैं और धनधान्य भूरि-भूरि उनके अधीन हैं[9]। सभी प्रकार के धन उनमें संनिहित हैं[10] और वे प्रसन्न होकर धन के द्वार को भक्तों के लिए खोल देते हैं[11]। स्वर्ग और पृथिवी[12] में अथवा पृथिवी, स्वर्ग और सागर में मिलनेवाले समस्त धन के वे ही अधिपति हैं[13]। वे

त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतस्कविः। ऋ० 8.60.5.

1. तस्य त्राता भवसि तस्य सखा यस्त आतिथ्यमानुषग् जुजोषत्। ऋ० 4.4.10.
2. यस्त इध्मं जभरत्सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया।
   भुवस्तस्य स्वतवाँ पायुरग्ने विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य॥ ऋ० 4.2.6.
3. यो अस्मा अन्नं तृष्वा३दधात्याज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति।
   तस्मै सहस्रमक्षभिर्विचक्षेऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङसि त्वम्॥ ऋ० 10.79.5.
4. यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्षयतसं न शुष्कम्। ऋ० 4.4.4.
5. पच्येव राजन्नघशंसमजर नीचा नि वृश्च वनिनं न तेजसा। ऋ० 6.8.5.
   अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
   स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः॥ अथ० 3.2.1.
6. समत्सु त्वा हवामहे। ऋ० 8.43.21.
7. यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः॥ ऋ० 1.27.7.
8. त्वद् विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वि यन्ति वनिनो न वयाः। ऋ० 6.13.1.
9. अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्॥ ऋ० 1.1.3.
   सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य। ऋ० 1.31.10.
   विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः। ऋ० 1.36.4.
10. सं यस्मिन् विश्वा वसूनि जग्मुः। ऋ० 10.6.6.
11. वि राय और्णोद् दुरः पुरुक्षुः। ऋ० 1.68.10.
12. त्वमस्य क्षयसि यद्ध विश्वं दिवि यदु द्रविणं यत्पृथिव्याम्। ऋ० 4.5.11.
13. आ देवो ददे बुध्न्या३वसूनि वैश्वानर उदिता सूर्यस्य।
    आ समुद्रादवरादा परस्मादाग्निर्ददे दिव आ पृथिव्याः। ऋ० 7.6.7.

स्वर्ग से वृष्टि प्रदान करते हैं[1] । वे मरुभूमि में ह्रद या स्रोत के समान हैं[2] । फलतः उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमें हर प्रकार का वर प्रदान करें, भोजन दें, धन दें, निर्धनता, निरपत्यता, शत्रु और राक्षस से हमें बचावें । अग्नि से मिलनेवाले वरों में कुछ ये हैं : पारिवारिक क्षेम, अपत्य और संपत्ति, जबकि इन्द्र से मिलनेवाले दान हैं—शक्ति, विजय और ख्याति । अग्नि अज्ञान से किये पापों को भी क्षमा करते हैं और अदिति के समक्ष मानव को निरपराध दिखाते हैं[3] । वरुण के अमर्ष को वे ही प्रशान्त करते हैं[4] । पिता-माता द्वारा किये द्रुग्ध अर्थात् क्रोधजन्य पापों से भी वे त्राण दिलाते हैं[5] ।

इन्द्र दिव्य (असुर) सम्राट् हैं, वे इन्द्र के समान बलवान् हैं[6] । उनकी गरिमा स्वर्ग को भी लांघ गई है[7] । वे पृथिवी और स्वर्ग से भी अधिक महान् हैं[8] । वे सभी लोकों से बड़े हैं, जिन्हें उन्होंने उत्पन्न होते ही परिवेष्टित कर लिया था[9] । गरिमा में वे अन्य सभी देवों से बढ़-चढ़कर हैं[10] । जब वे अन्धकार में होते हैं तब सभी देवता भयभीत रहते और उनका गुण-गान करते हैं[11] । वरुण, मित्र,

---

वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेकइद् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः । ऋ० 10.91.3.

1. स नो वृष्टिं दिवस्परि स नो वाजमनर्वाणम् । स नः सहस्रिणीरिषः ॥ ऋ० 2.6.5.
2. धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्ने । ऋ० 10.4.1.
3. यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाऽचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः ।
   कृधीष्व१स्माँ अदितेरनागान् व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने ॥ ऋ० 4.12.4.
   सो अग्न एना नमसा समिद्धोऽच्छा मित्रं वरुणमिन्द्रं वोचेः ।
   यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळ तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु ॥ ऋ० 7.93.7.
4. त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः । ऋ० 4.1.4.
5. यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत् । उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामिते ॥
   अथ० 5.30.4.
   यन्मयि माता गर्भे सति । एनश्चकार यत्पिता । अग्निर्मा तस्मादेनसः ।
   (गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु) । तै० ब्रा० 3.7.12.3,4.
6. प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य ।
   इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दे दारुं वन्दमानो विवक्मि ॥ ऋ० 7.6.1.
7. दिवश्चित्ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे महित्वम् । ऋ० 1.59.5.
8. आ रोदसी अपृणा जायमान उत प्र रिक्था अध नु प्रयज्यो । ऋ० 3.6.2.
   यो महिम्ना परिबभूवोर्वी उतावस्तादुत देवः परस्तात् । ऋ० 10.88.14.
9. जात आपृणो भुवनानि रोदसी अग्ने ता विश्वा परिभूरसित्मना । ऋ० 3.3.10.
10. परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद्देवो देवानां महित्वा । ऋ० 1.68.2.
11. विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम् । ऋ० 6.9.7.

मरुत् एवं अन्य सभी देवता उनकी उपासना में रत रहते हैं[1]। अग्नि ने प्राचीन महान् कार्यों को किया था[2]। उनके शौर्य-कृत्यों को देख मानव कांप उठते हैं। युद्ध में देवों को उन्होंने सहारा दिया था[3] और उन्होंने ही देवताओं को अभिशाप से मुक्त किया था[4]। वे सहस्रजित हैं (यह विशेषण अधिक व्यापक रूप में सोम के लिए आता है)। वे दस्युओं के पराहन्ता हैं और इस प्रकार वे आर्यों के लिए उरु-ज्योति का प्रसार करते हैं[5]। वे आर्यों के रक्षक, वर्धक एवं अभिभावक हैं। अधार्मिक पणियों के वे पराकर्ता हैं[6]। उनके लिए कतिपय बार वृत्रघ्न और दो-तीन बार 'पुरंदर' यह विशेषण भी—जो मौलिकरूप में इन्द्र के लिए उपयुक्त है—प्रयुक्त हुए हैं। युद्ध संबन्धी ये गुण—जोकि अग्नि के लिए उनके वैद्युत स्वरूप में ही उपयुक्त हैं—निःसंदेह इन्द्र के चरित्र से उधार लिये गये हैं जिनके साथ कि अग्नि का पुनः-पुनः संबन्ध उभारा गया है।

यद्यपि अग्नि, स्वर्ग और पृथिवी के तनय हैं तथापि उन्हें दोंनों लोकों का जनक भी बताया गया है[7]। उनके अकाट्य विधानों का स्वर्ग और पृथिवी अनुगमन करते हैं[8]। उन्होंने इन विधानों का प्रसार किया है अथवा उन्हें दो चर्मों की तरह बिछाया है[9]। अपनी ज्वालाओं से उन्होंने द्युलोक को धारण कर रखा है[10]। दोनों लोकों को वे ही पृथक्-पृथक् विधारण किये हुए हैं[11]। उन्होंने द्यावा-पृथिवी को शाश्वत स्तोत्रों द्वारा धारण कर रखा है[12]। वे विश्व के मूर्धा पर

---

1. मित्रश्च तुभ्यं वरुणः सहस्वोऽग्ने विश्वे मरुतः सुम्नमर्चन्। ऋ० 3.14.4.
   देवाश्चित्ते अमृता जातवेदो महिमानं वाग्यश्च प्र वोचन्। ऋ० 10.69.9.
2. पुरंदरस्य गीर्भिरा विवासेऽग्नेर्व्रतानि पूर्व्या महानि। ऋ० 7.6.2.
3. युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ। ऋ० 1.59.5.
4. त्वं देवाँ अभिशस्तेरमुञ्चः। ऋ० 7.13.2.
5. त्वं दस्यूँरोकसोअग्न आज उरुज्योतिर्जनयन्नार्याय। ऋ० 7.5.6.
6. दे० 7.6.3. पृ० 244.
7. दे० 1.96.4. पृ० 171.
   त्वं भुवना जनयन्नभि क्रन्नपत्याय जातवेदो दशस्यन्। ऋ० 7.5.7.
   यस्य व्रतं न मीयते। ऋ० 2.8.3.
8. तव त्रिधातु पृथिवी उत द्यौर्वैश्वानर व्रतमग्ने सचन्त। ऋ० 7.5.4.
9. वि चर्मणीव धिषणे अवर्तयद्। ऋ० 6.8.3.
10. दे० 3.5.10. पृ० 171.
    मेतेव धूमं स्तभायदुपद्याम्। ऋ० 4.6.2.
11. व्यस्तभ्नाद् रोदसी मित्रो अद्भुतः। ऋ० 6.8.3.
12. अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः। ऋ० 1.67.3.

विराजमान हैं और रात्रि के समय वे ही पृथिवी के मूर्धा हैं[1]। साथ ही वे आकाश के भी मूर्धा एवं ककुद् हैं[2]। उन्होंने वायु को मापा है और अपनी गरिमा से स्वर्ग के नाक को छू लिया है[3]। उन्होंने वायुलोक और भास्वर स्वर्गलोक को मापा है[4]। उन्होंने सूर्य को आकाश में आरूढ़ किया है[5]। समिधान अग्नि सूर्योदय पर जादू का-सा प्रभाव डालते हैं, यह धारणा भी ऋग्वेद में काम करती है। कवि का तात्पर्य ऐसी उक्तियों में यही प्रतीत होता है :—'हम अग्नि को समिद्ध करें, जिससे तेरा आश्चर्यमय स्फुलिङ्ग स्वर्ग में प्रकाशित हो[6]।' यह भावना एक ब्राह्मण में और अधिक स्पष्ट बन जाती है :—'सूर्योदय के पूर्व यज्ञ करके उसने सूर्य को उदित किया, नहीं तो सूर्य का उदय ही न हो पाता[7]।' अग्नि का समिन्धन और सूर्य का उदय ऋग्वेद में दोनों साथ-साथ होते दिखाये गये हैं :—'जब अग्नि का जन्म हुआ तब सूर्य भी दृष्टिगोचर हुआ[8]। अग्नि-गाथा की यह विशेषता इन्द्र-गाथा में आई सूर्य-विजय के सदृश है, किंतु दोनों गाथाओं में निहित मौलिक दृष्टिकोण स्पष्टतः एक दूसरे से भिन्न है। अग्नि के लिए कहा गया है कि उन्होंने आकाश को नक्षत्रों से विभूषित किया है[9]। उड़नेवाले, चलनेवाले, स्थित रहने-वाले या चर सभी की उन्होंने रचना की है[10]। उन्होंने इन प्राणियों[11] में, वन-स्पतियों तथा सभी प्राणियों में गर्भ धारण कराया और स्त्री तथा पृथिवी से

---

1. यज्जातवेदो भुवनस्य मूर्धन्नतिष्ठो अग्ने सह रोचनेन। ऋ० 10.88.5.
   दे० 10.88.6. पृ० 238.
2. मूर्धा दिवो नाभिरग्निः पृथिव्या अथाभवदरती रोदस्योः। ऋ० 1.59.2.
   मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्। ऋ० 6.7.1.
   दे० 8.44.16. पृ० 239.
3. दे० 6.8.2. पृ० 237.
4. वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः। ऋ० 6.7.7.
5. अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि। ऋ० 10. 156.4.
6. आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
   यद्ध स्या ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ऋ० 5.6.4.
7. अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति। प्रजनयत्येवैनमेतत्सोऽयं तेजो भूत्वा विभ्राजमान उदेति शश्वद्ध वै नोदियाद् यदस्मिन्नेतामाहुतिं न जुहुयात्। शत० ब्रा० 2.3.1.5.
   येनर्षयस्तपसा सत्रमास तेन्धाना अग्निं सुवराभरन्तः। तै० सं० 4.7.13.3.
8. आविः स्वरभवज्जाते अग्नौ। ऋ० 4.3.11.
9. पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूना। ऋ० 1.68.5.
10. स पतत्रीत्वरं स्था जगद् यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः। ऋ० 10.88.4.
11. स गर्भमेषु भुवनेषु दीधरत्। ऋ० 3.2.10.

अपत्य उत्पन्न किया[1]। एक स्थान पर कहा गया है कि अग्नि ने मनुष्यों के (इन) बच्चों को उत्पन्न किया है[2]; किंतु यह तो इस विचार का कि उन्होंने स्वर्ग, पृथिवी और जलों को उत्पन्न किया, विस्तार मात्र है। इसका आशय यह नहीं है कि वैदिक काल में सामान्यत: अग्नि को मानव जाति का पिता माना जाता था। अग्नि विशों के संरक्षक[3] और अमृतत्व के अधिपति[4] हैं, वे अपने उपासकों को इसी उत्तम अमरत्व का वर देते हैं[5]।

यद्यपि 'अग्नि' शब्द भायोरपीय है, (लै० इग्निस्; स्लैवानिक ओग्नि) किंतु इस नाम से मूर्ताग्नि की उपासना विशुद्ध भारतीय है। भारत-ईरानी-काल में यज्ञाग्नि सुविकसित कर्मकांड के केन्द्र-रूप में मिलता है जिसे संभवत: अथर्वन् नाम के पुरोहित अखंडरूपेण प्रज्वलित रखते थे। अग्नि का विग्रहवत्त्व और एक ऐसे महामहिम देव के रूप में इसकी उपासना, उस काल में विद्यमान रही होगी जो विशुद्ध था, प्रज्ञा-संपन्न था, भोज्य, अपत्य, मानसिक शक्ति और यश का दाता था, जो घर-द्वार का मित्र था और अपने उपासकों के शत्रुओं का विनाशक था। उसे अनेक रूपों में—जैसेकि विद्युत् के रूप में अथवा काष्ठ से उत्पन्न हुई अग्नि—पूजा जाता था। फिर भी यज्ञाग्नि-संस्था भायोरपीय काल की प्रतीत होती है क्योंकि इटली, ग्रीस, ईरान और भारत सभी देशों के निवासियों में देवताओं के निमित्त अग्नि में हव्य डालने की प्रथा विद्यमान थी। किंतु इस भूताग्नि का देवता के रूप में विग्रहवत्त्व अन्य देशों में, यदि कुछ हुआ भी था तो वह अत्यन्त निर्बल रह गया था।

अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति संभवत: गत्यर्थक√अज् से हुई है। फलत: इसका अर्थ होता है—'गतिमान्' जो भूताग्नि की गतिशीलता का बोधक है।

दिव्य अग्नि के विशेषणों में से कुछ में स्वतन्त्रता की-सी अवस्था पाई जाती है। वैश्वानर विशेषण ऋग्वेद में लगभग 60 बार आता है और दो अपवादों को छोड़कर इसका प्रयोग सर्वत्र अग्नि के लिए हुआ है। पांच मन्त्रों को छोड़कर इसके सारे ही प्रयोग 14 सूक्तों में मिलते हैं। अनुक्रमणी के अनुसार इन सभी प्रयोगों में देवता अग्नि वैश्वानर हैं। यह विशेषण ऋग्वेद में कहीं भी अग्नि से पृथक् नहीं हुआ है। इसका अर्थ है—'सभी मनुष्यों से संबद्ध' और यह जगदग्नि का बोधक प्रतीत होता है। अग्नि के वैश्वानर स्वरूप के निमित्त कहे गये सूक्त कभी-कभी मातरिश्वन्

---

1. अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
   अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्॥ ऋ० 10.183.3.
2. इमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्। ऋ० 1.96.2.
3. विशामधायि विश्पतिर्दुरोणे। ऋ० 7.7.4.
4. ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेः। ऋ० 7.4.6.
5. त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे। ऋ० 1.31.7.

और भृगु की गाथा की ओर निर्देश करते मिलते हैं जिस गाथा का अग्नि के स्वर्ग से अवतीर्ण होने की घटना के साथ संबन्ध है[1]। अग्नि वैश्वानर को एक बार मातरिश्वा भी बताया गया है[2]। निघण्टु में वैश्वानर को अग्नि का एक नाम बतलाया गया है। यास्काचार्य वैश्वानर पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं[3] :—याज्ञिक लोग अग्नि वैश्वानर का अर्थ सूर्य करते हैं जबकि शाकपूणि उससे इसी (पार्थिव) अग्नि को समझते थे। बाद में[4] अपना मत प्रकट करते हुए यास्क कहते हैं :—'यज्ञ और स्तुति को ग्रहण करनेवाला अग्नि वैश्वानर यह (पार्थिव) अग्नि है, और दो उच्चतर प्रकाशों (अर्थात् वायुस्थ और द्युस्थ अग्नि) के लिए इस विशेषण का प्रयोग प्रासङ्गिक मात्र है। कर्मकाण्ड-ग्रन्थों में वैश्वानर को अग्नि के एक स्वरूप-विशेष की तरह पृथक् कर लिया गया है[5]। तनूनपात् विशेषण अग्नि के नाम से पृथक् ऋग्वेद में आठ बार आता है और दो अपवादों[6] को छोड़कर यह आप्री सूक्तों के द्वितीय मन्त्र में प्रयुक्त हुआ है। आप्री सूक्त यज्ञ-संबन्धी आह्वान हैं, जिनमें अग्नि का अनेक नामों से आह्वान किया गया है और जिनमें पशु-बलि की चर्चा की गई है। यह शब्द निघण्टु (5.2) में एक स्वतन्त्र नाम की तरह आता है। यास्क द्वारा की गई इस शब्द की व्याख्याएं असंगत-सी हैं। नि० (8.5) और इस शब्द का प्रतीत्य अर्थ है—'अपने-आपका पुत्र'; क्योंकि अग्नि वनों और बादलों में स्वतः उत्पन्न होता बताया गया है। बेर्गेन के अनुसार तनूनपात् शब्द दिव्य पिता के 'शारीरिक पुत्र' का बोधक है। मातरिश्वा और नराशंस के प्रतिकूल तनूनपात् को आसुर गर्भ की संज्ञा मिली है[7]।

---

1. आ मन्द्रस्य सनिष्यन्तो वरेण्यं वृणीमहे अह्रयं वाजमृग्मियम्।
   रातिं भृगूणा मुशिजं कविक्रतुमग्निं राजन्तं दिव्येन शोचिषा॥ ऋ० 3.2.4.
   दे० 6.8.4. पृ० 172.
2. दे० 3.26.2. पृ० 264.
3. अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः। नि० 7.23.
4. यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरः।
   निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥ नि० 7.31.
5. अग्ने वेर्होत्रं वेरध्वरमा पितरं वैश्वानरमवसे करिन्द्राय देवेभ्यो जुहुता हविः स्वाहा।
   का० श्रौ० सू० 23.3.1.
   अग्ने वेर्होत्रं वेरध्वरमापितरं वैश्वानरमवसेऽकरिन्द्राय देवेभ्यो जुहुता हविः स्वाहा।
   पञ्च० ब्रा० 21.10.11.
   संवत्सरो वै पिता वैश्वानरःप्रजापतिस्तत्संवत्सरायैवैतत्प्रजापतये निह्नुतेऽग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद। शत०. ब्रा० 1.5.1.16.
6. दे० 10.92.2. अगले पृष्ठ पर।
7. दे० 3.29.11. पृ० 171.

उषाओं के विषय में कहा गया है कि वे गृह-पुरोहित, लोहितवर्ण तनूनपात् अग्नि का चुम्बन करती हैं[1]। तनूनपात् सुजिह्व हैं[2]। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ को देवताओं तक पहुंचा दें[3]। घृत और मधुपूर्ण यज्ञिय दोह्री (घृतमिश्रित पक्व) का तनूनपात् वितरण करते हैं[4]। देवता उनका समादर दिन में तीन बार करते हैं; वरुण, मित्र, अग्नि प्रतिदिन उनका समादर करते हैं[5]। हिलेब्राण्ड्ट तनूनपात् अग्नि का तादूप्य सोमगोपा अग्नि के साथ उद्भावित करते हैं। वे सोमगोपा अग्नि (चान्द्र अग्नि) को अग्नि का एक स्वरूप-विशेष मानते हैं।

अपेक्षाकृत अधिक बार आनेवाला नराशंस विशेषण, जिसे निघंटु (5.3.) में स्वतन्त्र नाम समझा गया है और जो ऋग्वेद में अग्नि के नाम से पृथक् भी आता है, अग्नि ही तक सीमित नहीं है क्योंकि दो बार इसका प्रयोग पूषा के साथ भी मिलता है[6]। इसके लिए आप्री सूक्तों में तृतीय और आप्र सूक्तों में द्वितीय मन्त्र निर्धारित हुआ है। नराशंस के चार अवयव हैं[7]। वे दिव्य पत्नी के पति हैं[8]। मधु-जिह्व और मधु-हस्त होकर वे यज्ञ का संपादन करते हैं[9]। वे दिन में तीन बार यज्ञ में मधु छिड़कते हैं[10]। वे तीनों स्वर्गों और देवताओं को रंजित करते हैं[11]।

---

1. अक्तुं न यह्वमुषसः पुरोहितं तनूनपातमरुषस्य निंसते। ऋ० 10.92.2.
2. तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥ ऋ० 10.110.2.
3. मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे। अद्या कृणुहि वीतये। ऋ० 1.13.2.
4. घृतवन्तमुप मासि मधुमन्तं तनूनपात्। दे० 10.110.2. ऊपर
यज्ञं विप्रस्य मावतः शशमानस्य दाशुषः॥ ऋ० 1.142.2.
तनूनपादृतं यते मध्वा यज्ञः समज्यते। ऋ० 1.188.2.
5. यं देवासस्त्रिरहन्ना यजन्ते दिवेदिवे वरुणो मित्रो अग्निः।
सेमं यज्ञं मधुमन्तं कृधीनस्तनूनपाद् घृतयोनिं विधन्तम्॥ ऋ० 3.4.2.
तनूनपात्पवमानः शृङ्गे शिशानो अर्षति। अन्तरिक्षेण रारजत्। ऋ० 9.5.2.
6. नराशंसं वाजिनं वाजयन्निह क्षयद्वीरं पूषणं सुम्नैरीमहे। ऋ० 1.106.4.
दे० 10.64.3. पृ० 164.
7. नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः। ऋ० 10.92.11.
8. नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः। ऋ० 2.38.10.
9. नराशंसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञ उपह्वये। मधुजिह्वं हविष्कृतम्। ऋ० 1.13.3.
नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः। कविर्हि मधुहस्त्यः॥ ऋ० 5.5.2.
10. शुचिः पावको अद्भुतो मध्वा यज्ञं मिमिक्षति।
नराशंसस्त्रिरा दिवो देवो देवेषु यज्ञियः॥ ऋ० 1.142.3.
11. नराशंसः प्रति धामान्यञ्जन् तिस्रो दिवः प्रति मह्ना स्वर्चिः। ऋ० 2.3.2.

वे देवताओं के मूर्धन्य हैं और यज्ञ को देवों के लिए प्रिय बनाते हैं[1]। सोम नराशंस और दिव्य जनों के मध्य में विराजते हैं[2], जिसका तात्पर्य प्रतीत होता है—पार्थिव और दिव्य अग्नि। तनूनपात् और मातरिश्वा के विपरीत सद्योजात अग्नि को नराशंस बताया गया है[3]। एक बृहस्पति-सूक्त[4] में नराशंस का आह्वान रक्षा के लिए भी हुआ है और एक अन्य मन्त्र में उन्हें दिव्य पद का याज्ञिक बताया गया है[5]। फलतः इन दो मन्त्रों में उनका तादूप्य बृहस्पति के साथ हो सकता है। नराशंस शब्द देखने में एक अनियमित समास प्रतीत होता है। हो सकता है कि इसमें षष्ठी बहुवचन के 'म्' का लोप हो गया हो क्योंकि इसमें दो उदात्त हैं, और दो मन्त्रों में इसके दोनों पद निपातों द्वारा पृथक् किये गये हैं[6]। इस विषय में नरां शंस और देवानां शंस प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं[7]। एक कवि अग्नि के विषय में कहता है—'शंसम् आयोः' आयु की प्रशंसा[8]। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए नराशंस शब्द का अर्थ प्रतीत होता है—'मनुष्यों की प्रशंसा', जिसका तात्पर्य हुआ—'वह पदार्थ, जो मनुष्यों की प्रशंसा का विषय हो।' बेर्गेन के अनुसार नराशंस पद द्वारा अभिहित अग्नि का वास्तविक स्वरूप है—'मनुष्य की स्तुति का देवता' जो कि दूसरे शब्दों में बृहस्पति ही है।

बृहस्पति (§ 36)—

बृहस्पति-देव का ऋग्वेद में ऊंचा स्थान है, और इनकी स्तुति में 11 सकल सूक्त कहे गये हैं। दो सूक्तों में उनका इन्द्र के साथ युग्म भी बनता है[9]। इनका

1. आ देवानामग्रयावेह यातु नराशंसो विश्वरूपेभिरश्वैः।
   ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत ॥ ऋ० 10.70.2.
   नराशंसस्य महिमानमेषामुपस्तोषाम यजतस्य यज्ञैः। ऋ० 7.2.2.
2. नरा च शंसं दैव्यं च धर्तरि। ऋ० 9.86.42.
3. दे० 3.29.11. पृ० 171.
4. दे० 10.182.2. पृ० 264.
5. दे० 1.18.9. पृ० 264.
6. दे० 9.86.42. ऊपर दे० 10.64.3. पृ० 164.
7. नरां न शंसः सवनानि गन्तन। ऋ० 2.34.6.
   देवानां शंसमृत आ च सुक्रतुः। ऋ० 1.141.11.
8. होतारमग्निं मनुषो नि षेदुर्नमस्यन्त उशिजः शंसमायोः। ऋ० 4.6.11.
9. इदं वामास्ये हविः प्रियमिन्द्राबृहस्पती। उक्थं मदश्च शस्यते ॥ ऋ० 4.49.1. आदि।
   यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
   इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे गमन्मदाय प्रथमं वयश्च ॥ ऋ० 7.97.1. आदि।

नाम लगभग 120 बार आता है और इसके अतिरिक्त ब्रह्मणस्पति के रूप में 50 बार इनकी स्तुति और हुई है। दोनों प्रकार के नाम एक ही सूक्त के विभिन्न मन्त्रों में यत्र-तत्र मिल जाते हैं। बृहस्पति की विग्रह संबन्धी विशेषताएं पूरी तरह नहीं उभर पाई हैं। वे सप्त-मुख हैं और सप्त-रश्मि हैं[1]। वे मन्द्र-जिह्व[2], तीक्ष्ण-शृंग[3], नील-पृष्ठ[4] और शत-पत्र[5] हैं। वे हिरण्यवर्ण और लोहित-वर्ण[6], वे भास्वर[7], शुचि, और सुव्यक्त ध्वनिवाले[8] हैं। उनके पास तीक्ष्ण तीर और एक धनुष है जिसमें ऋत की डोरी लगी है[9]। वे हिरण्यवाशी लिये हैं[10] और उनके हाथ में आयस कुल्हाड़ी भी है, जिसे स्वयं त्वष्टा ने पैना किया था[11]। उनके पास एक रथ[12] है और यह रथ ऋत का बना हुआ है। फलतः यह रथ यातुधानों को कीलता,

1. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
   सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि॥ ऋ० 4.50.4.
2. अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।
   गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः॥ ऋ० 1.190.1.
   यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
   तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्॥ ऋ० 4.50.1.
3. अराय्यं ब्रह्मणस्पते तीक्ष्णशृङ्गोदृषन्निहि। ऋ० 10.155.2.
4. आ वेधसं नीलपृष्ठं बृहन्तं बृहस्पतिं सदने सादयध्वम्।
   सादद्योनिं दम आ दीदिवांसं हिरण्यवर्णमरुषं सपेम॥ ऋ० 5.43.12.
5. स हि शुचिः शतपत्रः स शुन्ध्युर्हिरण्यवाशी रिषिरः स्वर्षाः। ऋ० 7.97.7.
6. दे० 5.43.12. ऊपर
7. शुचिमर्कैर्बृहस्पतिमध्वरेषु नमस्यत। ऋ० 3.62.5.
   दे० 7.97.7. ऊपर
8. शुचिक्रन्दं यजतं पस्त्यानां बृहस्पतिं मनर्वाणं हुवेम। ऋ० 7.97.5.
9. ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि प्र तदश्नोति धन्वना।
   तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः॥ ऋ० 2.24.8.
   जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ् नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।
   तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः॥ अथ० 5.18.8.
   तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यांऽन सा मृषा।
   अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम्॥ अथ० 5.18.9.
10. दे० 7.97.7. ऊपर
11. त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभ्रत्पात्रा देवपानानि शंतमा।
    शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पतिः॥ ऋ० 10.53.9.
12. बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः। ऋ० 10.103.4.

गो-व्रजों को तोड़ता और प्रकाश को जीतता है[1]। इस रथ को लोहित-वर्ण अश्व खींचते हैं[2]।

बृहस्पति पहले-पहल व्यापक प्रकाश से चमचमाते स्वर्ग में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने अपने स्तनयित्नु 'रव' द्वारा अन्धकार का नाश किया था[3]। वे दोनों लोकों के तनय हैं[4], किंतु यह उल्लेख भी मिलता है कि उनके जनक त्वष्टा हैं[5]। दूसरी जगह उन्हें देवताओं का जनक बताया गया है[6]; उन्होंने कर्मार (=कर्मकार) की भांति देवताओं के जन्म धमित किये थे[7]।

बृहस्पति एक पुरोहित हैं[8]। किंतु पुरोहित शब्द का प्रयोग प्रायः अग्नि के संबन्ध में आया है। प्राचीन ऋषियों ने उन्हें अपना नेता बनाया था (पुरो-धा)[9]। वे एक सोम-पुरोहित हैं[10]। वे ब्रह्मन् हैं[11], ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग एक बार संभवतः पारिभाषिक अर्थ में हुआ है[12]। परवर्ती वैदिक साहित्य में बृहस्पति देवताओं के पारिभाषिक अर्थ में पुरोहित है[13]। बृहस्पति उपासना-योग को बढ़ाते हैं और

---

1. आ विबाध्या परिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्तं रथमृतस्य तिष्ठसि ।
   बृहस्पते भीममभित्रदम्भनं रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम् ॥ ऋ० 2.23.3.
2. तं शग्मासो अरुषासो अश्वा बृहस्पतिं सहवाहो वहन्ति । ऋ० 7.97.6.
3. दे० 4.50.4. पृ० 261.
   सोषामविन्दत् स स्वः१सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि ।
   बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ॥ ऋ० 10.68.9.
4. देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पतिं वावृधतुर्महित्वा । ऋ० 7.97.8.
5. विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नःसाम्नः कविः ।
   स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि ॥ ऋ० 2.23.17.
6. देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् । 2.26.3.
7. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत् । ऋ० 10.72 2.
8. स संनयः स विनयः पुरोहितः स सुष्टुतः स युधि ब्रह्मणस्पतिः । ऋ० 2.24.9.
   बृहस्पतिं पुरोहिता देवस्य सवितुः सवे । देवा देवैरवन्तु मा ॥ वा० सं० 20.11.
   बृहस्पतिर्देवानां पुरोहित आसीत् । तै० सं० 6.4.10.1.
9. दे० 4.50.1. पृ० 261.
10. यत्र वै सोमः स्वं पुरोहितं बृहस्पतिं जिज्यौ तस्मै पुनर्ददौ । शत० ब्रा० 4.1.2.4.
11. त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते । ऋ० 2.1.3.
    यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति । ऋ० 4.50 8.
12. सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।
    आदित्यान् विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ऋ० 10.141.3.
13. ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः । तै० सं० 2.2.9.1.

उनके बिना यज्ञ सफल नहीं हो पाता[1]। पथ-निर्माता के रूप में वे देवताओं के लिए भोज तक पहुंचना सुलभ करते हैं[2]। उनसे देवताओं तक ने अपना यज्ञांश प्राप्त किया है[3]। वे शस्त्र गाते हैं[4]। उनका श्लोक (√श्रु) स्वर्ग में पहुंचता है[5]; छन्दस् उन्हीं का है। उनका गायकों के साथ संबन्ध है[6]। वे अपने उन मित्रों के साथ गाते हैं, जिनकी वाणी हंसों-जैसा, शब्द करती है[7]। ऐसे प्रकरणों में हो सकता है कि अङ्गिरसों से तात्पर्य रहा हो। उनके साथ भजन की मण्डली (ऋक्वन् गण) चलती है[8]। निःसंदेह इसी कारण उन्हें गणपति[9] कहा गया है। सामान्यतः गणपति शब्द का प्रयोग इन्द्र के लिए हुआ है[10]।

इनके नाम से झलकता है कि ये ब्रह्मणस्पति अर्थात् 'स्तुति के पति' थे। इन्हें स्तुतियों का सर्वोच्च राजा भी कहा गया है और कवितम की उपाधि इनकी अपनी है[11]। ऋत के रथ पर बैठकर वे स्तुति करते और देवों के शत्रुओं पर विजय-

---

1. यस्मा॑दृ॒ते न सिध्य॑ति य॒ज्ञो वि॑प॒श्चित॑श्च॒न । स धी॒नां योग॑मिन्वति ॥ ऋ० 1.18.7.
2. त्वं नो॑ गो॒पाः प॑थि॒कृद् वि॑चक्ष॒णस्तव॑ व्र॒ताय॑ म॒तिभि॑र्जरामहे ।
बृह॑स्पते॒ यो नो॑ अ॒भि ह्वरो॑ द॒धे स्वा तं म॑र्मर्तु दु॒च्छुना॒ हर॑स्वती ॥ ऋ० 2.23.6.
उ॒त वा॒ यो नो॑ म॒र्चया॒दना॑गसोऽराती॒वा मर्तः॑ सा॒नुको॒ वृकः॑ ।
बृह॑स्पते॒ अप॒ तं व॑र्तया प॒थः सु॒गं नो॑ अ॒स्यै दे॒ववी॑तये कृधि ॥ ऋ० 2.23.7.
3. दे॒वाश्चि॑त्ते असु॒र्य॑ प्रचे॑तसो॒ बृह॑स्पते य॒ज्ञियं॑ भा॒गमा॑नशुः । ऋ० 2.23.2.
उत्ति॑ष्ठ ब्रह्मणस्पते दे॒वान् य॒ज्ञेन॑ बोधय ।
आयुः॑ प्रा॒णं प्र॒जां प॒शून् की॒र्तिं यज॑मानं च वर्धय ॥ अथ० 19.63.1.
प्र नू॒नं ब्रह्म॑ण॒स्पति॒र्मन्त्रं॑ वदत्यु॒क्थ्य॑म् ।
यस्मि॒न्निन्द्रो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा दे॒वा ओकां॑सि चक्रि॒रे ॥ ऋ० 1.40.5.
4. बृह॒स्पतिः॒ साम॑भिर्ऋ॒क्वो अ॑र्चतु । ऋ० 10.36.5.
5. अ॒स्य श्लोको॑ दि॒वीय॑ते पृथि॒व्याम् । ऋ० 1.190.4.
6. बृह॒स्पति॑मृ॒क्वभि॑र्वि॒श्ववा॑रम् । ऋ० 7.10.4. बृह॒स्पति॒र्ऋक्व॑भिर्वावृधा॒नः । ऋ० 10.14.3.
7. हं॒सैरि॑व॒ सखि॑भि॒र्वाव॑दद्भि॒ रश्म॒न्मया॑नि॒ नह॑ना॒ व्यस्य॑न् ।
बृह॒स्पति॑रभि॒कनि॑क्रद॒द्गा उ॒त प्रास्तौ॒दुच्च॑ वि॒द्वाँ अ॑गायत् ॥ ऋ० 10.67.3.
विप्रं॑ प॒दमङ्गि॑रसो॒ दधा॑ना य॒ज्ञस्य॒ धाम॑ प्रथ॒मं म॑नन्त । ऋ० 10.67.2.
8. स सु॒ष्टुभा॒ स ऋक्व॑ता ग॒णेन॑ व॒लं रु॑रोज फलि॒गं रवे॑ण ।
बृह॒स्पति॑रु॒स्रिया॑ हव्य॒सूदः॒ कनि॑क्रद॒द् वाव॑शती॒रुदा॑जत् ॥ ऋ० 4.50.5.
9. ग॒णानां॑ त्वा ग॒णप॑तिं हवामहे । ऋ० 2.23.1.
10. नि षु सी॑द गणपते ग॒णेषु॑ । म॒हाम॒र्कं म॑घवञ्चि॒त्रम॑र्च । ऋ० 10.112.9.
11. ग॒णानां॑ त्वा ग॒णप॑तिं हवामहे क॒विं क॑वी॒नामु॑प॒मश्र॑वस्तमम् ।
ज्ये॒ष्ठ॒राजं॒ ब्रह्म॑णां ब्रह्मणस्पत॒ आ नः॑ शृ॒ण्वन्नू॒तिभिः॑ सीद॒ साद॑नम् ॥ ऋ० 2.23.1.

लाभ करते हैं[1]। वे स्तोत्र-जात के जनक हैं[2]। वे मन्त्र का उच्चारण करते[3] और मानवीय पुरोहित को सूक्त सुझाते हैं[4]। फलतः बाद में उन्हें वाचस्पति भी कहा गया है[5]। वेदोत्तर-कालीन साहित्य में इस शब्द का प्रयोग बृहस्पति के लिए उन्हें वाणी और प्रज्ञा का देवता मानकर किया गया है।

अनेक मन्त्रों में बृहस्पति का तादूप्य अग्नि से किया गया है। उदाहरणार्थ 'ब्रह्मणस्पति अग्नि का—जोकि सौन्दर्य में मित्रतुल्य हैं; आह्वान किया गया है[6]। एक अन्य मन्त्र में[7] यद्यपि अग्नि का तादूप्य अन्य देवों से भी किया गया है, तथापि ब्रह्मणस्पति के साथ उनका संबन्ध अपेक्षाकृत अधिक निखर आया है; क्योंकि उस मन्त्र में केवल ये ही दो नाम संबोधन में आये हैं। एक मन्त्र में[8] मातरिश्वा और बृहस्पति दोनों अग्नि के विशेषण प्रतीत होते हैं, और एक दूसरे मन्त्र[9] में मातरिश्वा बृहस्पति के विशेषण प्रतीत होते हैं। पुनः, ऐसे बृहस्पति से, जोकि नील-पृष्ठ हैं, गृहों में अपना आवास बनाते हैं, प्रभासित हैं, हिरण्यवर्ण एवं लोहित हैं; अग्नि ही का लिया जाना स्वारसिक है। दो अन्य मन्त्रों में[10] बृहस्पति

आ विबाध्या परिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्तं रथमृतस्य तिष्ठसि।
बृहस्पते भीममभिमित्रदम्भनं रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम्॥ ऋ० 2.23.3.

1. त्रातारं त्वा तनूनां हवामहेऽवस्पर्तरधि वक्तारमस्मयुम्।
बृहस्पते देवनिदो नि बर्हय मा दुरेवा उत्तरं सुम्नमुन्नशन्॥ ऋ० 2.23.8.
2. दे० 1.190.2. पृ० 171.
3. दे० 1.40.5. पृ० 263.
4. प्रतीचीनः प्रति मामा ववृत्स्व दधामिते द्युमतीं वाचमासन्। ऋ० 10.98.2.
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्। ऋ० 10.98.7.
5. बृहस्पतये वाचस्पतये नैवारं चरुम्। मै० सं० 2.6.6.
वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः। शत० ब्रा० 14.4.1.23.
6. अच्छा वदा तना गिरा जरायै ब्रह्मणस्पतिम्। अग्निं मित्रं न दर्शतम्॥ ऋ० 1.38.13.
7. त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या॥ ऋ० 2.1.3. आदि।
8. तं शुभ्रमग्निमवसे हवामहे वैश्वानरं मातरिश्वानमुक्थ्यम्।
बृहस्पतिं मनुषो देवतातये विप्रं श्रोतारमतिथिं रघुष्यदम्॥ ऋ० 3.26.2.
9. दे० 1.190 2. पृ० 171.
दे० 5.43.12. पृ० 261.
10. नराशंसं सुधृष्टममपश्यं सप्रथस्तमम्। दिवो न सद्ममखसम्॥ ऋ० 1.18.9.
नराशंसो नोऽवतु प्रयाजे शं नो अस्त्वनुयाजो हवेषु।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथाकरद् यजमानाय शं योः॥ ऋ० 10.182.2.

नराशंस के—जोकि अग्नि का ही एक रूप है—तद्रूप प्रतीत होते हैं। अग्नि की भांति बृहस्पति भी पुरोहित हैं; वे शवस: सूनु[1] और अङ्गिरस हैं और वे यातुधानों को कीलते[2] अथवा उनकी हत्या करते हैं[3]। बृहस्पति के लिए कहा गया है कि वे स्वर्ग पर अथवा उच्चतर आवास पर आरोहण करते हैं[4]। अग्नि की भांति बृहस्पति के तीन आवास हैं[5]। वे घरों में वन्दनीय हैं[6]। वे सदसस्पति हैं[7]। इन्द्राग्नि को एक बार सदसस्पति भी कहा गया है[8]। दूसरी ओर अग्नि को ब्रह्मणस्कवि बताया गया है[9] और प्रार्थना की गई है कि वे स्तुति द्वारा (ब्रह्मणा) द्यावापृथिवी को हमारे हितकारी बनावें। किंतु सामान्यतया बृहस्पति अग्नि से भिन्न दिखाये गये हैं[10] क्योंकि देव-गणनाओं में उन्हें अग्नि के साथ न्यौता गया है—उनका नाम पृथक् से लिया गया है[11]।

अग्नि की भांति बृहस्पति को भी गोमोचन-संबन्धी इन्द्र-गाथा में संपृक्त किया गया है; और उसमें उन्हें एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जब अङ्गिरस्-बृहस्पति ने गो-व्रज को अनावृत किया और इन्द्र के साथ सहायक रूप में अन्धकारावृत अर्णस् को उन्मुक्त किया, तब उनके ऐश्वर्य के सामने पर्वत भी नत हो

---

1. त्वामिद्धि सहसस्पुत्रमर्त्य उपब्रूते धने हिते। ऋ० 1.40.2.
   तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।
   इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्॥ ऋ० 2.23.18.
2. तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम्। ऋ० 2.23.14.
3. बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
   प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्॥ ऋ० 10.103.4.
4. यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म। ऋ० 10.67.10.
5. दे० 4.50.1. पृ० 261.
6. दे० 7.97.5. पृ० 261.
7. सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषम्॥ ऋ० 1.18.6.
8. ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्। अप्रजाः सन्त्वत्रिणः॥ ऋ० 1.21.5.
9. त्वं नः पाह्यंहसो जातवेदो अघायतः। रक्षा णो ब्रह्मणस्कवे॥ ऋ० 6.16.30.
   प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृधि। ऋ० 2.2.7.
10. अग्नेरिव प्रसितिर्नाह वर्तवे यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः। ऋ० 2.25.3.
    इन्द्रं नो अग्ने वसुभिः सजोषा रुद्रं रुद्रेभिरा वहा बृहन्तम्।
    आदित्येभिरदितिं विश्वजन्यां बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम्॥ ऋ० 7.10.4.
    दे० 10.68.9. पृ० 262.
11. दधिक्रामग्निमुषसं च देवीं बृहस्पतिं सवितारं च देवम्।
    अश्विना मित्रावरुणा भगं च वसून् रुद्राँ आदित्याँ इह हुवे॥ ऋ० 3.20.5.

गया[1] । अपनी भजन-मण्डली के साथ रव के द्वारा उन्होंने वल को भेद दिया; और गरज कर रांभती हुई गौओं को बाड़े में से बाहर निकाल दिया[2] । उन्होंने धन तथा गौओं से संपन्न गो-व्रज को जीता । सलिल और प्रकाश की इच्छा से, अबाध्य बृहस्पति अपने शत्रुओं को ज्वालाओं से झुलस देते हैं[3] । उनके उदय पर अच्युत च्युत बन गये और बलवानों ने आत्म-समर्पण कर दिया । उन्होंने गौओं को उन्मुक्त किया और वल को स्तुति द्वारा भेद दिया; उन्होंने अन्धकार को घेर लिया और स्वर्ग को अनावृत किया; मधु भरे पाषाण-मुख कुएं को बृहस्पति ने तवस्त्वरा द्वारा देवगणों को पानी पिलाने के लिए भेद दिया[4] । जब बृहस्पति ने आग्नेय प्रभा द्वारा वल के बाड़ों को भेदा तब उन्होंने गो-धन को प्रकट किया; अंडों को तोड़कर मानों उन्होंने गौओं को गिरि-दरी से बाहर निकाला, पाषाण में पिहित मधु को उन्होंने खोज निकाला; अपने रव से वल को दल कर उन्होंने मधु को बाहर किया; मानो उन्होंने वल की मज्जा को ही बाहर खींच लिया हो[5] । उन्होंने गौओं को उन्मुक्त किया और उन्हें स्वर्ग में वितरित किया[6] । बृहस्पति ने गौओं को गिरि-गुहा में से बाहर निकाला; वल की गौओं को स्वायत्त किया[7] । सच पूछिए तो बृहस्पति का वल-विजय इतना प्रख्यात हुआ कि आगे चलकर यह एक मुहाविरा ही बन गया[8] । बादल में रहते हुए (अभ्रिय) वे अनेक गौओं के पीछे रव करते हैं[9] । ये गौएं उन जलों का प्रतिरूप प्रतीत होती हैं, जिनका

1. दे० 2.23.18. पृ० 265.
   स्वर्मीळ्हे यन्मद इन्द्र हर्ष्याहन्वृत्रं निरपामौब्जो अर्णवम् । ऋ० 1.56.5.
2. दे० 4.50.5. पृ० 263.
3. बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः । ऋ० 6.73.3.
4. तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृळ्हाव्रदन्त वीळिता ।
   उद्गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत्स्वः ॥ ऋ० 2.24.3.
   अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत् ।
   तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥ ऋ० 2.24.4.
5. आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
   बृहस्पतिरुद्धर ्मनोग भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ऋ० 10.68.4-9.
6. यो गा उदाजत्स द[illegible] [illegible]ाभजत् । ऋ० 2.24.14.
7. बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याऽभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः । ऋ० 10.68.5.
8. बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् । अथ० 9.3.2.
9. इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति ।
   बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात् ॥ ऋ० 10.68.12.
   दे० 10.67.3. पृ० 263., 2.23.18. पृ० 265.

कई स्थलों पर उल्लेख हुआ है[1] उषा की किरणें भी इनसे अभिप्रेत हो सकती हैं[2]।

गौओं को उन्मुक्त करने की गाथा में बृहस्पति अन्धकार में प्रकाश को खोजते और उसे प्राप्त करते हैं। उन्होंने उषा, अग्नि और प्रकाश को प्राप्त किया और अन्धकार को दूर भगाया[3]। दुर्ग का भेदन करने पर उन्हें उषा, सूर्य और गौएं प्राप्त हुईं[4]। उन्होंने अन्धकार को ध्वस्त किया और प्रकाश को गोचर बनाया[5] इस प्रकार बृहस्पति का भी युद्ध-संबन्धी बातों से संबन्ध उभर आता है। उन्होंने धन-संपन्न पर्वत का भेदन किया और शंबर के दुर्ग को तहस-नहस कर डाला[6]। सर्वप्रथम उत्पन्न यज्ञपुरुष बृहस्पति अङ्गिरस्—जोकि पाषाणों का भेदन करते हैं, वृषभ की न्याईं दोनों लोकों की ओर रांभते एवं धड़कते हैं; वे वृत्रों का वध करते, दुर्गों को विदीर्ण करते और शत्रुओं को पराजित करते हैं[7]। वे शत्रुओं को तितर-बितर करके उन पर विजय हासिल करते हैं[8]। बड़े या छोटे किसी भी युद्ध में कोई भी उन्हें नीचा नहीं दिखा सकता[9]। युद्ध में उन्हें पुकारा जाता है[10] और वे युद्ध में भूरिशः प्रशंसित होनेवाले पुरोहित हैं[11]।

इन्द्र के साथी और सहायक होने के नाते बृहस्पति को इन्द्र[12] के साथ

---

1. अपः सिषासन्त्स्व१रप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः। ऋ० 6.73.3.
2. बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः। ऋ० 10.67.5.
 दे० 10.68.9. पृ० 262.
3. दे० 10.68.4. तथा 9. पृ० 266.
4. दे० 10.67.5. ऊपर
5. दे० 2.24.3. पृ० 266. 4.50.4. पृ० 261.
6. यो नन्त्वान्यनमन्न्योजसोतादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि।
 प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद् वसुमन्तं वि पर्वतम्॥ ऋ० 2.24.2.
7. यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
 द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति॥ ऋ० 6.73.1.
 घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूँरमित्रान् पृत्सु साहन्। ऋ० 6.73.2.
8. दे० 10.103.4. पृ० 265.
 नास्य वर्ता न तरुता महाधने नार्भे अस्ति वज्रिणः। ऋ० 1.40.8.
9. अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः।
 असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद् दमिता वीळुहर्षिणः॥ ऋ० 2.23.11.
10. भरेषु हव्यो नमसोपसद्यः। ऋ० 2.23.13.
11. दे० 2.24.9. पृ० 262., 2.23.18. पृ० 265., 2.24.2. ऊपर.
12. इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पते। ऋ० 4.50.10.
 बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः। ऋ० 4.50.11.

बृहस्पति शब्द के स्वर से ज्ञात होता है कि यह एक अनियत समास है। पूर्व-पद संभवतः—अस् में अन्त होनेवाला नपुंसक शब्द था। किंतु उसके समकालीन ब्रह्मणस्पति रूप से—जोकि उसी की एक प्रकार से व्याख्या है—सूचित होता है कि ऋग्वेदीय कवि इसे बृहप्रातिपदिक के षष्ठी का रूप समझते थे। स्मरण रहे कि बृह् शब्द की निष्पत्ति उसी धातु से हुई है जिससे कि ब्रह्मन् की।

उपर्युक्त बातें इस विचार को उभारती हैं कि बृहस्पति मूलतः अग्नि के ही एक पक्ष थे और वे भक्ति के अधिष्ठाता दिव्य पुरोहित थे। अग्नि का यह पक्ष (पति के साथ बने हुए अग्नि के अन्य विशेषणों से भिन्न जैसेकि विशां पति, गृहपति, सदस्पति) ऋग्वेदीय युग के आरम्भकाल में अपने निजी रूप को पा चुका था, यद्यपि इसका अग्नि से संबन्ध अब भी पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हो पाया था! लाँग्लुई, एच० एच० विल्सन और मैक्समूलर बृहस्पति को अग्नि का एक रूप मानने में सहमत हैं। रॉथ के मत में बृहस्पति यज्ञ-देव एवं भक्ति-शक्ति के सीधे मानवीकरण है। केजी और ओल्डनबेर्ग के अनुसार ये पौरोहित्य कार्य के भावात्मक रूप (Abstraction) हैं, और इन्होंने पूर्ववर्ती देवताओं के कार्यों को नियमित एवं सुव्यवस्थित किया है। वेबर का कहना है कि बृहस्पति इन्द्र के पुरोहितों द्वारा कल्पित एक भावात्मक देव हैं। हापकिन्स वेबर का अनुगमन करते हैं। अन्त में, हिलेब्राण्ड्ट् उन्हें वनस्पतियों का अधिष्ठाता और चन्द्रमा का मानवीकरण बताते हैं जो मुख्यतः उस ज्योतिष्पुञ्ज के ज्वालामय पक्ष का प्रतिरूप है।

दिव्य ब्रह्मा नामक पुरोहित के रूप में बृहस्पति हिन्दू देव-मयी के प्रमुख देवता ब्रह्मा के पूर्वरूप जान पड़ते हैं। इसी समय में ब्रह्म शब्द का नपुंसक रूप वेदान्त दर्शन के ब्रह्म में पल्लवित हुआ दीख पड़ता है।

सोम (§ 37)—

सोम-याग वैदिक कर्मकाण्ड का प्रमुख अङ्ग है; फलतः सोम ऋग्वेद के सबसे महान् देवों में से एक हैं। नवम मण्डल के सारे ही 114 सूक्त एवं अन्य मण्डलों में भी छः सूक्त सोम के निमित्त कहे गये हैं। चार या पांच सूक्तों में अंशतः सोम का स्तवन हुआ है, और इन्द्र, अग्नि, पूषा या रुद्र के साथ देवता-युग्म के रूप में भी इनका छः अन्य सूक्तों में कीर्तन हुआ है। और समस्त रूप में सोम का नाम ऋग्वेद में सैकड़ों बार आया है। प्रयोगाधिक्य की दृष्टि से सोम का ऋग्वेद के देवों में तृतीय स्थान पड़ता है। सोम का मानवीय विग्रह इन्द्र और वरुण की अपेक्षा बहुत कम विकसित हो पाया है; क्योंकि सोम को विग्रहवान् बनाकर देखनेवाले कवियों के समक्ष सोम का वनस्पति रूप सदैव उभरा रहता था। फलतः सोम के मानवीय विग्रह या उनके मानवीय कार्यों के विषय में बहुत ही स्वल्प उल्लेख हो पाया है। शौर्य के प्रभूत कार्य, जो उनमें निक्षिप्त हुए मिलते हैं, या तो फीके रह गये हैं—

क्योंकि वे कार्य प्राय: सभी देवों में निष्ठ हैं—अथवा वे गौरण रूप से सोम में आक्षिप्त हो पाये हैं। अन्य देवताओं की भांति सोम या इन्दु नाम से यज्ञ में उनका आह्वान किया गया है, जिससे कि बर्हि पर बैठकर वे हविष् को स्वीकार करें। नवम मण्डल में प्रधानतया स्थूल सोम का गुणगान किया गया है—पाषाणों द्वारा इसका सवन किया जाता है; तदुपरान्त इसे ऊनी छलनी में से छानकर दारु-पात्रों में इकट्ठा किया जाता है जहां से इसे देवताओं के लिए बर्हि पर पेय रूप में पेश किया जाता है, इसे अग्नि में भी डालते हैं[1] अथवा पुरोहित लोग इसे पीते हैं; सोम से संबन्ध रखनेवाली इन प्रक्रियाओं का वर्णन विविध कल्पनाओं से समाचित होते-होते समृद्ध बन गया है और इसके संबन्ध में की गई कुछ प्रकल्पनाएं अनेक स्थलों पर एकान्ततः रहस्यमय बन गई हैं।

सोमगाथा के आधारभूत तत्त्व हैं:—पार्थिव सोम-लता और इससे निकाला हुआ मादक स्राव। फलत: सोम संबन्धी गाथाओं को समझने के लिए सोमलता का तथा सोमस्राव का संक्षिप्त प्रक्रिया के साथ विवरण देना उपयोगी होगा। सोमलता के पेष्य अंश को अंशु कहते हैं[2]। ये अंशु जब फूल जाते हैं तब इनमें से स्राव टपकता है जैसे कि गौओं के स्तनों से दूध[3]। डंठल से अलग समस्त सोमलता को संभवत: अन्धस् कहते हैं[4]। यह स्वर्ग से आई है[5] और श्येन के द्वारा लाई गई है[6]। सोम पद का व्यवहार द्रव के लिए भी होता है और इसे इन्दु देव

1. तत् ते भद्रं यत् समिद्धः स्वे दमे सोमाहुतो जरसे मृळयत्तमः।
दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ ऋ० 1.94.14.
प्राग्नये तवसे भरध्वं गिरं दिवो अरतये पृथिव्याः।
यो विश्वेषाममृतानामुपस्थे वैश्वानरो वावृधे जागृवद्भिः॥ ऋ० 7.5.1.
उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नये। ऋ० 8.43.11.
2. प्र प्यायस्व प्र स्यन्दस्व सोम विश्वेभिरंशुभिः। देवेभ्य उत्तमं हविः। ऋ० 9.67.28.
3. यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः।
यद् वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना॥ ऋ० 8.9.19.
4. यो विश्वान्यभि व्रता सोमस्य मदे अन्धसः। इन्द्रो देवेषु चेतति। ऋ० 8.32.28.
ते अद्रयो दशयन्त्रास आशवस्तेषामाधानं पर्येति हर्यतम्।
त ऊ सुतस्य सोम्यस्यान्धसोऽंशोः पीयूषं प्रथमस्य भेजिरे॥ ऋ० 10.94.8.
5. उच्चा ते जातमन्धसो दिवि षद्भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रवः। ऋ० 9.61.10.
6. रघुः श्येनः पतयदन्धो अच्छा युवा कविर्दीदयद् गोषु गच्छन्। ऋ० 5.45.9.
मन्द्रस्य रूपं विविदुर्मनीषिणः श्येनो यदन्धो अभरत्परावतः।
तं मर्जयन्त सुवृधं नदीष्वाँ उशन्तमंशुं परियन्तमृग्मियम्॥ ऋ० 9.68.6.
यं ते श्येनश्चारुमवृकं पदाभरदरुणं मानमन्धसः। ऋ० 10.144.5.

से पृथक् किया गया है[1]। द्रव को सोम (सोम नाम पौधे का भी है) अथवा केवल रस भी कहते हैं। एक सूक्त[2] में द्रव को पितु (पेय) की संज्ञा मिली है; और इसे मद (मादक पेय) भी कहा गया है। सोम का उल्लेख अन्न के साथ भी बहुत बार आया है[3]। मधु शब्द, जो अश्विनों के संबन्ध में शहद का बोधक है, अपने साधारण 'मीठा पेय' इस अर्थ में न केवल पयस् और घृत के लिए, अपितु सोम रस के लिए भी प्रयुक्त हुआ है[4]। गाथेय मधु अमृत-रूपी सोम का पर्याय द्रव है। ठीक इसके विपरीत अमृत शब्द का प्रयोग अनेक बार साधारण सोम के लिए हुआ है[5] पिसे हुए सोम स्वराट् अमृत हैं[6]। एक अन्य पद 'सोम्य मधु' का प्रयोग भी यत्र-तत्र आता है[7]। आलंकारिक शब्दों में सोम को पीयूष[8] दुग्ध[9], लता की ऊर्मि[10]

1. तव त्य इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्यश्नते।
पवमानस्य मरुतः। ऋ० 9.51.3.
तं वो विं न द्रुषदं देवमन्धस इन्दुं प्रोथन्तं प्रवपन्तमर्णवम्।
आसा वह्निं न शोचिषा विरप्शिनं महिव्रतं न सरजन्तमध्वनः॥ ऋ० 10.115.3.
2. पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥ ऋ० 1.187.1.
3. यद्दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि। ऋ० 7.98.2.
इदं ते अन्नं युज्यं समुक्षितं तस्येहि प्र द्रवा पिब। ऋ० 8.4.12.
एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमा। शत० ब्रा० 1.6.4.5.
4. अध्वर्युभिः प्रयतं मध्वो अग्रमिन्द्रो मदाय प्रति धत्पिबध्यै। ऋ० 4.27.5.
इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु। ऋ० 8.69.6.
5. नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत्। ऋ० 6.37.3.
हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
ददानो अस्मा अमृतं विपृक्वत्किं मामनिन्द्राः कृण्वन्ननुक्थाः॥ ऋ० 5.2.3.
श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ता ऽमृतस्य पत्नीः।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत॥ वा० सं० 6.34.
तद् यत्तदमृतं सोमः सः। शत० ब्रा० 9.5.1.8.
6. सोमो राजाऽमृतं सुतः। वा० सं० 19.72.
7. तूयं ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र। ऋ० 4.26.5.
राजाभवन्मधुनः सोम्यस्य। ऋ० 6.20.3.
8. दे० 3.48.2. पृ० 132.
9. अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम्। ऋ० 9.107.12.
10. स मत्सरः पृत्सु वन्वन्नवातः सहस्ररेता अभि वाजमर्ष।
इन्द्रायेन्दो पवमानो मनीष्यं १ शोरूर्मिमीरय गा इषण्यन्॥ ऋ० 9.96.8.

या मधु-रस भी[1] कहा गया है। सोम के लिए सबसे अधिक प्रयोग में आने वाला आलंकारिक शब्द 'इन्दु' (चमकने वाला बूंद) है। एक दूसरा शब्द 'द्रप्स' है, जिसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम बार हुआ है। सोम-सवन के वर्णन में साधारणतया √'षुञ् अभिषवे' धातु का प्रयोग किया गया है[2]; इसके लिए अनेक बार √दुह धातु का प्रयोग भी मिलता है[3]। यह रस मादक और मधुमत् है[4]। मधुमत् पद का स्वारसिक अर्थ है 'मीठा', किंतु सोम के लिए प्रयुक्त होने पर यह 'मधु-मिश्रित' सोम का बोधक बन जाता है। सोम और मधु के मिश्रण के संकेत कई मन्त्रों में आते हैं[5]। पेषण करने के उपरांत बहने वाले सोम-रस की उपमा जल-स्रोत की ऊर्मियों से दी गई है[6] और इसे सीधे ऊर्मि[7] या मधूर्मि[8] भी कहा गया है। दारु-पात्रों में एकत्र हुए सोम-रस को अर्णव (समुद्र) कहा गया है[9]। और अनेक बार उसे समुद्र कहकर भी पुकारा गया है[10]। दिव्य सोम का 'उत्स' यह

---

1. मध्वो रसं सुगभस्तिर्गिरिष्ठां चनिश्चदद् दुदुहे शुक्रमंशुः। ऋ० 5.43.4.
2. असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः। श्येनो न योनिमासदत्॥ ऋ० 9.62.4.
3. यदीं सोमः पृणति दुग्धो अंशुः। ऋ० 3.36.6.
   समुद्रेण सिन्धवो यादमाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तः।
   अंशुं दुहन्ति हस्तिनो भरित्रैर्मध्वः पुनन्ति धारया पवित्रैः॥ ऋ० 3.36.7.
4. अंशोः सुतं पायय मत्सरस्य। ऋ० 1.125.3.
   पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन् वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै। ऋ० 6.17.11.
   प्र श्येनो न मदिरमंशुमस्मै शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन्॥ ऋ० 6.20.6.
   रसाय्यः पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमंशुम्। ऋ० 9.97.14.
5. मधोर्धारामनुक्षर तीव्रः सधस्थमासदः। चारुर्ऋताय पीतये॥ ऋ० 9.17.8.
   पवस्व सोम क्रतुविन्न उक्थ्योऽव्यो वारे परि धाव मधु प्रियम्।
   जहि विश्वान् रक्षस इन्दो अत्रिणो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ऋ० 9.86.48.
   अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रिदुग्धः।
   इन्दुरिन्द्रस्य सख्यं जुषाणो देवो देवस्य मत्सरो मदाय॥ ऋ० 9.97.11.
   असर्जि वाजी तिरः पवित्रमिन्द्राय सोमः सहस्रधारः॥ ऋ० 9.109.19.
   अञ्जन्त्येनं मध्वो रसेनेन्द्राय वृष्ण इन्दुं मदाय॥ ऋ० 9.109.20.
6. सिन्धोरिवोर्मिः पवमानो अर्षसि। ऋ० 9.80.5.
7. ऊर्मिर्यस्ते पवित्र आ देवावीः पर्यक्षरत्। सीदन्नृतस्य योनिमा॥ ऋ० 9.64.11.
8. आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम्॥ ऋ० 3.47.1.
9. दे० 10.115.3. पृ० 272.
10. उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश। ऋ० 5.47.3.
    केतुं कृण्वन् दिवस्परि विश्वा रूपाभ्यर्षसि। समुद्रः सोम पिन्वसे॥ ऋ० 9.64.8.

नाम भी आता है; यह उत्स गौओं के परम पद में विराजित है[1]; इसे गौओं में स्थापित किया गया है और दश रश्मियों द्वारा नियमित किया गया है[2]। स्थान-स्थान पर इसे विष्णु के परम पद में पाया जाने वाला 'मधु-उत्स' भी बताया गया है[3]।

सोमलता, सोमरस एवं सोमदेवता का रंग बभ्रु, अरुण और इससे भी अधिक बार हरित बताया गया है। इस प्रकार सोम एक अरुण वनस्पति की टहनी है[4]। यह अरुण दूध वाला अंकुर है[5]। हरित अंकुर को पीसा जाता है[6] सोमलता का रंग अरुण है[7]; और कर्मकाण्ड में सोम-क्रय के लिए दी जाने वाली गौ का लोहित या भूरी होना आवश्यक है; क्योंकि सोम का अपना रंग वही है[8]।

सोम के वर्णन में आता है कि हाथों से इसे पवित्र करते हैं[9], दश अंगुलियों से[10] या आलंकारिक भाषा में, दश युवतियों से, जोकि विवस्वान् की बहनें या पुत्रियाँ हैं[11]। इसी प्रकार त्रित की युवतियों के विषय में कहा गया है कि वे बभ्रु (सोम) को द्रप्स-रूप में इन्द्र के पीने के लिए उकसाती हैं[12]। सोम के विषय में यह

---

1. उत्सं आसां परमे सधस्थं ऋतस्य पथा सरमा विदद्गाः ॥ ऋ० 5.45.8.
2. अयं द्यावा पृथिवी विष्कभायदयं रथमयुनक् सप्तरश्मिम् ।
   अयं गोषु शच्या पक्वमन्तः सोमो दाधार दशयन्त्रमुत्सम् ॥ ऋ० 6.44.24.
3. विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः । ऋ० 1.154.5.
4. वृक्षस्य शाखामरुणस्य बप्सतस्ते सूभर्वा वृषभाः प्रेमराविषुः ॥ ऋ० 10.94.3.
5. अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् । ऋ० 7.98.1.
6. परि सुवानो हरिरंशुः पवित्रे रथो न सर्जि सनये हियानः । ऋ० 9.92.1.
7. स यान्यरुण पुष्पाणि फाल्गुनानि तान्यभिषुणुयादेषवै सोमस्य न्यङ्गो
   य दरुण पुष्पाणि फाल्गुनानि । शत० 4.5.10.2
8. अरुणया पिङ्गाक्ष्या क्रीणात्येतद्वै सोमस्य रूपम् । तै० सं० 6.1.6.7
   सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयण्यथ या रोहिणी सा वार्त्रघ्नी । शत० 3.3.1.14.
9. पवमान मह्यर्णो वि धावसि सूरो न चित्रो अव्ययानि पव्यया ।
   गभस्ति पूतो नृभिरद्रिभिः सुतो महे वाजाय धन्याय धन्वसि ॥ ऋ० 9.86.34.
10. मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतयः । अनु विप्रा अमादिषुः ॥ ऋ० 9.8.4.
    एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सप्त धीतयः । स्वायुधं मदिन्तमम् ॥ ऋ० 9.15.8
11. तमीमण्वीः समर्य आ गृभ्णन्ति योषणो दश । स्वसारः पार्ये दिवि ॥ ऋ० 9.1.7
    यमत्यमिव वाजिनं मृजन्ति योषणो दश । वने क्रीळन्तमत्यविम् ॥ ऋ० 9.6.5
    नप्तीभिर्यो विवस्वतः शुभ्रो न मामृजे युवा । गाः कृण्वानो न निर्णिजम् ॥ ऋ० 9.14.5
12. आदीं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः । इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ ऋ० 9.32.2.

भी उल्लेख मिलता है कि वह सूर्य-दुहिता के द्वारा लाया या पीसा गया है[1]। कभी-कभी इसे स्तुति द्वारा पवित्र हुग्रा भी बताया गया है[2]। सोम-सवन करने वाला पुरोहित अध्वर्यु है[3]।

सोम-अंकुर को पाषाण या पाषाणों[4] द्वारा पीसा जाता है[5]। सोम-रस निकालने के लिए लता को कुचला जाता है[6]। पाषाण द्वारा इसके छिलके को अलग करते हैं[7]। पाषाणों को चर्म पर रखा जाता है, क्योंकि कहा गया है कि ये पाषाण 'सोम को गौ के चर्म पर चबाते हैं'[8]। वे वेदि पर रखे होते हैं[9]। यह ढंग उत्तरकालीन कर्मकाण्ड के ढंग से भिन्न है। इन पाषाणों को हाथों या भुजाओं से पकड़ते हैं[10]। दोनों भुजाएं और दश अँगुलियाँ पाषाण को काम में जोड़ती हैं[11]। अतः कहा गया है कि पाषाणों का नियमन दश रश्मियों के द्वारा होता है[12]।

एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ ऋ० 9.38.2.

1. पुनाति ते परिस्रुतं सोमं सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना ॥ ऋ० 9.1.6.
   अरममाणो अत्येति गा अभि सूर्यस्य प्रियं दुहितु स्तिरो रवम्।
   अन्वस्मै जोषमभरद्विनंगृसः सं द्वयीभिः स्वसृभिः क्षेति जामिभिः ॥ ऋ० 9.72.3.
   पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभरत्।
   तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन् तं सोमे रसमादधुरिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ऋ० 9.113.3.
2. एषस्य सोमो मतिभिः पुनानोऽत्यो न वाजी तरतीदरातीः।
   पयो न दुग्ध मदितेरिषिरमुर्विव गातुः सुयमो न वोळहा ॥ ऋ० 9.96.15.
   पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावाऽपो वसानो अधि सानो अव्ये।
   अव द्रोणानि घृतवान्ति सीद मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः ॥ ऋ० 9.96.13.
   पुनानो ब्रह्मणाहर इन्द्रायेन्दो परि स्रव। ऋ० 9.113.5.
3. अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति। ऋ० 8.4.11.
4. आ सोम सुवानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।
   जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दधिषे ॥ ऋ० 9.107.10
5. ग्राव्णा तुन्नो अभिष्टुतः पवित्रं सोम गच्छसि। दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥ ऋ० 9.67.19.
6. सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिम्। ऋ० 10.85.3.
7. यत्ते त्वचं विभिदुर्यच्च योनिम्। तै० ब्रा० 3.7.13.1.
8. अद्रयस्त्वा बप्सति गोरधि त्वच्य१प्सु त्वा हस्तैर्दुदुहुर्मनीषिणः ऋ० 9.79.4.
9. वदन् ग्रावाव वेदिं भ्रियाते यस्य जीरमध्वर्यवश्चरन्ति। ऋ० 5.31.12.
10. सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा। ऋ० 7.22.1. दे० 9.79.4. ऊपर।
    गृहाण ग्रावाणौ सुकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञियायज्ञमगुः। अथ० 11.1.10.
11. दशक्षिपो युञ्जते बाहू अद्रिं सोमस्य या शमितारा सुहस्ता। ऋ० 5.43.4.
12. ते अद्रयो दशयन्त्रास आशवस्तेषामाधानं पर्येति हर्यतम्। ऋ० 10.94.8.

क्योंकि उनके इस काम को 'जोतना' बताया गया है; अतः उनकी तुलना अश्वों से की गई है[1]। सवन-पाषाण का व्यावहारिक नाम अद्रि (जो साधारणतः √सु धातु के साथ प्रयुक्त होता है) या ग्रावा, जो साधारणतः वद् या इसके समानार्थक धातुओं के साथ प्रयुक्त होता है और इस प्रकार विग्रहवत्त्व की दिशा में इसका अद्रि की अपेक्षा अधिक रुझान है। दोनों शब्द प्रायः एकवचन या बहुवचन में आते हैं, द्विवचन में कभी नहीं। पाषाणों को अश्न[2], भरित्र[3], पर्वत[4] और पर्वता अद्रयः[5] भी कहा गया है। पाषाणों द्वारा सोम-सवन करना ऋग्वेद काल की प्रथा थी। किंतु उलूखल के द्वारा सोम पीसना भी—जिसका कि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में विधान किया गया है—ऋग्वेद काल में चालू था[6]; और क्योंकि यह ढंग पारसियों में भी मिलता है अतः प्रतीत होता है कि संभवतः भारत-ईरानी काल में भी इसका चलन होता रहा हो।

पीसने पर रिसी हुई बूँदें अवि के बालों से बनी छलनी में से छानी जाती हैं[7]। छानने से सोम की अशुद्धि या रेशे पृथक् हो जाते हैं और शुद्ध होने पर ही सोम देवताओं का भोज्य बन पाता है[8]। इस छलनी के अनेक नाम पड़ गए हैं, जैसे : त्वच्, रोमन्, वार, पवित्र या सानु। ये सभी नाम अवि शब्द से बने विशेषण के साथ अथवा उसके बिना भी प्रयुक्त हुए मिलते हैं। स्वयं अवि शब्द का भी आलंकारिक रूप से इस अर्थ में प्रयोग हुआ है। छलनी में से छनते हुए सोम को पवमान या पुनान (√पू) कहा गया है। अधिक व्यापक √मृज् धातु का प्रयोग न केवल सोम-शोधन के लिए, अपितु उसके साथ जल और दूध के मिश्रण के

1. उग्रा इव प्रवहन्तः समायमुः साकं युक्ता वृषणो बिभ्रतो धुरः।
यच्छ्वसन्तो जग्रसाना अराविषुः शृण्व एषां प्रोथथो अर्वतामिव॥ ऋ० 10.94.6.
2. नृभिर्धूतः सुतो अश्नै रव्यो वारैः परिपूतः। अश्वो न निक्तो नदीषु॥ ऋ० 8.2.2.
3. दे० 3.36.7. पृ० 273.
4. इमं नर पर्वतास्तुभ्यमापः समिन्द्र गोभि मधुमन्तमक्रन्। ऋ० 3.35.8.
5. यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः। ऋ० 10.94.1.
6. यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः॥ ऋ० 1.28.1-4 तक
7. परीतो वायवे सुतं गिर इन्द्राय मत्सरम्।
अव्यो वारेषुसिञ्चत॥ ऋ० 9.63.10.
एते सोमाः पवमानास इन्द्रं रथा इव प्रययुः सातिमच्छ।
सुताः पवित्रमति यन्त्यव्यं हित्वी वव्रिं हरितो वृष्टिमच्छ॥ ऋ० 9.69.9.
8. प्र राजा वाचं जनयन्नसिष्यददपो वसानो अभि गो इयक्षति।
गृभ्णाति रिप्रमविरस्य तान्वा शुद्धो देवानामुप याति निष्कृतम्॥ ऋ० 9.78 1.

लिए भी आया है[1]। अमिश्रित सोम-रस को कभी-कभी शुद्ध, किंतु अपेक्षाकृत अधिक बार शुक्र या शुचि बताया गया है[2]। इस अमिश्रित सोम को केवल वायु और इन्द्र के लिए देते हैं। 'शुचिपा' विशेषण वायु का अपना है। यह वर्णन परवर्ती कर्मकाण्ड की प्रथा के साथ संगत है, जहां कि ग्रहों में वायु या इन्द्र-वायु के लिए शुचि सोम प्रदान किया जाता है, किंतु मित्र-वरुण के लिए इसे दूध में और अश्विनों के लिए मधु में मिला कर देते हैं।

छलनी में से निकलकर सोम कलश या द्रोण में एकत्र होता है[3]। सोम-धाराएं दारु-पात्र में महिषों की भांति पड़ती हैं[4]। यह देवता दारु-पात्र में विराजने के लिए पक्षियों की भांति उड़कर जाता है[5]; वृक्ष पर बैठे पक्षी की तरह हरित (सोम) चमू में बैठ जाता है[6]। काष्ठपात्र में सोम-रस को जल के साथ मिलाया जाता है। ऊर्मि के साथ युक्त होने पर सोम-डंठल गिर जाता है[7]। जैसे साँड गौओं के रेवड़ में, उसी प्रकार सोम काष्ठ-पात्र में प्रविष्ट होता है। वह जलों की गोद में जाता और साँड की तरह रांभता है। अपने को जलावृत करके इन्दु-कोश की परिक्रमा करता है[8]। कवि अपने हाथों उसे जल में दुहते

---

1. हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मृजानोऽविभिः सिन्धुभिर्वृषा ॥ ऋ० 9.86.11.
2. इमे त इन्द्र सोमास्तीव्रा अस्मे सुतासः। शुक्रा आशिरं याचन्ते ॥ ऋ० 8.2.10.
   अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया। वाजं गोमन्तमक्षरन् ॥ ऋ० 9.33.2.
   सुत पाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये। सोमासो दध्याशिरः ॥ ऋ० 1.5.5.
   शतं वा यः शुचीनां सहस्रं वा समाशिराम्। एदु निम्नं न रीयते ॥ ऋ० 1.30.2.
3. अति वारान्पवमानो असिष्यदत्कलशाँ अभि धावति।
   इन्द्रस्य हार्द्याविशन् ॥ ऋ० 9.60.3.
4. प्र सोमासो विपश्चितोऽपां न यन्त्यूर्मयः। वनानि महिषा इव ॥ ऋ० 9.33.1.
   परि सद्मेव पशुमान्ति होता राजा न सत्यः समितीरियानः।
   सोमः पुनानः कलशाँ अयासीत् सीदन्मृगो न महिषो वनेषु ॥ ऋ० 9.92.6.
5. एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयति। अभि द्रोणान्यासदम् ॥ ऋ० 9.3.1.
6. नृबाहुभ्यां चोदितो धारया सुतोऽनुष्वधं पवते सोम इन्द्र ते।
   आप्राः क्रतून्त्समजैरध्वरे मतीर्वेर्न द्रुषच्चम्वोरासदद्धरिः ॥ ऋ० 9.72.5.
7. अरावीदंशुः सचमान ऊर्मिणा देवाव्यं मनुषे पिन्वति त्वचम्।
   दधाति गर्भमदितेरुपस्थ आ येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ ऋ० 9.74.5.
8. वृषेव यूथा परि कोशमर्षस्यपामुपस्थे वृषभः कनिक्रदत्।
   स इन्द्राय पवसे मत्सरिन्तमो यथा जेषाम समिथे त्वोतयः ॥ ऋ० 9.76.5.
   अपो वसानः परि कोशमर्षतीन्दुर्हियानः सोतृभिः।
   जनयञ्ज्योतिर्मन्दना अवीवशद् गाः कृण्वानो न निर्णिजम् ॥ ऋ० 9.107.26.

हैं[1]। ऊन में से छन जाने के बाद और काष्ठ-पात्र में क्रीडा करने के उपरांत उसे दश युवतियाँ शुद्ध करती हैं[2]। अनेक मन्त्रों में सोम का जल के साथ मिश्रित होना दिखाया गया है[3]। सोम की बूंदें स्रोतों में प्रकाश फैलाती हैं[4]। जल-मिश्रण के[5] सूचक √मृज् धातु के अतिरिक्त शुद्धयर्थक √आ-धाव् धातु का भी प्रयोग इस अर्थ में हुआ है[6]। सोम तैयार करने की प्रक्रिया में प्रथम सवन आता है; तदुपरान्त जल-मिश्रण[7]; ठीक उसी तरह जैसे बाद के कर्मकाण्ड में 'सवन' कार्य 'आधावन' के पूर्व आता है। पात्रों में सोम को दूध के साथ मिलाते[8] हैं; दूध इसे मीठा बना देता है[9]। अनेक मन्त्रों में जल तथा दूध दोनों के मिश्रण का वर्णन आता है। इस प्रकार कहा गया है कि सोम अपने को जल-वस्त्र से आवृत करता है, जल-स्रोत इसके पीछे-पीछे प्रवाहित होते हैं, जब वह गौओं में अपने को छिपाने की कामना करता है[10]। उसे पाषाणों से पीसा जाता है और जल में धोया जाता है; मानों

---

1. दे० 9.79.4. पृ० 275.
2. दे० 9.6.5. पृ० 274.
3. अप्सु त्वा मधुमत्तमं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दविन्द्राय पीतये॥ ऋ० 9.30.5.
   तं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम्। इन्दुमिन्द्राय मत्सरम्॥ ऋ०9.53.4.
   राजा समुद्रं नद्यो३ वि गाहतेऽपामूर्मिं सचते सिन्धुषु श्रितः।
   अध्यस्थात् सानु पवमानो अव्ययं नाभा पृथिव्या धरुणो महो दिवः॥ ऋ० 9.86.8.
   अव्ये पुनानं परि वार ऊर्मिणा हरिं नवन्ते अभि सप्त धेनवः।
   अपामुपस्थे अध्यायवः कविमृतस्य योना महिषा अहेषत॥ ऋ० 9.86.25.
4. धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः।
   हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुते नदीष्वा॥ ऋ० 9 76.1.
5. तमीं मजन्त्यायवो हरिं नदीषु वाजिनम्। इन्दुमिन्द्राय मत्सरम्॥ ऋ० 9.63.17.
6. सोता हि सोममद्रिभिरेमेनमप्सु धावत।
   गव्या वस्त्रेव वासयन्त इन्नरो निर्धुक्षन् वक्षणाभ्यः॥ ऋ० 8.1.17.
7. यस्ते गभीरा सवनानि वृत्रहन्त्सुनोत्या च धावति॥ ऋ० 7.32.6.
   दे० 8.1.17. ऊपर
   या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा॥ ऋ० 8.31.5.
   इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत। अथ० 6.2.1.
8. पुनान कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरिः। परि गव्यान्यव्यत॥ ऋ० 9.8.6.
9. तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः। इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे॥ ऋ० 8.2.3.
10. अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः अपो वसिष्ट सुक्रतुः॥ ऋ० 9.2.3.
    महान्तं त्वा महीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः।
    यद्गोभिर्वासयिष्यसे॥ ऋ० 9.2.4.

उसे गव्य वस्त्र में ढक लिया जाता है। मनुष्य उसे डण्ठल में से दुहते हैं[1]।

ऋग्वेद में सोम की दोह्नी (मिश्रित रूप) के तीन रूप दीख पड़ते हैं[2]—गवाशिर्, दध्याशिर् और यवाशिर्। इस मिश्रण का आलंकारिक रूप से वस्त्र, वासस्, अत्क या निर्णिज्[3], इन शब्दों से वर्णन किया गया है। निर्णिज् शब्द का प्रयोग छलनी के लिए भी आता है[4]। फलतः सोम को सौन्दर्य-संवलित बताया गया है[5]। घृत के साथ भी सोम-मिश्रण के कुछ उल्लेख मिलते हैं[6]; किंतु घृत और जल के मिश्रण स्थायी आशिर् नहीं हैं।

कर्मकाण्ड में एक आप्यायन नामक क्रिया का भी निर्देश आता है। आप्यायन का अर्थ है: अर्ध-सुत सोम-डण्ठलों को फिर से पानी में डालकर नर्म करके फुलाना। इस कर्म का आरम्भ मैत्रायणी संहिता[7] में मिलता है। आ+√प्या धातु का ऋग्वेद में सोम के संबन्ध में प्रयोग हुआ है[8]। इस प्रसंग में यह सोम के तद्रूप चन्द्रमा का संकेतक प्रतीत होता है किंतु एक अन्य मन्त्र में इसका यज्ञ संबन्धी प्रयोग भी संभव है[9]। ऋग्वेद में सोम का समुद्र या नदी की भाँति 'पी' या 'पिन्व'

---

1. दे० 8.1.17. पृ० 278.
   तुभ्यं हिन्वानो वसिष्ट गा अपोऽधुक्षन्त्सीमविभिरद्रिभिर्नरः। ऋ० 2.36.1.
   तमुंते गावो नर आपो अद्रिरिन्दुं समह्यन् पीतये समस्मै। ऋ० 6.40.2.
   त्वां सोम पवमानं स्वाध्योऽनु विप्रासो अमदन्नवस्यवः।
   त्वां सुपर्ण आभरद् दिवस्परीन्दो विश्वाभिर्मतिभिः परिष्कृतम्॥ ऋ० 9.86.24.
   दे० 9.86.25. पृ० 278.
   चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
   अपामूर्मि सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥ ऋ० 9.96.19.
2. यस्य मा परुषाः शतमुद्धर्षयन्त्युक्षणः।
   अश्वमेधस्य दानाः सोमाइव त्र्याशिरः॥ ऋ० 5.27.5.
3. दे० 9.14.5. पृ० 274.
4. रुवति भीमो वृषभस्तविष्यया शृङ्गे शिशानो हरिणी विचक्षणः।
   आ योनिं सोमः सुकृतं निषीदति गव्ययी त्वग्भवति निर्णिगव्ययी॥ ऋ० 9.70.7.
5. भुवत् त्रितस्य मर्ज्यो भुवदिन्द्राय मत्सरः। सं रूपैरज्यते हरिः॥ ऋ० 9.34.4.
   प्र सोमस्य पवमानस्योर्मय इन्द्रस्य यन्ति जठरं सुपेशसः। ऋ० 9.81.1.
6. अप सेधन्दुरिता सोम मृळय घृतं वसानः परि यासि निर्णिजम्। ऋ० 9.82.2.
7. वसतीवरीभिः सोममाप्याययन्ति। मै० सं० 4.5.5.
8. आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य संगथे॥ ऋ० 1.91.16.
   यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः। ऋ० 10.85.5.
9. दे० 9.31.4. के लिए 1.91.16. ऊपर।

करना भी कहा गया है[1]।

ऋग्वेद के अनुसार सोम का सवन दिन में तीन बार किया जाता था। इस प्रकार ऋभुओं को सायं सवन में[2] और इन्द्र को माध्यंदिन सवन में[3]—जो एकमात्र उन्हीं का है—न्यौता गया है जबकि प्रातः सवन इन्द्र का सबसे पहला प्रातराश है[4]।

सोम के आवास (सधस्थ) का बहुधा उल्लेख मिलता है। किंतु एक बार तीन आवासों का उल्लेख हुआ है, जहाँ वे पवित्र होकर वास करते हैं[5]; एक अन्य मन्त्र में उनके लिए त्रिषधस्थ विशेषण का प्रयोग मिलता है। ये तीनों आवास परवर्ती काल में सोमयाग में उपयुक्त तीन बड़े ह्रदों के पूर्व रूप कहे जा सकते हैं[6]। किंतु बेर्गेन इन ह्रदों को एकान्ततः गाथात्मक मानते हैं। कुछ इसी प्रकार की व्याख्या इन्द्र के द्वारा तीन ह्रदों के सोमपान की भी की जा सकती है[7]। त्रिपिष्ठ विशेषण सोम का अपना है। इस विशेषण का कम-से-कम एक बार सोम-रस के लिए भी प्रयोग आया है[8]। हो सकता है कि यह (जैसाकि सायणाचार्य का विचार है) तीनों सोम-मिश्रणों का बोधक रहा हो, ठीक वैसे ही जैसेकि अग्नि का 'घृतपृष्ठ' विशेषण अग्नि में घृत डालने का बोधक है।

सोम-रस के साथ जल-मिश्रण के आधार पर उत्पन्न हुए सोम-जल-संबन्ध की अभिव्यक्ति तीन प्रकार से की गई है। सोम के लिए स्रोत प्रवाहित होते हैं[9]।

---

1. दे॰ 9.64.8. पृ॰ 273.
   प्र सो॑म दे॒ववी॑तये॒ सिन्धु॒र्न पि॑प्ये॒ अर्ण॑सा। ऋ॰ 9.107.12.
2. ते नू॒नम॒स्मे ऋ॑भवो॒ वसू॑नि तृ॒तीये॑ अ॒स्मिन्त्सव॑ने दधात। ऋ॰ 4.33.11.
3. इन्द्र॒ सोमं॑ सोमपते॒ पिबे॒मं माध्यं॑ दिनं॒ सव॑नं॒ चारु॒ यत्ते॑। ऋ॰ 3.32.1.
   माध्यं॑दिने॒ सव॑ने वज्रहस्त॒ पिबा॑ रु॒द्रेभिः॒ सग॑णः सुशिप्र। ऋ॰ 3.32.3.
   माध्यं॑दिनस्य॒ सव॑नस्य वृत्रहन्ननेद्य॒ पिबा॒ सोम॑स्य वज्रिवः। ऋ॰ 8.37.1.
4. इन्द्र॒ पिब॑ प्रतिका॒मं सु॒तस्य॑ प्रातः सा॒वस्तव॒ हि पूर्व॑ पीतिः। ऋ॰ 10.112.1.
5. परि॒ वारा॑ण्य॒व्यया॒ गोभि॑रञ्जा॒नो अ॑र्षति।
   त्री ष॒धस्था॑ पुना॒नः कृ॑णुते॒ हरिः॑॥ ऋ॰ 9.103.2.
6. त्र॒यः कोशा॑सः श्चोतन्ति ति॒स्रश्च॒म्व१ः सुपूर्णाः। स॒माने॒ अधि॒ भार्म॑न्॥ ऋ॰ 8.2.8.
7. त्री सा॒कमिन्द्रो॒ मनु॑षः सरां॑सि सु॒तं पि॑बद् वृ॒त्रहत्या॑य॒ सोम॑म्। ऋ॰ 5.29.7.
   त्री सरां॑सि म॒घवा॑ सो॒म्यापाः। ऋ॰ 5.29.8.
   दे॰ 6.17.11. पृ॰ 273.
   त्रीणि॒ सरां॑सि पृश्न॑यो दुदु॒ह्रे व॒ज्रिणे॒ मधु॑। उत्सं॒ कबन्ध॑मु॒द्रिण॑म्॥ ऋ॰ 8.7.10.
8. अ॒भि त्रि॒ पृ॒ष्ठैः सव॑नेषु॒ सोमैः॑। ऋ॰ 7.37.1.
9. तुभ्यं॒ वाता॑ अभि॒प्रिय॒स्तुभ्य॑ म॒र्षन्ति॒ सिन्ध॑वः। सोमं॒ वर्ध॑न्ति ते॒ महः॑॥ ऋ॰ 9.31.3.

जल उनके विधानों का अनुगमन करते हैं[1]। वे स्रोतों के आगे-आगे प्रवाहित होते हैं[2]। वे स्रोतों के पति एवं सम्राट् हैं[3]; वे पत्नियों के भर्ता हैं[4]; वे समुद्रिय सम्राट् एवं देवता हैं[5]; जल उनकी बहनें हैं[6]। जल-नेता होने के नाते सोम का वर्षा पर भी शासन है[7]। वे जलों का आविर्भाव करते और द्यावा-पृथिवी पर उन्हें बरसाते हैं[8]। वे स्वर्ग से वृष्टि करते हैं[9]। स्वयं सोम-बिन्दुओं की कई बार वृष्टि से तुलना की गई है[10] और कहा गया है कि सोम मधु-धारा के साथ वैसे ही प्रवाहित होते हैं जैसे पर्जन्य वर्षा के साथ[11]। इसी प्रकार पवमान बिन्दु स्वर्ग से और वायु से पृथिवी की ओर प्रवाहित होते हैं[12]। कुछ अन्य मन्त्रों में दुहा हुआ सोम वृष्टि का

---

1. तव॑ व्र॒तमन्वाप॑: सचन्ते। ऋ० 9.82.5.
2. अग्रे॒ सिन्धू॑नां॒ पव॑मानो अर्षति। ऋ० 9.86.12.
3. ए॒ष रु॒क्मिभि॑रीयते वा॒जी शु॒भ्रेभि॑रं॒शुभि॑:। पति॑: सिन्धू॑नां॒ भव॑न्॥ ऋ० 9.15.5.
   राजा॒ सिन्धू॑नां पवते॒ पति॑र्दि॒व ऋ॒तस्य॑ याति प॒थिभि॑: कनि॑क्रदत्।
   स॒हस्र॑धार॒: परि॑षिच्यते॒ हरि॑: पुना॒नो वाचं॑ ज॒नय॒न्नुपा॑वसुः॥ ऋ० 9.86.33.
   राजा॒ सिन्धू॑नामवसिष्ट॒ वास॑ ऋ॒तस्य॑ ना॒वमारु॑हद्र॒जिष्ठाम्।
   अ॒प्सु द्र॒प्सो वा॑वृधे श्ये॒नजू॑तो दु॒ह ईं॑ पि॒ता दु॒ह ईं॑ पि॒तुर्जाम्॥ ऋ० 9.89.2.
4. स सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒: परि॑ व्यत॒ तन्तुं॑ त॒न्वान॑स्त्रि॒वृतं॒ यथा॑ वि॒दे।
   नय॑न्नृ॒तस्य॑ प्र॒शिषो॒ नवी॑यसी॒: पति॒र्जनी॑ना॒मुप॑ याति निष्कृतम्॥ ऋ० 9.86.32.
5. नृभि॑र्येमा॒नो ह॑र्य॒तो वि॑चक्ष॒णो राजा॑ दे॒वः स॑मु॒द्रिय॑:। ऋ० 9.107.16.
6. स्वसा॑र॒ आपो॑ अ॒भि गा उ॒तास॑रन्। ऋ० 9.82.3.
7. ईशे॒ यो वृ॒ष्टेरि॒त उ॒स्रियो॒ वृषा॒ऽपां ने॒ता य इ॒त ऊ॑तिरृ॒ग्मिय॑:। ऋ० 9.74.3.
8. कृ॒ण्वन्न॒पो व॒र्षय॒न्द्याम॒ुतेमा॒मु॒रोरा नो॑ वरिवस्या पुना॒नः। ऋ० 9.96.3.
9. वृ॒ष्टिं दि॒वः परि॑ स्रव द्यु॒म्नं पृ॑थि॒व्या अधि॑। सहो॑ नः सोम पृ॒त्सु धा॑:॥ ऋ० 9.8.8.
   पव॑स्व वृ॒ष्टिमा सु नो॒ऽपामू॒र्मिं दि॒वस्परि॑। अ॒य॒क्ष्मा बृ॑ह॒तीरिष॑:॥ ऋ० 9.49.1.
   वृ॒ष्टिं नो॑ अर्ष दि॒व्यां जि॑ग॒त्नुम्। ऋ० 9.97.17.
   अ॒भि द्यु॒म्नं बृ॒हद्यश॒ इष॑स्पते दिदी॒हि दे॑व देव॒युः। वि कोशं॑ मध्य॒मं यु॑व॥ ऋ० 9.108.9.
   वृ॒ष्टिं दि॒वः प॑वस्व री॒तिम॒पां जिन्वा॒ गवि॑ष्टये॒ धिय॑:। ऋ० 9.108.10.
10. शृ॒ण्वे वृ॒ष्टेरि॑व स्व॒नः पव॑मानस्य शु॒ष्मिण॑:। चर॑न्ति वि॒द्युतो॑ दि॒वि॥ 9.41.3.
    प्रो स्य वह्नि॑: प॒थ्या॑भिरस्यान्दि॒वो न वृ॒ष्टिः पव॑मानो अक्षाः।
    स॒हस्र॑धारो॒ अस॑द॒न्न्य॑१॒स्मे मा॒तुरु॒पस्थे॒ वन॒ आ च॒ सोम॑:॥ ऋ० 9.89.1.
    आ न॑: सु॒तास॒ इन्द॑वः पुना॒ना धा॑वता र॒यिम्।
    वृ॒ष्टिद्या॑वो रीत्यापः स्व॒र्विद॑:॥ ऋ० 9.106.9.
11. अ॒स्मभ्य॑मिन्दविन्द्र॒युर्मध्व॑: पवस्व॒ धार॑या। प॒र्जन्यो॑ वृ॒ष्टिमाँ॑ इव। ऋ० 9.2.9.
12. पव॑माना दि॒वस्पर्य॒न्तरि॑क्षादसृक्षत। पृ॒थि॒व्या अधि॒ सान॑वि॥ ऋ० 9.63.27.

बोधक प्रतीत होता है[1]। शतपथ ब्राह्मण[2] में अमृत का तादूप्य जलों के साथ किया गया है। इसी तादूप्य में श्येन द्वारा मनुष्यों के पास सोम लाने की गाथा का जन्म निहित प्रतीत होता है। किंतु साधारणतया पृथिवी पर अवतीर्ण होनेवाले दिव्य सोम को वृष्टि-मिश्रित माना गया है न कि वृष्टि से बिलकुल अलग।

जलों से कहा गया है कि वे मादक ऊर्मि को गतिमान् बनावें, जो (ऊर्मि) कि इन्द्र का पेय है और आकाश में टंगा हुआ एक कूप है[3]। सोम वह पेय है, जो जलों में बढ़ता है[4]। अतः वह जल-गर्भ है[5]। वह उनका शिशु है, क्योंकि सात बहनें माता के रूप में शिशु (सोम) के चारों ओर खड़ी रहती हैं, यह शिशु नवजात है और जलों का गंधर्व है[6]। जलों को प्रत्यक्षतः भी सोम की माता कहा गया है। सोम जलों या गौओं के मध्य आनन्द लेनेवाला युवक है[7]।

जब सोम को पवित्र किया जाता है और जब वह कोशों या कलशों में गिरता है तब उससे एक प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है। इस ध्वनि का पुनः पुनः संकेतन किया गया है। इसकी तुलना वर्षा की रिमझिम से की गई है[8]। किंतु इन प्रकरणों की भाषा सामान्यतया अत्युक्तिपूर्ण बन गई है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि मधुर द्रप्स छलनी में से योद्धाओं की पंक्तियों की भांति प्रवाहित

---

1. दे० 8.7.10. पृ० 280.
   आत्मन्वन्नभो दुह्यते घृतं पय ऋतस्य नाभिरमृतं वि जायते। ऋ० 9.74.4.
   अपां नपान्मधुमतीरपो दाः। ऋ० 10.30.4.
2. अमृतं वा आपः। शत० ब्रा० 11.5.4.5.
3. तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति।
   मदच्युतमौशानं नभोजां परि त्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम्॥ ऋ० 10.30.9.
4. दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतो वेना दुहन्त्युक्षणं गिरिष्ठाम्।
   अप्सु द्रप्सं वावृधानं समुद्र आ सिन्धोरूर्मा मधुमन्तं पवित्र आ॥ 9.85.10.
   दे० 9.89.2. पृ० 281.
5. महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत देवान्। ऋ० 9.97.41.
   देवीराप एष वो गर्भ इत्यपां ह्येष गर्भः। शत० ब्रा० 4.4.5.21.
6. सप्त स्वसारो अभि मातरः शिशुं नवं जज्ञानं जेन्यं विपश्चितम्।
   अपां गन्धर्वं दिव्यं नृचक्षसं सोमं विश्वस्य भुवनस्य राजसे॥ ऋ० 9.86.36.
   सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवतन्नृतम्। ऋ० 10.13.5.
7. दे० 5.45.9. पृ० 271.
   ता अभि सन्तमस्तृतं महे युवानमा दधुः। इन्दुमिन्द्र तव व्रते॥ ऋ० 9.9.5.
8. दे० 9.41.3. पृ० 281.

होते हैं[1] । इस ध्वनि को अनेक गर्जनार्थक धातुओं (क्रन्द्, नद, मा, रु, वाश्)[2] के प्रयोग द्वारा व्यक्त किया गया है। इस संबन्ध में स्तन् धातु तक का प्रयोग आ गया है[3] और कहा गया है कि कवि लोग स्तनयित्नु एवं अच्युत डण्ठल को दुहते हैं[4] । सोम के पवित्रीकरण में विद्युत् तक को कई मन्त्रों में संपृक्त कर लिया गया है[5] । इससे दिव्य सोम के पवित्रीकरण का बोध हो सकता है और यह स्तनयित्नु तूफ़ान के दृश्य की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। जब सोम के रव का वर्णन करना होता है तब साधारणतया उसकी उपमा वृषभ के साथ दी जाती है अथवा उसे सीधा वृषभ ही कहा जाता है। वृषभ की भांति वह काष्ठ में रांभता है[6]; हरित वृषभ हिंकार करता हुआ सूर्य के साथ प्रकाशित होता है[7] । जैसे दूध से मिश्रित या उससे अमिश्रित जलों को आलंकारिक रूप से गौएं कहा गया है उसी प्रकार सोम-जल के संबन्ध को वृषभ-गो-संबन्ध के रूप में दिखाया गया है। वह गौओं के धन (herd) में एक सांड है[8], वह गौओं का भर्ता है[9] । वह गौओं के धन में गल्हारने वाला सांड है[10] । गौएं उसे देख धड़कने लगती हैं[11] । वह स्वर्ग, पृथिवी एवं स्रोतों

---

1. पवमानः संतनिः प्रघ्नतामिव मधुमान् द्रप्सः परि वारमर्षति । ऋ० 9.69.2.
2. वृषा वृष्णे रोरुवदंशुरस्मै पवमानो रुशदीर्ते पयो गोः । ऋ० 9 91.3.
   दे० 9.95.4. पृ० 164.
3. दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत् । ऋ० 9.86.9.
4. अंशुं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितं कविं कवयोऽपसो मनीषिणः । ऋ० 9.72.6.
5. दे० 9.41.3. पृ० 281.
   सोमस्य धारा पवते नृचक्षस ऋतेन देवान् हवते दिवस्परि ।
   बृहस्पते रवथेना वि दिद्युते समुद्रासो न सवनानि विव्यचुः ॥ ऋ० 9.80.1.
   आ विद्युता पवते धारया सुतः । ऋ० 9.84.3.
   दिवो न विद्युत् स्तनयन्त्यभ्रैः सोमस्य ते पवत इन्द्र धारा । ऋ० 9.87.8.
6. प्र युजो वाचो अग्रियो वृषाव चक्रदद्वने । सद्माभि सत्यो अध्वरः ॥ ऋ० 9.7.3.
7. अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान् मित्रो न दर्शतः । सं सूर्येण रोचते ॥ ऋ० 9.2.6.
8. शूरो न गोषु तिष्ठति । ऋ० 9.16.6.
   उक्षा मिमाति प्रति यन्ति धेनवो देवस्य देवीरुप यन्ति निष्कृतम् । ऋ० 9.69.4.
   प्रावीविपद्वाच ऊर्मिं न सिन्धुर्गिरः सोमः पवमानो मनीषाः ।
   अन्तः पश्यन् वृजनेमावराण्या तिष्ठति वृषभो गोषु जानन् ॥ ऋ० 9.96.7.
9. पतिर्गवां प्रदिव इन्दुर्ऋत्वियः । ऋ० 9.72.4.
10. उक्षेव यूथा परियन्नरावीत् । ऋ० 9.71.9.
    परा व्यक्तो अरुषो दिवः कविर्वृषा त्रिपृष्ठो अनविष्ट गा अभि ! ऋ० 9.71.7.
11. यं त्वा वाजिन्नघ्न्या अभ्यनूषत । ऋ० 9.80.2.

का सांड है[1] । सोम की धृष्टता का महिष की ढिठाई के साथ साम्य दिखाया गया है और इन प्रसंगों में उसे पशु तक की संज्ञा दे दी गई है[2] । गो-जल के मध्य वृषभ होने के नाते वह जलों को गर्भ धारण कराता है[3] । वह रेतोधा है । इस विशेषण का प्रयोग यजुर्वेद में चन्द्रमा के लिए भी आया है । वह गर्भदाता है[4] । सोम एक उक्षा है, वृषन् है, वृषभ है, उसके पैने सींग (तिग्म-शृङ्ग) हैं । यह विशेषण ऋग्वेद में पांच बार आता है और पांचों बार इसका वृषभार्थक शब्द के साथ संपर्क हुआ है । इस प्रकार इन्द्र का मन्थ तिग्मशृङ्ग वृषभ जैसा है[5] । अग्नि की भांति सोम भी अपने सींगों को पैनाता रहता है[6] ।

सोम तेज़ गतिवाला है[7] । सोम-रस के प्रवाह को घोड़े-जैसा क्षिप्र बताया गया है । इस प्रकार कहा गया है कि दश युवतियां उसे आशु अश्व की न्याईं साफ़ करती हैं[8] । इन्द्र को मद-मत्त बनानेवाली बूंद एक हरित अश्व है[9] । कोशों में बहनेवाले सोम की उपमा कभी-कभी वन की ओर उड़नेवाले पक्षियों से दी गई है[10] ।

सोम-रस पीत वर्ण का होता है, अतः ऋषियों ने इसके शारीरिक गुण को भास्वर बताया है । वह सूर्य की भांति या सूर्य के साथ चमकता है और अपने-आपको इसके किरण-वस्त्रों से परिवेष्टित कर लेता है[11] । वह सूर्य के रथ पर

---

1. वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् । ऋ० 6.44.21.
2. हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते । ऋ० 9.86.43.
3. अपां पेरुं जीवधन्यं भरामहे देवाव्यं सुहवमध्वरश्रियम् । ऋ० 10.36.8.
   कुविद् वृषण्यन्तीभ्यः पुनानो गर्भमादधत् । याः शुक्रं दुहते पयः । ऋ० 9.19.5.
   गोवित्पवस्व वसुविद्धिरण्यविद् रेतोधा इन्दो भुवनेष्वर्पितः । ऋ० 9.86.39.
   सोमो रेतोधा । मै० सं० 1.6.9.
4. इन्द्रस्य सोम राधसे शं पवस्व विचर्षणे । प्रजावद्रेत आभर ॥ ऋ० 9.60.4.
   दे० 9.74.5. पृ० 277.
5. वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत् । ऋ० 10.86.15.
6. एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो वृषा । नृम्णा दधान ओजसा । ऋ० 9.15.4.
   रुवति भीमो वृषभस्तविष्यया शृङ्गे शिशानो हरिणी विचक्षणः । ऋ० 9.70.7.
7. एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् । पतयन्मन्दयत्सखम् ॥ ऋ० 1.4.7.
8. दे० 9.6.5. पृ० 274.
9. दे० 9.63.17. पृ० 278.
10. दे० 9.72.5. पृ० 277.
11. विश्वस्य राजा पवते स्वर्दृश ऋतस्य धीतिमृषिषाळवीवशत् ।
    यः सूर्यस्यासिरेण मृज्यते पिता मतीनामसमष्टकाव्यः ॥ ऋ० 9.76.4.

आरोहण करता है और सूर्य की भांति सभी प्राणियों के ऊपर डट जाता है। वह सूर्य की तरह अपनी किरणों से पृथिवी और स्वर्ग को आपूरित करता है[1]। जब वह एक भास्वर पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ तब उसने अपने माता-पिता को भी चमचमा दिया[2]। सूर्य-पुत्री भी उसे पवित्र करती है[3]। अतः सोम के लिए आया है कि वह अन्धकार से युद्ध करता है[4] और उसे प्रकाश के द्वारा कील देता है अथवा वह दिव्य प्रकाश को उत्पन्न करता और अन्धकार को ध्वस्त कर देता है[5]।

अमित मात्रा में पीनेवाले को यह दीवाना और ऊर्जस्वल बना देता है। सोम की यह शक्ति अन्य सभी पेयों की अपेक्षा कहीं बढ़कर है। यह उसे असाधारण वीर कार्यों के लिए प्रेरित करती है। अतएव इसे अमृतत्व प्रदान करनेवाला दिव्य पेय भी बताया गया है। गाथात्मक रूप में इसे अमृत भी कहा गया है। यह एक अमर प्रेरक है[6] जिसपर देवता तक मरते हैं[7] और मनुष्यों के हाथों पीसे जाने और दुग्ध के साथ मिश्रित हो जाने पर वे इसे कणेहत्य पीते हैं[8]। तब वे आनन्द में रत हो जाते[9] और उल्लास में सराबोर हो जाते हैं[10]। सोम अमर है[11]।

अधि त्विषीरधित सूर्यस्य। ऋ० 9.71.9. दे० 9.86.32. पृ० 281.

1. स पवस्व विचर्षण आ मही रोदसी पृण। उषाः सूर्यो न रश्मिभिः॥ ऋ० 9.41.5.
2. स सूनुर्मातरा शुचिर्जातो जाते अरोचयत्। महान्मही ऋतावृधा॥ ऋ० 9.9.3.
3. दे० 9.1.6. पृ० 275.
4. अवा कल्पेषु नः पुमस्तमांसि सोम योध्या। तानि पुनान जङ्घनः॥ ऋ० 9.9.7.
5. पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत्। कृष्णा तमांसि जङ्घनत्॥ ऋ० 9.66.24.
   पवमान महि श्रवश्चित्रेभिर्यासि रश्मिभिः।
   शर्धन् तमांसि जिघ्नसे विश्वानि दाशुषो गृहे॥ ऋ० 9.100.8.
   वृषा विजज्ञे जनयन्नमर्त्यः प्रतपञ्ज्योतिषा तमः। ऋ० 9.108.12.
6. इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्। ऋ० 1.84.4.
7. दक्षो देवानामसि हि प्रियो मदः। ऋ० 9.85.2.
8. पिबन्त्यस्य विश्वे देवासः। ऋ० 9.109.15.
9. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
   यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ ऋ० 8.2.18.
10. विश्वे देवा अमत्सत। ऋ० 8.69.11.
11. यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्नृतस्य।
    मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्तीः सोम वेदः॥ ऋ० 1.43.9.
    यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां आविवेश। ऋ० 8.48.12.
    दे० 9.3.1. पृ० 277.

देवताओं ने अमृतत्व के लिए इसका पान किया है[1]। सोम देवताओं को अमृतत्व प्रदान करता है[2] और साथ ही मनुष्यों को भी[3]। वह अपने उपासकों को सनातन एवं अखण्ड लोक में स्थापित करता है, जहां अनन्त प्रकाश है और यश है; वह उन्हें वहां अमर बना देता है जहां स्वयं सम्राट् वैवस्वत विराजमान हैं[4]।

इस प्रकार सोम में एक प्रकार की स्वाभाविक भैषज्य-शक्ति भी है। रोगियों के लिए सोम निरामय एक रसायन औषध है। फलतः सोम रोगियों का उपचार करते देखे गये हैं। उन्होंने अन्धों को दृष्टि और लंगड़ों को गति प्रदान की है[5]। वे मनुष्यों के अङ्ग-संरक्षक हैं, वे उनके अङ्ग-अङ्ग में व्यापे हुए हैं[6] और मनु वर्ग को वे ही दीर्घायु प्रदान करते हैं[7]। सोम हृदय के पापों को धो देता है; वह अनृत का विनाश और सत्य का संवर्धन करता है।

जीभ पर पड़ते ही सोम वाणी में जान डाल देता है[8]। वाणी को वह वैसे ही जीवट देता है जैसे पतवार नाव को[9]। निःसंदेह इसी कारण सोम को 'वाचस्पति'[10]

1. त्वां देवासो अमृताय कं पपुः। ऋ० 9.106.8.
2. त्वं ह्य१ङ्ग दैव्या पवमान जनिमानि द्युमत्तमः। अमृतत्वाय घोषयः॥ ऋ० 9.108 3
3. अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। ऋ० 8.48.3.
4. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव॥ ऋ० 9.113.7.
यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ऋ० 9.113.8.
5. प्रान्धं श्रोणं च तारिषद्विवक्षसे। ऋ० 10.25.11.
6. त्वं हि नस्तन्वः सोम गोपाः। ऋ० 8.48.9.
7. त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे। प्रियस्तोत्रो वनस्पतिः। ऋ० 1.91.6.
प्रण आयुर्जीवसे सोम तारीः। ऋ० 8.48.4.
सोम राजन् प्र ण आयूंषि तारीः। ऋ० 8.48.7.
तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक् पश्येम सूर्यम्। अथा नो वस्यसस्कृधि॥ ऋ० 9.4.6.
ज्योङ्नः सूर्यं दृशये रिरीहि। ऋ० 9.91.6.
8. अयं मे पीत उदियर्ति वाचमयं मनीषामुशतीमजीगः। ऋ० 6.47.3.
हिन्वानो वाचमिष्यसि पवमान विधर्मणि। ऋ० 9.84.4.
इष्यन्वाचमुपवक्तेव होतुः पुनान इन्दो वि ष्या मनीषाम्। ऋ० 9.95.5.
स इन्द्राय पवसे मत्सरवान् हिन्वानो वाचं मतिभिः कवीनाम्। ऋ० 9 97.32.
9. हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम्। ऋ० 9.95.2.
10. तमह्यन् भुरिजोर्धिया संवसानं विवस्वतः। पतिं वाचो अदाभ्यम्॥ ऋ० 9.26.4.
इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन्।

या 'वाचो अग्रिय' या 'अग्रे वाचाम्'[1] कहा गया है। वह स्वर्ग से अपनी रांभ को उठाता है[2]। ब्राह्मणों में वाक् को देवताओं द्वारा चुकाया गया सोम का मूल्य बताया गया है। सोम कामनाओं को कुमुकाता है[3]। फलतः सोम का उपासक बोल उठता है:—'हमने सोम पी लिया है, हम अमर बन गये हैं, हम प्रकाश-लोक में पहुंच गये हैं, हमने देवताओं को देख लिया है'[4]। अतः सोम को 'मनस्पति', सूक्तों का पिता, नेता या जनक भी कहा गया है। सोम कवियों के मूर्धन्य और पुरोहितों में द्रष्टा हैं[5]। उनमें ऋषियों की मनीषा है, वे ऋषियों के निर्माता[6] एवं स्तोत्रों के रक्षक हैं[7]। वे यज्ञ की आत्मा हैं[8], देवों में ब्रह्मा हैं और उनका यज्ञ में अपना भाग है[9]। सोम की प्रज्ञा के विषय में भी विवरण मिलते हैं। वे एक मेधावी ऋषि हैं[10]। वे देवताओं की जनिमाओं को पहचानते हैं[11]; वे बुद्धिमान्, मानवदर्शी ऊर्मि हैं[12]। सोम विवेक के साथ प्राणियों का निरीक्षण करते

वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा॥ ऋ० 9.101.5.

1. पवस्व वाचो अग्रियः सोम चित्राभिरूतिभिः।
अभि विश्वानि काव्या॥ ऋ० 9.62.25. दे० 9.7.3. पृ० 283.
त्वं समुद्रिया अपोऽग्रियो वाच ईरयन्। पवस्व विश्वमेजय। ऋ० 9.62.26.
अग्रे सिन्धूनां पवमानो अर्षत्यग्रे वाचो अग्रियो गोषु गच्छति। ऋ० 9.86.12.
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत्। ऋ० 9.106.10.
2. यो धारया मधुमाँ ऊर्मिणा दिव इयर्ति वाचं रयिषाळमर्त्यः। ऋ० 9.68.8.
3. दे० 6.47.3. पृ० 286.
4. दे० 8.48.3. पृ० 286.
5. ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्। ऋ० 9.96.6.
6. ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम्। ऋ० 9.96.18.
7. किमङ्ग त्वा ब्रह्मणः सोम गोपां किमङ्ग त्वाहुरभिशस्तिपां नः। ऋ० 6.52.3.
8. आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः। ऋ० 9.2.10.
आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वाणः पवते सुतः प्रत्नं नि पाति काव्यम्। ऋ० 9.6.8.
9. भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्। ऋ० 10.85.19. दे० 9.96.6. ऊपर।
10. ऋषिर्विप्रः काव्येन। ऋ० 8.79.1.
11. अथा देवानामुभयस्य जन्मनो विद्वाँ अश्नोत्यमुत इतश्च यत्। ऋ० 9.81.2.
देवो देवानां गुह्यानि नामाऽऽविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे। ऋ० 9.95.2.
प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवोदेवानां जनिमा विवक्ति।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन्॥ ऋ० 9.97.7.
दे० 9.108.3. पृ० 286.
12. इन्द्राय सोम परि षिच्यसे नृभिर्नृचक्षा ऊर्मिः कविरज्यसे वने। ऋ० 9.78.2.

हैं[1] अतः वे 'बहु-चक्षु'[2] और 'सहस्र-चक्षु' हैं[3]।

सोम ने पितरों को कृत्यों में प्रेरित किया था[4]; उन्हीं के द्वारा पितरों ने प्रकाश और गौएं प्राप्त की थीं[5]। सोम पितरों से संपृक्त हैं[6] और उनके साथ रहते हैं[7]। फलतः पितरों को 'सोम-प्रिय'[8] कहा गया है।

मानव पर होनेवाला सोम का मादक प्रभाव शनैः शनैः देवाताओं पर आक्रमित हो गया। सोम की मादक शक्ति का प्रमुख उपयोग इन्द्र को अन्तरिक्षस्थ शत्रु-दल के विरुद्ध लोहा लेने के लिए बढ़ावा देना है; क्योंकि सोम ही इन्द्र को वृत्र से युद्ध करने के लिए संनद्ध करते हैं। इस तथ्य का उल्लेख ऋग्वेद के अगणित मन्त्रों में हुआ है[9]। सोम-मद में बौरा कर इन्द्र अशेष शत्रुओं का वध कर डालते हैं[10] और जब वे सोम-पान कर लेते हैं तब कोई भी शत्रु उनका सामना नहीं कर पाता[11]। सोम इन्द्र की आत्मा हैं[12]। वे इन्द्र के कल्याणकारी मित्र हैं[13]। वे ही इन्द्र के ओज को उजागर करते हैं[14]। वे ही वृत्र-वध में उसका हाथ बटाते हैं[15]। सोम ही की

---

1. सोमः परि क्रतुना पश्यते जाः। ऋ० 9.71.9.
2. हर्यतं भूरिचक्षसम्। ऋ० 9.26.5.
3. इन्दुं सहस्रचक्षसम्। ऋ० 9.60.1.
4. त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः। ऋ० 9.96.11.
5. स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत्।
   येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमुष्णन्॥ ऋ० 9.97.39.
6. त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ। ऋ० 8.48.13.
7. स पितृभ्यः सोमवद्भ्यः। षट्कपालं पुरोडाशं निर्वपति सोमाय वा पितृमते॥
   शत० ब्रा० 2.1.6.4.
8. द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम्।
   आङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता॥ अथ० 2.12.5.
   अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
   तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ऋ० 10.14.6.
9. यस्ते चित्रश्रवस्तमो य इन्द्र वृत्रहन्तमः। य ओजोदातमो मदः। ऋ० 8.92.17.
10. अस्येदिन्द्रो मदेष्वा विश्वा वृत्राणि जिघ्नते। शूरो मघा च मंहते॥ ऋ० 9.1.10.
11. दे० 6.47.1. पृ० 132
12. अदब्ध इन्दो पवसे मदिन्तम आत्मेन्द्रस्य भवसि धासिरुत्तमः।
    अभि स्वरन्ति बहवो मनीषिणो राजानमस्य भुवनस्य निंसते॥ ऋ० 9.85.3.
13. त्वं नो वृत्रहन्तमेन्द्रस्येन्दो शिवः सखा। ऋ० 10.25.9.
14. इन्द्रस्य शुष्ममीरयन्नपस्युभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते मनीषिभिः। ऋ० 9.76.2.
15. स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे। वव्रिवांसं महीरपः॥ ऋ० 9.61.22.

सहायता से इन्द्र ने सरितों को मनुष्य के लिए प्रवाहित किया था और 'अहि' का वध किया था[1]। इस प्रकार कभी-कभी सोम को इन्द्र-वज्र की संज्ञा भी मिली है[2]। इन्द्र का सोम सहस्र-विजयी वज्र बन जाता है[3]। यही मादक पेय शत पुरों को दलित करता है[4] और वृत्र को मारता है[5]। अतः सोम देव को इन्द्र की भांति 'वृत्रघ्न' और 'पुरंदर' भी कहा गया है[6] और इन्हें छः बार 'वृत्रहन्' विशेषण मिला है जो मूलतः इन्द्र का है।

इन्द्र द्वारा पिये जाने पर सोम ने सूर्य को स्वर्ग में उदित किया है[7]। इस दृष्टि से जगत् का क्षेमकारी यह कार्य सोम पर आरोपित हो जाता है। सोम ने सूर्य को भासमान बनाया है[8]। उसी ने आकाशस्थ प्रकाश को चमकाया[9] और सलिलों में सूर्य को उत्पन्न किया है[10]। सोम ने सूर्य को उदित किया, प्रेरित किया, प्राप्त किया और प्रदान किया है और उषाओं को भी उन्होंने भास्वर बनाया है। वे अपने उपासकों को सूर्यांश दिलाते[11] और उनके लिए प्रकाश फैलाते हैं[12]। उन्होंने ही प्रकाश प्राप्त किया[13] और प्रकाश तथा स्वर्ग को जीता है। जिस प्रकार आज्य को 'अमृत की नाभि' कहा गया है—जिस पर कि समग्र संसार आश्रित है[14]—

---

1. त्वा युजा तव तत्सोम सख्य इन्द्रो अपो मनवे सस्रुतस्कः। ऋ० 4.28.1.
2. इन्द्रस्य वज्रो वृषभो विभूवसुः सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः। ऋ० 9.72.7.
   एष प्रकोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टरः। ऋ० 9.77.1.
   वज्रश्च यद्भवथो अनपच्युता। ऋ० 9.111.3.
3. आत्सोम इन्द्रियो रसो वज्रः सहस्रसा भुवत्।
   उक्थं यदस्य जायते॥ ऋ० 9.47.3.
4. संवृक्त धृष्णुमुक्थ्यं महामहिव्रतं मदम्। शतं पुरो रुरुक्षणिम्॥ ऋ० 9.48.2.
5. दे० 6.17.11. पृ० 132.
6. इन्द्रो न यो महा कर्माणि चक्रिर्हन्ता वृत्राणामसि सोम पूर्भित्। ऋ० 9.88.4.
7. सीदन्निन्द्रस्य जठरे कनिक्रदन्नृभिर्यतः सूर्यमारोहयो दिवि। ऋ० 9.86.22.
8. एष सूर्यमरोचयत् पवमानो विचर्षणिः। विश्वा धामानि विश्ववित्। ऋ० 9.28.5.
   दे० 9.37.4. पृ० 164.
9. अधि द्यामस्थाद् वृषभो विचक्षणोऽरूरुचद्वि दिवो रोचना कविः।
   राजा पवित्रमत्येति रोरुवद् दिवः पीयूषं दुहते नृचक्षसः॥ ऋ०9.85.9.
10. जनयन् रोचना दिवो जनयन्नप्सु सूर्यम्। वसानो गा अपो हरिः। ऋ० 9.42.1.
11. त्वं सूर्ये न आ भज तव क्रत्वा तवोतिभिः। अथा नो वस्यसस्कृधि॥ ऋ० 9.4.5.
12. आ नः पवस्व धारया पवमान रयिं पृथुम्। यया ज्योतिर्विदासि नः॥ ऋ० 9.35.1.
13. पवमान स्वर्विदो जायमानोऽभवो महान्। इन्दो विश्वाँ अभीदसि॥ ऋ० 9.59.4.
14. जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः। ऋ० 4.58.1.

उसी प्रकार सोम-संबन्धी धारणा जगच्छासकत्व तक जा पहुंचती है—क्योंकि सोम दिशाओं के अधिपति हैं[1]। वे दोनों लोकों को उत्पन्न करने का महान् क्षेमकारी कार्य करते हैं[2]। वे स्वर्ग और पृथिवी का जनन एवं स्थापन करते हैं। वे स्वर्ग को धारण करते और सूर्य में प्रकाश का आधान करते हैं[3]।

वृत्र-युद्ध में प्रवृत्त हुए इन्द्र के साथ निकट रूप से संबद्ध होने के नाते सोम को स्वतन्त्र रूप से भी एक महान् योद्धा बताया गया है। सोम विजयी हैं; वे अजेय हैं और युद्ध के लिए उतरे हैं[4]। वे योद्धाओं के अग्रणी हैं, भीमों में सबसे बढ़कर भीषण हैं, वे अजस्र विजयशील हैं[5]। वे अपने उपासकों के लिए गौएं, रथ, अश्व, सुवर्ण, स्वर्ग, सलिल, सहस्र वसु[6], यहां तक कि अशेष पदार्थ जीत कर लाते हैं। उनके युद्धालु चरित्र का उल्लेख किये बिना भी कहा गया है कि वे पृथिवी और स्वर्ग के अशेष धन, भोजन, पशु, अश्व आदि अपने उपासकों को देते हैं[7]। स्वयं सोम को अनेक बार रयि या देवों का धन कहा गया है[8]।

धामन् ते विश्वं भुवनमधिश्रितम्। ऋ० 4.58.11.
त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि। ऋ० 9.86.28.

1. आ पवस्व दिशां पते। ऋ० 9.113.2.
2. प्र हिन्वानो जनिता रोदस्योः। ऋ० 9.90.1.
3. अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः।
   अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळ्हम्॥ ऋ० 6.44.23.
   दे० 6.44.24. पृ० 274. दे० 6.47.3. पृ० 286.
   अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः।
   अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु सोमो दाधारोर्वन्तरिक्षम्॥ ऋ० 6.47.4.
4. अषाळ्हं युत्सु पृतनासु पप्रिं स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्।
   भरेषुजां सुक्षितिं सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम सोम॥ ऋ० 1.91.21.
5. महाँ असि सोम ज्येष्ठ उग्राणामिन्द्र ओजिष्ठः।
   युध्वा सञ्छश्वज्जिगेथ॥ ऋ० 9.66.16.
   य उग्रेभ्यश्चिदोजीयाञ्छूरेभ्यश्चिच्छूरतरः। भूरिदाभ्यश्चिन्मंहीयान्॥ ऋ० 9.66.17.
6. गोजिन्नः सोमो रथजिद्धिरण्यजित्स्वर्जिदब्जित्पवते सहस्रजित्।
   यं देवासश्चक्रिरे पीतये मदं स्वादिष्ठं द्रप्समरुणं मयोभुवम्॥ ऋ० 9.78.4.
7. उत त्वामरुणं वयं गोभिरञ्ज्मो मदाय कम्। वि नो राये दुरो वृधि॥ ऋ० 9.45.3.
   स न ऊर्जे व्यव्ययं पवित्रं धाव धारया। देवासः शृणवन् हि कम्॥ ऋ० 9.49.4.
   परि द्युक्षः सनद्रयिर्भरद्वाजं नो अन्धसा। सुवानो अर्ष पवित्र आ॥ ऋ० 9.52.1.
   अतस्त्वा रयिमभि राजानं सुक्रतो दिवः। सुपर्णो अव्यथिर्भरत्॥ ऋ० 9.48.3.
8. स वै देवानां वसु। शत० ब्रा० 1.6.4.5.

सोम शत्रुओं से हमारी रक्षा करते हैं[1] । वे यातुधानों को ध्वस्त करते हैं[2] अन्य देवों की तरह—किंतु उन सबकी अपेक्षा कहीं अधिक बार—इन्हें 'रक्षोहन्' की उपाधि दी गई है । सोम ही एक ऐसे देवता हैं, जिन्हें 'अघशंसहा' यह विशेषण मिला है[3] । परवर्ती वैदिक साहित्य में उल्लेख आता है कि वे ब्राह्मण, जो सोम-पान करते हैं, निमेष-मात्र में शत्रुओं का वध कर डालते हैं ।

योद्धा होने के नाते सोम अस्त्र-सज्जा भी करते[4] और एक वीर की भांति अपने हथियारों को अपने हाथ में संभालते हैं[5] । उनके अस्त्र दारुण और पैने हैं[6] । एक मन्त्र में आता है कि इन अस्त्रों को सोम ने अपने दुर्मनस्क पिता से छीन लिया था[7] । वे सहस्रभृष्टि शस्त्र से सुसज्जित हैं[8] और उनका धनुष अमोघ है[9] ।

सोम इन्द्र के रथ पर बैठते हैं[10] । वे रथी इन्द्र के सारथि हैं[11] । वे रथ पर बैठते हैं[12] और उनका रथ दिव्य है[13] । वे 'ज्योतीरथ'[14] अथवा 'पूत-रथ' हैं[15] । सारथियों के वे सिरमौर हैं[16] । उनकी अपनी घोड़ियां सुपर्ण

---

1. त्वं नः सोम विश्वतो गोपा अदाभ्यो भव । ऋ० 10.25.7.
2. पवमानो अभिष्यद्रक्षांस्यपजङ्घनत् । प्रत्नवद् रोचयन् रुचः ॥ ऋ० 9.49.5.
3. एष शुष्म्यदाभ्यः सोमः पुनानो अर्षति । देवावीरघशंसहा ॥ ऋ० 9.28.6.
4. स्वायुधः सोतृभिः पूयमानोऽभ्यर्ष गुह्यं चारु नाम । ऋ० 9.96.16.
5. शूरो न धत्त आयुधा गभस्त्योः स्वः सिषासन् रथिरो गविष्टिषु ॥ ऋ० 9.76.2.
6. या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे । रक्षा समस्य नो निदः ॥ ऋ० 9.61.30
   शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाञ्जेता पवस्व सनिता धनानि ।
   तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाळ्हः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ॥ ऋ० 9.90.3.
7. अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत् ।
   अयं स्वस्य पितुरायुधानीन्दुरमुष्णादशिवस्य मायाः ॥ ऋ० 6.44.22.
8. राजा पवित्ररथो वाजमारुहः सहस्रभृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत् । ऋ० 9.83.5, 9.86.40
9. दे० 9.90.3. ऊपर ।
10. इन्द्रेण सोम सरथं पुनानः । ऋ० 9.87.9.
    आ तिष्ठति रथमिन्द्रस्य सखा । ऋ० 9.96.2.
    परि दैवीरनु स्वधा इन्द्रेण याहि सरथम् । पुनानो वाघद्वाघद्भिरमर्त्यः । ऋ० 9.103.5
11. इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमा सारथिः । अथ० 8.8.23.
12. एष देवो रथर्यति पवमानो दशस्यति । आविष्कृणोति वग्वनुम् ॥ ऋ० 9.3.5.
13. दैव्यो दर्शतो रथः । ऋ० 9.111.3.
14. ज्योतीरथः पवते राय ओक्यः । ऋ० 9.86.45.
15. दे० 9.83.5. ऊपर ।
16. पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः । हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः । ऋ० 9.66.26.

हैं[1] और उनका एक अश्व वर्ग भी है[2] जोकि अनिल जैसा मनोजवा है।

प्रसङ्गतः सोम कभी-कभी इन्द्र के सखा मरुद्गण के साथ संपृक्त होकर आते हैं। मरुद्गण स्वर्ग-वृषभ (सोम) को दुहते[3] और नवजात शिशु को अलंकृत करते हैं[4]। इन्द्र की भांति सोम की भी मरुद्गण परिचर्या करते हैं[5]। वायु सोम के लिए सौख्यदायक हैं[6], वायु उनके संरक्षक हैं[7]। अग्नि, पूषा और रुद्र के साथ सोम युग्म में आते हैं। कुछेक मन्त्रों में रहस्यमय ढंग से वरुण के साथ उनका तादूप्य किया गया है[8]।

ऋग्वेद में एक बार[9] सोम को 'मौजवत' भी कहा गया है, जो उत्तर-कालीन संदर्भों के अनुसार 'मुञ्जवत् पर्वत पर उत्पन्न' इस अर्थ का बोधक है। सोम को अनेक बार 'गिरिष्ठः' भी कहा गया है। पर्वतों को भी सोमपृष्ठ संज्ञा मिली है[10], जो संभवतः याज्ञिक प्रतीकवाद के प्रभाव से सोमपेषक पाषाण (अद्रि) के लिए आई है। उद्धृत पदों से झलकता है कि सोमलता का स्थान पार्थिव पर्वतों पर रहा होगा[11]। अवेस्ता में आता है कि होम पर्वतों पर पैदा होता है। इस बात से भी उक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है, क्योंकि सोमलता पर्वतों पर उगती थी।

---

1. ईशान इमा भुवनानि वीयसे युजान इन्दो हरितः सुपर्ण्यः। ऋ० 9.86.37.
2. वायुर्न यो नियुत्वाँ इष्टयामा। ऋ० 9.88.3.
3. एतमु त्यं मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवो दुहुः। विश्वा वसूनि बिभ्रतम्॥ ऋ० 9.108.11
   अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्। ऋ० 9.54.1.
4. शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति वह्निं मरुतो गणेन। ऋ० 9.96.17.
5. द्यामस्तभ्नाद् वृषभो मरुत्वान्। ऋ० 6.47.5.
6. दे० 9.31.3. पृ० 280.
7. वायुः सोमस्य रक्षिता। ऋ० 10.85.5.
8. चक्रिर्दिवः पवते कृत्व्यो रसो महाँ अदब्धो वरुणो हुरुग्यते।
   असावि मित्रो वृजनेषु यज्ञियोऽत्यो न यूथे वृषयुः कनिक्रदद्॥ ऋ० 9.77.5.
   दे० 9.95.4. पृ० 164.
   महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्। ऋ० 9.73.3.
   ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया। ऋ० 9.73.9.
   स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु यजुर्दधे। ऋ० 8.41.8.
9. सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः। ऋ० 10.3.1.
   क्षरन्तः पर्वतावृधः। ऋ० 9.46.1.
10. ये पर्वताः सोमपृष्ठाः। अथ० 3.21.10.
    दिवो मानं नोत्सदन्त्सोमपृष्ठासो अद्रयः। ऋ० 8.63.2.
11. पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु क्षयं दधे। ऋ० 9.82.3.

अतः संभव है कि यही तथ्य कवि के मन में उस समय भी उपस्थित रहा हो जबकि वह कहता है कि द्युलोक के नाक पर मधु-जिह्व मित्र-गण पार्वत्य-वृषभ सोम को दुहते हैं[1] । उन संदर्भों में भी तात्पर्य पार्थिव पर्वतों ही से हो सकता है, जहां आया है कि वरुण ने अग्नि को सलिल में रखा, सूर्य को स्वर्ग में और सोम को अद्रि पर[2] अथवा मातरिश्वा अग्नि को स्वर्ग से लाये, जबकि श्येन दूसरे (सोम) को चट्टान से उड़ा ले गया[3]; किंतु फिर भी यहां संदेह बना रह जाता है, क्योंकि गाथात्मक भाषा में 'पर्वत' और 'चट्टान' का प्रयोग बहुधा 'मेघ' के लिए आता है।

सोम एक पार्थिव लता है और साथ ही यह दिव्य भी है[4]; वस्तुतः इसके वास्तविक मूल और आवास स्वर्ग में माने गये हैं। उदाहरणार्थ कहा गया है कि इस लता का जन्म ऊंचाई पर हुआ है; स्वर्ग के निवासी सोम को पृथिवी पर उतारा गया है[5] । यह मादक-रस 'स्वर्ग का शिशु' है[6] । 'स्वर्ग-शिशु' विशेषण सोम के लिए बार-बार प्रयुक्त हुआ है। किंतु एक मन्त्र[7] में उन्हें 'सूर्यजा' भी कहा गया है और एक अन्य मन्त्र में पर्जन्य को (इस) 'बलवान् पक्षी' का पिता बताया गया है[8] । अथर्ववेद[9] के अनुसार अमृत का मूल पर्जन्य के वीर्य में निहित है। जहां सोम को शिशु[10] अथवा युवा बताया गया है वहां इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि की भांति सोम भी सदा नव-नव उत्पन्न होता रहता है। सोम स्वर्ग का पीयूष है[11] और उसे स्वर्ग में पुना जाता है[12] । उनकी धाराएं स्वर्ग के रम्य स्थलों की ओर प्रवाहित होती हैं[13] । उनका प्रवाह लोकों के उस पार स्वर्ग में पहुंचता है

---

1. दे० 9.85.10. पृ० 282. दे० 9.95.4. पृ० 164.
2. हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ । ऋ० 5.85.2.
3. आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः । ऋ० 1.93.6.
4. ममत्तु त्वा दिव्यः सोम इन्द्र । ऋ० 10.116.3.
5. उच्चा ते जातमन्धसो दिवि षद् भूम्या ददे । उग्रं शर्म महि श्रवः ॥ ऋ० 9.61.10.
6. एषस्य मद्यो रसोऽव चष्टे दिवः शिशुः । य इन्दुर्वारमाविशत् ॥ ऋ० 9.38.5.
7. हरिं पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य । ऋ. 9.93.1.
8. दे० 9.82.3. पृ० 281. दे० 9.113.3. पृ० 275.
9. उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः । यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ अथ० 8.7.21.
10. दे० 9.96.17. पृ० 292.
11. दिवः पीयूषमुत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे । सुनोता मधुमत्तमम् ॥ ऋ० 9.51.2.
12. तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे । ऋ० 9.83.2.
    पवस्व सोम दिव्येषु धामसु । ऋ० 9.86.22.
13. अभि प्रिया दिवस्पदा सोमो हिन्वानो अर्षति। विप्रस्य धारया कविः॥ ऋ० 9.12.8.

और वहां पूत होता है[1]। सोम स्वर्ग में व्यापे हुए हैं[2]। वे स्वर्ग में हैं[3]। और वे स्वर्ग के अधिपति हैं[4]। दिव्य पक्षी के रूप में वे धरती की ओर दृष्टिपात करते और वहां के सभी प्राणियों का सर्वेक्षण करते हैं[5]। सूर्यदेव की भांति वे भी सभी लोकों के ऊपर आरूढ होकर विराजमान हैं[6]। इन पावन द्रप्सों को वायु देवता स्वर्ग से धरती पर गिराते हैं[7]। सोमदेव लोकों में विचरते हैं[8]। दुग्ध परिवेष्टित सोम की मानवीय अंगुलियां भ्राजमान स्वर्ग के तृतीय शृङ्ग पर मार्जन करती हैं[9]। उनका आवास 'परमे व्योमन्'[10] में और तैत्तिरीय संहिता के अनुसार तृतीय स्वर्ग में है किंतु 'अव्य पवित्र' को भी रहस्यमयी भाषा में स्वर्ग कहा गया प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों पर तो यह बात निश्चित है कि जहां सोम के लिए यह कहा गया है कि वे स्वर्ग की नाभि में, 'अव्य वार' में विराजमान हैं[11]; वे दिव्य प्रकाश में —जोकि अव्य वार है—परिभ्रमण करते हैं[12]; वे सूर्य के साथ स्वर्ग में—जो पवित्र है—चलते हैं[13]। उन स्थलों पर भी यह निश्चित-सा है जहां यह आया है कि वृषभ ने स्वर्ग को व्याप्त कर लिया है। राजा 'पवित्र' पर अधिरोहण करते हैं[14]। पवित्र के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ 'सानु' शब्द 'दिवःसानु' का बोधक है। ऐसे शब्दों का पार्थिव सोम के साथ संपृक्त हो जाना स्वाभाविक-सा है, क्योंकि स्वर्ग अमृत

---

1. एष दिवं वि धावति तिरो रजांसि धारया। पवमानः कनिक्रदत् ॥ ऋ० 9.3.7.
2. दे० 9.85.9. पृ० 289.
3. दिवि हि सोमः। शत० ब्रा० 3.4.3.13.
4. दे० 9.86.11. पृ० 277. दे० 9.86.33. पृ० 281.
5. दिव्यः सुपर्णोऽवचक्षत क्षां सोमः परि क्रतुना पश्यते जाः ॥ ऋ० 9 71.9.
6. अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि। सोमो देवो न सूर्यः ॥ ऋ० 9.54.3.
7. दे० 9.63.27. पृ० 281.
8. आ सोता परि षिञ्चताऽश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम्। ऋ० 9.108.7.
   विश्वस्मा इत्स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम्। गोपामृतस्य विर्भरत् ॥ ऋ० 9.48 4.
9. क्षिपो मृजन्ति परि गोभिरावृतं तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः। ऋ० 9.86.27.
10. त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन्। ऋ० 3.32.10.
    सोमं भरद् दादृहाणो देवावान् दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय। ऋ० 4.26.6.
    पदं यदस्य परमे व्योमन्। ऋ० 9.86.15.
11. दिवो नाभा विचक्षणोऽव्यो वारे महीयते।
    सोमो यः सुक्रतुः कविः ॥ ऋ०9.12.4.
12. स वाजी रोचना दिवः पवमानो वि धावति। रक्षोहा वारमव्ययम् ॥ ऋ० 9.37.3.
13. एष सूर्येण हासते पवमानो अधि द्यवि। पवित्रे मत्सरो मदः ॥ ऋ० 9.27.5.
14. दे० 9.85 9. पृ० 289., 9.86.8. पृ० 278.

का निधान है[1]।

सोम को स्वर्ग से लाया गया है[2], इस विश्वास को मुखरित करनेवाली सर्वप्रसिद्ध गाथा सोम और श्येन की है। सोम को श्येन लाये हैं[3]। सुपर्ण सोम को सर्वोच्च स्वर्ग से लाये हैं[4]। श्येन इन्द्र के लिए मधु या सोम को लाये हैं। मनोजवा श्येन सोमलता की ओर उड़े। श्येन ने इन्द्र के लिए मधुर डंठल तोड़ लिया। श्येन इसे इन्द्र के लिए वायु मार्ग में से होकर अपने पञ्जों में पकड़ कर लाये[5]। मनोजवा सुपर्ण ने आयस पुर् को विदीर्ण किया[6] और वह स्वर्ग में जाकर वज्रबाहु के लिए सोम लाये[7]। श्येन ने (सोम) लता को कहीं सुदूर से, कहीं दूर के स्वर्ग से वहन किया[8]। इस गाथा का सबसे विशद विवरण[9] ऋग्वेद (4. 26 और 27) में आता है। ब्राह्मणों के अनुसार सोम को गायत्री लाई हैं जो अग्नि का रहस्यात्मक याज्ञिक नाम है। ऋग्वेद में सोम को लानेवाला श्येन इन्द्र से पृथक् है, जिसके लिए कि उसे लाया गया है। केवल एक मन्त्र में (जिसका इस गाथा के साथ संबन्ध नहीं है) इन्द्र को भी सोम-पान के अवसर पर श्येन कहा

---

1. दे० 6.44.23. पृ० 290.
2. दे० 9.63.27. पृ० 281.
   यस्य॑ ते द्यु॒म्नव॒त्पयः॒ पव॑मा॒नाभृ॑तं दि॒वः। तेन॑ नो मृळ जी॒वसे॑ ॥ ऋ० 9.66.30.
3. स त्वा॑मदद् वृषा॒ मदः॒ सोमः॑ श्ये॒नाभृ॑तः सु॒तः। ऋ० 1.80.2.
4. ऋ॒जी॒पी श्ये॒नो दद॑मानो अं॒शुं प॑रा॒वतः॑ शकु॒नो म॒न्द्रं मद॑म्।
   सोमं॑ भरद् दादृहा॒णो दे॒वावा॑न् दि॒वो अ॒मुष्मा॒दुत्त॑रादा॒दाय॑ ॥ ऋ० 4.26.6.
5. यं ते॑ श्ये॒नः प॒दाभ॑रत् ति॒रो रजां॒स्यस्पृ॑तम्।
   पिबेद॑स्य॒ त्वमी॑शिषे ॥ ऋ० 8.82.9.
6. गर्भे॒ नु स॒न्नन्वे॑षामवेदम॒हं दे॒वानां॒ जनि॑मा॒नि विश्वा॑।
   श॒तं मा॒ पुर॒ आय॑सीररक्ष॒न्नध॑ श्ये॒नो ज॒वसा॒ निर॑दीयम् ॥ ऋ० 4.27.1.
7. मनो॑जवा॒ अय॑मान आ॒यसी॒मत॑रत्पुर॑म्।
   दिवं॑ सुप॒र्णो ग॒त्वाय॒ सोमं॑ व॒ज्रिण॒ आभ॑रत् ॥ ऋ० 8.100.8.
8. दे० 9.68.6. पृ० 271.
   स पू॒र्व्यः प॑वते॒ यं दि॒वस्परि॑ श्ये॒नो म॑था॒यदि॑षि॒तस्ति॒रो रजः॑। ऋ० 9.77.2.
   दे० 9.86.24. पृ० 279.
   अध॒ त्यं द्र॒प्सं वि॒भ्वं॑ विचक्ष॒णं विराभ॑रदिषि॒तः श्ये॒नो अ॑ध्व॒रे। ऋ० 10.11.4.
   यं सु॑प॒र्णः प॑रा॒वतः॑ श्ये॒नस्य॑ पु॒त्र आभ॑रत्।
   श॒तच॑क्रं॒ यो॒३ऽह्यो॑ वर्त॒निः ॥ ऋ० 10.144.4.
9. अ॒हं मनु॑रभवं॒ सूर्य॑श्चा॒ऽहं क॒क्षीवाँ॒ ऋषि॑रस्मि॒ विप्रः॑। ऋ० 4.26.1. आदि पूर्णसूक्त
   दे० 4.27.1. (ऊपर) आदि पूर्णसूक्त।

गया है[1]। 'दिव्य श्येन' विशेषण अग्नि के लिए भी प्रयुक्त हुआ है[2] (और केवल दो बार मरुतों के लिए भी)। श्येन शब्द वैद्युत अग्नि के या विद्युत् के साथ संबद्ध है[3] और ऋग्वेद में अग्नि को बहुधा 'सुपर्ण' कहा गया है। इस संदर्भ के भीतर ब्लूमफ़ील्ड—जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों द्वारा की गई ऋग्वेद[4] (4.27) की व्याख्या पर मर्मस्पर्शी आलोचना लिखी है—श्येन द्वारा स्वर्ग से सोम लाने की गाथा से उस विद्युत् को लेते हैं, जो बादलों (=आयसीः पुरः) में कौंधती हुई और अमृतमय सोम-रस को आसमान से गिराती हुई नीचे की ओर धरती पर गिरती है। इसी की संगति में मिलाकर वे ऋग्वेद[5] (1.93.6) की भी व्याख्या करते हैं, जिसमें सोम और अग्नि के एक-साथ अवतरण का उल्लेख आता है। इस गाथा का एक विवरण—जिसे कि संभवतः किसी कवि ने प्ररोचनार्थ जोड़ दिया है—यह है कि जब श्येन सोम को उठा कर ले गये तब कृशानु ने उन पर तीर चलाया और उनका एक पर काट दिया[6]। इसी गाथांश को ब्राह्मणों ने वृहत्तर रूप में प्रस्तुत किया है। पृथिवी पर गिर कर यही पर्ण (पलाश) या शल्यक वृक्ष बन गया। इसी कारण पलाश वृक्ष को यज्ञ में पवित्र माना गया है।

औषधियों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण सोम के लिए कहा गया है कि वह वनस्पतियों के राजा बनकर उत्पन्न हुए हैं[7], साथ ही वनस्पतियों को सोम की प्रजा भी बताया गया है। सोम के लिए 'वनस्पति' यह विशेषण भी आया है[8]।

---

1. सो अभ्रियोन यवस उदन्यन् क्षयाय गातुं विदन्नो अस्मे।
   उप यत्सीददिन्दुं शरीरैः श्येनोऽयोपाष्टिर्हन्ति दस्यून्॥ ऋ० 10.99.8.
2. नवं नु स्तोममग्नये दिवः श्येनाय जीजनम्। ऋ० 7.15.4.
3. वैश्वानरो यदि वा वैद्युतोऽसि। तै० ब्रा० 3.10 5.1.
4. दे० 4.27.1. पृ० 295. आदि पूर्ण सूक्त।
5. दे० 1.93.6. पृ० 293.
6. अव यच्छ्येनो अस्वनीदध द्योर्वियद् यदि वात ऊहुः पुरन्धिम्।
   सृजद् यदस्मा अव ह क्षिपज्ज्यां कृशानुरस्ता मनसा भुरण्यन्॥ ऋ० 4 27.3.
   ऋजिप्य ईमिन्द्रावतो न भुज्युं श्येनो जभार बृहतो अधि ष्णोः।
   अन्तः पतत् पतत्र्यस्य पर्णमध यामनि प्रसितस्य तद्वेः॥ ऋ० 4.27.4.
   तेऽब्रुवंश्छन्दांसि यूयं न इमं सोमं राजानमाहरतेति तथेति ते सुपर्णा भूत्वोदपतन्।
   ऐ० ब्रा० 3.25.
7. सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः। ऋ० 9.114.2.
8. दे० 1.91.6. पृ० 286.
   नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धीनामन्तः सबर्दुघः। हिन्वानो मानुषा युगा॥ ऋ० 9.12.7.

और कहा गया है कि सोम ने ही सारे वीरुधों को उत्पन्न किया है[1]। ब्राह्मणों[2] में वनस्पतियों को सोम के नाते 'सौम्य' कहा गया है। सोम के वनस्पतित्व पर ध्यान न रखकर अन्य देवों की भांति उन्हें भी राजत्व सामान्य का अभिधान दिया गया है। वे सरिताओं के राजा हैं[3], समग्र पृथिवी के वे अधिपति हैं[4]; देवों के राजा या पिता हैं[5]। देवों और मर्त्यों के सोम राजा हैं[6]; वे ब्राह्मणों के राजा हैं[7]। सच पूछो तो उन्हें बार-बार देवता कहा गया है, किंतु एक मन्त्र में उन्हें 'देवों के लिए सुत-देव' यह संज्ञा भी मिली है[8]।

वेदोत्तर-कालीन साहित्य में सोम चन्द्रमा का स्थायी नाम पड़ गया है। चन्द्रमा के विषय में यह धारणा आम है कि देवगण उसका पान करते हैं; फलतः वह क्षीण होता जाता है और फिर सूर्य द्वारा आपूरित होकर आकाश में उभरता है। छान्दोग्य उपनिषद् में आया है कि चन्द्रमा सोम राजा है। वह देवों का भोज्य है; देवता उसे पी जाते हैं[9]। यहां तक कि ब्राह्मणों में सोम और चन्द्र का तादूप्य एक साधारण-सी बात बन गई है। उदाहरणार्थ ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि चन्द्र देवों का सोम है[10]। शतपथ ब्राह्मण[11] के अनुसार देवताओं का भोजन सोम=चन्द्र है; और कौषीतकि ब्राह्मण में यज्ञ-लता या रस चन्द्र-देव का प्रतीक बन गया है। ब्राह्मणों की गाथा में चन्द्रमा की कलाओं में परिवर्तन का कारण यह बताया गया

---

1. त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः। ऋ० 1.91.22.
2. सौम्या ओषधयः। शत० ब्रा० 12.1.1.2.
3. दे० 9.89.2. पृ० 281.
4. त्वया वयं पवमानेन सोम भरे कृतं वि चिनुयाम शश्वत्।
   तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ऋ० 9.97.58.
5. ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधुप्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः। ऋ० 9.86.10.
   पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः। ऋ० 9.87.2.
   पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम। ऋ० 9.109.4.
6. पवित्रेभिः पवमानो नृचक्षा राजा देवानामुत मर्त्यानाम्। ऋ० 9.97.24.
7. सोमो ऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा। वा० सं० 9.40.
   सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा। तै० सं० 1.8.10.1.
   सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा। मै० सं० 2.6.9.
8. एष विप्रैरभिष्टुतोऽपो देवो वि गाहते। दधद्रत्नानि दाशुषे। ऋ० 9.3.6.
   दे० 9.3.7. पृ० 294.
9. यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति। अथ० 7.81.6.
10. एतद्वै देवसोमं यच्चन्द्रमाः। ऐ० ब्रा० 7.11.
11. एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः। शत० ब्रा० 1.6.4.5.

है कि देवता तथा पितृगण अमृतरूप चन्द्र-रस का पान करते रहते हैं। चन्द्रमा के रूप में सोम को यजुर्वेद में नक्षत्र-मण्डल से परिवेष्टित बताया गया है। प्रजापति की पुत्रियां उनकी पत्नियां हैं। अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर सोम का अर्थ चन्द्रमा लगता है[1]। बहुत से विद्वान् इस विचार से सहमत हैं कि ऋग्वेद के नवीनतम (प्रथम और दशम मण्डल) अंश के कतिपय मन्त्रों में सोम का तादूप्य चन्द्रमा के साथ निश्चित है। किंतु बहुसंख्यक विद्वानों की दृष्टि में सोमदेव ऋग्वेद में पेय-द्रव के मानवीकरण मात्र हैं; और चन्द्रमा के साथ उनका तादात्म्य गौण गाथात्मक विकास है। जिन मन्त्रों में यह ऐक्य स्वीकृत हुआ है, उनमें सोम-सूर्या-विवाह के (सूक्त के) मन्त्र सबसे महत्वपूर्ण हैं[2]। यहां सोम को 'नक्षत्राणाम् उपस्थे' यह कह कर दिखाया गया है[3] और कहा गया है कि जिस सोम को पुरोहित-वृन्द जानते हैं उसे कोई भी नहीं खाता और वह सोम पीसे जानेवाले सोम से सर्वथा भिन्न है[4]। चन्द्रमा के सोम स्वभाववाला होने की बात एक गुह्य रहस्य थी जिसका ज्ञान केवल ब्राह्मणों को था। इससे प्रकट होता है कि उस काल तक यह सार्वजनिक विश्वास नहीं बन पाया था। जिस प्रक्रिया से दिव्य सोम शनैः शनैः चन्द्रमा के साथ तदात्म हुआ वह दुर्बोध नहीं है। एक ओर सोम को बराबर दिव्य एवं भास्वर और कभी-कभी अन्धकार को नष्ट करनेवाला और सलिल में बढ़नेवाला समझा जाता था, और दूसरी ओर उसे इन्दु (बूंद) भी कहा जाता था[5]। इस दशा में चन्द्रमा के साथ सोम की तुलना स्वाभाविक हो गई थी। इसी लिए चमस में रखे हुए सोम की उपमा जलस्थ चन्द्रमा से दी गई है[6]। एक अन्य मन्त्र में सोम को समुद्र में जानेवाला बूंद (द्रप्स) बताया गया है जो गृध्र के नेत्रों से

---

1. सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि। अथ० 7.81.3.
   दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्तः। अथ० 7.81.4.
   सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति। अथ० 11.6.7.
2. सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
   ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः॥ ऋ० 10.85.1. आदि पूर्ण सूक्त।
3. अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः। ऋ० 10.85.2.
4. आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
   ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः॥ ऋ० 10.85.4.
   सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिंषन्त्योषधिम्।
   सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥ ऋ० 10.85.3.
5. वृणीत इन्दुं वृषभ पीपाय स्वादूरसो मधुपेयो वराय। ऋ० 6.44.21.
6. यो अप्सु चन्द्रमा इव सोमश्चमूषु ददृशे। पिबेदस्य त्वमीशिषे। ऋ० 8.82.8.
   चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि। ऋ० 1.105.1.

विश्व को देखता है। इस प्रकार के संदर्भों में तात्पर्य चन्द्रमा से लिया जाना चाहिए[1]

कुछ भी हो हिलेब्राण्ड्ट अपनी 'वैदिश्शे मिथालजी' नामक पुस्तक में सोम चन्द्र का तादात्म्य अनेक वैदिक मन्त्रों में सूचित हुआ मानते और कहते हैं कि संपूर्ण नवम मण्डल में सोम का अर्थ चन्द्रमा समझा जाना चाहिए और उस शब्द का अर्थ कहीं भी 'लता' नहीं लेना चाहिए, फलतः उनकी दृष्टि में नवम मण्डल वास्तव में चन्द्र-स्तुति का मण्डल है। उनके अनुसार ऋग्वेद में सर्वत्र, चाहे वह भाग प्राचीनतम अथवा नवीनतम ही क्यों न हो, सोम का दूसरा अर्थ 'लता' और 'रस' है, किंतु देवता के रूप में उसका अर्थ सब जगह चन्द्रमा ही है। उनके मत में चन्द्रमा सोम या अमृत का निधान है और उसी को उपासक लोग सोम-सवन करते समय देवता के रूप में ध्याते एवं मनाते हैं। पेय सोम तो उस चान्द्र-अमृत का एक अंशमात्र है। हिलेब्राण्ड्ट ऋग्वेद में चन्द्र-सोम के इस तादात्म्य से भी एक पग आगे बढ़कर कहते हैं कि सोम के रूप में चन्द्र-देव वैदिक धर्म के मुख्य केन्द्र हैं; क्योंकि वे सूर्य की अपेक्षा भी कहीं अधिक मन्त्रों में विश्व के स्रष्टा एवं शासक बनकर सामने आते हैं। हिलेब्राण्ड्ट के मत में, इन्द्र का—जोकि जन-साधारण के सबसे बड़े देवता हैं—स्थान भी चन्द्रमा के बाद आता है।

उक्त मत के विरोध में यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में सोम के बहु-संख्यक वर्णनों में सोम-देव एक लता और रस-विशेष के मानवीकृत रूप में पाठक के संमुख आते हैं। साथ ही जहां परवर्ती साहित्य में सोम-चन्द्र का तादात्म्य पूर्ण-रूपेण चमक उठा है, वहां ऋग्वेद में एक भी उद्धरण ऐसा नहीं मिल पाता जहां सोम-चन्द्र का तादात्म्य असंदिग्ध रूप में संपन्न हो चुका हो अथवा चन्द्रमा को देव-भक्ष्य माना गया हो। केवल उन मन्त्रों में, जहां कि सोम की सूर्य से संबद्ध भास्व-रता का अस्पष्ट वर्णन किया गया है, चन्द्रमा और सोम के ऐक्य का आभासमात्र मिल सकता है। किंतु यह संभव है कि सोम-संबन्धी कल्पनाओं के असमन्वित विवरणों के मध्य अमृत और चन्द्रमा का तादात्म्य कहीं पर उभर आया हो। सोम के भास्वर और आप्यायक स्वभाव का वर्णन करनेवाले मन्त्रों में यत्र-तत्र इस विचार के संकेत मिल सकते हैं किंतु संपूर्ण ऋग्वेद को ध्यान में रखकर उसके उन कतिपय परवर्ती मन्त्रों को छोड़कर, जहांकि सोम-चन्द्र का तादात्म्य स्वीकार किया जा चुका है, कहा जा सकता है कि ऋग्वेदिक कवि के लिए सोमदेव प्रधानतः पार्थिव लता और रस के ही मानवीकरण थे। साथ ही यह मानना भूल होगी कि सभी वेद-व्याख्याकारों को, जिनके समय में कि सोम और चन्द्रमा को एक माना जाता था, इस बात का ज्ञान न हो कि ऋग्वेद में भी कहीं-कहीं सोम का अर्थ चन्द्रमा लगाना युक्तिसंगत है।

---

1. द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन्। ऋ० 10.123.8.

कहना नहीं होगा कि भारत-ईरानी काल ही में अवेस्तिक होम का सवन और स्तवन होता था। ऋग्वेद में आता है कि सोम पर्वतों पर या पर्वत-विशेष पर उत्पन्न होता था। ऋग्वेद में वरुण इसे चट्टानों के ऊपर धरते हैं। अवेस्ता में होम को एक कार्यदक्ष देवता के द्वारा हरैति नामक महान् पर्वत पर रखा जाता है। ऋग्वेद में इसे श्येन लाता है; अवेस्ता में कुछ क्षेमकारी पक्षी इसे पर्वत पर से लाकर वितरित करते हैं। वेद और अवेस्ता दोनों में सोम एक वनस्पति हैं। दोनों में यह एक ओषधि-विशेष है, जो स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन प्रदान करती और मृत्यु का निवारण करती है। सोम-सवन और सोम का उपायन भारत-ईरानी काल ही में उपासना का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन चुका था। किंतु जहां ऋग्वेद में प्रतिदिन तीन बार सवन होता था, वहां अवेस्ता (यस्न 10.2) में दो ही बार के सवनों का उल्लेख मिलता है। दोनों में कहा गया है कि डण्ठल (अंशु) कुचले जाते थे, सोम-रस पीत वर्ण का होता था और दूध के साथ उसे मिलाया जाता था (यस्न 10.13)। दोनों में दिव्य सोम को पार्थिव सोम से पृथक् माना गया है और सोम-देवता को पेय सोम से। दोनों में सोम का गाथेय घर स्वर्ग है; जहां से इसे पृथिवी पर लाया जाता है। दोनों में पेय सोम (यज्ञाग्नि की तरह) एक शक्तिशाली देव बन जाता और उसे राजा कहा जाता है। और यदि ऋग्वेदिक सोम वृत्रघ्न हैं तो अवेस्तिक होम वेरेथ्रजन हैं; और वज्र का निपात तो दोनों ही करते हैं (वधर्=वदरे)। दोनों ही कुटिल-जनों की घातों को ताड़ते हैं; दोनों ही शत्रुओं पर विजय प्रदान करते और दिव्य लोक प्राप्त कराते हैं। दोनों ही अश्वों और अनुपम शिशुओं के दाता हैं। ऋग्वेद और अवेस्ता दोनों में सर्वप्रथम सोम-सवन करनेवालों के नामों तक में ऐकमत्य है—विवस्वान् और वीवन्ह्वन्त, त्रित आप्त्य और थ्रित आथ्व्य। स्वर्गीय मादक पेय में आस्था तो भायोरपीय काल की भी हो सकती है। यदि यह संभव है तो सोम को एक प्रकार का मधु (संस्कृत=मधु; ग्रीक=मेदु; आस०=मेदु) समझा जाता रहा होगा, जिसे इसके रक्षक दानव के यहां से एक श्येन धरती पर लाया होगा। इस प्रकार का कोई मधु यदि भायोरपीय काल में था तो भारत-ईरानी काल में सोम ने उसका स्थान ले लिया होगा। किंतु वैदिक काल में तो उसका सोम-मिश्रित रूप में चलन जारी था, यह बात निश्चित-सी है।

'सोम' शब्द की व्युत्पत्ति पेषणार्थक 'सु' धातु से है, जिसका अवेस्तिक रूप=होम √हु है।

भावात्मक देवता

दो वर्ग (§ 38)—

ऋग्वेद में दो प्रकार के देवता भावात्मकता पर आश्रित हैं। प्रथम वर्ग

में वे देवता आते हैं, जो मनोभावों के सीधे मानवीकरण हैं, जैसे काम। इस प्रकार के देवता बहुत ही कम हैं और ये ऋग्वेद के सबसे बाद में बने सूक्तों में आते हैं। इनका मूल सूक्ष्म विचारों की अभिवृद्धि में है। दूसरा वर्ग, जिसमें अपेक्षाकृत बहुसंख्यक देवता आते हैं, उन देवताओं का है, जिनके नाम धातुओं में—तृ प्रत्यय लगाकर बने हैं और जो या तो कर्तृत्व के बोधक हैं जैसे धाता, अथवा किसी व्यापार-विशेष के जैसे प्रजापति। वेद के गाथेय पात्रों की कल्पना में होनेवाले विकास पर ध्यान देने से इस वर्ग के देवता प्रत्यक्षतः भावों के प्रतिरूप नहीं, अपितु किसी देवता-विशेष अथवा देवता-सामान्य के लिए प्रयुक्त हुए किसी विशेषण से उद्भूत हुए जान पड़ते हैं। इस प्रकार के विशेषण ही धीरे-धीरे अपने विशेष्य से पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप में देवता बन गये प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ रोहित (जिसका स्त्री० रूप रोहिणी है), जो मूलतः सूर्य का एक विशेषण था, अथर्ववेद में पहुंच कर सृजन का एक पृथक् देवता बन गया है।

विविध कर्तृ-देवता—

कर्तृत्व बोधक—त्रन्त देवताओं में सबसे ओजिष्ठ सविता हैं, जिनका विवरण सौर देवताओं में किया जा चुका है। अवशिष्ट देवताओं में से अधिकतर देवता ऋग्वेद में बहुत कम आते हैं। धाता कुछेक मन्त्रों में यज्ञ की व्यवस्था देनेवाले पुरोहित के अर्थ में आता है, किंतु दशम मण्डल में यह लगभग 12 बार देवता-रूप में भी आया है और केवल एक संदिग्ध उल्लेख को छोड़कर इसे सभी स्थलों पर अनेक देवों के साथ प्रस्तुत किया गया है[1]। इन मन्त्रों में भी एक में धाता शब्द इन्द्र के विशेषण की तरह प्रयुक्त हुआ है[2] और दूसरे मन्त्र में विश्वकर्मा का विशेषण बनकर आया है[3]। विविध देवताओं में विश्व के विविध दृश्यों की स्थापना करने के कार्य निक्षिप्त किये जाते थे। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे एक ऐसे पृथक् देवता की कल्पना में परिणत हो गई जो इस विशिष्ट कार्य को करता था। इसी प्रक्रिया के द्वारा धीरे-धीरे धाता भी एक स्वतन्त्र देवता बन गये हैं, जो सूर्य, चन्द्रमा, स्वर्ग, पृथिवी और वायु की रचना करते हैं[4] और विश्व के पति

1. शं नो॑ धा॒ता शमु॑ ध॒र्ता नो॑ अस्तु॒ शं न॑ उरू॒ची भ॑वतु स्व॒धाभि॑ः।
   शं रोद॑सी बृह॒ती शं नो॒ अद्रि॒ः शं नो॑ दे॒वानां॑ सु॒हवा॑नि सन्तु॥ ऋ० 7.35.3.
2. सोम॑स्य॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णि॒ बृह॒स्पते॒रनु॑मत्या उ॒ शर्म॑णि।
   तवा॒हम॒द्य म॑घव॒न्नुप॑स्तुतौ॒ धात॒र्विधा॑तः क॒लशाँ॑ अभक्षयम्॥ ऋ० 10.167.3.
3. वि॒श्वक॑र्मा॒ विम॑ना॒ आद्विहा॑या धा॒ता वि॑धा॒ता प॑र॒मोत सं॒दृक्। ऋ० 10 82 2.
4. सू॒र्या॒च॒न्द्र॒मसौ॑ धा॒ता य॑था॒ पू॒र्वम॑कल्पयत्।
   दिवं॑ च पृथि॒वीं चा॒न्तरि॑क्ष॒मथो॒ स्वः॑॥ ऋ० 10.190.3.

हैं[1]। एक सूर्य-सूक्त में धाता का आह्वान निर्मल चक्षु प्रदान करने के लिए किया गया है[2]। विष्णु, त्वष्टा और प्रजापति के साथ वे अपत्यदान के लिए आहूत हुए हैं[3], और अकेले भी उनका आह्वान दिनों के पौर्वापर्य की सततता के लिए हुआ है[4]। विष्णु और सविता[5] अथवा मातरिश्वा और देष्ट्री[6] के साथ भी उनका आह्वान हुआ है। निघण्टु में धाता को मध्यम-लोकस्थ देवों में गिना गया है और यास्क ने इस शब्द का अर्थ किया है—'प्रत्येक वस्तु के विधायक'[7]। वेदोत्तर-काल में धाता विश्व के स्रष्टा और पालक के रूप में उभरते हैं, क्योंकि वे अब प्रजापति और ब्रह्मा के तुल्य बन गये हैं। विधाता शब्द एक मन्त्र में इन्द्र का[8] और दूसरे मन्त्र में विश्वकर्मा का[9] विशेषण बनकर आया है; किंतु दो बार देव-नामों की गणना में यह स्वतन्त्र देवता के रूप में भी आया है[10]। धर्ता शब्द का प्रयोग बहुधा इन्द्र एवं अन्य देवों के विशेषण के रूप में हुआ है। किंतु एक बार यह अन्य देव-नामों के साथ स्वतन्त्र नाम की तरह भी प्रयुक्त हुआ है[11]। इसी प्रकार त्वष्टा का प्रयोग बहुसंख्यक मन्त्रों में अग्नि और इन्द्र के विशेषण की तरह हुआ है; और बहुवचन में आदित्यों के विशेषण-रूप में। किंतु पांच मन्त्रों में यह स्वतन्त्र रूप से अन्य

---

1. धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिः। ऋ० 10.128.7.
2. चक्षुर्धाता दधातु नः। ऋ० 10.158.3.
3. विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
   आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥ ऋ० 10.184.1.
4. यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
   यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥ ऋ० 10.18.5.
5. धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः। ऋ० 10.181.1.
   धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो बृहदा चक्रे अग्नेः। ऋ० 10.181.2.
   धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रा सूर्यादभरन् घर्ममेते। ऋ० 10.181.3.
6. दे० 10.85.47. पृ० 173.
7. धाता सर्वस्य विधाता। नि० 11 10.
8. दे० 10.167.3. पृ० 301.
9. दे० 10.82.2. पृ० 301.
10. ते नो रुद्रः सरस्वती सजोषा मीळ्हुष्मन्तो विष्णुर्मृळन्तु वायुः।
    ऋभुक्षा वाजो दैव्यो विधाता पर्जन्यावाता पिप्यतामिषं नः॥ ऋ० 6.50.12.
    उभे द्यावापृथिवी विश्वमिन्वे अर्यमा देवो अदितिर्विधाता।
    भगो नृशंस उर्व१न्तरिक्षं विश्वे देवाः पवमानं जुषन्त॥ ऋ० 9 81.5.
11. दे० 7.35.3. पृ० 301.

देवों के साथ आया है[1]। रॉथ के मत में 'भग' और विशेषतया सविता को इस नाम से पुकारा गया है। एक सूक्त[2] में 'देवनेतृ' नामक देवता का दो या तीन बार आह्वान जीवन-संपत्ति के दाता के नाते किया गया है।

त्वष्टा

त्वष्टा नाम से अनेक बार उल्लिखित देवता महत्व में सविता के बाद आता है। इनका नामोल्लेख ऋग्वेद में 65 बार हुआ है। सातवें और आठवें मण्डल में इसका उल्लेख अपेक्षाकृत कम बार हुआ है, किंतु प्रथम और दशम मण्डल में इसका प्रयोग सबसे अधिक बार हुआ है। किंतु स्मरण रहे, त्वष्टा की स्तुति में एक भी सकल सूक्त नहीं कहा गया है।

भुजा और हाथ को छोड़कर त्वष्टा के किसी भी अवयव का उल्लेख नहीं मिलता है। उनके हाथ में एक आयस परशु रहता है[3]। वे अपने रथ में दो अश्वों को जोतते हैं और स्वयं अत्यन्त भास्वर हैं[4]। त्वष्टा सुडौल भुजाओं वाले हैं और उनके हाथ मञ्जुल हैं[5] एवं सुपाणि विशेषण का प्रयोग प्रधानतया त्वष्टा और सविता के लिए हुआ है।

त्वष्टा अत्यन्त कार्य-कुशल हैं[6] और अपनी तक्षण कला का प्रदर्शन करते हुए वे विविध वस्तुओं को रचते हैं। वे सचमुच कार्य-कर्ताओं में सबसे अधिक दक्ष हैं; और तक्षण कला के तो वे साक्षात् अवतार ही हैं[7]। कहा जाता है कि उन्होंने

---

1. देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्।
   तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ऋ० 1.106.7.
   आ पर्वतस्य मरुतामवांसि देवस्य त्रातुरव्रि भगस्य। ऋ० 4.55.5.
   दे० 4.55.7. के लिए 1.106.7. ऊपर
   बृहद् वरूथं मरुतां देवं त्रातारमश्विना। मित्रमीमहे वरुणं स्वस्तये॥ ऋ० 8.18.20.
   धाता धातृणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम्। ऋ० 10.128.7.
2. विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।
   विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे॥ ऋ० 5.50.1. आदि पूर्ण सूक्त
3. वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः। ऋ० 8.29.3.
4. युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति। ऋ० 6.47.19.
5. प्रथमभाजं यशसं वयोधां सुपाणिं देवं सुगभस्तिमृभ्वम्।
   होता यक्षद् यजतं पस्त्यानामग्निस्त्वष्टारं सुहवं विभावा॥ ऋ० 6.49.9.
6. त्वष्टा यद् वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्। ऋ० 1.85.9.
   सुकृत्सुपाणिः स्ववाँ ऋतावा देवस्त्वष्टावसे तानि नो धात्। ऋ० 3.54.12.
7. दे० 10.53.9. पृ० 173.

इन्द्र के लिए वज्र[1] बनाया था (√तक्ष्)। वे ब्रह्मणस्पति के आयस परशु को भी पैनाते हैं[2]। उन्होंने एक अनूठा चमस बनाया था[3], जिसमें असुरों का भोज्य रखा जाता था[4] अथवा देवताओं का पान[5]। उनके पास ऐसे पात्र हैं, जिनमें पान करना देवता भी अपना अहोभाग्य समझते हैं[6]। अथर्ववेद[7] में कहा गया है कि वे एक 'स्थविर पुमान्' हैं जिनके पास संपत्ति-भरा कलश है और सोम-भरा चमस है। त्वष्टा ने शीघ्रगामी अश्व को उत्पन्न किया[8], और घोड़े को गति उन्होंने ही दी है[9]। ऋग्वेद के शब्दों में त्वष्टा ने ही सब अशेष प्राणियों को रूप-संपन्न बनाया है[10]। त्वष्टा गर्भाशय में गर्भ के विकासक और मानवीय तथा पाशविक सभी रूपों के विधायक हैं[11]। इसी प्रकार की उक्तियां परवर्ती वैदिक साहित्य में भरी पड़ी हैं[12], किंतु त्वष्टा खास तौर से रूप के निष्पादक हैं[13]। ऋग्वेद में उन्हें अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक वार 'विश्वरूप' बताया गया है। सजीव रूपों के निर्माता के नाते और अपत्यों के दाता के रूप में भी उनसे कर्मण्य एवं युक्तग्रावा वीर संतति की प्रार्थना की गई है[14]। फलतः उल्लेख मिलता है कि त्वष्टा ने पति-पत्नी

---

1. अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन् त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम्। ऋ० 5.31.4.
2. दे० 10.53.9. पृ० 261.
3. उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः॥ ऋ० 1.20.6.
4. त्यं चिच्चमसमसुरस्य भक्षणमेकं सन्तमकृणुता चतुर्वयम्। ऋ० 1.110.3.
5. हनामैनाँ इति त्वष्टा यदब्रवीच्चमसं ये देवपानमनिन्दिषुः। ऋ० 1.161.5.
6. त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभ्रत्पात्रा देवपानानि शंतमा।
शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पतिः॥ ऋ० 10.53.9.
7. सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्। अथ० 9.4.6.
8. त्वष्टुरर्वाजायत आशुरश्वः। वा० सं० 29.9.
9. आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु। अथ० 6.92.1.
10. य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥ ऋ० 10.110.9.
11. त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः पशून् विश्वान्त्समानजे।
तेषां नः स्फातिमा यज॥ ऋ० 1.188.9. दे० 10.184.1. पृ० 302.
अयं यथा न आभुवत् त्वष्टा रूपेव तक्ष्या। अस्य क्रत्वा यशस्वतः। ऋ० 8.102.8.
12. एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन्तान्गोष्ठे सविता नियच्छतु॥ अथ० 2.26.1.
13. त्वष्टा रूपाणि (आदत्त)। शत० ब्रा० 11.4.3.3.
त्वष्टा वै रूपाणामीशे। तै० ब्रा० 1.4.7.1.
14. तन्नस्तुरीपमधं पोषयित्नु देव त्वष्टर्वि रराणः स्यस्व।

को गर्भाशय में ही एक-दूसरे के लिए बनाया है[1]। उन्होंने भांति-भांति के प्राणियों का सिरजन किया है और वे ही उन सबका पालन-पोषण करनेवाले हैं[2]। वन्य पशुओं के भी त्वष्टा ही नियन्ता हैं[3]। सच पूछो तो वे विश्व-पिता हैं; क्योंकि उन्होंने ही समस्त चराचर को उत्पन्न किया है[4]।

वे मनुजाति के पूर्वज हैं; क्योंकि उनकी पुत्री सरण्यू—जो विवस्वान् की पत्नी थी—प्रथम यमल—यम और यमी की माता बनती है[5]। वायु को एक बार उनका जामाता बताया गया है[6]। त्वष्टा ने बृहस्पति को जन्म दिया[7]। दश अंगुलियों द्वारा आविर्भूत अग्नि भी त्वष्टा का ही तनय है[8]। त्वष्टा ने अग्नि को स्वर्ग, पृथिवी, सलिलों और भृगुओं के साथ जन्म दिया है[9]। कहा जाता है कि त्वष्टा इन्द्र के भी पिता थे। वे सोम के संरक्षक हैं; और सोम उनका मधु है[10]। उन्हीं के घर में इन्द्र सोम पीते हैं और वहीं से अपने पिता तक की हत्या करके वे सोम को चुराते हैं। त्वष्टा का विश्वरूप नामक पुत्र गौओं का संरक्षक है। इन्द्र की शत्रुता

यतो॑ वी॒रः क॑र्म॒ण्यः॑ सु॒दक्षो॑ यु॒क्तग्रा॑वा॒ जाय॑ते दे॒वका॑मः ॥ ऋ० 3.4.9.

1. गर्भे॒ नु नौ॑ जनि॒ता दम्प॑ती कर्दे॒वस्त्वष्टा॑ सवि॒ता वि॒श्वरू॑पः । ऋ० 10.10.5.
   त्वष्टा॑ जा॒याम॑जनय॒त् त्वष्टा॑स्यै त्वां पति॑म् ।
   त्वष्टा॑ स॒हस्र॒मायूं॑षि दी॒र्घमायुः॑ कृणोतु वाम् ॥ अथ० 6.78.3.
2. दे॒वस्त्वष्टा॑ सवि॒ता वि॒श्वरू॑पः पु॒पोष॑ प्र॒जाः पु॑रु॒धा ज॑जान । ऋ० 3.55.19.
3. त्व॒ष्टा वै प॑शू॒नामी॑ष्टे । शत० ब्रा० 3.7.3.11.
   त्व॒ष्टु॒र्हि प॑शवः । शत० ब्रा० 3.8.3.11.
4. त्वष्टु॒रवी॑ जायतऽआ॒शुरश्वः॑ । त्वष्टे॒दं विश्वं॒ भुव॑नं जजान । वा० सं० 29 9.
5. त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे व॑ह॒तुं कृ॑णो॒तीती॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ समे॑ति ।
   य॒मस्य॑ मा॒ता प॑र्यु॒ह्यमा॑ना म॒हो जा॒या विव॑स्वतो ननाश ॥ ऋ० 10.17.1.
   अपा॑गूहन्न॒मृता॒ मर्त्ये॑भ्यः कृ॒त्वी सव॑र्णामदद॒ुर्विव॑स्वते ।
   उ॒ताश्विना॑वभर॒द् यत्तदासी॒दज॑हादु॒द्वा मि॑थु॒ना स॑र॒ण्यूः ॥ ऋ० 10.17.2.
   प्र सू म॒हे सु॑शर॒णाय॑ मे॒धां गिरं॑ भरे॒ नव्य॑सीं॒ जाय॑मानाम् ।
   य आ॑हना दु॑हि॒तुर्व॒क्षणा॑सु रू॒पा मि॑ना॒नो अकृ॑णोदि॒दं नः॑ ॥ ऋ० 5.42.13.
6. तव॑ वायवृतस्पते॒ त्वष्टु॑र्जामातरद्भुत । अवां॒स्या वृ॑णीमहे ॥ ऋ० 8.26.21.
7. विश्वे॑भ्यो॒ हि त्वा॒ भुव॑नेभ्य॒स्परि॒ त्वष्टाज॑न॒त्साम्नः॑ साम्नः क॒विः । ऋ० 2.23.17.
8. दशे॒मं त्वष्टु॑र्जनयन्त॒ गर्भ॒मत॑न्द्रासो युव॒तयो॒ विभृ॑त्रम् । ऋ० 1.95.2.
9. दे० 10.2.7. पृ० 232.
   दे० 10.46.9. पृ० 172.
10. आ॒थ॒र्व॒णाया॑श्विना दधी॒चेऽश्व्यं॒ शिरः॒ प्रत्यै॑रयतम् ।
    स वां॒ मधु॒ प्र वो॑चदृ॒तायन् त्वा॒ष्ट्रं यद् द॑स्रा वपिक॒क्ष्यं॑ वाम् ॥ ऋ० 1.117.22.

इसके प्रति इन गौओं को जीत लेने की इच्छा के कारण है, ठीक वैसे ही जैसे कि इसके पिता से उनकी शत्रुता सोम पर अधिकार करने की इच्छा से है। स्वयं त्वष्टा इन्द्र के क्रोध से कांप उठते हैं[1]। उन्हें इन्द्र से हीन दरजे का बताया गया है, क्योंकि इन्द्र द्वारा किये वीर कृत्यों को करने में वे भी स्वयं असमर्थ हैं[2]। तैत्तिरीय संहिता[3] में कहानी आती है कि त्वष्टा के पुत्र को इन्द्र ने मार डाला था, फलतः त्वष्टा ने सोम-याग में इन्द्र की सहायता करने से इनकार कर दिया था; किंतु इन्द्र आये और सहसा सोम को पी गये। ब्राह्मणों में इस प्रकार की कहानियां जगह-जगह आती हैं[4]।

हो सकता है कि गर्भाशय में सृजनक्रिया करने के कारण त्वष्टा का दिव्य वनिताओं के साथ निकट-संबन्ध बन गया हो। उनका संबन्ध देव-पत्नियों के साथ स्पष्ट है, जो अनेक बार उनकी परिचारिका बनकर आती हैं[5]। त्वष्टा का उल्लेख बहुधा उन्हीं जैसे कार्यों को करनेवाले अन्य देवता पूषा, सविता, धाता और प्रजापति के साथ भी आता है। दो मन्त्रों[6] में तो सविता त्वष्टा के विशेषण बनकर आये हैं। इन्हीं मन्त्रों में सविता के साथ उनकी तदाकारता का संकेत भी आता है:—देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः। कौशिक सूत्र में त्वष्टा की एकरूपता सविता और प्रजापति के साथ उभारी गई है और मार्कण्डेय पुराण में विश्वकर्मा और प्रजापति के साथ। वाद की गाथा में त्वष्टा 12 आदित्यों में से एक बन गये हैं और महाभारत और भागवत पुराण में एक या दो बार वे सूर्य भी बन जाते हैं। ऋग्वेद में उनके बारे में कुछ और बातें भी मिलती हैं। उदाहरणार्थ वे प्रथम होनेवाले[7] अथवा अग्रजा हैं[8]। अङ्गिरसों के सखा के नाते वे देवलोक से परिचित हैं[9]। वे

---

1. दे० 1.80.14. पृ० 135.
2. अहं तदासु धारयं यदासु न देवश्चन त्वष्टाधारयद्रुशत्। ऋ० 10.49.10.
3. त्वष्टा हतपुत्रो वीन्द्रं सोममाऽहरत् तस्मिन्निन्द्र उपहवमैच्छत तं नोपाह्वयत पुत्रं मेऽवधीरिति स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्। तै० सं० 2.4.12.1.
4. स त्वष्टा चुक्रोध। कुविन्मे पुत्रमवधीदिति सोऽपेन्द्रमेव सोममाजह्रे स यथाऽयं सोमः प्रसुत एव मपेन्द्र एवास। शत० ब्रा० 1.6.3.6.
5. अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप। त्वष्टारं सोमपीतये ॥ ऋ० 1.22.9.
6. दे० 3.55.19. पृ० 305. दे० 10.10.5. पृ० 305.
7. इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुपह्वये। अस्माकमस्तु केवलः ॥ ऋ० 1.13.10.
8. त्वष्टारमग्रजां गोपां पुरोयावानमा हुवे।
   इन्दुरिन्द्रो वृषाहरिः पवमानः प्रजापतिः ॥ ऋ० 9.5.9.
9. देव त्वष्टर्यद्ध चारुत्वमानड्यदङ्गिरसामभवः सचाभूः।
   स देवानां पाथ उप प्रविद्वानुशन् यक्षि द्रविणोदः सुरत्नः ॥ ऋ० 10.70.9.

देवों के पाथस् पर जाते हैं[1] जोकि स्वर्ग और पृथिवी के मध्य में है[2]। वे आशीर्वाद देते हैं और वे अनुपम धन के स्वामी हैं[3]। उपासक लोग धन और आनन्द-प्राप्ति के लिए उनका आह्वान करते हैं[4]। त्वष्टा दीर्घ जीवन के दाता हैं[5]।

त्वष्टा शब्द की निष्पत्ति √त्वक्ष् धातु से हुई है। संज्ञा-रूपों के अतिरिक्त इसका क्रिया रूप भी ऋग्वेद में एक बार मिलता है और इसका सजातीय √थ्वक्ष् अवेस्ता में प्रचलित है। अर्थ में यह √तक्ष् धातु का समानार्थक दीख पड़ता है। √तक्ष् धातु का प्रयोग त्वष्टा नाम के साथ इन्द्र-वज्र-निर्माण के प्रसङ्ग में हुआ है। फलतः त्वष्टा का अर्थ प्रतीत होता है—'निर्माता' या 'तक्षक'।

त्वष्टा धुंधले स्वरूप वाले वैदिक देवों की श्रेणी में हैं। इनके स्वरूप की अस्पष्टता का कारण केज़ी के अनुसार इस बात में है कि त्रित और उसी कोटि के अन्य देवों की भांति त्वष्टा का किसी प्राचीनतर देव-वर्ग के साथ संबन्ध था जिन्हें नवीन देवताओं के अवतीर्ण होने पर जनता भूल गई थी। हिलेब्राण्ड्ट के अनुसार इस बात का कारण यह है कि त्वष्टा का संबन्ध किसी वैदिक-आर्येतर वर्ग की गाथाओं के साथ था। त्वष्टा के मौलिक स्वरूप के संबन्ध में भांति-भांति की ऊहापोहें की गई हैं क्योंकि त्वष्टा को सविता कहा गया है; इसलिए ए० कुह्न मानते हैं कि त्वष्टा वास्तव में सूर्य थे; किंतु केज़ी ने अपने इस मत को बाद में वापस ले लिया था। लुडविग त्वष्टा को वर्ष का देवता मानते हैं। ओल्डेनबेर्ग के अनुसार त्वष्टा क्रिया-विशेष के भावात्मक रूप (Abstraction) हैं। हिलेब्राण्ड्ट कुह्न के इस मत को कि त्वष्टा सूर्य के प्रतिरूप हैं, संभव बताते हैं। हार्डी भी त्वष्टा को सौर-देवता ही समझते हैं। किंतु अधिक संभव यह है कि त्वष्टा ऋग्वेद-पूर्व काल में सूर्य की सृजनात्मक क्रिया के प्रतिरूप रहे हों। यदि यह सत्य है तो मानना पड़ेगा कि ऋग्वेदीय कवि त्वष्टा से संबद्ध—इस तथ्य को बहुत-कुछ भूल चुके थे। हो सकता है कि इनके नाम के कारण ही कार्यदक्षता से संबद्ध गाथाएँ इनके चहुं ओर आ-

---

1. पिशङ्गरूपः सुभरो वयोधाः श्रुष्टी वीरो जायते देवकामः।
   प्रजां त्वष्टा वि ष्यतु नाभिमस्मे अथा देवानामप्येतु पाथः॥ ऋ० 2.3.9.
2. त्वष्टा पत्नीभिरनुमंहनेवाग्रे यावा धिषणे यं दधाते।
   विश्वावसु हस्तयोरादधानोऽन्तर्मही रोदसी याति साधन्। मै० सं० 4.14.9.
3. दे० 10.70.9. पृ० 306.
   ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः।
   देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे॥ ऋ० 10.92.11.
4. प्रति नः स्तोमं त्वष्टा जुषेत स्यादस्मे अरमतिर्वसूयुः। ऋ० 7.34.21.
5. इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः। ऋ० 10.18.6.
   दे० अथ० 6.78.3. पृ० 305.

चिपकी हों; क्योंकि देव-मण्डली में भी किसी स्थायी त्वष्टा की कल्पना करना स्वाभाविक-सा था। कुछ इसी प्रकार से वैदिक देवताओं में बृहस्पति नामक एक दिव्य पुरोहित की कल्पना भी की गई थी।

त्वष्टा के चमस का अर्थ 'वर्ष का कलश' अथवा 'रात्रि का आकाश' किया गया है। किंतु इन दोनों के साथ सोम-पूर्णता और देवताओं के द्वारा पिये जाने की कल्पना का संबन्ध नहीं के तुल्य ठहरता है। हिलेब्राण्ड्ट इनका तादात्म्य चन्द्रमा के साथ बताते हैं और उनका यह मत अपेक्षाकृत अधिक संगत प्रतीत होता है।

विश्वकर्मा प्रजापति (§ 39)—

ऋग्वेद में कुछ ऐसे भावात्मक देवता पाये जाते हैं जिनका मूल उन विशेषणों में निहित है जो उस सर्वोच्च देवता का प्रतिनिधान करते हैं, जोकि ऋग्वेदिक काल के अन्तिम चरण में उभर रहा था। एक देवता का अभिधायक बनकर विश्वकर्मन् पद ऋग्वेद में केवल 5 बार आता है और वह भी दशम मण्डल में। उनकी स्तुति में दो सकल सूक्त कहे गये हैं[1]। विश्वकर्मा शब्द एक बार इन्द्र का और एक बार सूर्य का विशेषण बनकर भी प्रयुक्त हुआ है[2]। परवर्ती वेदों में भी विशेषण-रूप में इसके प्रयोग अज्ञात नहीं हैं। यहां यह प्रजापति का भी विशेषण बनकर आया है[3]। ऋग्वेद के दोनों सूक्तों में विश्वकर्मा का वर्णन इस प्रकार है: वे सर्वद्रष्टा हैं, उनके सब ओर नेत्र, मुख, भुजाएं और चरण हैं। (इस दृष्टि से उत्तरकालीन गाथा के चतुर्मुख और चतुष्पाद ब्रह्मा इनके प्रतिनिधि ठहरते हैं)। उनके पंख भी हैं। वे ऋषि हैं, पुरोहित हैं और हम सबके पिता हैं। वे वाचस्पति, मनोजवा, उदार और अशेष संपत्ति के प्रभव हैं। वे सभी स्थानों और सभी प्राणियों को जानते हैं और एकमात्र वे ही देवताओं का नामकरण करते हैं। वे प्राज्ञ और शक्ति-संपन्न हैं; वे सर्वोच्च संदृक् हैं। वे धाता और विधाता हैं; क्योंकि उन्होंने ही पृथिवी को उत्पन्न किया और आकाश को अनावृत किया है। संभव है कि विश्वकर्मा शब्द पहले-पहल सूर्यदेव का विशेषण बनकर उनके साथ संपृक्त हुआ हो और उत्तर-वैदिक काल में पहुंच कर यह उस 'एक देव' का पर्याय बन गया

---

1. य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः। ऋ० 10.81.1. आदि
   चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने।
   यदेदन्ता अददृंहन्त पूर्वं आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम्॥ ऋ० 10.82.1. आदि.
2. त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥ ऋ० 8.98.2.
   विभ्राजञ्ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः।
   येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता॥ ऋ० 10.170.4.
3. प्रजापति विश्व कर्मा विमुञ्चतु। वा० सं० 12.61.

हो[1], जिसकी कल्पना धीरे-धीरे विकसित हो रही थी और जो विश्वकर्मा के रूप में सबका तष्टा बनकर उभर रहा था। ब्राह्मणों में विश्वकर्मा का तादात्म्य प्रजापति के साथ स्थापित किया गया है[2] और वेदोत्तर-काल में वे देवताओं के तष्टा समझे जाने लगे थे।

ऋग्वेद के एक मन्त्र[3] में प्रजापति शब्द सविता का विशेषण बनकर आता है; जहां कि सविता को स्वर्ग का धारक और विश्व का प्रजापति बताया गया है। एक अन्य मन्त्र में इन्द्र और त्वष्टा के साथ तुलित सोम का विशेषण बनकर प्रजापति शब्द आता है[4]। दशम मण्डल में चार बार इस शब्द का एक स्वतन्त्र देवता के अभिधान की तरह प्रयोग हुआ है। प्रजापति देव को प्रशस्त प्रजा देने के लिए पुकारा गया है और विष्णु, त्वष्टा और धाता के साथ उन्हें अपत्यदान के लिए[5]। वे गौओं को उर्वरा बनाते हैं[6]। संतानों और प्राणियों के रक्षक होने के नाते प्रजापति का आह्वान अथर्ववेद में भी किया गया है। उनकी स्तुति में कहे गये एक ऋग्वेदिक सूक्त[7] के अन्तिम मन्त्र में उनका अपने नाम से आह्वान हुआ है। इस सूक्त में उनकी स्तुति पृथिवी और स्वर्ग, सलिल और निःशेष प्राणियों के स्रष्टा के रूप में की गई है। वे अशेष सत्ताओं के एकमात्र अधिपति, प्राणियों और गतिमानों के एकमात्र राजा, सब देवों के ऊपर एक देव बनकर आविर्भूत हुए हैं। उनके विधानों का अनुपालन सभी प्राणी और देवता करते हैं। उन्होंने स्वर्ग और पृथिवी को स्तंभित किया। वे अन्तरिक्ष में लोकों के परिभ्रामक हैं। अपनी भुजाओं से वे

---

1. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
   सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ ऋ० 10.81.3.
2. प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा। शत० ब्रा० 8.2.1.10.
   प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माभवत्। ऐ० ब्रा० 4.22.
3. दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः। अजीजनत्सविता सुम्नमुक्थ्यम्॥ ऋ० 4.53.2.
4. दे० 9.5.9. पृ० 306.
5. आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः। ऋ० 10.85.43.
   विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
   आसिञ्चतु प्रजापति धाता गर्भं दधातु ते॥ ऋ० 10.184.1.
   त्वष्टारमग्रजां गोपां पुरो यावानमा हुवे।
   'इन्दुरिन्द्रो वृषा हरिः पवमानः प्रजापतिः॥ ऋ० 9.5.9.
6. प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
   शिवाः सती रुप नो गोष्ठमाकुस्तासां वयं प्रजया सं सदेम॥ ऋ० 10.169.4.
7. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
   स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ० 10.121.1.

निखिल संसार और निःशेष प्राणियों को व्यापे हुए हैं। इन स्थलों पर स्पष्टतः प्रजापति सर्वोच्च देव का नाम है। सर्वोच्च देव के नाते ऋग्वेद में उनका केवल एक बार उल्लेख हुआ है, किंतु अथर्ववेद एवं वाजसनेयि संहिता में साधारणतया और ब्राह्मणों में सर्वत्र ही उन्हें प्रमुख देवता मानकर उनकी उपासना की गई है। वे देवाधिदेव हैं[1]। वे आदिकाल में अकेले विराजमान थे[2]। उन्होंने ही असुरों की रचना की थी[3]। वे प्रथम याज्ञिक हैं[4]। सूत्रों में प्रजापति का तादूप्य ब्रह्मा के साथ किया गया है[5]। परवर्ती वैदिक धर्म के इस प्रमुख देवता के स्थान पर उपनिषदों एवं दर्शनों ने निर्गुण ब्रह्म की स्थापना की है।

मैत्रायणी संहिता[6] में गाथा आती है कि एक बार प्रजापति अपनी पुत्री उषा पर आसक्त हो गये। तब उषा ने अपने-आपको हिरनी के रूप में परिवर्तित कर लिया। इसपर प्रजापति ने अपने को हिरन बना लिया। तब रुद्र ने क्रुद्ध होकर उनके ऊपर बाण संधान लिया, तब प्रजापति को होश आई और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि रुद्र उनके ऊपर बाण न छोड़ेंगे तो वे उन्हें पशुपति बना देंगे[7]। इस गाथा का उल्लेख ब्राह्मणों में अनेक प्ररोचनाओं के साथ आया है[8]।

---

1. ता वा एताः प्रजापतेरधि देवता असृज्यन्ताग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः।
शत० ब्रा० 11.1.6.14.
2. प्रजापति हं वा इदमग्र एक एवाऽऽस। शत० ब्रा० 2.2.4.1.
3. सोऽसुरानसृजत। तै० ब्रा० 2.2.4.4.
4. प्रजापतिर्ह वा एतेनाऽग्रे यज्ञेनेजे। शत० ब्रा० 2.4.4.1.
प्रजापतिरिमां प्रथमां स्वयमातृण्णां चितिमपश्यत्। शत० ब्रा० 6.2.3.1.
5. प्रजापतिर्ब्रह्मा। आ० गृ० सू० 3.4.
6. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यकामयतोषसं सा रोहिद्भवत्तामृश्यो भूत्वाऽध्यैत्तस्मा अपव्रतमछदयत्तमायतयाभि पर्यावर्तत तस्माद्वा अबिभेत्सोऽब्रवीत्पशूनां त्वा पतिं करोम्यथ मे मा स्था इति। मै० सं० 4.2.12.
7. पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः सं जग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥
ऋ० 10.61.7.
8. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोतीति॥ ऐ० ब्रा० 3.33.
प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ। दिवं वोषसं वा मिथुन्येनया स्यामिति तां सम्बभूव। शत० ब्रा० 1.7.4.1.
प्रजापतिरुषसमभ्यैत्स्वां दुहितरं तस्य रेतः परापतत्तदस्यां न्यषिच्यत तदश्रीणादिदं मे मादुषदिति तत्सदकरोत्पशूनेव॥ पञ्च० ब्रा० 8.2.10.

इसका आधार ऋग्वेद के वे दो मन्त्र[1] प्रतीत होते हैं जिनमें पिता (संभवतः द्यौस्) अपनी पुत्री (पृथिवी) पर आसक्त होते दिखाये गये हैं और जिनमें एक शर-संधायक की ओर भी संकेत किया गया है।

ऋग्वेद[2] (10.121) के प्रथम नव मन्त्रों की टेक में प्रजापति शब्द की आवृत्ति प्रश्नवाचक सर्वनाम 'क' (कस्मै) के रूप में की गई है। दशम मन्त्र में उत्तर दिया गया है कि अकेले प्रजापति सभी सत्ताओं को व्यापे हुए हैं। इस प्रयोग के आधार पर 'क' शब्द का बाद में न केवल प्रजापति के विशेषण के रूप में, अपितु सर्वोच्च देव के स्वतन्त्र नाम के रूप में प्रयोग चल पड़ा[3]। तैत्तिरीय संहिता[4] में 'क' का ताद्रूप्य स्पष्टतया प्रजापति के साथ किया गया है।

ऋग्वेद[5] (10.121) के प्रथम मन्त्र में सर्वोच्च देव को हिरण्यगर्भ बताया गया है, जो अशेष सत्ता के अकेले ही सम्राट् हैं। यह नाम ऋग्वेद में केवल इसी एक स्थल पर आता है, किंतु अथर्ववेद और ब्राह्मण-कालीन साहित्य में इसका उल्लेख अनेक बार हुआ है। अथर्ववेद[6] में हिरण्यगर्भ का बोध इस प्रकार भी कराया गया है : जलों ने एक गर्भ उत्पन्न किया, जो उत्पन्न होते-होते स्वर्णावरण से आवृत हो गया। तैत्तिरीय संहिता में हिरण्यगर्भ का ताद्रूप्य प्रजापति के साथ किया गया है। उत्तर-कालीन साहित्य में यह शब्द ब्रह्मा का अभिधान बन गया है।

मन्यु एवं श्रद्धा आदि देवता (§ 40)—

अभी हमें भाववाचक संज्ञाओं की विग्रहवत्ता का विवेचन करना है। मन्यु-देव की कल्पना मुख्यतया इन्द्र के भयानक अमर्ष के आधार पर की गई है। मन्यु

---

1. म॒हे यत् पि॒त्र ईं॒ रसं॑ दि॒वे कर॒व त्स॑रत्पृश॒न्यश्चि॑कि॒त्वान् ।
   सृ॒जद॑स्ता धृष॒ता दि॒द्युम॑स्मै॒ स्वायां॑ दे॒वो दु॑हि॒तरि॒ त्विषिं॑ धात् ॥ ऋ० 1.71.5.
   प्रथि॑ष्ट॒ यस्य॑ वी॒रक॑र्ममि॒ष्णदनु॑ष्ठितं॒ नु नर्यो॒ अपौ॑हत् ।
   पुन॒स्तदा वृ॑हति॒ यत्क॒नाया॑ दु॒हि॒तुरा॒ अनु॑भृतमन॒र्वा ॥ ऋ० 10.61.5.
   दे० 10.61.7. पृ० 310.
2. दे० 10.121.1. पृ० 309.
3. को नाम प्रजापतिः। ऐ० ब्रा० 3.22.7.
   काय॑ स्वाहा॑ कस्मै॑ स्वाहा॑ कत॒मस्मै॑ स्वाहा॑। मै० सं० 3.12.5.
4. प्र॒जाप॑ति॒र्वै कः। तै० सं० 1.7.6.6.
5. दे० 10.121.1. पृ० 309.
6. आपो॑ व॒त्सं ज॒नय॑न्ती॒र्गर्भ॒मग्रे॒ समै॑रयन् ।
   तस्यो॒त जाय॑मान॒स्योल्ब॑ आसीद्धिर॒ण्यय॒ः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥
   अथ० 4.2.8.

के लिए ऋग्वेद में दो सूक्त कहे गये हैं[1]। वे दुर्धर्ष हैं और उनका अपना अलग अस्तित्व है। वे अग्नि की भांति चमचमाते हैं, वे एक देवता हैं—वे इन्द्र, वरुण और जातवेदस् हैं। वे वृत्र का वध करते हैं और वे मरुत्सखा हैं। इन्द्र की भांति वे विजय कराते और धन प्रदान करते हैं। तपःसंपन्न होने के नाते वे अपने उपासकों की रक्षा और अपने शत्रुओं का विनाश करते हैं।

एक छोटा सूक्त श्रद्धा की स्तुति में भी कहा गया है[2]। प्रातः, मध्याह्न और रात्रि के समय श्रद्धा का आह्वान किया जाता है। श्रद्धा के द्वारा अग्निदेव प्रज्वलित होते और श्रद्धा के कारण ही घृत का हवन किया जाता है। श्रद्धा के द्वारा धन की प्राप्ति होती है। ब्राह्मणों में श्रद्धा सूर्य की[3] अथवा प्रजापति की पुत्री है[4]। उनके पारस्परिक संबन्धों का और भी विकसित विवरण महाकाव्यों और पुराणों में मिलता है।

अनुमति की ऋग्वेद में दो बार विग्रहवत्ता संपन्न हुई है। उनसे कृपालु होने की प्रार्थना की गई है और कहा गया है कि वे अपने उपासकों को दीर्घ-काल तक सूर्य-दर्शन कराती रहें[5]। उनसे मिलनेवाली रक्षा का भी उल्लेख हुआ है[6]। अथर्ववेद और वाजसनेयि संहिता—में वे प्रेम की अधिष्ठात्री बनती हैं एवं प्रजोत्पत्ति की देवी कहाती हैं। उत्तर-कालीन कर्म-काण्ड में उन्हें चन्द्रमा के साथ संपृक्त किया गया है और पूर्णमासी के पूर्ववर्ती दिन का प्रतिरूप माना गया है।

अरमति (भक्ति) की भी ऋग्वेद में कहीं-कहीं विग्रहवत्ता हुई है। इस शब्द का अवेस्तिक रूप आर्मति है, जो पृथिवी तथा बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी हैं। किंतु अरमति की विग्रहवत्ता मुश्किल से ही भारत-ईरानी काल तक पहुंच पाती है।

---

1. यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्।
   साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥ ऋ० 10.83.1.
   त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः।
   तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ ऋ० 10.84.1. आदि
2. श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
   श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ ऋ० 10.151.1.
3. श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता। शत० ब्रा० 12.7.3.11.
4. अथ ह सीता सावित्री। सोमं राजानं चकमे। तै० ब्रा० 2.3.10.1.
5. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
   ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥ ऋ० 10.59.6.
6. सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
   तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम् ॥ ऋ० 10.167.3

सूनृता की ऋग्वेद में दो या तीन बार देवी के रूप में विग्रहवत्ता हुई है[1]।

असु-नीति का मानवीकरण ऋग्वेद के केवल एक मन्त्र में हुआ है[2]। दीर्घ-जीवन, शक्ति और भोज्य के लिए उनसे प्रार्थना की गई है।

निर्ऋति (रोग, दुर्भाग्य) का ऋग्वेद में लगभग बारह बार मानवीकरण हुआ है। वे मृत्यु की अधिष्ठात्री देवी हैं।

अन्य मानवीकरण सर्वप्रथम बाद के वेदों में मिलते हैं। अथर्ववेद[3] में काम को देवता रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहां कामदेव पश्चवैदिक धारणा की तरह प्रेम मात्र के देवता नहीं, प्रत्युत सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के अधिष्ठाता हैं। उनके बाणों का, जिनके द्वारा वे हृदय-वेधन करते हैं, वर्णन मिलता है[4]। उन्हें उत्पन्न होनेवालों में सर्वप्रथम बताया गया है[5]। इनकी कल्पना का मूल संभवतः ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में निहित है, जहां काम के 'प्रथम बीज' का निर्देश आता है।

सर्गप्रवर्तिनी शक्ति के रूप में काल का अथर्ववेद में मानवीकरण मिलता है[6]।

अथर्ववेद में स्कम्भ को सर्व-देव के रूप में आहूत किया गया है। प्रजापति द्वारा रचित जगत् के धारक के नाते इनकी कल्पना अथर्ववेदीय सूक्ष्म विचारों से उद्भूत होती है[7]।

---

1. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। ऋ० 1.40.3.
   प्र देवाः प्रोत सूनृता रायो देवी ददातु नः। ऋ० 10.141.2.
2. असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः। ऋ० 10.59.5.
   दे० 10.59.6. पृ० 312.
3. सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन।
   नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण॥ अथ० 9.2.1. आदि पू०सू०
   कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
   स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ अथ० 19.52.1. आदि
4. उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
   इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ अथ० 3.25.1.
5. कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। अथ० 9.2.19.
   कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ० 10.129.4.
6. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
   तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥ अथ० 19.53.1.
   कालादापः समभवन् कालाद्ब्रह्म तपो दिशः।
   कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः॥ अथ० 19.54.1. आदि पूर्ण सूक्त
7. स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।

प्राण भी एक देवता के रूप में मिलते हैं[1]। इनका प्रजापति के साथ तादूप्य भी स्थापित किया गया है। इसी कोटि की अन्य भावात्मक विग्रहवत्ताएं भी अथर्ववेद में मिल सकती हैं। उदाहरणार्थ, सौन्दर्य या सौभाग्य का मानवीकरण बनकर श्री सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में[2] उभरती है।

अदिति (§ 41)—

ऋग्वेद में एक और देवी है, जो विशुद्ध भाव का मानवीकरण बनकर उस वेद के न केवल नवीनतम भाग में अपितु सारे ही ऋग्वेद में यत्रतत्र प्ररोचमान होती है।

अदिति देवी के लिए ऋग्वेद में एक भी सकल सूक्त नहीं कहा गया है, किंतु वह प्रासङ्गिक रूप में यत्रतत्र आ विराजती हैं। उनका नाम लगभग 80 बार आता है। कुछ गिने-चुने स्थलों पर उनका अकेले भी उल्लेख हुआ है[3]। वे बहुधा अपने पुत्र आदित्यों के साथ आहूत होती हैं।

उनका कोई निश्चित शारीरिक गुण नहीं है। उन्हें बहुधा देवी कहा गया है, और इन्हें कभी-कभी 'अनर्वा' की संज्ञा भी दी गई है[4]। वे सुविस्तृत[5] सुविपुल और उरु-व्रज की पत्नी हैं। वे भ्राजमान हैं और ज्योतिष्मती हैं; वे प्राणियों की धारक हैं[6] और सभी मनुष्यों के साथ उनका संबन्ध है[7]। प्रातः, मध्याह्न और सूर्यास्त के समय उनका आह्वान किया जाता है[8]।

अदिति मित्र, वरुण और अर्यमन् की माता हैं[9]। फलतः उन्हें राजमाता

स्कुम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणन्निमिषच्चयत् ॥ अथ० 10.8.2.

1. प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते ।
   प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥ अथ० 11.4.12.
2. प्रजापतिर्वै प्रजाः सृजमानोऽतप्यत । तस्माच्छ्रान्तात्तेपानाच्छ्रीरुदक्रामत् सा दीप्यमाना भ्राजमाना लेलायन्त्यतिष्ठत् । शत० ब्रा० 11.4.3.1.
3. समिधा यो निशिती दाशददितिं धामभिरस्य मर्त्यः ।
   विश्वेत्स धीभिः सुभगो जनां अति द्युम्नैरुद्न इव तारिषत् ॥ ऋ० 8.19.14.
4. अवतु देव्यदितिरनर्वा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ऋ० 2.40.6.
   सुहवा देव्यदितिरनर्वा ते नो अंहो अति पर्षन्नरिष्टान् । ऋ० 7.40.4.
5. उरुव्यचा अदितिः श्रोतु मे हवम् । ऋ० 5.46.6.
6. ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिं स्वर्वतीमा सचेते दिवेदिवे । ऋ० 1.136.3.
7. इन्द्रं नो अग्ने वसुभिः सजोषा रुद्रं रुद्रेभिरा वहा बृहन्तम् ।
   आदित्येभिरदितिं विश्वजन्यां बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम् ॥ ऋ० 7.10.4.
8. प्रातर्देवीमदितिं जोहवीमि मध्यंदिन उदिता सूर्यस्य । ऋ० 5.69.3.
9. ता माता विश्ववेदसाऽसुर्याय प्र महसा । मही जजानादितिं ऋतावरी । ऋ० 8.25.3.

कहा गया है[1]। वे अद्वितीय पुत्रों की[2], शक्तिशाली पुत्रों की[3], वीर पुत्रों की[4], या आठ पुत्रों की माता[5] हैं। एक बार उन्हें अमृत की नाभि, रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री और आदित्यों की बहन भी बताया गया है[6]। अथर्ववेद में उनके भाइयों एवं पुत्रों का उल्लेख हुआ है[7]। इसी वेद के एक अन्य मन्त्र[8] में उनका आह्वान भक्तों की महती माता, ऋत की पत्नी, शक्तिशालिनी, अजरा, सुविस्तृता, रक्षिका और दर्शता, दक्षनेत्री के रूप में हुआ है। ऐसे मन्त्रों से तथा आदित्यों के साथ जोकि उनके पुत्र हैं, उनके सतत आह्वान से उनका मातृत्वगुण निखर उठता है। उनका पस्त्या यह विशेषण[9] भी उनके मातृत्व का सूचक बन सकता है। महाकाव्य और पुराणों की गाथा में अदिति दक्ष की पुत्री, देव सामान्य की—विशेषतः विवस्वान्, सूर्य और वामन विष्णु की—माता हैं। वाजसनेयि संहिता[10] में उन्हें

विश्वंहमानो अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः।
स्वर्वज्ज्योतिरवृकं नशीमहि तद् देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ ऋ० 10.36.3.
युवोर्हि मातादितिर्विचेतसा द्यौर्न भूमिः पयसा पुपूतनि। ऋ० 10.132.6.
अदितिर्न उरुष्यत्वदितिः शर्म यच्छतु।
माता मित्रस्य रेवतोऽर्यम्णो वरुणस्य च ॥ ऋ० 8.47.9.

1. पिपर्तु नो अदिती राजपुत्रा। ऋ० 2.27.7.
इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ॥ ऋ० 2.27.1.
2. बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा। ऋ० 3.4.11.
3. पर्षि दीने गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसतः। ऋ० 8.67.11.
4. हुवे देवीमदितिं शूरपुत्राम्। अथ० 3 8.2.
गृह्णातु त्वा मदितिः शूरपुत्रा। अथ० 11.1.11.
5. अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि। ऋ० 10.72.8.
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्रा। अथ० 8.9.21.
6. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥ ऋ० 8.101.15.
7. पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः। अथ० 6.4.1.
8. महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ॥ अथ० 7.6.2.
9. प्र पस्त्या३मदितिं सिन्धुमर्कैः स्वस्तिमीळे सख्याय देवीम्। ऋ० 4.55.3.
आ नो अद्य समनसो गन्ता विश्वे सजोषसः।
ऋचा गिरा मरुतो देव्यदिते सदने पस्त्ये महि ॥ ऋ० 8.27.5.
10. अदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुः। वा० सं० 29.60.=तै० सं० 7.5.14.

विष्णु की पत्नी बताया गया है।

अदिति को अनेक बार कष्टों से बचानेवाली बताया गया है और कहा गया है कि वे अखण्डित सौख्य या सुरक्षा की प्रदात्री हैं[1]; किंतु अपेक्षाकृत अधिक बार उनका आह्वान अपराधों और पापों से उन्मुक्त करने के लिए किया गया है। इस प्रकार वरुण[2], अग्नि और सविता[3] से प्रार्थना की गई है कि वे अदिति के प्रति किये गये अपराधों के लिए हमें क्षमा प्रदान करें। अदिति, मित्र और वरुण से प्रार्थना की गई है कि वे हमारे पापों को क्षमा करें[4]। अदिति और अर्यमन् से पाप का बन्धन ढीला करने के लिए अनुनय किया गया है[5]। उपासक अदिति से प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें निष्पाप बनावें[6]। वे चाहते हैं कि अदिति के विधानों का पालन करके वे वरुण के प्रति निष्पाप बने रहें[7] और उनकी यह इच्छा भी सबल रहती है कि दुष्कर्मियों को अदिति से पृथक् कर दिया जाय[8]। फलतः यद्यपि अन्य देवता भी—जैसेकि अग्नि, सविता[9], सूर्य, उषा, स्वर्ग और पृथिवी[10]—मानव को पाप से निर्मुक्त करते हैं, तथापि पाप-निर्मोचन की धारणा का अदिति और उनके पुत्र वरुण के साथ—जिनके पाश माने हुए हैं—विशेष संबन्ध है।

फिर इस धारणा की इनके अभिधान अदिति शब्द की व्युत्पत्ति के साथ संगति भी बैठ जाती है। अदिति शब्द मूलतः एक संज्ञा है, जिसका अर्थ है 'बन्धराहित्य'। यह √दा बांधना धातु से निष्पन्न हुआ है। इस धातु का भूतकालिक कर्मवाच्य

---

1. आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे। ऋ० 10.100.1. आदि पूर्ण सूक्त.
   यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता।
   यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम॥ ऋ० 1.94.15.
2. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
   अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ ऋ० 1.24.15.
3. कृधीष्वस्माँ अदितेरनागान् व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने। ऋ० 4.12.4.
   अनागसो अदितये देवस्य सवितुः सवे। विश्वा वामानि धीमहि॥ ऋ० 5.82.6.
4. अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः। ऋ० 2.27.14.
5. यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळ तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु। ऋ० 7.93.7.
6. अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु। ऋ० 1.162.22.
7. यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः।
   अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ऋ० 7.87.7.
8. आ वृश्च्यन्तामदितये दुरेवाः। ऋ० 10.87.18.
9. देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः। ऋ० 4.54.3.
10. अनागास्त्वं सूर्यमुषासमीमहे। ऋ० 10.35.2.
    द्यावा नो अद्य पृथिवी अनागसो मही त्रायेतां सुविताय मातरा। ऋ० 10.35.3.

दित प्रयोग यूप में बंधे शुनःशेष के वर्णन में आया है[1]। फलतः देवी के रूप में अदिति से प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासकों को बद्ध चोर की न्याईं बन्धनों से ढीला कर दे[2]। इसका मौलिक अर्थ 'स्वतन्त्रता' भी ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में उभर आता है। उदाहरणार्थ एक उपासक कहता है—"कौन मुझे महती अदिति के हाथों फिर सौंपेगा, जिससे कि मैं पिता-माता को देख सकूं ?"[3]। आदित्यों से प्रार्थना की गई है कि वे हविष् को निरपराधता (अनागास्त्वे) और स्वतन्त्रता (अदितित्वे) में स्थापित करें। संभवतः उस मन्त्र में भी कवि का यही अभिप्राय है जहां कि वह द्यावा-पृथिवी से 'सुरक्षित और अदिति के असीमित दान' की भिक्षा मांगता है[4]। अदिति शब्द अनेक बार 'असीम' के अर्थ में भी आया है। उदाहरणार्थ, यह दो बार द्यौस् का[5] और अनेक बार अग्नि का[6] विशेषण बन कर प्रयुक्त हुआ है।

अदिति नाम की अनिश्चितार्थकता के कारण इसके रहस्यात्मक तादूप्य बनने स्वाभाविक थे और अदिति-विषयक धारणा पर ऋग्वेद के बाद में बने भागों में पाये जानेवाले धार्मिक और सर्ग-संवन्धी सूक्ष्म विचारों का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था। उदाहरण के लिए कहा गया है कि देवता अदिति, जल और पृथिवी से उत्पन्न हुए हैं[7]। इसके बाद आनेवाले मन्त्र में आता है कि देवों की माता द्यौरदिति उन्हें मधुमत् दुग्ध प्रदान करती हैं। यहां उनका आकाश के साथ तादूप्य स्थापित हुआ प्रतीत होता है। अन्यत्र[8] अदिति का तादूप्य संभवतः पृथिवी

1. शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात्। ऋ० 5.2.7.
2. ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत। स्तेनं बद्धमिवादिते। ऋ० 8.67.14.
3. को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च। ऋ० 1.24.1.
   आदित्यानामवसा नूतनेन सक्षीमहि शर्मणा शन्तमेन।
   अनागास्त्वे अदितित्वे तुरास इमं यज्ञं दधतु श्रोषमाणाः॥ ऋ० 7.51.1.
4. अनेहो दात्रमदितेरनर्वं हुवे स्वर्वदवधं नमस्वत्।
   तद्रोदसी जनयतं जरित्रे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ऋ० 1.185.3.
5. मिमातु द्यौरदितिर्वीतये नः। ऋ० 5.59.8.
   येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः। ऋ० 10.63.3.
6. दे० 1.94.15. पृ० 316.
   विश्वेषामदितिर्यज्ञियानाम्। सुमृळीको भवतु जातवेदाः। ऋ० 4.1.20.
   दे० 7.9.3. पृ० 169. दे० 8.19.14. पृ० 314.
7. विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
   ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्॥ ऋ० 10.63.2.
   येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः। ऋ० 10.63.3.
8. मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः। ऋ० 1.72.9.

के साथ हो गया है और ऐसा तादूप्य तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में तो सामान्य बन गया है। निघण्टु में अदिति नाम पृथिवी का और द्विवचन में द्यावा-पृथिवी का पर्याय बनकर आता है। फिर भी ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में उसे द्यावा-पृथिवी से पृथक् समझा गया है, क्योंकि वहां अदिति का उल्लेख द्यावा-पृथिवी के साथ अलग हुआ है[1]। एक मन्त्र[2] में अदिति समग्र प्रकृति का प्रतिरूप बनती है; अदिति द्यौ है, अदिति अन्तरिक्ष है; अदिति माता, पिता और पुत्र है; अदिति सभी देवता और पञ्चजन है; अदिति भूत और अदिति ही भविष्य है[3]।

यद्यपि ऋग्वेद की प्राचीनतर गाथा के अनुसार अदिति आदित्यों में से एक दक्ष की माता हैं[4], तथापि सर्ग-विषयक एक सूक्त[5] में उन्हें दक्ष की पुत्री एवं माता बताया गया है और दोनों को एक-दूसरे से उत्पन्न दिखाया गया है। फलतः परस्पर जनयितृत्व की भावना ऋग्वेद के लिए नई बात नहीं ठहरती[6]। दशम मण्डल के दो सूक्तों[7] में अदिति दक्ष की माता नहीं, प्रत्युत उनकी आश्रित प्रतीत होती हैं। यद्यपि अदिति कतिपय प्रमुख देवों की माता हैं, फिर भी कुछ मन्त्रों में उनका स्थान अपेक्षाकृत हीन प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ; वह अपने पुत्र वरुण, मित्र, अर्यमन् के साथ सविता की स्तुति करती हैं[8] और कहा तो यहां तक गया है कि उन्होंने इन्द्र के लिए एक स्तोत्र का भी आविर्भाव किया है[9]।

यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः। अथ० 13.1.38.

1. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्। ऋ० 10 63.10.
2. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
   विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ ऋ० 1.89.10.
3. या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।
   गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत एतद्वै तत्॥ कठोपनिषद् 4.7.
4. दे० 2.27.1. पृ० 315.
5. अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि। ऋ० 10.72.4.
   अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। ऋ० 10.72.5.
6. तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
   स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥ ऋ० 10.90.5.
7. असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। ऋ० 10.5.7.
   दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रा वरुणा विवाससि। ऋ० 10.64.5.
8. अभि यं देव्यदितिर्गृणाति सवं देवस्य सवितुर्जुषाणा।
   अभि सम्राजो वरुणो गृणन्त्यभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः॥ ऋ० 7.38.4.
9. उत स्वराजे अदितिः स्तोममिन्द्राय जीजनत्।
   पुरुप्रशस्तमूतय ऋतस्य यत्॥ ऋ० 8.12.14.

संभवतः आदित्यों की माता होने के नाते अदिति कभी-कभी प्रकाश से चमचमा उठती हैं। उनसे प्रकाश के लिए प्रार्थना की गई है[1]। उनकी अखण्ड ज्योति के गुण गाये गये हैं[2], और उषा को अदिति का मुखड़ा बताया गया है[3]। कभी-कभी अदिति का संकेतन ऐसे शब्दों में हुआ है जो अन्य देवों के लिए भी उपयुक्त ठहरते हैं। इस प्रकार उनसे अनुनय किया गया है कि वे अपने उपासकों, उनके शिशुओं और पशुओं की रक्षा करें अथवा उन्हें आशीर्वाद दें[4]। उनकी स्तुति धन के लिए की गई है[5]; उनसे शुचि, अखण्डित, दिव्य एवं अविनश्वर दानों के लिए प्रार्थना की गई है[6]; साथ ही मरुतों द्वारा प्रदत्त प्रशस्त आनन्द की तुलना अदिति के उदार कार्यों के साथ की गई है[7]।

ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में[8] एवं परवर्ती वैदिक ग्रन्थों[9] में अदिति को गौ बताया गया है और यज्ञ-कार्य में गौ को साधारणतया अदिति के नाम से पुकारने की प्रथा चालू रही है। पार्थिव सोम की तुलना अदिति के दुग्ध से की गई है[10]; और उन मन्त्रों में अदिति की पुत्री से दुग्ध ही का तात्पर्य संभव है—जहां यह कहा गया है कि अदिति पात्र में पवमान सोम को उसे देती है[11]। उन स्थलों पर

वृष्णे यत्ते वृषणो अर्कमर्चानिन्द्र ग्रावाणो अदितिः सजोषाः। ऋ० 5.31.5.

1. क आदित्याँ अदितिं ज्योतिरीट्टे। ऋ० 4.25.3.
   दे० 10.36.3. पृ० 315.
2. अबध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे। ऋ० 7.82.10.
3. माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती वि भाहि। ऋ० 1.113.19.
4. अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः। अदितिः पात्वंहसः सदावृधा। ऋ० 8.18.6.
   उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्या गमत्।
   सा शंताति मयस्करदप स्रिधः॥ ऋ० 8.18.7.
   यथा नो अदितिः करत्पश्वे नृभ्यो यथा गवे। यथा तोकाय रुद्रियम्॥ ऋ० 1.43.2.
5. दिदेष्टु देव्यदिती रेक्णः। ऋ० 7.40.2.
6. दे० 1.185.3. पृ० 317.
7. तद्वः सुजाता मरुतो महित्वनं दीर्घं वो दात्रमदितेरिव व्रतम्। ऋ० 1.166.12.
8. पीपाय धेनुरदितिर्ऋताय। ऋ० 1.153.3.
   दे० 8.101.15. पृ० 315.
   वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः। ऋ० 10.11.1.
9. गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। वा० सं० 13.43.
   घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। वा० सं० 13.49.
10. दे० 9.96.15. पृ० 275.
11. अव्ये वधूयुः पवते परि त्वचि श्रथ्नीते नप्तीरदितेर्ऋतं यते। ऋ० 9.69.3.

भी, जहां कि यह कहा गया है कि पुरोहित अदिति की गोद में अपनी दश अंगुलियों द्वारा सोम को पवित्र करते हैं, दूध ही अभिप्रेत हो सकता है[1]।

उक्त उद्धरणों का सिंहावलोकन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि अदिति की दो प्रमुख विशेषताएं हैं—प्रथम उनका मातृत्व है। वे एक ऐसे देव-गण की माता हैं, जिनके नाम नाक्षत्रिक हैं। उनकी दूसरी विशेषता—जिसकी उनके नाम के व्युत्पत्त्यर्थ के साथ संगति है—उनकी शारीरिक बन्धनों और नैतिक अपराधों से निर्मुक्त करने की क्षमता है। उनके नाम के विषय में रहस्यात्मक चिन्तना के कारण उन्हें असीम संपत्ति की प्रतीक 'गौ' माना गया है, और असीम पृथिवी, स्वर्ग या जगत् के साथ एकाकार किया गया है। किंतु प्रश्न उठता है कि इतने प्राचीन काल में इस प्रकार के सूक्ष्म विचारों का मानवीकरण कैसे संभव था, और विशेष रूप से अदिति के रूप में, जोकि आदित्यों की माता के रूप में जनता को ज्ञात थी। बेर्गेन के विचार में अदिति-विषयक मातृत्व भावना तक पहुंचने में कुछ पूर्व-पदों का हाथ रहा होगा जैसेकि द्यौरदितिः। और एक बार असीम आकाश का विशेषण बनते ही अदिति का देवों के लिए दुग्धदात्री बन जाना स्वाभाविक था[2]। इस मत के अनुसार अदिति शब्द का गौण अर्थ (सीमारहित) आकाश का विशेषण होने के नाते विकसित होता गया होगा। आकाश को विशेष रूप से पिता बताया गया है किंतु यहां पहुंच इसका विशेषण एक स्त्री-देवी के रूप में परिणत हो गया होगा। किंतु इस व्याख्या से अदिति के बन्ध-निर्मोचन-कार्य की व्याख्या नहीं हो पाती। 'अदितेः पुत्राः' यह पद, जो ऋग्वेद में अनेक बार आदित्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है, वैदिक-पूर्व काल में 'स्वातन्त्र्य के पुत्र' इस अर्थ में प्रयुक्त होता रहा होगा (जैसेकि सहसः पुत्राः) और संभवतः यह वरुण तथा तत्सजातीय देवों के प्रधान गुण का ख्यापक रहा होगा। इस प्रधान गुण का बोधक 'अदिति' पद आसानी से अदिति के मातृत्व-भाव के मानवीकरण में परिणत हो गया होगा। कुछ इसी प्रकार से इन्द्र के विशेषण 'शवसः' से, स्वयं ऋग्वेद में, इन्द्र की माता 'शवसी' का विकास और उनके 'शचीपति' इस विशेषण से उनकी पत्नी 'शची' का विकास हुआ प्रतीत होता है और उस परिस्थिति में 'शचीपति' समास का अर्थ 'शची (नामक स्त्री) का पति' यह किया गया होगा। मातृनाम 'अदिति' के आधार पर बने हुए आदित्य नाम से अदिति के पुत्रों की संख्या परिमित हो जानी आसान है। देवता के रूप में परिणत हुई विग्रहवत्ता का अपने मौलिक अर्थ 'निर्बन्ध सत्ता' के साथ संबन्ध बना रहना आसान है। किंतु इसके साथ ही इसमें कतिपय अस्थिर गुणों

---

1. तमं मृक्षन्त वाजिनमुपस्थे अदितेरधि। विप्रासो अण्व्या धिया। ऋ० 9.26.1.
   समी रथं न भुरिजोरहेषत दश स्वसारो अदिते रुपस्थ आ। ऋ० 9.71.5.
2. दे० 10.63.3. पृ० 317.

का संमिलित हो जाना भी स्वाभाविक है; जैसेकि आदित्यों के संबन्ध से अदिति में ज्योतिषमत्ता का आ जाना। कतिपय प्रमुख देवताओं की अथवा देवता-सामान्य की माता होने के कारण अदिति स्वर्ग और पृथिवी के साथ तद्रूप बन गई होंगी, और इस शब्द के व्यापक अर्थ से सृष्टि-रचना-विषयक सूक्ष्म विचारों को प्रेरणा मिली होगी। इस प्रकार अदिति, जो पूर्णतः एक भारतीय देवी हैं; ऐतिहासिक दृष्टि से अपने कतिपय पुत्रों से कुछ कम आयु की प्रतीत होती हैं।

अदिति-देवता बन्धनिर्मोचन-विषयक धारणा की विग्रहवत्ता है। इस मत को वालिस् और ओल्डेनबेर्ग ने प्रश्रय दिया है। मैक्समूलर के विचार में 'अदिति' —जो एक प्राचीन देव या देवी थी—'उस असीम का द्योतक है, जोकि विवृत नेत्रों के लिए गोचर है, और जो पृथिवी, पर्जन्य और आकाश के परे का अनन्त अवकाश है।' रॉथ ने आरम्भ में अदिति शब्द का अर्थ किया था : 'अखण्डनीयता', 'अविनश्वरता' और यह उनके अनुसार मानवीकृत रूप में काल-गत आनन्त्य की देवी का बोधक था। बाद में उन्होंने उसका अर्थ किया : "कालगत आनन्त्य"; अर्थात् वह तत्त्व जोकि आदित्यों को अथवा अविनाश्य स्वर्गीय प्रकाश को धारण किये हुए है। वे अदिति को सुविकसित मानवीकरण के रूप में न मानकर उसे एक प्रारंभिक मानवीकरण मानते हैं। किंतु सेन्टपीटर्सबर्ग कोष में वे अदिति की व्याख्या करते हुए लिखते हैं : (पृथिवी के विपरीत) द्युलोक की निःसीमता का मानवीकृत रूप। इसके विपरीत पिशेल के मत में अदिति पृथिवी का प्रतिरूप है। हार्डी इसी से सहमत हैं। कोलिनेट अदिति को द्यौस् का स्त्री-प्रतिरूप मानते हैं। निघण्टुकार अदिति को पृथिवी, वाक्, गो, और द्विवचन में द्यावा-पृथिवी का पर्याय मानते हैं। यास्क अदिति की व्याख्या करते हैं—'देवताओं की शक्तिशालिनी माता' और निघण्टु (5. 5) का अनुसरण करते हुए उन्हें अन्तरिक्षस्थ देवी मानते हैं, जबकि वे आदित्यों को दिव्य लोक में और वरुण को अन्तरिक्ष और दिव्य इन दोनों ही लोकों में बताते हैं।

दिति (§ 42)—

दिति का नाम ऋग्वेद में केवल तीन बार आया है। इनमें से दो बार यह अदिति के साथ आता है। मित्र और वरुण अपने रथ पर से अदिति और दिति इन दोनों को देखते हैं[1]। यहां सायणाचार्य अदिति और दिति का अर्थ—अखण्ड पृथिवी और पृथिवीस्थ प्राणी—यह करते हैं। रॉथ के अनुसार इनका अर्थ—'अविनश्वर और नश्वर' है; जबकि म्योर इनका अर्थ लगाते हैं—'समग्र दृश्य-जात'। एक

1. आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च। ऋ० 5.62.8.

दूसरे मन्त्र[1] में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह हमें दिति प्रदान करें और अदिति से हमारी रक्षा करें। इस मन्त्र पर सायणाचार्य इनका अर्थ करते हैं—'उदार दाता' और 'अनुदार दाता'। रॉथ के अनुसार इनका अर्थ है—'धन' और 'धनाभाव'। बेर्गेन के मत में ये दोनों शब्द पूर्व-मन्त्र में आई देवियों के बोधक हैं। किंतु हो सकता है कि ये शब्द यहां सुतरां भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुए हों और इनकी निष्पत्ति √दा दाने इस धातु से हुई हो, जिसका अर्थ है: 'देना' और 'न देना'। इस अर्थ की संदर्भ से एवं इन दोनों शब्दों के प्रयोग-क्रम से पुष्टि होती है। एक तीसरे मन्त्र[2] में दिति का उल्लेख अदिति के बिना, और अग्नि, सविता एवं भग के साथ वार्य वस्तु प्रदान करने के अर्थ में आया है। परवर्ती संहिताओं में भी दिति का, देवी के रूप में, अदिति के साथ उल्लेख मिलता है[3]। अथर्ववेद[4] में दिति के पुत्रों का उल्लेख आता है। ये दैत्य हैं जो वेदोत्तरकालीन गाथा में देवों के शत्रु बनकर उभरे हैं। देवी के रूप में दिति का यह नाम अदिति का विरोधी है और अदिति शब्द के स्वीकारात्मक अर्थ में इसे घड़ा गया है, जैसेकि सुर शब्द की निष्पत्ति असुर से ली गई है।

देवियां

देवियां (§ 43)—

वैदिक विश्वास और उपासना में देवियों का स्थान अपेक्षाकृत गौण है। जगन्नियन्तृत्व की दृष्टि से उनका महत्व नहीं के तुल्य है। फिर भी यदि उनमें से किसी का महत्व है तो वह है उषस् का, जो सांख्यिक मापदण्ड से देखे जाने पर तृतीय वर्ग की देवता ठहरती हैं। किंतु जहां सोम-याग में देवताओं को भाग मिलता है वहां यह भाग उषा को नहीं मिलता।

उषा के बाद सरस्वती का नंबर आता है, जो सामान्यतम देवताओं की कोटि में आती है। कतिपय अन्य देवियों में से प्रत्येक की स्तुति एक-एक सूक्त में हुई है। पृथिवी की स्तुति, जोकि बहुधा द्यौस् के साथ मिली हुई है, तीन मन्त्रों वाले एक छोटे से सूक्त में आती है। रात्रि का भी आह्वान एक सूक्त[5] में हुआ है।

1. रा॒ये च॑ नः स्वप॒त्याय॑ देव॒ दिति॑ं च॒ रास्वादि॑तिमुरुष्य। ऋ० 4.2.11.
2. त्वम॑ग्ने वी॒रव॒द्यशो॑ दे॒वश्च॑ सवि॒ता भग॑ः। दिति॑श्च दाति॒ वार्य॑म्॥ ऋ० 7.15.12.
3. अ॒हो॒रा॒त्रे ना॑सिके॒ दिति॒श्चादि॑तिश्च शीर्षकपा॒ले सं॑वत्स॒रः शिर॑ः। अथ० 15.18.4.
4. दिते॑ पु॒त्राणा॒मदि॑तेरकारिष॒मव॑ दे॒वानां॑ बृह॒ताम॑न॒र्मणा॑म्। अथ० 7.7.1.
5. रात्री॒ व्य॑ख्यदाय॒ती पु॑रु॒त्रा दे॒व्य॒१॑क्षभि॑ः।
   विश्वा॒ अधि॒ श्रियो॑ऽधित॥ ऋ० 10.127.1 आदि पूर्ण सूक्त।

अपनी बहन उषस् की भांति वह भी 'दिवो दुहिता' कहलाई हैं। रात्रि काली नहीं, प्रत्युत तारों से प्रकाशित है। वह अपने नेत्रों से अनेकधा प्रकाशित होती है। भांति-भांति की विभूतियों से विभूषित हुई वह नीची-ऊंची सभी प्रकार की पृथिवी को व्यापे हुए है; वह प्रकाश के द्वारा अन्धकार को दुराती है। उनके आ पहुंचते ही मनुष्य अपने गृहों की ओर लौटते हैं, और पक्षी अपने नीडों की ओर। प्रार्थना की गई है कि वे वृकों और तस्करों को प्रबाधित करें और अपने उपासकों की ओर सुरक्षा का वरद-हाथ बढ़ावें। हो सकता है कि रात्रि उषस् के विरोध में देवी बनी हो; उषस् के साथ अनेक मन्त्रों में देवता-युग्म के रूप में वे आहूत हुई हैं।

वाक् की स्तुति भी एक सूक्त में आई है, जहांकि अपना वर्णन वे स्वयं करती हैं[1]। वे सभी देवों के साथ रहती और मित्र-वरुण, इन्द्राग्नि तथा अश्विनों को धारण करती हैं। आस्थाहीन मानवों के विरुद्ध वे रुद्र का धनुष तानती हैं। उनका स्थान सलिलों और सागर में है। वे सभी प्राणियों को परिव्याप्त किये हुए हैं। एक अन्य मन्त्र[2] में उन्हें देवताओं की रानी और दिव्या कहा गया है। निघण्टु में वाक् की गणना अन्तरिक्षस्थ देवताओं में आई है; और निरुक्तकार के शब्दों में[3] माध्यमिका वाक् वाग्देवी के मानवीकरण का आरम्भ-बिन्दु कही जा सकती है। वाक् के विषय में ब्राह्मणों में एक गाथा आम है जिसके अनुसार सोम को गंधर्वों के यहां से स्त्रीरूप-धारिणी वाक् के मूल्य पर लाया गया था[4]। पुरन्धि, जिनका नाम ऋग्वेद में लगभग 9 बार आता है, बाहुल्य की अधिष्ठात्री हैं। उनका उल्लेख प्रायः सब जगह भग के साथ, दो-तीन बार पूषन् तथा सविता के साथ और एक बार विष्णु और अग्नि के साथ आया है। पारेन्दी, जिसे साधारणतया पुरन्धि का तद्रूप माना जाता है, अवेस्ता में धन और बाहुल्य की देवी मानी गई है[5]। फिर

---

1. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
   अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ ऋ० 10.125.1. आदि
   बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
   यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥ ऋ० 10.71.1.
2. यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
   चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥ ऋ० 8.100.10.
   देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
   सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु॥ ऋ० 8.100.11.
3. तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते। निरुक्त 11.27.
4. सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत्तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन् सोमो राजाऽऽगच्छेत् इति सा वागब्रवीत्। स्त्रीकामा वै गन्धर्वा मयैव स्त्रिया भूतया पणध्वमिति॥ ऐ० ब्रा० 1.27.
5. यस्न 8.38.

भी हिलेब्राण्ड्ट पुरन्धि को क्रियाशीलता की देवी समझते हैं। बाहुल्य की एक अन्य देवी धिषणा भी हैं, जिनका उल्लेख ऋग्वेद में लगभग 12 बार आता है। इळा, जिनका ऋग्वेद में एक दर्जन से कम ही बार उल्लेख हुआ है, दूध और घी के हविष् का मानवीकरण है; फलतः वे गौ से प्राप्य संपत्ति का प्रतिरूप समझी जा सकती हैं। परिणामस्वरूप ब्राह्मणों में इळा का अनेक बार गौ के साथ निकट-संबन्ध दिखाया गया है, यद्यपि कहीं भी इळा शब्द गौ का पर्याय बनकर नहीं आया है। किंतु निघण्टु (2.11) में यह गौ के एक पर्याय के रूप में दिया गया है। हविष् की प्रतिरूप होने के कारण इळा को घृत-हस्त[1] और घृत-पाद[2] बताया गया है। अपने मानवीकृत रूप में इडा आप्री सूक्तों में आती हैं जहां वे सरस्वती और मही या भारती के साथ देवियों का त्रिक बनाती हैं। इसमें संदेह है कि 'इळायाः पदे' यहां पर इडा का सामान्य अर्थ अभिप्रेत है अथवा उसका शाब्दिक मानवीकृत रूप। अग्नि को एक बार इळा का पुत्र बताया गया है। इस विचार का मूल आधार उनका उत्पत्ति-स्थल हो सकता है। पुरुरवस् को भी उनका पुत्र कहा गया है[3]। एक बार उन्हें यूथ-माता बताया गया है और उनका उर्वशी के साथ संबन्ध दिखाया गया है[4]। प्रातर्यज्ञ के प्रसङ्ग में[5] एक बार उनका उल्लेख दीधक्रावन् और अश्विनों के साथ भी हुआ है। शतपथ ब्राह्मण ने[6] उन्हें मनु की तथा मित्रा-वरुण की[7] पुत्री बताया है।

बृहद्दिवा नामक देवी का नाम विश्वेदेवाः सूक्तों में चार बार आता है। वे माता हैं[8] और उनका उल्लेख इळा[9], सरस्वती और राका[10] के साथ आया है।

---

1. येषामिळा घृतहस्ता दुरोण आँ अपि प्राता निषीदति। ऋ० 7.16.8.
2. मनुष्वद् यज्ञं सुधिता हवींषीळा देवी घृतपदी जुषन्त। ऋ० 10.70.8.
3. इति त्वा देवा इम आहुरैळ यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धुः। ऋ० 10.95.18.
4. अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु। ऋ० 5.41.19.
5. दधिक्रामु नमसा बोधयन्त उदीराणा यज्ञमुपप्रयन्तः।
   इळां देवीं बर्हिषि सादयन्तोऽश्विना विप्रा सहवा हुवेम॥ ऋ० 7.44.2.
6. तां होचतुः काऽसीति। मनोर्दुहितेति॥ शत० ब्रा० 1.8.1.8.
   स होवाच। इडैव मे मानव्यग्निहोत्री। शत० ब्रा० 11.5.3.5.
7. मनुर्ह्येतामग्रेऽजनयत तस्मादाह मानवीति। उतमैत्रावरुणीति॥ शत० ब्रा० 1.8.1.27.
   अथास्य मातरमभिमन्त्रयते।
   इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः। शत० ब्रा० 14.9 4.27.
8. उत माता बृहद्दिवा शृणोतु नः। ऋ० 10.64.10.
9. इळा भगो बृहद्दिवोत रोदसी पूषा पुरंधिरश्विनावधा पती। ऋ० 2.31.4.
10. सरस्वती बृहद्दिवोत राका दशस्यन्तीर्वरिवस्यन्तु शुभ्राः। ऋ० 5.42.12.

राका (संभवतः दानार्थक √रा धातु से निष्पन्न) का उल्लेख ऋग्वेद में केवल दो बार धनवती और उदार देवी के रूप में हुआ है[1]। सिनीवाली का उल्लेख ऋग्वेद के दो सूक्तों[2] में आता है। वे देवताओं की बहन हैं, विपुल कटि, सुभग भुजा, सुन्दर अंगुलियोंवाली कुल-पत्नी हैं। उनका आह्वान अपत्य देने के निमित्त हुआ है। वे सरस्वती, राका तथा गुंगू के साथ आहूत हुई हैं।

अथर्ववेद ने सिनीवाली को विष्णु की पत्नी बताया है। परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में कुहू का भी उल्लेख मिलता है जो संभवतः अभिनव चन्द्रमा का मानवीकरण है। राका और सिनीवाली को परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में चन्द्रमा की कलाओं से संयुक्त कर दिया गया है। राका पूर्ण-चन्द्र के दिन का और सिनीवाली प्रथम अभिनव चन्द्र-दिवस का मानवीकरण हैं। इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता कि यह संबन्ध ऋग्वेदिक काल में भी बन चुका था।

ऋग्वेद में प्रसङ्गागत कतिपय अन्य देवियों का संकेत यथावसर पहले किया जा चुका है। मरुतों की माता पृश्नि संभवतः चित्र-वर्णोंवाले तूफ़ान-मेघ का प्रतिरूप हैं। इस शब्द का विशेषण के रूप में भी प्रयोग हुआ है[3]। एकवचन में यह वृषभ और गौ का विशेषण है और बहुवचन में इन्द्र के लिए सोम-दुग्ध देनेवाली गौ[4] का वाचक है। इस प्रकार यह शब्द 'चित्र-वर्ण की गौ' और अन्ततोगत्वा 'चित्र मेघ' इस अर्थ का बोधक बन गया है। सरण्यू ऋग्वेद में केवल एक बार[5] आती हैं। वे त्वष्टा की पुत्री और विवस्वान् की पत्नी हैं। इनका तादृप्य सूर्या या उषस् के साथ है। सरण्यू शब्द ऋग्वेद में चार बार 'शीघ्रगामी' अर्थ में विशेषण के रूप में आता है। 'यु' प्रत्यय के साथ √सृ धातु से निष्पन्न सरण को जोड़ देने

---

1. या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती ।
   इन्द्राणीमह्व ऊतये वरुणानीं स्वस्तये ॥ ऋ० 2.32.8. दे० 5.42.12. पृ० 324.
2. सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
   जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ ऋ० 2.32.6. आदि
   दे० 10.184.2. पृ० 220.
3. गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम् ॥ ऋ० 7.103.6.
   गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि । ऋ० 7.103.10.
4. ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
   प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकम् ॥ ऋ० 1.84.11.
   इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् । एनामृतस्य पिप्युषीः ॥ ऋ० 8.6.19.
   दे० 8.7.10. पृ० 280.
   ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः । ऋ० 8.69.3.
5. दे० 10.17.2. पृ० 305.

पर 'सरण्यु' शब्द की निष्पत्ति हुई दीख पड़ती है।

इसी प्रकार देव-पत्नीभूत देवियों का भी ऋग्वेद में अपेक्षाकृत कम महत्व का स्थान है। उनका अपना कोई स्वतन्त्र चरित्र नहीं; और वे इन्द्रादि देवों की स्त्री बनकर सामने आती हैं। नाम के अतिरिक्त, उनकी किसी भी विशेषता की चर्चा नहीं के बराबर हुई है। उनके नामों की निष्पत्ति उनके अपने देव-पति के नाम के साथ स्त्रीवाचक—आनि प्रत्यय लगाकर हुई है। इस प्रकार इन्द्राणी 'इन्द्र की पत्नी' मात्र हैं। वरुणानी और अग्नायी भी ऋग्वेद में कहीं-कहीं आती हैं। रुद्राणी का नाम सूत्रों के आरम्भ-काल में नहीं पाया जाता, किंतु वे—आनि प्रत्यय से निष्पन्न नामों वाली अन्य सभी देवियों की अपेक्षा उपासना में महत्तर कार्य संपादित करती हैं। अश्विनों की पत्नी का ऋग्वेद में अश्विनी नाम से उल्लेख आया है। देवानां पत्नीः ने—जिनका कि ऋग्वेद में यदा-कदा उल्लेख-मात्र आया है—ब्राह्मण-कालीन उपासना में देवताओं से पृथक् अपना एक सुनिश्चित स्थान बना लिया है[1]।

देवता-युग्म (§ 44.)

वैदिक गाथा की अपनी विशेषता यह भी है कि यहां बहुत से देवताओं की स्तुति युग्मों में की जाती है। इनके नामों का देवता द्वन्द्व समास बनाता है जिसमें दोनों पद द्विवचन में, उदात्त एवं एक दूसरे से विभाज्य या विगृह्य रहते हैं। इस प्रकार लगभग 12 देवताओं के देवता-द्वन्द्व का कम-से-कम 60 ऋक् सूक्तों में स्तवन किया गया है। इन्द्र का नाम सात देवता-द्वन्द्वों में आता है, किंतु संख्या में सबसे अधिक सूक्त—23 सकल सूक्त और अनेक सूक्तांश—मित्रावरुण को मिले हैं। 11 सूक्त इन्द्राग्नि के लिए, 9 इन्द्रा-वरुण के लिए, लगभग 7 इन्द्र-वायू के लिए, 6 द्यावापृथिवी के लिए, दो-दो इन्द्रा-सोमा तथा इन्द्रा-बृहस्पति के लिए और एक-एक सूक्त इन्द्राविष्णु, इन्द्रापूषणा, सोमा-पूषणा, सोमा-रुद्रा और अग्नि-सोमा के लिए आये हैं। कतिपय अन्य देवता युग्मों का, जिनमें उपर्युक्त देवों से इतर 9 देवों के नाम आते हैं, एकाकी मन्त्रों में आह्वान हुआ है। ये हैं:—इन्द्र-नासत्या, इन्द्रा-पर्वता, इन्द्रा-मरुत, अग्नि-पर्जन्या, पर्जन्या-वाता (वाता-पर्जन्या भी), उषासानक्ता या नक्तोषासा, सूर्यामासा या सूर्याचन्द्रमसा।

कहना न होगा कि इन युग्मों की रचना द्यावापृथिवी के आधार पर हुई थी। आदिमकालीन चिन्तन में पृथिवी और आकाश इतने अधिक संवलित रूप में एक-दूसरे से संबद्ध रहे थे कि उनके पति-पत्नी भाव की गाथाएं आदिम जनों में प्रायः सभी जगह उभर आई थीं। वेदों को, हो सकता है, यह देन भायोरपीय जनों

1. अथ देवानां पत्नीर्यजति। शत० ब्रा० 1.9.2.11.

के एक-दूसरे से बिछुड़ने के काल से भी पहले काल से मिली हो। स्वयं ऋग्वेद में यह युग्म इतनी अधिक गहराई के साथ संबद्ध है कि जहां युग्म-रूप में इनका 6 सूक्तों में आह्वान हुआ है, वहां अकेले द्यौस् को एक भी सूक्त नहीं मिल सका है और पृथिवी को तीन मन्त्रों का एक छोटा-सा सूक्त ही मिल पाया है। इन दोनों के युगल को पृथक् करना कवि के लिए इतना कठिन हो गया है कि उसने पृथिवी-सूक्त में भी पृथिवी की स्तुति इस रूप में की गई है कि वह द्यौस् से प्राप्त होने वाली वृष्टि को अपने बादलों से भेजनेवाली बन गई है[1]। साथ ही यह देवता-द्वन्द्व देव-रूप द्यौस् के नाम की अपेक्षा अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। द्यावा-क्षामा और द्यावा-भूमि इन पर्यायों को मिलाकर यह समास लगभग 100 बार, और अन्य सभी देवता-द्वन्द्वों की अपेक्षा अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। स्वर्ग और पृथिवी को रोदसी कहा गया है और दोनों को इस शब्द के लिङ्ग के कारण 'स्वसारौ' कहकर बुलाया गया है[2]। 'रोदसी' यह पद ऋग्वेद में कम-से-कम सौ बार आया है। द्यावा-पृथिवी माता-पिता भी हैं, क्योंकि उन्हें प्रायः पितरा, मातरा, जनित्री कहकर याद किया गया है, जबकि पृथक्-पृथक् भी उन्हें पिता, माता बताया गया है[3]। वे आदि पिता-माता हैं[4]। ऐतरेय ब्राह्मण[5] में उनके विवाह का उल्लेख मिलता है। उन्होंने समस्त प्राणियों की रचना की है और वे उन्हें धारण किये हुए हैं[6]।

---

1. दृळ्हा चिद् या वनस्पतीन् क्ष्मया दर्धर्ष्योजसा।
   यत्ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः॥ ऋ० 5.84.3.
2. संगच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे।
   अभिजिघ्रन्ती भुवनस्य नाभिं द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ऋ० 1.185.5.
3. उत मन्ये पितुरद्रुहो मनो मातुर्महि स्वतवस्तद्धवीमभिः।
   सुरेतसा पितरा भूम चक्रतुरुरु प्रजाया अमृतं वरीमभिः॥ ऋ० 1.159.2.
   ते सूनवः स्वपसः सुदंससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये।
   स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः॥ ऋ० 1.159.3.
   उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षतः।
   सुधृष्टमे वपुष्ये न रोदसी पिता यत्सीमभि रूपैरवासयत्॥ ऋ० 1.160.2.
4. प्र पूर्वजे पितरा नव्यसीभि गीर्भिः कृणुध्वं सदने ऋतस्य।
   आ नो द्यावापृथिवी दैव्येन जनेन यातं महि वां वरूथम्॥ ऋ० 7.53.2.
   परिक्षिता पितरा पूर्वजावरी ऋतस्य योना क्षयतः समोकसा।
   द्यावा पृथिवी वरुणाय स व्रते घृतवत्पयो महिषाय पिन्वतः॥ ऋ० 10.65.8.
5. इमौ वै लोकौ सहाऽऽस्तां तौ व्यैताम्।
   तौ देवाः समनयंस्तौ संयन्तावेतं देवविवाहं व्यवहेताम्॥ ऐ० ब्रा० 4.27.
6. दे० 1.159.2. ऊपर   दे० 1.160.2. ऊपर

यद्यपि वे स्वयं अपाद् हैं, तथापि अपने पैरों से अनेकानेक अपत्यों को धारण किये हुए हैं[1]। वे देवताओं के पिता-माता हैं, क्योंकि 'देवपुत्रे' विशेषण केवल उन्हीं के लिए प्रयुक्त हुआ है। विशेषरूप से उन्हें बृहस्पति का पिता-माता बताया गया है[2] और यह भी संकेत मिलता है कि सलिल और त्वष्टा के साथ उन्होंने अग्नि को उत्पन्न किया था[3]। कतिपय मन्त्रों में यह भी आता है कि वे स्वयं देवताओं के द्वारा रचे गये थे। इस प्रकार एक कवि कहता है: जिसने द्यावापृथिवी का सृजन किया होगा वह सभी देवों का सिरमौर रहा होगा[4]। इन्द्र ने उनकी रचना की है[5]। विश्वकर्मा ने उनका आविर्भाव किया है[6]। उन्होंने अपना रूप त्वष्टा से पाया है[7]।। वे आदि पुरुष के सिर और पैर से उत्पन्न हुए हैं[8]। किंतु एक कवि आश्चर्यचकित होकर पूछता है कि किस देव ने इन दोनों को बनाया है? इन दोनों में से कौन-सा पहले अस्तित्व में आया था[9]? द्यावा-पृथिवी के लिए प्रयुक्त विशेषणों में से अनेकों का उनके भौतिक गुणों से उद्भव हुआ प्रतीत होता है। एक सुवीर्य वृषभ है तो दूसरी चित्रा धेनु है[10]। वे दोनों सुरेतस् हैं[11]। वे दूध

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव ॥ ऋ० 1.185.1.

1. भूरिं द्वे अचरन्ती चरन्तं पद्वन्तं गर्भमपदी दधाते।
   नित्यं न सूनुं पित्रोरुपस्थे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् ॥ ऋ० 1.185.2.
2. देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पतिं वावृधतुर्महित्वा। ऋ० 7.97.8.
3. दे० 10.2.7. पृ० 232.
4. अयं देवानामपसामपस्तमो यो जजान रोदसी विश्वशम्भुवा। ऋ० 1.160.4.
   स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान। ऋ० 4.56.3.
5. राजाभवो जगतश्चर्षणीनां साकं सूर्यं जनयन् द्यामुषासम्। ऋ० 6.30.5.
   जनिता दिवो जनिता पृथिव्या पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो। ऋ० 8.36.4.
   मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन। ऋ० 10.29.6.
   यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः। ऋ० 10.54.3.
6. यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः। ऋ० 10.81.2.
   यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्। अथ० 12.1.60.
7. दे० 10.110.9. पृ० 304.
8. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
   पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ ऋ० 10.90.14.
9. दे० 1.185.1. ऊपर
10. धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत। ऋ० 1.160.3.
11. दे० 1.159.2. पृ० 327.

घी और मधु प्रभूत मात्रा में बरसाते[1] और अमृत उपजाते हैं[2]। वे कभी-भी स्थविर नहीं होते[3]। वे महान्[4] और सुविस्तृत[5] हैं। वे विस्तृत और महत्-पद हैं। वे सुन्दर मुखड़ेवाले, उरु, नानाविध, दूरे-अन्ता:वाले हैं[6]। कभी-कभी उनमें नैतिक गुण भी निक्षिप्त कर दिये जाते हैं। वे बुद्धिमान् हैं और ऋत के परिपोषक हैं[7]। पिता-माता के रूप में वे प्राणियों की रक्षा करते[8] और निन्दा तथा निर्ऋति से उन्हें बचाते हैं[9]। वे भोजन और धन प्रदान करते[10] और सुयश एवं सुराज्य की की सिद्धि करते हैं[11]। उनका विग्रहवत्व इस कोटि तक पहुंच गया है कि वे यज्ञ-नेता कहलाए हैं, और यज्ञ के चारों ओर आसन पर विराजते हैं[12], दिव्य जनों के साथ वे अपने उपासकों के पास आते[13] और देवताओं के पास याज्ञिय हवि को ले

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥ ऋ० 6.70.1.
असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते।
राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम्॥ ऋ० 6.70.2.

1. दे० 6.70.1. आदि ऊपर
2. दे० 1.159.2. पृ० 327.
   उर्वी सद्मनी बृहती ऋतेन हुवे देवानामवसा जनित्री।
   दधाते ये अमृतं सुप्रतीके द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ऋ० 1.185.6.
3. दे० 6.70.1. ऊपर।
4. दे० 1.159.2. पृ० 327.
5. दे० 1.160.2. पृ० 327.
6. दे० 1.185.6. ऊपर।
   उर्वी पृथ्वी बहुले दूरे अन्ते उप ब्रुवे नमसा यज्ञे अस्मिन्।
   दधाते ये सुभगे सुप्रतूर्ती द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ऋ० 1.185.7.
7. प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी ऋतावृधा मही स्तुषे विदथेषु प्रचेतसा।
   देवेभिर्ये देवपुत्रे सुदंससेत्था धिया वार्याणि प्रभूषतः॥ ऋ० 1.159.1.
8. दे० 1.160.2. पृ० 327.
9. पातामवद्याद् दुरितादभीके पिता माता च रक्षतामवोभिः। ऋ० 1.185.10.
10. सं रराणे रोदसी विश्वशम्भुवा सनिं वाजं रयिमस्मे समिन्वताम्। ऋ० 6.70.6.
    अस्मभ्यं द्यावापृथिवी सुचेतुना रयिं धत्तं वसुमन्तं शतग्विनम्। ऋ० 1.159.5.
11. ते नो गृणाने महिनी महिश्रवः क्षत्रं द्यावापृथिवी धासथो बृहत्। ऋ० 1.160.5.
12. ऋतावरी अद्रुहा देवपुत्रे यज्ञस्य नेत्री शुचयद्भिरर्कैः। ऋ० 4.56.2.
    मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम्। परि यज्ञं नि षेदथुः॥ ऋ० 4.56.7.
13. दे० 7.53.2. पृ० 327.

जाते हैं[1]। यह सब कुछ होने पर भी द्यावा-पृथिवी का सजीव विग्रहवत्व न हो पाया और उपासना में इन दोनों को स्थान न मिल सका। ये दोनों देवता परस्पर सापेक्ष हैं। जबकि अन्य देवगणों में दोनों में से एक अधिक उभरा होता है और उसके विशिष्ट गुण उसके साथी देवता में निक्षिप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ इन्द्राग्नी दोनों को एक-साथ वज्रहस्त और वृत्रघ्न कहा गया है। कभी-कभी आश्रित अथवा आनुषंगिक देवता का भी कोई एक गुण दोनों में निक्षिप्त करके देखा जाता है। उदाहरण के लिए इन्द्र विष्णु दोनों ही एक साथ क्रमण करते हैं[2]। इस प्रकार का पुनः पुनः का संबन्ध देवता-विशेष में ऐसे गुणों का आधान करा देता है जिन गुणों पर आरम्भ में उसका कोई अधिकार नहीं था। उदाहरणार्थ अकेले अग्नि को भी बहुत बार वृत्रघ्न संज्ञा मिली है। फिर भी बहुतम मन्त्रों में अग्नि और इन्द्र इन दोनों देवताओं के विशिष्ट गुण एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् रखे गये हैं।

द्यावा-पृथिवी के बाद सबसे अधिक बार आनेवाला देवता-द्वन्द्व मित्रा-वरुण का है। इन दोनों देवताओं का आह्वान युग्म रूप में पृथक्-पृथक् की अपेक्षा अधिक बार हुआ है। मित्र की अपनी ज्वलन्त विशेषताएं नहीं के तुल्य हैं, अतः वरुण ही की विशेषताएं युग्म के ऊपर हावी होकर सामने आई हैं। वरुण के विषय में जो कुछ कहा जा चुका है उसमें यहां और अधिक जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। ये दोनों देवता युवक हैं[3]। अनेक देवों की भांति उन्हें चन्द्र, शुचि, स्वर्दृश्, रुद्र (लाल) और भीम बताया गया है। मित्रावरुण इस समास में मित्र के नाम की पूर्वता यह प्रदर्शित कर सकती है कि मित्र कभी पहले एक महत्तर देव थे। किंतु इस पूर्वता का कारण यह भी हो सकता है कि अपेक्षाकृत छोटे शब्द को समास में पहले रखने की प्रथा है। हो सकता है कि देवों को युग्म में बुलाने की प्रथा भारत-ईरानी काल की देन हो, क्योंकि आवेस्ता में भी अहुर और मित्र का समास देखा जाता है।

जगत् के अधिपति इन्द्रा-वरुण ने सरिताओं के पथ खोदे हैं और सूर्य को द्युलोक में गतिमान् बनाया है[4]। वे वृत्र को पछाड़ते हैं[5], युद्ध में सहायक[6] हैं और

---

1. द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। यज्ञं देवेषु यच्छताम्॥ ऋ० 2.41.20.
2. इन्द्राविष्णू तत्पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे। ऋ० 6.69.5.
3. मित्रः सम्राजो वरुणो युवानः। ऋ० 3.54.10.
   आ नो जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा। ऋ० 7.62.5.
4. इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे ता नो मृळात ईदृशे॥ ऋ० 1.17.1.
   अन्वपां खान्यतृन्तमोजसा सूर्यमैरयतं दिवि प्रभुम्। ऋ० 7.82.3.
5. ऋतेन वृत्रतुरा सर्वसेना। ऋ० 6.68.2.
6. आ नो बृहन्ता बृहतीभिरूती इन्द्र यातं वरुण वाजसातौ।

अपने उपासकों को विजय प्रदान करते हैं[1]। वे क्रूरकर्मा पामरों पर अपना अमोघ वज्र फेंकते हैं[2]। वे सुरक्षा और संपत्ति, यश, धन, अश्वों की रेलपेल कर देते हैं[3]। वे सोम को पीते हैं, उनका रथ यज्ञ में आता है, और उनसे बर्हि पर बैठकर अपने आपको मद में सराबोर करने की प्रार्थना की गई है[4]। कुछ मन्त्रों में युग्म के हर देव की विशेषताएं विविक्त करके झलका दी गई हैं। उदाहरण के लिए प्रार्थना की गई है कि वरुण अपना क्रोध अपने उपासकों पर से निवृत्त कर लें और इन्द्र उन्हें प्रथित अवकाश प्रदान करें[5]। वृत्रहन्ता युद्धालु इन्द्र के गुणों का वैपरीत्य शान्ति और बुद्धि के रूप में मनुष्य के संधारक वरुण के गुणों द्वारा प्रदर्शित किया गया है[6]। इन्द्राग्नी युग्म के दोनों देवताओं में घना संपर्क है, क्योंकि इन्द्र का अग्नि के योग में अन्य किसी भी देवता की अपेक्षा अधिक सूक्तों में आह्वान किया गया है, जबकि अग्नि का युग्म रूप में आह्वान एक सूक्त में और दो एकाकी मन्त्रों में सोम के साथ, और एक मन्त्र में पर्जन्य के साथ हुआ है। सोमपाताओं के मूर्धन्य देवता इन्द्राग्नी[7] अपने रथ पर बैठकर सोम-पान के लिए पधारते हैं[8] और उन्हें एक साथ आने और सोम पान करने के लिए निमन्त्रित किया जाता है[9]। वे बहुधा

यद् दिद्यवः पृतनासु प्रक्रीळान् तस्य वां स्याम सनितार आजेः ॥ ऋ० 4.41.11.

1. इन्द्रावरुण वामहं हुवे चित्राय राधसे । अस्मान्त्सुजिग्युषस्कृतम् ॥ ऋ० 1.17.7.
2. इन्द्रा युवं वरुणा दिद्युमस्मिन्नोजिष्ठमुग्रा नि वधिष्टं वज्रम् । ऋ० 4.41.4.
3. दे० 1.17.7. ऊपर ।
   इन्द्रावरुण नू नु वां सिषासन्तीषु धीष्वा । अस्मभ्यं शर्म यच्छतम् ॥ ऋ० 1.17.8.
   अश्व्यस्य त्मना रथ्यस्य पुष्टेर्नित्यस्य रायः पतयः स्याम । ऋ० 4.41.10.
   नू न इन्द्रावरुणा गृणाना पृङ्क्तं रयिं सौश्रवसाय देवा । ऋ० 6.68.8.
4. इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रता ।
   युवो रथो अध्वरं देववीतये प्रति स्वसरमुपयाति पीतये ॥ ऋ० 6.68.10.
   इदं वामन्धः परिषिक्तमस्मे आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयेथाम् । ऋ० 6.68.11.
5. परि नो हेळो वरुणस्य वृज्या उरुं न इन्द्रः कृणवदु लोकम् । ऋ० 7.84.2.
6. वज्रेणान्यः शवसा हन्ति वृत्रं सिषक्त्यन्यो वृजनेषु विप्रः । ऋ० 6.68.3.
   क्षेमेण मित्रो वरुणं दुवस्यति मरुद्भिरुग्रः शुभमन्य ईयते । ऋ० 7.82.5.
   अजामिमन्यः श्नथयन्तमातिरद् दभ्रेभिरन्यः प्र वृणोति भूयसः । ऋ० 7.82.6.
   कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ता वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि हन्ति । ऋ० 7.85.3.
7. इहेन्द्राग्नी उप ह्वये तयोरित्स्तोममुश्मसि । ता सोमं सोमपातमा ॥ ऋ० 1.21.1.
8. य इन्द्राग्नी चित्रतमो रथो वामभि विश्वानि भुवनानि चष्टे ।
   तेना यातं सरथं तस्थिवांसाथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥ ऋ० 1.108.1.
9. इमामु षु सोमसुतिमुप न एन्द्राग्नी सौमनसाय यातम् । ऋ० 7.93.6.

वृत्रघ्न कहलाए हैं। उनके हाथों में वज्र है[1], और विद्युत् उनका तिग्म अस्त्र है[2]। वे पुरंदर हैं और युद्ध में भद्र लोगों की सहायता करते हैं[3]। उन्होंने एक साथ दास के 99 दुर्गों को तोड़ डाला है[4]; वे युद्ध में अदम्य हैं[5]। उन्होंने नदियों को परिधि से उन्मुक्त किया है और अनेकानेक शौर्यकृत्य पूरे किए हैं[6]। वे उदार हैं[7]। इस प्रकार के गुण इन्द्र की विशेषताएं हैं। इन्द्राग्नी को यज्ञ-पुरोहित भी कहा गया है[8]। वे बुद्धिमान्[9] और सदसस्पती हैं और यातुधानों पर कीलते हैं[10]। ये विशेषताएं खास तौर से अग्नि की हैं। ये दोनों देवता यमल भाई हैं, जिनके एक पिता हैं[11]। एक बार उन्हें अश्विन् भी कहा गया है[12]। हो सकता है कि उनके संपर्क की घनिष्ठता को देखकर ही ऐसा कहा गया हो। वे धन, शक्ति, पशु, अश्व और वाज प्रदान करते हैं। वे द्यावा-पृथिवी से, नदियों और पर्वतों से कहीं बढ़-कर हैं[13]। दोनों देवताओं में एक बार परस्पर गुण-वैपरीत्य भी दिखलाया गया है। इन्द्र दस्युओं का वध करते हैं किंतु अग्नि उन्हें जलाते हैं। इन्द्रा-बृहस्पति के

जुषेथां यज्ञमिष्टये सुतं सोमं सधस्तुती। इन्द्राग्नी आ गतं नरा॥ ऋ० 8.38.4.
प्रातर्यावभिरा गतं देवेभिर्जेन्यावसू।
इन्द्राग्नी सोमपीतये॥ ऋ० 8.38.7. आदि
तावासद्या बर्हिषि यज्ञे अस्मिन् प्रचर्षणी मादयेथां सुतस्य। ऋ० 1.109.5.

1. इन्द्रान्व१ग्नी अवसेह वज्रिणा वयं देवा हवामहे। ऋ० 6.59.3.
2. तयोरिदमवच्छव स्तिग्मा दिद्युन्मघोनोः। प्रति द्रुणा गभस्त्यो गवां वृत्रघ्न एषते॥ ऋ० 5.86.3.
3. आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः ऋ० 1.109.7.
   पुरंदरा शिक्षतं वज्रहस्तास्माँ इन्द्राग्नी अवतं भरेषु। ऋ० 1.109.8.
4. इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम्। साकमेकेन कर्मणा॥ ऋ० 3.12.6.
5. या पृतनासु दुष्टरा या वाजेषु श्रवाय्या। या पञ्च चर्षणीरभीन्द्राग्नी ता हवामहे। ऋ० 5.86.2.
6. यानीन्द्राग्नी चक्रथुर्वीर्याणि यानि रूपाण्युत वृष्ण्यानि। ऋ० 1 108.5.
7. दे० 5.86.3. ऊपर।
8. यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु। इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्॥ ऋ०8 38.1.
9. ता उ कवित्वना कवी। ऋ० 8.40.3.
10. ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्। अप्रजाः सन्त्वत्रिणः। ऋ० 1.21.5.
11. दे० 6.59.2. पृ० 134.
12. तावश्विना भद्रहस्ता सुपाणी। ऋ० 1.109.4.
13. प्र चर्षणिभ्यः पृतनाहवेषु प्र पृथिव्या रिरिचाथे दिवश्च।
    प्र सिन्धुभ्यः प्र गिरिभ्यो महित्वा प्रेन्द्राग्नी विश्वा भुवनात्यन्या॥ ऋ० 1.109.6.

निमित्त कहे गये दो सूक्तों[1] का वर्ण्य विषय हैं—सोम पान के लिये इन्हें निमन्त्रित करना और अश्वों से संपन्न विपुल धन देने के लिए एवं सौमनस्य बढ़ाने के लिए उनसे प्रार्थना करना। इन्द्र-वायू का आह्वान सोम-पान के लिए किया गया है[2]। यज्ञ में वे अपने अश्वों के साथ आते हैं[3]। कभी-कभी वे अपने स्वर्ण-बन्धुर रथ में बैठकर[4] आते और बर्हि पर आसन जमा लेते हैं[5]। वे सहस्र-चक्षु एवं धियस्पति हैं[6]। साथ ही वे शवसस्पति भी[7] हैं। वे युद्ध में देवयुओं की पुकार सुनते[8] और अश्व, पशु एवं स्वर्ण के रूप में उन्हें धन प्रदान करते हैं[9]। इन्द्रा-सोम युद्ध-कृत्य करते हैं, जो इन्द्र को अधिक सजते हैं। वे असीम सर्ग विषयक कर्म संपादित करते हैं। उन्होंने मनुओं के लिए सलिल को प्रवाहित किया, सातों सरिताओं को उन्मुक्त किया, अहि का वध किया और सूर्य के चक्र को बाधित किया था[10]। इन दोनों दयालु देवों के सहज कर्म थे : शत्रुओं को ध्वस्त करना, और अद्रि में निगूढ़ वस्तु-

---

1. दे० 4.49.1. पृ० 260. आदि पूर्ण सूक्त
   यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
   इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे गमन्मदाय प्रथमं वयश्च॥ ऋ० 7.97.1. आदि
2. तीव्राः सोमास आ गह्याशीर्वन्तः सुता इमे। वायो तान्प्रस्थितान् पिब॥ ऋ०1.23.1.
3. उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे। अस्य सोमस्य पीतये॥ ऋ० 1.23.2.
   इन्द्रश्च वायवेषां सोमानां पीतिमर्हथः।
   युवां हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक्॥ ऋ० 4.47.2.
   वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती।
   नियुत्वन्ता न ऊतय आ यातं सोमपीतये॥ ऋ० 4.47.3.
   या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा।
   अस्मे ता यज्ञवाहसेन्द्रवायू नि यच्छतम्॥ ऋ० 4.47.4.
4. रथं हिरण्यवन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम्। आ हि स्थाथो दिविस्पृशम्॥ ऋ० 4.46.4.
5. इन्द्रवायू सदतं बर्हिरेदम्। ऋ० 7.91.4.
6. इन्द्रवायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये। सहस्राक्षा धियस्पती॥ ऋ० 1.23.3.
7. दे० 4.47.3. ऊपर
8. घ्नन्तो वृत्राणि सूरिभिः ष्याम सासह्वांसो युधा नृभिरमित्रान्। ऋ० 7.92.4.
9. ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यैः।
   इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरैः पृतनासु सह्युः॥ ऋ० 7 90.6.
10. अहन्नहिमरिणात्सप्तसिन्धूनपावृणोदपिहितेव खानि। ऋ० 4.28.1.
    त्वा युजा नि खिदत्सूर्यस्येन्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्दो। ऋ० 4.28.2.
    इन्द्रा सोमावहिमपः परिष्ठां हथो वृत्रमनु वां द्यौरमन्यत।
    प्रार्णांस्यैरयतं नदीनामा समुद्राणि पप्रथुः पुरूणि॥ ऋ० 6.72.3.

जात को अनावृत करना । उनका प्रथम कर्म था सूर्य और प्रकाश को प्राप्त करना, अन्धकार को अपसारित करना, सूर्य को गभस्तिमान् बनाना, द्युलोक का स्कम्भन करना और पृथिवी को प्रथित बनाना[1] । उन्होंने गौ के कचकचे शरीर में पका दुग्ध रखा है। वे मनुष्य को ओजिष्णु शक्ति प्रदान करते हैं। सोमपा और मद-स्पति इन्द्रा-विष्णु से कहा गया है कि वे अपने अश्वों के साथ भरपेट सोम-पान के लिए पधारें। सोम के मद में दोनों देवताओं ने उरु का क्रमण किया, वायु को विस्तृत किया और लोकों का विस्तार किया। अचूक विजयों के धनी ये दोनों देवता धन प्रदान करते और मानव को विपदाओं से पार लंघाते हैं। सभी स्तोत्रों के उन्नायक इन दोनों देवों से प्रार्थना की गई है कि वे अपने उपासकों के गीतों पर कान दें[2] । इन्द्रा-पूषन् का एक-साथ आह्वान केवल एक छोटे से सूक्त[3] में हुआ है और उनके नाम का देवता-द्वन्द्व केवल दो बार बना है। जब इन्द्र ने प्रभूत सलिलों को प्रवाहित किया तब पूषन उनके साथ कंधा मिलाकर चल रहे थे। पूषन् को मित्र बनाकर ही इन्द्र वृत्रों का संहार कर पाते हैं[4]। उनमें से एक सोम पीते हैं, और उन्हें दो अश्व खींचते हैं, जबकि दूसरे करम्भ की इच्छा करते और अजों के द्वारा खींचे जाते हैं। एक मन्त्र में इन्द्र और पूषन् के आवास का भी उल्लेख मिलता है[5], जहांकि यज्ञाश्व को एक अज ले जाता है। इन दोनों अजों से भी सौख्य एवं विजय-धन की प्रार्थना की गई है।

सोमा-पूषन्[6] अन्धकार का अपसारण करते हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे अपने सप्त-चक्र, पञ्च-रश्मि, मनोयुक्त 'रजसो विमान' रथ को आगे बढ़ावें। वे धन और द्यावा-पृथिवी के जनक हैं और विश्व के तष्टा हैं। उन्हें देवताओं ने अमृत का केन्द्र बनाया है। उनके लिए इन्द्र से कहा गया है कि वे आया अर्थात्

---

1. इन्द्रासोमा महि तद्वां महित्वं युवं महानि प्रथमानि चक्रथुः ।
युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्वर्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च ॥ ऋ० 6.72.1.
इन्द्रासोमा वासयथ उषासमुत्सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह ।
उप द्यांस्कम्भथुः स्कम्भनेनाप्रथतं पृथिवीं मातरं वि ॥ ऋ० 6.72.2.
2. सं वां कर्मणा समिषा हिनोमीन्द्राविष्णू अपसस्पारे अस्य ।
जुषेथां यज्ञं द्रविणं च धत्तमरिष्टैर्नः पथिभिः पारयन्ता ॥ ऋ० 6.69.1.
3. इन्द्रानु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये । हुवेम वाजसातये । ऋ० 6.57.1 आदि
4. उत घा स रथीतमः सख्या सत्पतिर्युजा । इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते । ऋ० 6.56.2.
5. सुप्राङजो मेम्यद् विश्वरूप इन्द्रा पूष्णोः प्रियमप्येति पाथः । ऋ० 1.162.2.
6. सोमा पूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः ।
जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम् ॥
ऋ० 2.40.1. आदि

कचकची गौओं में पका दूध उत्पन्न करें। वे एक साथ शत्रुओं पर विजय देते और धन, भोजन का बाहुल्य प्रदान करते हैं; साथ ही इनमें परस्पर गुण-वैपरीत्य भी दिखाया गया है। उनमें से एक ने अपना आवास ऊंचे द्युलोक में बनाया है जबकि दूसरा पृथिवी पर एवं वायु में रहा करता है, एक ने सभी प्राणियों को उत्पन्न किया है, जबकि दूसरा वस्तुजात का सर्वेक्षण करता हुआ भ्रमण करता है। सोमा-रुद्र को[1] इसलिए बुलाया गया है कि वे गृहों से क्षय और आमय को दूर भगावें, अपने उपासकों के शरीरों में औषध-रस संचरित करें, उनके भीतरी पापों को धो डालें और वरुण के पाश से उन्हें मुक्ति दिलावें। तिग्म आयुध धारण करने-वाले इन देवताओं से प्रार्थना की गई है कि वे सब पर कृपा करें और मनुष्यों तथा पशुओं को संपत्ति प्रदान करें। अग्नीषोम ने परिवृत सलिलों को उन्मुक्त किया, प्रकाश को प्राप्त किया, और प्रकाश पुंजों को आकाश में प्रसृत किया है। साथ ही उनमें पारस्परिक प्रातीप्य भी दिखाया गया है। एक को मातरिश्वा स्वर्ग से लाये हैं और दूसरे को श्येन अद्रि से[2]। उनसे संयुक्त सहायता और सुरक्षा की मांग की गई है और अनुरोध किया गया है कि वे पशु, अश्व, अपत्य, स्वास्थ्य, सौख्य और सुवर्ण प्रदान करें[3]। इस युग्म का आह्वान अनेक बार अथर्ववेद में भी आता है। मैत्रायणी संहिता[4] में उन्हें 'दो नेत्र' बताया गया हैं। शतपथ ब्राह्मण[5] उन्हें दो भ्राता बताता है, उसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि सूर्य का संबंध अग्नि से और चन्द्र का संबन्ध सोम से है[6]। सोम याग में अग्नीषोम को संभवतः हविष् नहीं दी जाती। उन्हें केवल पुरोडाष और पशु दिये जाते हैं। यह एक उल्लेखनीय बात है कि दो यज्ञ देवताओं का, जोकि यज्ञ संबन्धी साहित्य में बहुत बार युग्म रूप में आते हैं, ऋग्वेद में युग्म रूप में केवल दो बार उल्लेख हुआ है और वह भी उस वेद के सबसे बाद में बने भाग में।

कतिपय अन्य देव-युग्मों का आह्वान केवल एकाकी मन्त्रों में हुआ है। अग्नी-

---

1. सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यं१ प्र वामिष्टयोऽरमश्नुवन्तु।
   दमेदमे सप्त रत्ना दधाना शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ऋ० 6.74.1. आदि
2. अग्नीषोमाविमं सु मे शृणुतं वृषणा हवम्।
   प्रति सूक्तानि हर्यतं भवतं दाशुषे मयः॥ ऋ० 1.93.1. पूर्ण सूक्त
3. अग्नीषोमा पुनर्वसू अस्मे धारयतं रयिम्। ऋ० 10.19.1.
   अग्नीषोमा वृषणा वाजसातये पुरुप्रशस्ता वृषणा उप ब्रुवे। ऋ० 10.66.7.
4. चक्षुषी वा अग्नीषोमा। मै० सं० 3.7.1.
5. अग्नीषोमौ भ्रातरौ। शत० ब्रा० 11.1.6.19.
6. सूर्य एवाग्ने यश्चन्द्रमाः। सौम्यः॥ शत० ब्रा० 1.6.3.24.
   दे० 1.93.1. आदि पूर्ण सूक्त ऊपर।

पर्जन्य एक मन्त्र में आए हैं[1]। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे भोजन और संतान प्रदान करें। किंतु साथ ही उनमें परस्पर गुण-वैषम्य भी दिखाया गया है। एक ने इळा को उत्पन्न किया है जबकि दूसरे ने गर्भ को। पर्जन्य-वाता का आह्वान चार मन्त्रों में हुआ है। पृथिवी का वृषभ अथवा वर्षयिता होने के नाते उनसे प्रार्थना की गई है[2] कि वे जलभरित वाष्पों (पुरीषाणि) को प्रेरित करें। इन्द्र-वायू तथा अन्य देवों के साथ उन्हें वाष्पमय वृषभ के रूप में बुलाया गया है[3]। एक अन्य गणना में उनसे विनति की गई है कि वे जन जानपदों को छकाई का भोजन प्रदान करें[4]। एक बार उन्हें धड़कने वाले महिष[5] के साथ संबद्ध करके भी आहूत किया गया है। उषा और रात्रि का आह्वान बार-बार हुआ है। उनका उल्लेख प्रायः सदा विश्वेदेवाः या आप्री सूक्तों में आया है। वे धनसंपन्न देवियां हैं[6], दिव्य युवतियां हैं[7] और दिवो दुहिताएं हैं[8]। वे दो पत्नियों के सदृश हैं[9] और दूध से वे दोनों ही भरी हैं[10]। भांति-भांति के रंग भर करके द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य चमकने वाले एक ही शिशु को चाटती हैं[11]। वे दो बहनें हैं जिनका मन एक है, किंतु जिनके रंग भिन्न हैं, जिनका पथ एक है पर साथ ही

---

1. अग्नीपर्जन्याववतं धियं मेऽस्मिन् हवे सुहवा सुष्टुतिं नः।
   इळामन्यो जनयद् गर्भमन्यः प्रजावतीरिष आ धत्तमस्मे ॥ ऋ० 6.52.16.
2. पर्जन्यवाता वृषभा पृथिव्याः पुरीषाणि जिन्वतमप्यानि। ऋ० 6.49.6.
3. पर्जन्यवाता वृषभा पुरीषिणेन्द्रवायू वरुणो मित्रो अर्यमा।
   देवाँ आदित्याँ अदितिं हवामहे ये पार्थिवासो दिव्यासोअप्सुये ॥ ऋ० 10.65.9.
4. दे० 6.50.12. पृ० 302.
5. धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतोः। ऋ० 10.66.10.
6. उत त्ये देवी सुभगे मिथूदृशोषासानक्ता जगतामपीजुवा। ऋ० 2.31.5.
   उषासानक्ता सदतां नि योनौ। उरौ सीदन्तु सुभगे उपस्थे ॥ ऋ० 10.70.6.
7. उत योषणे दिव्येमहीन उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः।
   बर्हिषदा पुरुहूते मघोनी आ यज्ञिये सुविताय श्रयेताम् ॥ ऋ० 7.2.6.
   उषासानक्ता सदतां नि योनौ। दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे।
   अधिश्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ऋ० 10.110.6.
8. उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चित यद्भिरर्कैः।
   उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ॥ ऋ० 5.41.7.
   देवी दिवो दुहितरा सुशिल्पे उषासानक्ता सदतां नि योनौ। ऋ० 10.70.6.
9. पत्नीव पूर्वहूतिं वावृधध्या उषासानक्ता पुरुधा विदाने। ऋ० 1.122.2.
10. तन्तुंततं संवयन्ती समीची, यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती। ऋ० 2.3.6.
11. नक्तोषासा वर्णमामेम्याने धापयेते शिशुमेकं समीची। ऋ० 1.96.5.

अनन्त हैं, जो देवताओं से शिक्षा पाकर बारी-बारी से क्रमण करती हैं पर कभी भी परस्पर टकराती नहीं और न कभी ठहरती ही हैं[1]। वे ऋत की द्युतिसंपन्न माताएं हैं[2]। वे अपनी भासित किरणों से हर प्रकार के हविष् को उसके अपने स्थान पर पहुंचाती हैं[3] और अनवरत यज्ञ-तन्तु को बुनती रहती हैं[4]। वे दानशील हैं, पुरू हूत हैं, और बर्हि पर आ विराजती हैं[5]। वे महती हैं और सुशोभित हैं[6]। बारी-बारी से प्रकट होकर वे अशेष चराचर को उद्बुद्ध करती हैं[7]। सूर्य और चन्द्रमा का उल्लेख पांच बार सूर्या-मासा और तीन बार सूर्या-चन्द्रमसा के युग्म में हुआ है। सूर्य के नाम के साथ बने हुए केवल मात्र ये ही द्वन्द्व-समास हैं। बहुसंख्यक स्थलों पर तो अभिप्राय स्थूल ज्योतिष्पुंजों से है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि वे बारी-बारी से इसलिए गतिशील होते हैं कि हम देख सकें[8]। यह बृहस्पति की प्रेरणा है कि सूर्य और चन्द्र बारी-बारी से उगते हैं[9]। धाता ने चन्द्र-सूर्य की यथापूर्व रचना की है[10]। एक कवि कहता है—"हम सूर्य-चन्द्र की भांति अपने पथ पर चलें[11]। किंतु जहां-कहीं इस युग्म का आह्वान अन्य देवों के साथ हुआ है वहां इनमें प्रारम्भिक मानवीकरण झलकता है[12]। कतिपय मन्त्रों में सूर्य-चन्द्र का

---

1. समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
   न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे॥ ऋ० 1.113.3.
2. आभन्दमाने उपाके नक्तोषासा।
   यह्वी ऋतस्य मातरा सीदतां बर्हिरा सुमत्॥ ऋ० 1.142.7.
3. दे० 5.41.7. पृ० 336.
4. दे० 2.3.6. पृ० 336.
5. दे० 7.2.6. पृ० 336.
6. उषासानक्ता बृहती सुपेशसा। ऋ० 10.36.1. दे० 10.110.6. पृ० 336.
   नक्तोषासा सुपेशसाऽस्मिन्यज्ञ उपह्वये। इदं नो बर्हिरासदे। ऋ० 1.13.7.
   दे० 1.142.7. ऊपर।
7. दे० 2.31.5. पृ० 336.
8. अस्मे सूर्याचन्द्रमसाभि चक्षे। ऋ० 1.102.2.
9. हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिना कृपयद्वलो गाः।
   अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः॥ ऋ० 10.68.10.
10. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। ऋ० 10.190.3.
11. स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। ऋ० 5.51.15.
12. दे० 10.64.3. पृ० 164.
    सूर्यामासा विचरन्ता दिविक्षिता धिया शमी नहुषी अस्य बोधतम्। ऋ०10.92.12.
    दे० 10.93.5. पृ० 175.

यद्यपि प्रकट रूप से उल्लेख नहीं हुआ, तथापि युग्म रूप में वहां उनका अध्याहार संमत है। खिलाड़ी शिशुओं की तरह ये दोनों यज्ञ की परिक्रमा करते हैं। एक सभी भूतों का निरीक्षण करता है और दूसरा ऋतुओं का नियमन करता हुआ पुनः-पुनः उत्पन्न होता है[1]। कहना न होगा कि वरुण के दो चक्षुओं से[2] एवं अमर्त्यों द्वारा बनाये गए दो दिव्य चक्षुओं से तात्पर्य सूर्य और चन्द्रमा से है[3]।

देवगण (§ 45.)

वैदिक देवशास्त्र में देवताओं के कतिपय निर्धारित अथवा अर्धनिर्धारित गण देखे जाते हैं, जो बहुधा किसी देवता-विशेष के साथ संबद्ध रहते हैं। इनमें सबसे बड़ा गण मरुतों का है, जिनकी संख्या ऋग्वेद में विविध बताई गई है (जैसे 21 या 180) और जो रणांगण में इन्द्र की सहायता करते हैं। वही गण रुद्रों के नाम से अपने पिता रुद्र के साथ भी संबद्ध हैं[4]। रुद्र-गण को एक स्वतन्त्र गण मानकर उनकी संख्या ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में 11 और तैत्तिरीय संहिता[5] में 33 बताई गई है। अपेक्षाकृत छोटा आदित्यगण, जिनकी संख्या ऋग्वेद के दो मन्त्रों में 7 या 8 तथा ब्राह्मणों में 12 बतलाई गई है, ऋग्वेद में बराबर अपनी माता अदिति[6] अथवा अपने प्रमुख वरुण के साथ संपृक्त हैं[7]। मरुद्गण की अपेक्षा आदित्यगण इस दृष्टि से अधिक निर्धारित हैं कि इसके सदस्यों में से प्रत्येक के अलग-अलग नाम मिलते हैं। ऋग्वेद में एक तीसरे गण की भी चर्चा आई है जो उपर्युक्त दोनों गणों की अपेक्षा अधिक धुंधला है क्योंकि इसके सदस्यों का न तो व्यक्तित्व-निर्धारण ही हो पाया और न उनकी संख्या का उल्लेख ही। इनका विशेष रूप से इन्द्र के साथ संबन्ध रहा था। इस तथ्य की झांकी हमें उनसे मिल जाती है जिनमें वरुण या अदिति का आदित्यों के साथ, रुद्र का रुद्रों के साथ, इन्द्र का वसुओं के साथ

---

1. पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम्।
   विश्वान्यन्यो भुवनाभि चष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः॥ ऋ० 10.85.18.
2. यस्य श्वेता विचक्षणा तिस्रो भूमीरधिक्षितः।
   त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य ध्रुवं सदः॥ ऋ० 8.41.9.
3. दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन्। ऋ० 1.72.10.
4. दे० 7.10.4. पृ० 314.
   शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
   शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु॥ ऋ० 7.35.6.
5. त्रिंशत्त्रयश्च गणिनो रुजन्तो दिवं रुद्राः पृथिवीं च सचन्ते। तै० सं० 1.4.11.1
6. दे० 7.10.4. पृ० 314.
7. दे० 7.35.6. ऊपर।

आह्वान किया गया है[1] । किंतु परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में अग्नि वसुओं के नेता दीख पड़ते हैं । ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में उनकी संख्या 8 और तैत्तिरीय संहिता में बढ़कर 333 हो गई है । आदित्य, रुद्र और वसुगणों का ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में एक-साथ भी आह्वान आता है[2]। ब्राह्मण-देवताओं को तीन रूपों—(पृथ्वी के वसु, वायु के रुद्र और स्वर्ग के आदित्य) में विभक्त करते हैं[3] । छान्दोग्य उपनिषद् में 5 गणों का उल्लेख मिलता है, और यहां वसुओं का संबन्ध अग्नि से, रुद्रों का इन्द्र से, आदित्यों का वरुण से, मरुतों का सोम से और साध्यों का ब्रह्मा से है । इनके अतिरिक्त अर्ध-देव अंगिरसों का भी एक गण है जो मुख्यतः बृहस्पति से संबद्ध है । ऋभुओं का भी छोटा-सा एक गण मिलता है, जो प्रायः इन्द्र के साथ संबद्ध रहता है । अन्त में, एक विशाल गण 'विश्वेदेवाः' का है, जिनका यज्ञ में अपना महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इनके स्तवन में कम-से-कम 40 सकल सूक्त आम्नात हुए हैं । इस गण की रचना के पीछे एक याज्ञिक प्रयोजन है और वह है यह कि ये देवता सभी देवों के प्रतिनिधि बनकर बुलाये जाते हैं । उनका उन्मेष इसलिए हुआ प्रतीत होता है कि सर्व देवों के उद्देश्य से किये गए यज्ञ में कोई भी देवता अनामन्त्रित न रह जाय । किंतु कभी-कभी विश्वेदेवाः को अपेक्षाकृत सीमित गण मानकर उनका आह्वान वसु और आदित्य-जैसे गणों के साथ किया गया है[4]।

निम्न कोटि के देवता

ऋभु (§ 46)—

वेद में महौजस् देवों के अतिरिक्त बहुत से ऐसे गाथेय प्राणी भी हैं जिनके दिव्य गुण सुविकसित नहीं हो पाये हैं । इनमें सबसे महत्वपूर्ण ऋभु हैं । उनकी स्तुति ऋग्वेद के 11 सूक्तों में आई है और उनका नामोल्लेख 100 से अधिक बार हुआ है । उनकी एक त्रयी है । उनका परिचित नाम है 'ऋभु' और उसकी अपेक्षा कम प्रचलित नाम हैं : ऋभुक्षन्, वाज और विभ्वन् । इन तीनों नामों का अनेक बार एकत्र

1. दे॰ 7.10.4. पृ॰ 314., 7.35.6. पृ॰ 338.
   तेन त्रीणि च शतान्यसृजन्त त्रयस्त्रिंशतं च । तै॰ सं॰ 5.5.2.6.
2. अस्माकं मित्रावरुणावतं रथमादित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा । ऋ॰ 2.31.1.
   आदित्या रुद्रा वसवः सुदानव इमा ब्रह्म शस्यमानानि जिन्वत । ऋ॰ 10.66.12.
   दे॰ 7.10.4. पृ॰ 314., 7.35 6. पृ॰ 338.
3. एते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या । शत॰ ब्रा॰ 1.3.4.12.
   त्रया वै देवाः । वसवो रुद्रा आदित्याः ॥ शत॰ ब्रा॰ 4.3.5.1.
4. घृतेनाक्तं वसवः सीदतेदं विश्वेदेवा आदित्या यज्ञियासः । ऋ॰ 2.3.4.

भी उल्लेख आया है, कभी-कभी केवल 2 का, और यथावसर ऋभु का अकेले भी उल्लेख हुआ है। बहुधा उन्हें बहुवचन में—ऋभवः—कहकर बुलाया गया है, किंतु उनमें से प्रत्येक नाम का बहुवचन भी तीनों का बोध कराने में सक्षम है। कभी-कभी तीनों का[1] या केवल दो का बहुवचन भी तीनों का बोध कराने के लिए आ जाता है। एक बार 'वाजो विभ्वँ ऋभवः' पद आता है[2]। कभी-कभी यह गण कुछ धुंधला-सा बनकर सामने आता है; क्योंकि 'विश्वे ऋभवः'[3] या ऋभुओं के साथ ऋभु, विभुओं के साथ विभ्वन्[4] का आह्वान भी मिलता है। अन्तिम मन्त्र में स्पष्ट है कि ऋभु और विभ्वन् को उन्हीं नाम वाले गणों का प्रधान माना गया है। तीनों ऋभुओं में एक बार ज्येष्ठ, कनीयान् और कनिष्ठ का विवेक भी किया गया है[5]।

ऋभुओं को लगभग 12 बार उनके पैतृक नाम 'सौधन्वनाः' से आहूत किया गया है। एक बार उन्हें समुदाय में 'इन्द्र सूनो' कहा गया है[6]। उसी मन्त्र में उनके लिए 'शवसो नपातः' (शक्ति-पुत्र) यह पद भी आया है। यहां संभवतः 'नपात्' शब्द के साथ 'शवसः सूनुः' इस पद को ध्यान में रखते हुए जोकि निरपवाद रूप से इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है—एक प्रकार की क्रीडा की गई है। 'शवसो नपातः' विशेषण प्रायः ऋभुओं तक सीमित है, क्योंकि इसका प्रयोग उनके लिए 5 बार और अन्यथा केवल एक बार मित्र-वरुण के लिए हुआ है। एक मन्त्र[7] में उन्हें 'मनोः नपातः' भी कहा गया और उनके माता-पिता का उल्लेख तो कई बार आया है। एक सूक्त में वे अग्नि को अपना भाई बताते हैं[8]।

---

1. तद्वो वाजा ऋभवः सुप्रवाचनं देवेषु विभ्वो अभवन्महित्वनम्।
   जिव्री यत्सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना चरथाय तक्षथ ॥ ऋ० 4.36.3.
2. यं वाजो विभ्वाँ ऋभवो यमाविषुः। ऋ० 4.36.6.
3. आदित्या विश्वे मरुतश्च विश्वे देवाश्च विश्व ऋभवश्च विश्वे। ऋ० 7.51.3.
4. ऋभुरृभुभिरभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवांसि। ऋ० 7.48.2.
5. ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान् त्रीन् कृणवामेत्याह।
   कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद् वचो वः ॥ ऋ० 4.33.5.
6. पीवो अश्वाः शुचद्रथा हि भूताऽयः शिप्रा वाजिनः सुनिष्काः।
   इन्द्रस्य सूनो शवसो नपातोऽनु वश्चेत्यग्रियं मदाय ॥ ऋ० 4.37.4.
7. इन्द्रस्य सख्यमृभवः समानशुर्मनोर्नपातो अपसो दधन्विरे।
   सौधन्वनासो अमृतत्वमेरिरे विष्ट्वी शमीभिः सुकृतः सुकृत्यया ॥ ऋ० 3.60.3.
8. अग्ने भ्रातर्द्रुण इद् भूतिमूदिम। ऋ० 1.161.1.
   अग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतनाश्वः कर्त्वो रथ उतेह कर्त्वः।
   धेनुः कर्त्वा युवशा कर्त्वा द्वा तानि भ्रातरनु वः कृत्व्येमसि ॥ ऋ० 1.161.3.

बहुत बार उन्हें यज्ञ में आकर[1] सोम-पान करने के लिए[2] बुलाया गया है। 'परम व्योमन्' में रहने के कारण उनसे प्रार्थना की गई है कि वे सोम-पान के लिए निचले आवास में पधारने की कृपा करें[3]। इस विषय में उनका संबन्ध प्राय: इन्द्र के साथ बना रहता है[4]। कतिपय बार मरुतों के साथ[5] और एक बार आदित्य सविता, पर्वत और सरिताओं के साथ भी उनका संबन्ध उभर आया है[6]। अन्य विषयों में भी वे इन्द्र के साथ निकट से संबद्ध हैं। वे इन्द्र के समान हैं[7]। ऋभु एक अभिनव इन्द्र के सदृश हैं[8]। वे इन्द्र के साथ विजय में मर्त्यों की सहायता करते हैं[9] और इन्द्र के साथ उन्हें भी शत्रुओं के दमन के लिए बुलाया गया है[10]। कहा गया है कि

---

1. ऋभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो नो अच्छेमं यज्ञं रत्नधेयोप यात। ऋ० 4.34.1.
   अयं वो यज्ञ ऋभवोऽकारि यमा मनुष्वत् प्रदिवो दधिध्वे। ऋ० 4.34.3.
2. पिबत वाजा ऋभवो ददे वो महि तृतीयं सवनं मदाय। ऋ० 4.34.4.
   ताँ ऊन्व१स्य सवनस्य पीतय आवो वाजा ऋभवो वेदयामसि। ऋ० 4.36.2.
   ऋभुक्षणो वाजा मादयध्वमस्मे नरो मघवानः सुतस्य।
   आवोर्वाचः क्रतवो न यातां विभ्वो रथं नर्यं वर्तयन्तु॥ ऋ० 7.48.1.
3. व्युदायं देवहितं यथा वः स्तोमो वाजा ऋभुक्षणो ददे वः।
   जुह्वे मनुष्वदुपरासु विक्षु युष्मे सचा बृहद्दिवेषु सोमम्॥ ऋ० 4.37.3.
4. इन्द्रेण याथ सरथं सुते सचाँ अथो वशानां भवथा सह श्रिया।
   नवः प्रतिमै सुकृतानि वाघतः सौधन्वना ऋभवो वीर्याणि च॥ ऋ० 3.60.4–6
   ते वाजो विभ्वाँ ऋभुरिन्द्रवन्तो मधुप्सरसो नोऽवन्तु यज्ञम्। ऋ० 4.33.3.
   मध्वः पात रत्नधा इन्द्रवन्तः। ऋ० 4.34.6.
   समृभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः सखीँर्याँ इन्द्र चकृषे सुकृत्या। ऋ० 4.35.7.
5. सं वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता। आदित्येभिश्च राजभिः॥ ऋ० 1.20.5.
   ऋभुक्षणमिन्द्रमा हुव ऊतय ऋभून् वाजान् मरुतः सोमपीतये। ऋ० 1.111.4.
   समिन्द्रेण मदथ सं मरुद्भिः सं राजभी रत्नधेयाय देवाः। ऋ० 4.34.11.
6. सजोषस आदित्यैर्मादयध्वं सजोषस ऋभवः पर्वतेभिः।
   सजोषसो दैव्येना सवित्रा सजोषसः सिन्धुभी रत्नधेभिः॥ ऋ० 4.34.8.
7. ऋभुमृभुक्षणो रयिं वाजे वाजिन्तमं युजम्।
   इन्द्रस्वन्तं हवामहे सदासातममश्विनम्॥ ऋ० 4.37.5.
8. ऋभुर्न इन्द्रः शवसा नवीयान्। ऋ० 1.110.7.
9. सेदृभवो यमवथ यूयमिन्द्रश्च मर्त्यम्।
   स धीभिरस्तु सनिता मेधसाता सो अर्वता॥ ऋ० 4.37.6.
10. इन्द्रो विभ्वाँ ऋभुक्षा वाजो अर्यः शत्रोर्मिथत्या कृणवन् वि नृम्णम्।
    ऋ० 7.48.3.

उन्होंने अपने सुकर्मों द्वारा इन्द्र की मित्रता प्राप्त की थी[1], क्योंकि उन्होंने ही इन्द्र के अश्वों की रचना की थी। उनकी स्तुति में कहे गये सूक्तों में वे इन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी देवता के साथ बहुत ही कम बार बुलाये गए हैं। एक मन्त्र[2] में तो इन्द्र का उल्लेख तक नहीं हुआ है। इन्द्र का उनके साथ संबन्ध इतना गहरा है कि इन्द्र को एक बार उनका प्रधान—ऋभुक्षन्—तक कह दिया गया है। इस पद का प्रयोग दो-तीन बार इन्द्र के सखा मरुतों के लिए भी हुआ है। कुछ विश्वेदेवाः सूक्तों में उन्हें कतिपय अन्य देवों के साथ (मुख्यतः त्वष्टा के साथ) जोड़ा गया है।

ऋभुओं के शारीरिक पक्ष का अथवा उनके उपकरणों का उल्लेख कम हो पाया है। वे सूर्य-संदृक् हैं[3]। उनका एक रथ है[4] जिसे अश्व खींचते हैं[5]। उनका रथ ज्योतिर्मय है, उनके अश्व मांसल हैं। वे धातु की बनी हेलमेट लगाते और सुनिष्क धारण करते हैं[6]। ऋभु घोड़े रखते हैं[7]। ऋभुओं के हाथ साफ़ हैं। वे स्वपसः या सुरूप हैं[8]। उनकी चतुराई की दाद बार-बार दी गई है[9]। बार-बार कहा गया है कि उन्होंने अपने भद्र कर्मों के द्वारा देवत्व प्राप्त किया था[10]। अपने भद्र कर्मों द्वारा वे देवता एवं अमर्त्य बन गये थे और श्येन की भांति स्वर्ग में जा पहुंचे थे[11]। वे वायु-नर हैं, जो अपनी शक्ति से स्वर्ग में जा पहुंचे थे[12]। अपने दक्ष

1. दे० 3.60.3. पृ० 340., 4.35.7. पृ० 341.
   यत्तृतीयं सवनं रत्नधेयमकृणुध्वं स्वपस्या सुहस्ताः। ऋ० 4.35.9.
2. दे० 4.34.8. पृ० 341.
3. सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः। ऋ० 1.110.4.
4. सौधन्वना अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुप देवाँ अयातन। ऋ० 1.161.7.
5. दे० 7.48.1. पृ० 341.
6. दे० 4.37.4. पृ० 340.
7. दे० 4.37.5. पृ० 341.
8. प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्य उपस्तिरे श्वैतरीं धेनुमीळे।
   ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः परि द्यां सद्यो अपसो बभूवुः॥ ऋ० 4.33.1.
   रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्।
   त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः॥ ऋ० 4.33.8.
9. दे० 3.60.4. पृ० 341.
10. तेन देवत्वमृभवः समानश। ऋ० 3.60.2.
11. ये देवासो अभवता सुकृत्या श्येना इवेदधि दिवि निषेद।
    ते रत्नं धात शवसो नपातः सौधन्वना अभवतामृतासः॥ ऋ० 4.35.8.
12. आ मनीषामन्तरिक्षस्य नृभ्यः स्रुचेव घृतं जुहवाम विद्मना।
    तरणित्वा ये पितुरस्य सश्चिर ऋभवो वाजमरुहन् दिवो रजः॥ ऋ० 1.110.6.

सेवाभाव के कारण वे अमरता के पथ पर चलते-चलते देवों की श्रेणी में जा मिले थे[1]। उन्होंने देवों की अमरता और उनकी मित्रता प्राप्त की थी[2]। किंतु जन्मना वे मरणधर्मा थे, और मनु के पुत्र थे। फिर भी अपने सुकर्मों द्वारा उन्होंने अमृतत्व पा लिया था[3]। ऐतरेय ब्राह्मण[4] का कहना है कि ऋभु मनुष्य थे, और इन्होंने तपस् के द्वारा देवताओं के साथ सोम-पान का अधिकार प्राप्त किया था। उनके सुचरित से देवताओं को इतनी प्रसन्नता हुई थी कि उन्होंने वाज को, इन्द्र ने ऋभुक्षा को, और वरुण ने विभ्वा को अपना तष्टा तैनात किया था[5]। वे देवताओं के मध्य पहुंचे और अपने सुकर्मों द्वारा उन्होंने देवताओं के बीच यज्ञांश प्राप्त किया[6]। तृतीय सवन उन्हीं का है, उन्होंने ही सुकर्मों के द्वारा इसे अपना बनाया है[7]। कभी-कभी स्पष्ट शब्दों में उन्हें देवता मान कर न्यौता तक गया है[8]।

ऋभुओं से मांग की गई है कि वे हमें अश्व, पशु और वीर-संपन्न संपत्ति और धन प्रदान करें[9]। वे हमें शौर्य, इरा, अपत्य एवं दक्षता प्रदान करें[10]। सोम सवन करनेवाले को वे धन से भर देते हैं[11]। जिनके साथ वे खड़े हो जाते हैं उनका

---

1. अधैत वाजा अमृतस्य पन्थां गणं देवानामृभवः सुहस्ताः । ऋ० 4.35.3.
2. ताभि शमीभिरमृतत्वमाशुः । ऋ० 4.33.4. दे० 4.35.3. ऊपर
   अथा देवेष्वमृतत्वमानश श्रुष्टी वाजा ऋभवस्तद्व उक्थ्यम् । ऋ० 4.36.4.
3. दे० 3.60.3. पृ० 340.
   विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः । ऋ० 1.110.4.
4. ऋभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथमभ्यजयन् । ऐ० ब्रा० 3.30.2.
5. अपो ह्येषामजुषन्त देवा अभि क्रत्वा मनसा दीध्यानाः ।
   वाजो देवानामभवत्सुकर्मेन्द्रस्य ऋभुक्षा वरुणस्य विभ्वा ॥ ऋ० 4.33.9.
6. अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया । भागं देवेषु यज्ञियम् । ऋ० 1.20.8.
   स्त्रिध्मा यद् वनधितिरपस्यात् सूरो अध्वरे परि रोधना गोः । ऋ० 1.121.7.
7. सौधन्वना यदि तन्नेव हर्यथ तृतीये घा सवने मादयाध्वै । ऋ० 1.161.8.
   दे० 4.35.9. पृ० 342., 4.33.11. पृ० 280., 4.34.4. पृ० 341.
8. यं देवासोऽवथा स विचर्षणिः । ऋ० 4.36.5.
   उप नो वाजा अध्वरमृभुक्षा देवा यात पथिभिर्देवयानैः । ऋ० 4.37.1.
9. दे० 4.33.8. पृ० 342., 4.37.5. पृ० 341.
   ये गोमन्तं वाजवन्तं सुवीरं रयिं धत्थ वसुमन्तं पुरुक्षुम् ।
   ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना अस्मे धत्त च रातिं गृणन्ति ॥ ऋ० 4.34.10.
10. आ नो यज्ञाय तक्षत ऋभुमद्वयः क्रत्वे दक्षाय सुप्रजावतीमिषम् ।
    यथा क्षयाम सर्ववीरया विशा तन्नः शर्धाय धासथा स्विन्द्रियम् ॥ ऋ० 1.111.2.
11. ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते । एकमेकं सुशस्तिभिः ॥ ऋ० 1.20.7.

युद्ध में बाल भी बांका नहीं होता[1]। फलतः ऋभु और वाज से प्रार्थना की गई है कि वे युद्ध में हमारी सहायता करें और हमें धन-संपन्न बनावें।

ऋभुओं के हस्त-लाघव के लिए उसी √तक्ष् धातु का प्रयोग हुआ है जिससे कि त्वष्टा शब्द बना है। उनके विषय में दक्षता के इन पांच महान् कार्यों का उल्लेख बार-बार आया है और उनमें से सभी का अथवा बहुतों का उल्लेख उनके निमित्त कहे गये प्रायः हर सूक्त में किया गया है। उन्होंने ऐसा रथ बनाया था[2], जो अनश्व था, अरश्मि था, त्रिचक्र था, और जो समस्त लोक में अबाध गति से चलता था[3]। चारों ओर चल सकनेवाले इस रथ का निर्माण उन्होंने अश्विनों के लिए किया था[4]। एक मन्त्र में तो जहां कि उनके प्रत्येक कार्य का उल्लेख एक ही शब्द में कर दिया गया है, यहां तक कहा गया है कि उन्होंने ही अश्विनों की रचना की थी। संभवतः यहां भी उनके रथ-निर्माण का ही अतिशयित रूप अभिप्रेत हो[5]।

इन्द्र के लिए उन्होंने दो अश्व (हरी) बनाये थे[6]। जहां-कहीं ऋभुओं के वर्णन में यह आया है कि वे एक अश्व बनाना चाहते हैं या उन्होंने एक के बाद दूसरा अश्व बनाया, वहां हो सकता है कि उनके उसी कार्य का दूसरे रोचक ढंग से वर्णन किया गया हो[7]।

यो वः सुनोत्यभि पित्वे अह्नां तीव्रं वाजासः सवनं मदाय।
तस्मै रयिमृभवः सर्ववीरमातक्षत वृषणो मन्दसानाः॥ ऋ० 4.35.6.

1. स वाज्यर्वा स ऋषिर्वचस्यया स शूरो अस्ता पृतनासु दुष्टरः।
स रायस्पोषं स सुवीर्यं दधे यं वाजो विभ्वाँ ऋभवो यमाविषुः॥ ऋ० 4.36.6.
2. तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसस्तक्षन्हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू।
तक्षन् पितृभ्यामृभवो युवद्वयस्तक्षन् वत्साय मातरं सचाभुवम्॥ ऋ० 1.111.1.
दे० 1.161.3. पृ० 340, 4.33.8. पृ० 342., 4.36.2. पृ० 341.
3. अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो३ रथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ॥ ऋ० 4.36.1.
4. तक्षन् नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्। तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम्॥ ऋ० 1.20.3
इन्द्रो हरी युयुजे अश्विना रथं बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत।
ऋभुर्विभ्वा वाजो देवाँ अगच्छत स्वपसो यज्ञियं भागमैतन॥ ऋ० 1.161.6.
दे० 10.39.12. पृ० 116.
5. ये अश्विना ये पितरा य ऊती धेनुं ततक्षुर्ऋभवो ये अश्वा।
ये अंसत्रा य ऋधग्रोदसी ये विभ्वो नरः स्वपत्यानि चक्रुः॥ ऋ० 4.34.9.
6. ये हरी मेधयोक्था मदन्त इन्द्राय चक्रुः सुयुजा ये अश्वा। ऋ० 4.33.10.
7. दे० 1.161.3. पृ० 340. तथा 7. पृ० 342.

उन्होंने एक गौ बनाई थी[1], जो अमृत देती थी[2] और जो सर्व-प्रेरक एवं विश्व-रूपा थी[3]। इस गौ को ऋभुओं ने चर्म से बनाया था[4], अथवा उसे चर्म में से निकाला था[5]। उन्होंने उसकी देखभाल की और उसके मांस की रचना की[6]। इस गौ को उन्होंने बृहस्पति के लिए बनाया था—इस बात का संकेत मिलता है उस मन्त्र में[7], जहां कि इन्द्र के लिए यह कहा गया है कि वे दो अश्व जोतते हैं और अश्विनों के लिए आया है कि वे रथ जोतते हैं और जहां बृहस्पति के लिए कहा गया है कि वे विश्वरूपा (गौ) को ऊपर की ओर प्रेरित करते हैं। उनका एक छोटा-सा काम, जिसका उल्लेख केवल दो बार हुआ है और जो संभवतः उपर्युक्त कार्यों से संबद्ध है, यह है कि उन्होंने माता को उसके बछड़े के साथ फिर से मिला दिया था[8]।

ऋभुओं ने अपने माता-पिता को पुनर्युवा बनाया था[9] जो कृश थे और जीर्ण-शीर्ण स्तम्भों की भांति पड़े हुए थे[10]। उन दोनों स्थविरों को उन्होंने पुनर्युवा बनाया[11]। जहां-कहीं यह कहा गया है कि उन्होंने अपने माता-पिता की रचना की थी[12] वहां हो सकता है कि उनके इसी आश्चर्यमय हस्तलाघव से तात्पर्य रहा

---

1. दे० 4.34.9. पृ० 344, 1.161.3 पृ० 340.
2. दे० 1.20.3. पृ० 344.
3. दे० 4.33.8. पृ० 342.
4. निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत सं वत्सेनासृजता मातरं पुनः।
   सौधन्वनासः स्वपस्यया नरो जिव्री युवाना पितरा कृणोतन॥ ऋ० 1.110.8.
5. निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिर्या जरन्ता युवशा ता कृणोतन। ऋ० 1.161.7.
6. यत्संवत्समृभवो गामरक्षन् यत्संवत्समृभवो मा अपिंशन्।
   यत्संवत्समभरन् भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः॥ ऋ० 4.33.4.
7. दे० 1.161.6. पृ० 344.
8. दे० 1.110.8. ऊपर, 1.111.1. पृ० 344.
9. युवाना पितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः। ऋभवो विष्ट्यक्रत॥ ऋ० 1.20.4.
   दे० 1.111.1. पृ० 344.
   शच्याकर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमसं देवपानम्।
   शच्या हरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहावृभवो वाजरत्नाः॥ ऋ० 4.35.5.
10. दे० 1. 110. 8. ऊपर।
    यदारमक्रन्नृभवः पितृभ्यां परिविष्टी वेषणा दंसनाभिः। ऋ० 4 33.2.
    पुनर्ये चक्रुः पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना॥ ऋ० 4.33.3.
11. दे० 1.161.3. पृ० 340., 1.161.7. ऊपर।
12. दे० 4.34.9. पृ० 344.

हो। और सचमुच उनके इस काम की देवताओं में दिन-रात चर्चा रही होगी कि उन्होंने अपने शिथिल-गात्र जीर्ण-शीर्ण माता-पिता को फिर से चलने-फिरने योग्य बना दिया था[1]। उसी सूक्त के प्रथम मन्त्र में आता है कि उनकी दिव्य शक्ति की दुंदुभि चारों ओर बज उठी जब उन्होंने द्यावा-पृथिवी को संपन्न बनाया। यहां, हो सकता है, उनके पिता-माता से द्यावा-पृथिवी ही का तात्पर्य रहा हो।

ऋभुओं का सबसे बड़ा काम, जिसकी चर्चा करते-करते वेद अघाता नहीं है, एक चमस को चार भागों में विभक्त करना है[2]। यह चमस देवों का पानपा था[3]। यह असुरों का पान-साधन था। देवों ने अपने दूत—अग्नि—को भेज कर ऋभुओं को बुलाया था और उनसे कहा था कि वे काष्ठ के बने एक चमस को चार भागों में विभक्त कर दें, और पुरस्कार में उन्होंने प्रलोभन दिया था कि यदि उन्होंने इस काम को पूरा कर दिया तो वे उन्हें देवताओं के साथ उपासना में बराबर का आसन प्रदान करेंगे[4]। त्वष्टा ने ऋभुओं के उद्योग की भूरि-भूरि प्रशंसा की और जब उन्होंने एक चमस से बने चार ज्योतिर्मय चमसों को देखा तब वे गद्गद् हो गए[5]। किंतु एक दूसरे मन्त्र में आता है कि जब त्वष्टा ने एक चमस से बने इन चार चमसों को देखा, तब उन्होंने अपने-आपको स्त्रियों के बीच छिपा लिया और ऋभुओं को मार डालने की सोची, क्योंकि एक चमस को चतुर्वय बना कर ऋभुओं ने वास्तव में देवपान-साधन चमस की हिजो कर डाली थी[6]; हालांकि उसी सूक्त के एक मन्त्र में ऋभुओं ने चमस की निन्दा करने की सोची तक न थी।

---

1. दे० 4.36.3. पृ० 340.
2. दे० 1.20.6. पृ० 304.
   दे० 1.110.3. पृ० 304.
   सुकृत्यया यत्स्वपस्यया चँ एकं विचक्र चमसं चतुर्धा। ऋ० 4.35.2.
   व्यकृणोत चमसं चतुर्धा। ऋ० 4.35.3.
   एकं वि चक्र चमसं चतुर्वयम्। ऋ० 4.36.4.
3. दे० 1.161.5. पृ० 304., 4.35.5. पृ० 345.
4. किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आजगन् किमीयते दूत्यं १ कद् यदूचिम्।
   न निन्दिम चमसं यो महाकुलोऽग्ने भ्रातर्द्रुण इद् भूतिमूदिम॥ ऋ० 1.161.1.
   एकं चमसं चतुरः कृणोतन तद् वो देवा अब्रुवन् तद्व आगमम्।
   सौधन्वना यद्येवा करिष्यथ साकं देवैर्यज्ञियासो भविष्यथ॥ ऋ० 1.161.2.
5. दे० 4.33.5. पृ० 340.
   विभ्राजमानांश्चमसाँ अहेवाऽवेनत् त्वष्टा चतुरो ददृश्वान्। ऋ० 4.33.6.
6. यदावाख्यच्चमसाञ्चतुरः कृतानादित्त्वष्टा ग्नास्वन्तन्यानजे। ऋ० 1.161.4.
   दे० 1.161.5. पृ० 304.

उन्होंने यशोलिप्सा से प्रेरित हो एक खेत की भांति चौड़े पात्र को माप लिया था[1]। उनके इसी कार्य की ओर वहां भी संकेत किया गया है, जहां यह कहा गया है कि उन्होंने चमसों को बनाया था[2] ।

कभी-कभी ऋभुओं के हस्तलाघव को इस प्रकार के वाक्यों द्वारा व्यक्त किया गया है जैसे : उन्होंने स्तुति बनाई[3] यज्ञ बनाया[4] और दोनों लोकों[5] का निर्माण किया और उन्होंने आकाश को धारण कर रखा है[6] ।

एक दूसरी गाथा में ऋभुओं का संबन्ध सविता के साथ उभरता है। कहा गया है कि वे आकाश में जिधर देखो उधर दीख पड़ते थे क्योंकि वे वायु-जूत थे। और पथ पर तेजी के साथ[7] चलकर वे सविता के भवन में जा पहुंचे थे, जिन्होंने कि उन्हें अगोह्य के यहां आने पर अमृतत्व प्रदान किया था[8] । जब 12 दिन तक सोकर ऋभुओं ने अगोह्य के आतिथ्य का आनन्द चख लिया तब उन्होंने स्वच्छ क्षेत्र बिछाये और सरिताओं को प्रवाहित किया; तब सूखी भूमि पर वनस्पति लह-लहाने लगे और सलिल निम्न भूमि पर फैल गया[9] । ऋभुओं ने अपने कौशल से ऊंची दड़ियों पर घास उपजाई और निचली भूमि पर जलाशय बहाये। यह सब कुछ उन्होंने अगोह्य के घर में चैन की निद्रा लेकर किया था[10] । सुख की नींद सो लेने के बाद उन्होंने अगोह्य से पूछा कि उन्हें किसने जगाया, एक वर्ष के भीतर

---

1. क्षेत्रमिव वि ममुस्तेजनेनँ एकं पात्रमृभवो जेहमानम् ।
   उपस्तुता उपमं नाधमाना अमर्त्येषु श्रव इच्छमानाः ॥ ऋ० 1.110.5.
2. आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत् ।
   वधर्यन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत ॥ ऋ० 1.161.9.
   याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत । तेन देवत्वमृभवः समानश ॥ ऋ० 3.60.2.
   दे० 4.35.5. पृ० 345.
3. अग्नये ब्रह्म ऋभवस्ततक्षुः । ऋ० 10.80.7.
4. पूषण्वन्त ऋभवो मादयध्वमूर्ध्वग्रावाणो अध्वरमतष्ट । ऋ० 3.54.12.
5. दे० 4.34.9. पृ० 344.
6. दे० 10.66.10. पृ० 336.
7. दे० 4.33 1. पृ० 342.
8. सौधन्वनासश्चरितस्य भूमना गच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम् । ऋ० 1.110.2.
   तत्सविता वोऽमृतत्वमासुवदगोह्यं यच्छ्रवयन्त ऐतन । ऋ० 1.110.3.
9. द्वादश द्यून्यदगोह्यस्याऽऽतिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः ।
   सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून् धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः ॥ ऋ० 4.33.7.
10. उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः ।
    अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ ॥ ऋ० 1.161.11.

उन्होंने सर्वेक्षण (ऋक् 13) किया।

ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति √रभ् (पकड़ना) धातु से बताई जाती है। फलतः इसका अर्थ होता है—'हस्त-कुशल' 'दक्ष'। ऋग्वेद में यह शब्द अनेक बार विशेषण की तरह आता है और अनेक बार इन्द्र, अग्नि और आदित्यों की विशेषता का सूचक बनता है। यह शब्द जर्मन एल्वे और अंग्रेज़ी एल्फ़ का तद्रूप प्रतीत होता है। वाज (√ वज्) का अर्थ है—वीर्यवान्, और विभ्वन् (वि+√भू) का अर्थ है—'प्रसिद्ध' (व्यापक कलाकार)। इस प्रकार ऋभुओं के नाम तथा वर्णन से प्रकट होता है कि उनका वास्तविक चरित्र 'कुशल कलाकारिता' है।

यह स्पष्ट है कि आरम्भ में ऋभुओं को देवता नहीं समझा जाता था। उनका इन्द्र के साथ संबन्ध होने से उनके मौलिक स्वरूप पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है—इस बात में संदेह है। उनके पैतृक नाम सौधन्वन के मूल में वास्तव में कौन है—इस बात का निर्णय भी कठिन है क्योंकि सुधन्वन् शब्द ऋग्वेद में केवल दो बार रुद्र और मरुतों का विशेषण बनकर आया है। सच बात तो यह है कि ऋभुओं के माता पिता पृथिवी और द्यौस् के प्रतिरूप सम्भव हैं। उनका धरती को उर्वरा बनाने के कार्य का संबन्ध सविता या अगोह्य के घर की ओर उनकी 12 दिनों की यात्रा के साथ है। फलतः कुछ विद्वान् ऋभुओं को तीन ऋतुओं की आत्मा मानते हैं जो ऋतु मकर संक्रांति के 12 दिनों में अचल रहते हैं। त्वष्टा का चमस संभवतः चन्द्रमा का प्रतिरूप है और ऋभुओं के द्वारा किये गये इसके चार विभाग उसकी चार कलाएं हैं। सभी बातों पर विचार करते हुए प्रतीत होता है कि ऋभु मूलतः पार्थिव या वायवीय आत्माएं थे, जिनकी दक्षता ने उनके कौशल को प्रकट करने-वाली अनेक गाथाओं को अपने चहुं ओर आकृष्ट कर लिया था। किंतु ऋग्वेद का अन्तरंग साक्ष्य इस विषय में किसी भी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए अपर्याप्त है।

अप्सराएं (§ 47)—

अप्सरा एक प्रकार की परी है, जो ऋग्वेद ही में अपने प्राकृतिक आधार से पूर्णरूपेण पृथक् हो चुकी है। इस वेद में अप्सराओं के विषय में मिलने-वाले संकेत अत्यल्प हैं, क्योंकि अप्सरा नाम ऋग्वेद में केवल 5 बार आया है। अप्सरा परम व्योम में अपने प्रणयी 'गंधर्व', जिसका उल्लेख ठीक पूर्व वाले मन्त्र में हुआ है, की ओर मुस्कराती है[2]। वसिष्ठ अप्सरा से उत्पन्न हुए

1. सुषुप्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत्।
   श्वानं बस्तो बोधयितारमब्रवीत्संवत्सर इदमद्या व्यख्यत ॥ ऋ० 1.161.13.
2. अप्सरा जारमुप सिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन् ॥ ऋ० 10.123.5.

थे, और वसिष्ठाः अप्सराओं के निकट बैठते हैं[1]। समुद्रिय अप्सराएं सोम की ओर प्रवाहित होती हैं[2]। ऐसे स्थलों पर अप्सराओं से सोम-रस में मिलाया जाने-वाला जल अभिप्रेत हो सकता है। प्रलम्ब केशोंवाला ज्ञानी अप्सराओं और गंधर्वों के पथ पर चलने में सक्षम है[3]। गंधर्व की 'अप्या योषा' भी अप्सरा ही समझी जा सकती है[4]।

अप्सराओं के विषय में अथर्ववेद में अपेक्षाकृत अधिक आता है। उनका आवास सलिलों में है, और वहां से वे क्षण-भर में आ जाती हैं[5]। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे मनुष्यों के समीप से हटकर नदियों और जलाशयों के तटों पर चली जावें[6]। विश्वावसु गंधर्व के साथ रहनेवाली देवियों का मेघ, विद्युत् और तारों के साथ संबन्ध है[7]। उन्हें स्पष्ट शब्दों में गंधर्वों की पत्नियां बताया गया है[8]। परवर्ती संहिताओं में तो उनका गंधर्वों के साथ का संबन्ध एक कहावत-सा बन गया है[9]। शतपथ ब्राह्मण[10] में वर्णन आता है कि अप्सराएं अपने-आपको एक प्रकार के जलीय पक्षियों में परिवर्तित कर लेती हैं[11]। वेदोत्तर-कालीन साहित्य में बार-बार आता है कि अप्सराएं वन्य ह्रदों और सरिताओं में, विशेषतया गंगा में रहती हैं और वे समुद्र में वरुण के भवन में भी विराजती हैं। अप्सरा शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'जल में भ्रमण करनेवाली'।

उक्त उद्धरणों से सूचित होता है कि अपने मौलिक रूप में अप्सराएं सलिल की दिव्य परियां थीं, और ऋग्वेद उन्हें गंधर्वों की पत्नियां बताता भी है। किंतु

1. अप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः। ऋ० 7.33.12.
अप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठाः। ऋ० 7.33.9.
2. समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरभि सोममक्षरन्। ऋ० 9.78.3
3. अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्।
केशी केतस्य विद्वान्सखा स्वादुर्मदिन्तमः॥ ऋ० 10.136.6.
4. गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ। ऋ० 10.10.4.
5. अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत्।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति॥ अथ० 2.2.3.
6. नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्। तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन। अथ० 4.37.3.
7. अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे। अथ० 2.2.4.
8. ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः। अथ० 2.2.5.
9. गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यम्। वा० सं० 30.8.
10. ता अप्सरस आतयो भूत्वा परि पुप्लुविरे। शत० ब्रा० 11.5.1.4
11. यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक् सं क्षोणीभिः क्रतुभिर्न पृङ्क्ते।
ता आतयो न तन्वः शुम्भत स्वा अश्वासो न क्रीळयो दन्दशानाः॥ ऋ० 10.95.9.

परवर्ती संहिताओं में उनका क्षेत्र पृथिवी तक और वनस्पतियों तक विस्तृत हो जाता है। कहा गया है कि वे न्यग्रोध और अश्वत्थ वृक्षों पर रहती हैं और वहां उनकी बंशी गूंजती रहती है[1]। अन्य ग्रन्थों में उदुम्बर और प्लक्ष वृक्षों पर भी गंधर्वों और अप्सराओं का आवास बताया गया है[2]। इन वृक्षों पर रहनेवाले गंधर्व-अप्सराओं से प्रार्थना की गई है कि वे उधर से गुज़रनेवाली बरात के प्रति सौख्यमय सिद्ध होवें[3]। शतपथ ब्राह्मण में वर्णन आता है कि अप्सराएं नृत्य, गान और विलास में निरत रहती हैं। वेदोत्तर-कालीन ग्रन्थों में गाथात्मक या सचमुच के पर्वतों को गंधर्व-अप्सराओं का मनचाहा आवास बताया गया है। अथर्ववेद इसमें इतना और जोड़ देता है कि अप्सराएं द्यूत की चितेरी हैं और जुए में जितानेवाली हैं[4]। साथ ही यह भी कहा गया है कि अप्सराएं मानव के मन में असंतुलन पैदा करती हैं, फलतः उनसे बचने के लिए जादू-टोना प्रयुक्त होता है।

इन ललितांग वनिताओं का प्रणय-सुख न केवल गंधर्व अपितु कभी-कभी मनुष्य भी पा लेते हैं[5]। इस प्रकार के प्रणय-सुख की एक गाथा तो वैदिक साहित्य में भी मिलती है। अथर्ववेद में तीन अप्सराओं का नाम आता है: उग्राजित्, उग्रंपश्या और राष्ट्रभृत् जबकि वाजसनेयि संहिता में औरों के साथ उर्वशी और मेनका के नाम भी आते हैं[6]। शतपथ ब्राह्मण[7] में भरत-कुल की आदि-मूर्धन्या

---

1. यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ अथ० 4.37.4.
2. नैयग्रोध औदुम्बर आश्वत्थः प्लाक्ष इतीध्मो भवत्येते वै गन्धर्वाऽप्सरसां गृहाः।
तै० सं० 3.4.8.4.
3. ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थुः।
स्योनास्ते अस्मै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् ॥ अथ० 14.2.9.
4. याः क्रन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽकरं नमः ॥ अथ० 2.2.5.
5. अध्वर्युर्वरुण आदित्यो राजेत्याह तस्य गन्धर्वा विशस्त इम आसत इति युवानः शोभना उपसमेता भवन्ति। शत० ब्रा० 13.4.3.7.
अध्वर्युः सोमो वैष्णवो राजेत्याह तस्याप्सरसो विशस्ता इमा आसत इति युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति। शत० ब्रा० 13.4.3.8.
दे० 10.95.9. पृ० 349.
6. मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ। वा० सं० 15.16.
उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ। वा० सं० 15.19.
7. उर्वशी वा अप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुः।
शत० ब्रा० 3.4.1.22.

शकुन्तला का निर्देश आता है[1]। उर्वशी की चर्चा शतपथ में भी की गई है[2]।

किंतु ऋग्वेद तो एकमात्र उर्वशी का ही निर्देश करता है। ऋग्वेद में उर्वशी को अप्सरा समझा जाता था—यह बात इस निर्देश से सिद्ध होती है कि वसिष्ठ को एक मन्त्र में उर्वशी का पुत्र बताया गया है और दूसरे मन्त्र में अप्सरा का[3]। उर्वशी का आह्वान सरिताओं के साथ किया गया है[4]। अन्यथा उसका नामोल्लेख केवल दो बार बाद के बने एक संदिग्धार्थक सूक्त में आता है[5], जिसमें उर्वशी और उसके प्रणयी पुरूरवा का वार्तालाप चलता है। वहां उसे 'अप्या' कहा गया है, जो अन्तरिक्ष में व्याप्त रहती है और लोकों में विचरती फिरती है[6]। कहा गया है कि चार सर्दियां उसने मर्त्यों के बीच बिताई थीं[7]। इसी सूक्त के 17वें[8] मन्त्र में उर्वशी से प्रार्थना की गई है कि वह लौट आवे। प्रार्थना ठुकरा दी जाती है, किंतु 18वें मन्त्र में पुरूरवस् को वह इतना वचन देती है कि उसकी प्रजा हविष् द्वारा देवों की अर्चना करेगी और वह स्वयं स्वर्ग में सुख भोगेगा[9]। इस सूक्त के अनेक मन्त्र शतपथ ब्राह्मण में आनेवाली गाथा में उद्धृत किये गये हैं। इस गाथा में असंबद्ध तथ्य खंडों को आपस में एकत्रित किया गया है और यह संबन्ध अंशतः प्रस्तुत ऋक्सूक्त के मन्त्रों को ठीक तरह न समझने पर आश्रित है। शतपथ की गाथा इस प्रकार है:—उर्वशी अप्सरा का इळा-पुत्र पुरूरवा के साथ इस संविदा पर संयोग होता है कि उर्वशी उन्हें कभी-भी निर्वस्त्र नहीं देखेगी। कुछ दिन प्रणय-सुख में बीतते हैं और तब गंधर्व-लोग रात के समय एक अजीब प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करते हैं जिसे सुनकर पुरूरवा निर्वस्त्र ही उठ पड़ते हैं; और तब विद्युत् के प्रकाश में उर्वशी उन्हें अनावृत देख लेती है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उर्वशी तत्काल अन्तर्धान हो जाती है। पुरूरवा उसकी खोज में इधर-उधर भटकते फिरते हैं।

---

1. शकुन्तला नाडपित्यप्सरा भरतं दधे। शत० ब्रा० 13.5.4.13.
2. उर्वशी हाप्सराः। पुरूरवसमतु चकमे। शत० ब्रा० 11.5.1.1.
3. उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः। ऋ० 7.33.11.
   अप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः। ऋ० 7.33.12.
4. दे० 5.41.19. पृ० 324.
5. जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः। ऋ० 10.95.10,
   अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः।
   उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्निवर्तस्व हृदयं तप्यतेमे॥ ऋ० 10.95.17.
6. विश्वावसुरभि तन्नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः। ऋ० 10.139.5.
7. यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः। ऋ० 10.95.16.
8. दे० 10.95.17. ऊपर।
9. प्रजा ते देवान्हविषा यजाति स्वर्ग उत्वमपि मादयासे। ऋ० 10.95.18.

निदान वे उसे अप्सराओं के साथ जलीय पक्षी के रूप में एक कमल-ह्रद में तैरती हुई देखते हैं। उर्वशी उनके समक्ष अपने-आपको प्रकट कर देती है और उनके मिठास-भरे अनुनय पर रीझ कर उन्हें वचन देती है कि एक वर्ष बाद एक रात के लिए वह उनके पास आवेगी। निश्चित समय पर पुरूरवा लौटते हैं और दूसरे दिन गंधर्व उन्हें वर देते हैं कि विधिविहित ढंग से अग्नि उत्पन्न करने पर वह गंधर्वों में संमिलित हो जायेंगे। 10.95 के अतिरिक्त पुरूरवस् (ऊंचे स्वर वाला) का ऋग्वेद में केवल एक मन्त्र[1] में निर्देश मिलता है, जहां कहा गया है कि अग्नि ने ऋतंभर मानव पुरूरवा के लिए आकाश को तड़काया। किंतु यहां यह शब्द विशेषण भी माना जा सकता है। कतिपय विद्वानों के मत में पुरूरवा और उर्वशी से तात्पर्य सूर्य और उषा से है।

गंधर्व (§ 48)—

अप्सरा या अप्सराओं के साथ ऋग्वेद ही में एक प्रकार के पुरुष का या पुरुषों का भी ज़िक्र आता है जिन्हें गंधर्व कहा जाता है। ऋग्वेद में गंधर्व शब्द 20 बार आया है और इनमें से 3 बार इसका बहुवचन में प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में यह 32 बार आया है जिनमें से 16 बार इसका प्रयोग बहुवचन में हुआ है। यह नाम 'गन्दरेव' (एक दाना) इस रूप में अवेस्ता में कतिपय बार केवल एक वचन में मिलता है। इन बातों से प्रतीत होता है कि गंधर्व जाति का विकास किसी एक गंधर्व व्यक्ति से हुआ होगा। परवर्ती संहिताओं में देवों, पितरों और असुरों के साथ गंधर्वों की भी अपनी एक पृथक् जाति बन जाती है[2]। एक यजुर्मन्त्र में गंधर्वों की संख्या 27 बताई गई है, किंतु अथर्ववेद[3] में वह 6333 बन जाती है। गंधर्वों की कल्पना भारत-ईरानी काल की है और अत्यधिक प्राचीन होने के कारण यह आज भी अस्पष्ट-सी है। इस विषय में ऋग्वेद का साक्ष्य इतना अधिक अस्पष्ट है कि उसके आधार पर गंधर्वों के मौलिक स्वरूप का निर्धारण करना सुतरां कठिन है। यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि गंधर्व शब्द ऋग्वेद में द्वितीय मंडल से लेकर सप्तम मंडल तक केवल एक बार आया है, जबकि अष्टम मंडल में यह इन्द्र के विरोधी का द्योतक बनकर 2 बार आता है। कभी-कभी तो यह शब्द एक

---

1. त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः पुरूरवसे सुकृते सुकृत्तरः। ऋ० 1.31.4.
   ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
2. गन्धर्वा एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशत् त्रिशता षट् सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति॥
   अथ० 11.5.2.
   हयो देवानवहदर्वाऽसुरान् वाजी गन्धर्वानश्वो मनुष्यान्॥ तै० सं० 7.5.25.2.
3. दे० अथ० 11.5.2. ऊपर।

नाम की तरह भी आता है। स्थान-स्थान पर इसके साथ विश्वावसु (सर्व-धनसंपन्न) इस विशेषण का भी प्रयोग हुआ है[1]। एक सूक्त[2] में गंधर्व का बोध कराने के लिए अकेले इस विशेषण का ही प्रयोग हुआ है, जबकि परवर्ती संहिताओं में, ब्राह्मणों और वेदोत्तर-कालीन साहित्य में बहुत बार यह एक गंधर्व-विशेष के नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है।

संभवतः ऋग्वेद में गंधर्व का आवास वायु अथवा आकाश-जैसे उच्च लोकों में माना जाता था[3]। गंधर्व लोक का विमान अर्थात् नापनेवाला है[4]। वह वायु के अति-गम्भीर लोक में पाया जाता है। वह दिव्य है और द्युलोक के नाक पर विराजमान है[5]। वह प्रेमी है और उसपर अप्सराएं जान देती हैं[6]। उसका आवास स्वर्ग में है[7] और भाग्यशाली व्यक्ति ही उसके साथ निवास कर पाते हैं[8]। अनेक मन्त्रों में गंधर्व का संपर्क एक प्रकार की दिव्य ज्योति के साथ दीख पड़ता है। उदाहरणार्थ उसका संबन्ध[9] सूर्य के साथ दीख पड़ता है। वह हिरण्य-पक्ष है, वरुण का दूत है, और गर्भ में वाणी का प्रेरक है[10]। वह अर्वा की रास को थामता

---

1. दे० 9.86.36. पृ० 281.
   विश्वावसुं सोम गन्धर्वमापो ददृशुषीस्तदृतेना व्यायन्। ऋ० 10.139.4.
   दे० 10.139.5. पृ० 351.
   दे० अथ० 2.2.4. पृ० 349.
   गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्टयै। वा० सं० 2.3.
2. उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीळे। ऋ० 10.85.21.
   उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा। ऋ० 10.85.22.
   सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। ऋ० 10.85.40.
   सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये। ऋ० 10.85.41.
3. अभि गन्धर्वमतृणदबुध्नेषु रजःस्वा। इन्द्रो ब्रह्मभ्य इद्वृधे॥ ऋ० 8.77.5.
4. दे० 10.139.5. पृ० 351.
5. ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थात्। एव नमस्योविश्वीऽर्यः॥ ऋ० 10.123.7.
6. दे० 10.123.5. पृ० 348.
7. दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक।
   तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥ अथ० 2.2.1.
   दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य।
   मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः॥ अथ० 2.2.2.
8. विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति। सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः॥ अथ० 4.34.3.
9. हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥ ऋ० 10.123.6.
10. पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद्गर्भे अन्तः। ऋ० 10.177.2.

है[1]। आगे चलकर उसका संबन्ध चन्द्र-मंडल के 27 नक्षत्रों और विशेषतया रोहिणी के साथ बन जाता है[2]। ऋग्वेद के एक सूक्त में उसका संबन्ध इन्द्र-धनुष के साथ भी दीख पड़ता है। वाजसनेयि संहिता[3] में गंधर्वों की गणना अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और वायु के साथ की गई है। वेदोत्तर-कालीन साहित्य में मृग-मरीचिका का एक नाम 'गंधर्व नगर' भी है।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल में गंधर्व का संबन्ध सोम के साथ बिठाया गया है। वह सोम के आवास का पहरा देता है और देव-जातियों की देख-भाल करता है[4]। सोम के सभी रूपों का निरीक्षण करता हुआ वह स्वर्ग की नाक पर विराजित है[5]। पर्जन्य और सूर्य की पुत्री के साथ गंधर्व सोम का संचय करते हैं[6]। गंधर्व-मुख द्वारा देवता अपना पेय पीते हैं[7]। मैत्रायणी संहिता कहती है कि गंधर्वों ने देवों के लिए सोम रखा, किंतु इसकी चोरी में आंख बचा लेने के कारण उन्हें सोम-पान से बहिष्कृत कर दिया गया। कहना न होगा कि सोम के साथ संबद्ध होने के कारण गंधर्व वनस्पतियों का ज्ञाता बन गया है[8]। निःसंदेह सोम का सचेत प्रहरी होने के नाते गंधर्व को ऋग्वेद में कलह-प्रिय व्यक्ति के रूप में पेश किया गया

---

1. दे० 1.163.2. पृ० 164.
ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात् विश्वा रूपा प्रति चक्षाणो अस्य।
भानुः शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत् ॥ ऋ० 9.85.12.
2. वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः।
तेऽअग्रेऽश्वमयुञ्जँस्तेऽ अस्मिञ्जवमादधुः ॥ वा० सं० 9.7.
इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥ अथ० 13.1.23.
3. ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। वा० सं० 18.38.
संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसऽआयुवो नाम। वा०सं०18.39.
सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
वा० सं० 18.40.
इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापोऽअप्सरसऽऊर्जो नाम। वा० सं० 18.41.
4. गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः। ऋ० 9.83.4.
तयोरिद् घृतवत्पयो विप्रा रिहन्ति धीतिभिः। गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे ॥ ऋ०1.22.14.
5. भानुः शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत् ॥ ऋ० 9.85.12.
6. दे० 9.113.3. पृ० 275.
7. तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति। अथ० 7.73.3.
8. यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ अथ० 4.4.1.

है जिसे इन्द्र ने वायुलोक में भेद दिया था,[1] अथवा जिसे नीचा दिखाने के निमित्त इन्द्र को बुलाया जाता है,[2] क्योंकि एक परवर्ती ग्रन्थ में सोम को सुझाव दिया गया है कि वे श्येन बनकर विश्वावसु गंधर्व से आंख बचाकर निकल आवें[3]। यह भी आता है कि सोम गंधर्वों के मध्य निवास करते थे अथवा उन्हें विश्वावसु गंधर्व ने चुरा लिया था। किंतु, चूंकि गंधर्व स्वभावत: स्त्री-लोलुप दीख पड़ते थे इसलिए वाक्-देवी का प्रलोभन देकर उनसे सोम को ख़रीद लिया गया था[4]। गंधर्वों की कलह-प्रियता उनकी पुरानी है, क्योंकि अवेस्ता (यस्न 5.38) में श्वेत 'हओम' के आवास कोउरुकष समुद्र में बसनेवाले शत्रु गन्दरेव को केरेसास्प ने युद्ध में पछाड़ दिया था। इसके अतिरिक्त धनुर्धारी कृशानु भी, जिसने सोम को ले जाते हुए श्येन पर तीर चलाया था,[5] एक गंधर्व प्रतीत होता है, क्योंकि तैत्तिरीय आरण्यक[6] में उसे स्पष्ट शब्दों में गंधर्व बताया गया है।

गंधर्व का संबन्ध कभी-कभी सलिलों के साथ भी हुआ है। जल में रहनेवाले गंधर्व और अप्सरा को यम-यमी का पिता-माता बताया गया है[7]। जल में उड़ेला गया सोम 'जलों का गंधर्व'[8] है। अप्सरा से संपृक्त गंधर्व जल में रहता है[9]। अवेस्ता में गन्दरेव गहरे स्थान का स्वामी है और वह जलों में निवास करता है।

गंधर्व और अप्सरा का साहचर्य विवाह-जैसा है। फलत: इन दोनों के साह-

---

1. अभि गंधर्वमतृणदबुध्नेषु रजः स्वा। इन्द्रो ब्रह्मभ्य इद् वृधे। ऋ० 8.77.5.
2. वहत् कुत्समार्जुनेयं शतक्रतुः त्सरद् गन्धर्वमस्तृतम्। ऋ० 8.1.11.
3. मा गन्धर्वो विश्वावसुरादधच्छ्येनो भूत्वा परा पत यजमानस्य नो गृहे देवैः संस्कृतम्। तै० सं० 1.2.9.1.
4. स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः। ऐ० ब्रा० 1.27.
   तं सोममाह्रियमाणं गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात् स तिस्रो रात्रीः परिमुषितोऽवसत्तस्मात्तिस्रो रात्रीः क्रीतः सोमो वसति ते देवा अब्रुवन्स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः स्त्रिया निष्क्रीणामेति ते वाचं स्त्रियमेकहायनीं कृत्वा तया निरक्रीणन्।
   तै० सं० 6.1.6.5.
   स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः। मै० सं० 3.7.3.
5. दे० 4.27.3. पृ० 296.
6. स्वानभ्राट्। अङ्घारिर्बम्भारिः। हस्तः सुहस्तः। कृशानुर्विश्वावसुः। मूर्धन्वान्त्सूर्यवर्चाः कृतिरित्येकादश गन्धर्वगणाः। तै० आ० 1.9.3.
7. दे० 10.10.4 पृ० 349.
8. दे० 9.86.36. पृ० 281.
9. दे० अथ० 2.2.3. पृ० 349.
   जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम्॥ अथ० 4.37.12.

चर्य को विवाह में याद किया जाता है और कहा जाता है कि अविवाहिता युवती का संबन्ध गंधर्व, सोम और अग्नि के साथ है[1]। विवाह के पहले-पहले दिनों में विश्वावसु गंधर्व को पति का प्रतिद्वन्द्वी समझा जाता है और परवर्ती पुस्तकों में तो गंधर्वों का वनिता-प्रणय पूरी तरह खिल उठा है[2]। गंधर्व और अप्सराएं उर्वरा शक्ति के प्रतीक हैं और अपत्य-प्रार्थी युगलों के लिए उनकी स्तुति फलदायक है[3]।

परवर्ती साहित्य और महाकाव्यों में गंधर्वों को दिव्य गायक माना गया है। इस मान्यता के लिए ऋग्वेद में कम संकेत मिलते हैं[4]।

गंधर्वों की शारीरिक बातों के विषय में ऋग्वेद में केवल दो या तीन निर्देश मिलते हैं। वह वायु-केश है[5] और चमचमाते आयुधवाला है[6]। अथर्ववेद के वर्णन कुछ अधिक खिले हुए हैं। यहां गंधर्व को अर्ध-पश्वाकार समझा गया है और उन्हें मनुष्यों के लिए हानिकारक ठहराया गया है। किंतु अन्य स्थलों में उन्हें रुचिर भी बताया गया है[7]। ऋग्वेद का गंधर्व सुरभि-वासित वसन पहनता है[8]। अथर्ववेद[9] कहता है कि पृथिवी का गन्ध गंधर्वों तक पहुंचता है।

अन्तिम बात से प्रतीत होता है कि गंधर्व शब्द की व्युत्पत्ति 'गन्ध' से संभव

---

1. सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
   तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ऋ० 10.85.40.
   सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये।
   रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥ ऋ० 10.85.41.
2. स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः। मै० सं० 3.7.3.
3. गन्धर्वाप्सरसां स्तोमः प्रजाकामो यजेत गन्धर्वाप्सरसो वै मनुष्यस्य प्रजाया वाऽप्रजस्ताया वेशते। पञ्च० ब्रा० 19.3.2.
4. दे० 10.177.2. पृ० 353.
   रपद्गन्धर्वी रप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु मे मनः। ऋ० 10.11.2.
5. अपश्यमत्र मनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वां अपि वायुकेशान्। ऋ० 3.38.6.
6. ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्प्रत्यङ् चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि।
   वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्व१र्ण नाम जनत प्रियाणि॥ ऋ० 10.123.7.
7. अध्वर्युर्वरुण आदित्यो राजेत्याह तस्य गन्धर्वा विशस्त इम आसत इति युवानः शोभना उपसमेता भवन्ति। शत० ब्रा० 13.4.3.7.
   अध्वर्युः सोमो वैष्णवो राजेत्याह तस्याप्सरसो विशस्ता इमा आसत इति युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति। शत० ब्रा० 13.4.3.8.
8. ऊर्ध्वो गंधर्वो अधि नाके अस्थात् प्रत्यङ् चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि।
   वसानो अत्कं सुरभिं दृशेकं स्व१र्ण नाम जनत प्रियाणि॥ ऋ० 10.123.7.
9. यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव। यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे। अथ० 12.1.23.

है। किंतु यह व्युत्पत्ति यथार्थ भी हो तब भी इससे गंधर्व के मौलिक स्वरूप पर प्रकाश नहीं के बराबर पड़ता है। ऋक्-साक्ष्य का सिंहावलोकन करने पर गंधर्व के विषय में अधिक-से-अधिक इतना कहा जा सकता है कि अपने मौलिक स्वरूप में वह ज्योतिर्मय दिव्य प्राणी था, जिसे कभी-कभी सलिलवासी समझा जाता था और उसकी पत्नी अप्सरा थी। किंतु विद्वानों ने इस विषय में भांति-भांति की अटकलें लगाई हैं। कुछ विद्वान् गंधर्वों को वायवीय आत्मा मानते हैं, और कुछ के मत में गंधर्व इन्द्र-धनुष का प्रतिरूप है, अथवा वह चन्द्रमा की आत्मा है, या सोम है अथवा उदित होता हुआ सूर्य है अथवा मेघों में बसनेवाला एक आत्मा है।

रक्षा के देवता (§ 49)—

वास्तोष्पति का नाम ऋग्वेद में केवल 7 बार आता है, और 3 मन्त्रों का एक सूक्त[1] उनकी स्तुति में कहा गया है। यहां उनसे प्रार्थना की गई है कि वे प्रवेश को अनुकूल बनावें, रोग दूर करें, मनुष्य और पशुओं को अमन-चैन दें, पशु और अश्व दें और सदा हमारी देखभाल करते रहें। इसके बाद आनेवाले सूक्त के प्रथम मन्त्र[2] में उन्हें रोगनाशक बताया गया है और कहा गया है कि वास्तोष्पति विश्व-रूप हैं। एक बार उनका तादूप्य सोम के साथ बिठाया गया है[3]। क्योंकि यहां इन्हें इन्दु शब्द से सूचित किया गया है। विश्वेदेवा: सूक्त के एक मन्त्र[4] में उनका आह्वान त्वष्टा के साथ हुआ है और संभवत: महान् तष्टा के रूप में उनके साथ उनका तादूप्य भी हुआ है। एक अन्य मन्त्र[5] में उन्हें दृढ़-स्तम्भ बताया गया है और सोमसोताओं का अंसत्र कहा गया है और इन्द्र के साथ उनका तादात्म्य भी हुआ प्रतीत होता है। दशम मंडल के तो एक ही मन्त्र में उनका उल्लेख आया है। उसमें उन्हें विधानों का अनुपालक बताया गया है और कहा गया है कि उन्हें देवताओं ने प्रार्थना अथवा माया के द्वारा रचा है[6]।

गेल्डनर के अनुसार तात्पर्य यहां रुद्र से है, क्योंकि तैत्तिरीय संहिता[7] में

1. वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् त्स्वावेशो अनमीवो भवानः। ऋ० 7.54.1.
2. अमीवहा वास्तोष्पते विश्वारूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि नः॥ ऋ० 7.55.1.
3. वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो। ऋ० 7.54.2.
4. अभि वो अर्चे पोष्यावतो नॄन् वास्तोष्पतिं त्वष्टारं रराणः। ऋ० 5.41.8.
5. वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम्।
   द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा॥ ऋ० 8.17.14.
6. पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः स जग्मानो नि षिञ्चन्।
   स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥ ऋ० 10.61.7.
7. रुद्रः खलु वै वास्तोष्पतिः। तै० सं० 3.4.10.3

वास्तोष्पति रुद्र का एक विशेषण है। यद्यपि वास्तोष्पति का उपर्युक्त अनेक मन्त्रों में कतिपय देवताओं के साथ तादात्म्य संपन्न हुआ है, फिर भी इस मान्यता के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं कि वास्तोष्पति मूलतः किसी महान् देवता का विशेषण मात्र रहा था, जैसेकि गृहपति अग्नि का एक विशेषण है। गृह्य सूत्रों[1] में विधान आता है कि नवीन आवास में प्रवेश करने से पहले वास्तोष्पति को मनाना चाहिए। यह विधान ऋग्वेदीय सूक्त के साथ मिलकर इस तथ्य की ओर निर्देश करता है कि मूलतः वास्तोष्पति एक गृह-रक्षक देवता थे और यही तथ्य इस नाम के अर्थ (आवास का स्वामी) से भी झलकता है। इस प्रकार वास्तोष्पति निम्न कोटि के देवों की श्रेणी में आते हैं जो देवता आदिम विश्वास के अनुसार वृक्ष, पर्वत आदि प्राकृतिक पदार्थों के अधिष्ठाता थे।

इसी कोटि के दूसरे देवता क्षेत्रस्यपति हैं। ऋग्वेद[2] के प्रथम 3 मन्त्रों में उनका आह्वान पशु, अश्व प्रदान करने के लिए एवं द्यावा-पृथिवी, वनस्पति और सलिलों को मधु-भरित बनाने के लिए किया गया है। विश्वेदेवा : के एक सूक्त[3] में सविता, उषा और पर्जन्य के साथ उनका आह्वान संपत्ति देने के लिए किया गया है। इसी प्रकार के एक और सूक्त[4] में उपासक यह इच्छा प्रकट करते हैं कि वे उन्हें पार्श्ववासी (पड़ौसी) के रूप में पावें। गृह्यसूत्रों में उल्लेख मिलता है कि जब खेत जोते जाते हैं तब क्षेत्रपति के लिए यज्ञ किया जाता है और उनकी मिन्नत की जाती है[5]। कृषि-देवताओं के एक सूक्त के एक मन्त्र में सीता का आह्वान

---

1. मध्येऽगारस्य स्थालीपाकं श्रपयित्वा वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मानिति चतसृभिः प्रत्यृचं हुत्वाऽन्नं संस्कृत्य ब्राह्मणान्भोजयित्वा शिवं वास्तु शिवं वास्त्विति वाचयीत। आ० गृ० सू० 2.9.9.
   वास्तोष्पती ये कर्मणि। शां० गृ० सू० 3.41.
   महाव्याहृतयश्चतस्रो वास्तोष्पत इति तिस्रोऽमीवहा वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणा सौविष्टकृती, दशमी स्थालीपाकस्य चरोर्रात्रौ। शां० गृ० सू० 3.4.8.
   आज्यं संस्कृत्येह रतिरित्याज्याहुती हुत्वा जुहोति। वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्।
   पा० गृ० सू० 3.4.7.
2. क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
   गामश्वं पोषयित्न्वा सनो मृळातीदृशे॥ ऋ० 4.57.1. आदि।
3. शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
   शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः॥ ऋ० 7.35.10.
4. क्षेत्रस्य पतिं प्रतिवेशमीमहे। ऋ० 10.66.13.
5. क्षेत्रस्यानु वा तं क्षेत्रस्य पतिना वयमिति प्रत्यृचं जुहुयाज्जपेद्वा। आ०गृ०सू०2.10.4.
   क्षेत्रस्य पतिनेति प्रदक्षिणं प्रत्यृचं प्रतिदिशमुपस्थानम्। शां०गृ०सू० 4.13.5.

आशीर्वाद तथा उपज देने के लिए हुआ है[1]। बाद में सीता इन्द्र-पत्नी बनकर उभरती है[2] । यह संभवतः इसीलिए हुआ हो कि ऋग्वेद में एक बार इन्द्र को उर्वरा-पति कहा गया है[3] । सीता का पैतृक नाम सावित्री है[4] । ऊपर निर्दिष्ट सूत्र में उर्वरा के आशीर्वाद का भी निर्देश आया है ।

4. गाथेय पुरोहित और वीर

मनु (§ 50)—

मनु शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में बहुधा 'मनुष्य' के अर्थ में हुआ है, फलतः इस बात में संदेह हो जाता है कि ऋग्वेद के किन मन्त्रों में यह शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा बनकर प्रयुक्त हुआ है । व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में मनु शब्द का प्रयोग लगभग 20 बार हुआ प्रतीत होता है और इस अर्थ में उतने ही बार 'मनवः' यह शब्द भी आया है । मनु को 5 बार पिता कहा गया है और प्रस्तुत मन्त्रों में से दो मन्त्रों में उन्हें 'नः पितरः' भी बताया गया है[5] । याज्ञिकों को मनु-पुत्र कहा गया है[6] और अग्नि मनु के अपत्यों के मध्य निवास करते बताये गये हैं[7] । मनु यज्ञ के प्रवर्तक थे; क्योंकि अग्नि समिद्ध करके 7 पुरोहितों के साथ उन्होंने देवों के लिए पहले-पहल हविष् प्रदान किया था[8] । मनु-यज्ञ आज के यज्ञ का पूर्व रूप है, क्योंकि आधुनिक यज्ञों की तुलना मनु द्वारा किये गये यज्ञों के साथ की गई है[9] । ये तुलनाएं बहुधा 'मनुष्वत्' इस क्रिया-विशेषण द्वारा की गई हैं। याज्ञिक लोग अग्नि को यज्ञ का संपादक बनाते हैं जैसाकि मनुओं ने किया था[10] । वे मनुओं की भांति

---

1. अर्वाचीसुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा ।
   यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि ॥ ऋ० 4.57.6.
2. इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीतां सा मे त्वनपायिनी भूयात् । पार० गृ० सू० 2.17.9.
3. आ याहीम इन्दवोऽश्वपते गोपत उर्वरापते । सोमं सोमपते पिब ॥ ऋ० 8.21.3.
   इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु ।
   सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ऋ० 4.57.7.
4. अथ ह सीता सावित्री । सोमं राजानं चकमे । तै० ब्रा० 2.3.10.1.
5. यानि मनुरवृणीता पिता नः । ऋ० 2.33.13.
6. यथा यज्ञं मनुषो विक्ष्वा३सु । ऋ० 4.37.1. आदि ।
7. होता निषत्तो मनोरपत्ये स चिन्न्वासां पतीरयीणाम् । ऋ० 1.68.4.
8. येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः । ऋ० 10.63.7.
9. यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर्देवाँ अयजः कविभिः कविः सन् । ऋ० 1.76.5.
10. नि त्वा यज्ञस्य साधनमग्ने होतारमृत्विजम् ।

अग्नि को समिद्ध करते हैं[1]। मनुओं की तरह वे मनु के द्वारा समिद्ध अग्नि का आह्वान करते हैं[2]। वे मनुओं की भांति सोम का हवन करते हैं[3]। सोम से प्रार्थना की गई है कि वे उसी तरह प्रवाहित हों जैसे किसी दिन वे मनु के लिए प्रवाहित हुए थे[4]। मनु ने अग्नि को प्रकाश रूप में मानव-जात के मध्य स्थापित किया है[5]। मनु का उल्लेख अन्य प्राचीन याज्ञिकों के साथ भी आया है, जैसे अंगिरस् और ययाति[6], भृगु और अंगिरस्[7], अथर्वन् और दध्यंच्[8], दध्यंच्, अंगिरस्, अत्रि और कण्व[9]। कहा गया है कि देवताओं[10] ने, मातरिश्वा[11] ने, मातरिश्वा और देवताओं[12] ने और काव्य उशना[13] ने मनु के लिए अग्नि दी या अग्नि को मनु का याज्ञिक बनाया। अन्तिम चार मन्त्रों में यह शब्द मनुष्य का वाचक प्रतीत होता है।

इन्द्र ने मनु-विवस्वान् अथवा मनु-सांवरणि के साथ सोमपान किया[14]

मनुष्वद् देव धीमहि प्रचेतसं जीरं दूतममर्त्यम् ॥ ऋ० 1.44.11.

1. मनुष्वत् त्वा नि धीमहि मनुष्वत् समिधीमहि ।
अग्ने मनुष्वदङ्गिरो देवान् देवयते यज ॥ ऋ० 5.21.1. आदि ।
2. मनुष्वदग्निं मनुना समिद्धं समध्वराय सदमिन्महेम । ऋ० 7.2.3.
3. दे० 4.37.3. पृ० 341.
4. यथापवथा मनवे वयोधाः । ऋ० 9.96.12.
5. नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते । ऋ० 1.36.19.
6. मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत्सदने पूर्ववच्छुचे ।
अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम् ॥ ऋ० 1.31.17.
7. दे० 8.43.13. पृ० 235.
8. यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्धियमत्नत ।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मत ॥ ऋ० 1.80.16.
9. दध्यङ् ह मे जनुषं पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वे मनुर्विदुः । ऋ० 1.139.9.
10. यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन ।
यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः ॥ ऋ० 1.36.10.
11. दे० 1.128.2. पृ० 172.
12. दे० 10.46.9. पृ० 172.
13. उशना काव्यस्त्वा नि होतारमसादयत् ।
आयजिं त्वा मनवे जातवेदसम् ॥ ऋ० 8.23.17.
14. यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम् । बा० खि० 4.1.
यथा मनौ सांवरणौ सोममिन्द्रापिबः सुतम् । बा० खि० 3.1.

और वृत्र के साथ भिड़ने से पहले उसने मनु का सोम पूरे तीन जोहड़ पी डाला[1]। मनु के लिए पक्षी सोम को लाया[2]। तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में बहुत बार मनु का वर्णन धार्मिक अनुष्ठान करनेवाले व्यक्ति के रूप में आता है।

प्रतीत होता है कि ऋग्वेद ही में मनु को विवस्वान् का पुत्र माना जाता था क्योंकि एक बार[3] उन्हें मनु विवस्वत् कहा गया है। अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण[4] एवं वेदोत्तर-साहित्य में मनु का स्थायी पैतृक नाम ही वैवस्वत पड़ गया है। यम भी विवस्वान् के पुत्र थे और वे मर्त्यों में सबसे पहले थे। इस प्रकार मनु मानव-जाति के पूर्वज होने के नाते यम के दोहरे रूप हैं। किंतु मनु पृथिवी पर जीवित मनुष्यों में सर्वप्रथम हैं, और यम मृत मनुष्यों में सर्वप्रथम हैं, और वे दूसरे लोक में प्रेतात्माओं के राजा बन गये हैं। फलतः शतपथ ब्राह्मण[5] में वैवस्वत मनु को मनुष्यों का शासक और वैवस्वत यम को पितरों का शास्ता बताया गया है। यास्क[6] मनु को विवस्वान् का अर्थात् सूर्य का और सरण्यू की प्रतिनिधिभूत[7] सवर्णा का पुत्र बताते हैं और उनकी गणना द्यु-स्थानीय दिव्य जनों में करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में गाथा आती है कि मनु को एक मत्स्य ने (वेदोत्तर-काल में विष्णु का अवतार) एक नौका द्वारा सर्वव्यापी जल-प्लाव से बचा लिया था। तदुपरान्त हविष् से उत्पन्न अपनी कन्या इळा के साथ संभोग करके मनु ने मानव जाति को उत्पन्न किया। जल-प्लाव की कहानी अथर्ववेद तक के प्राचीन युग में ज्ञात थी और उस संहिता के एक मन्त्र में इस कहानी की ओर संकेत मिलता है[8]। जल-प्लाव की गाथा अवेस्ता में भी आती है और हो सकता

---

1. दे० 5.29.7. पृ० 280.
2. अचक्रया यत्स्वधयां सुपर्णो हव्यं भरन्मनवे देवजुष्टम्। ऋ० 4.26.4.
3. दे० वा० खि० 4.1; 3.1. पृ० 360.
4. अध्वर्युर्मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। शत० ब्रा० 13.4.3.3.
5. अध्वर्युर्मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विशः। शत० ब्रा० 13.4.3.3.
   अध्वर्युर्यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य पितरो विशः। शत० ब्रा० 13.4.3.6.
6. त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार।
   स सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव।
   स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य संबभूव।
   ततोऽश्विनौ जज्ञाते। सवर्णायां मनुः। नि० 12.10.
7. अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
   उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ ऋ० 10.17.2.
8. यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः।
   तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत॥ अथ० 19.39.8.

है कि वह भायोरपीय हो। सामान्यतया विद्वानों की धारणा है कि इसका मूल-स्रोत सेमेटिक है किंतु इस प्रकार की धारणा अनावश्यक प्रतीत होती है।

भृगु (§ 51)—

'भृगु' नाम ऋग्वेद में 21 बार आया है। इसके दो क्रिया-विशेषण रूप 'भृगुवत्' भी मिलते हैं। यह एकवचन में केवल एक बार आया है, फलतः प्रतीत होता है कि भृगु नाम गाथेय प्राणियों की एक जाति का बोधक रहा हो। अग्नि-सूक्तों में भृगुओं का उल्लेख 12 बार हुआ है, जहांकि उनका मनुष्यों तक अग्नि पहुंचाने के कार्य से संबन्ध है। मातरिश्वा अग्नि को निधि के रूप में भृगु के पास लाये थे[1] अथवा भृगुओं के लिए उन्होंने निगूढ़ अग्नि को समिद्ध किया था[2]। मातरिश्वा और देवताओं ने मनु के लिए अग्नि को रचा, जबकि भृगुओं ने अपनी शक्ति से अग्नि का आविर्भाव किया[3]। भृगुओं ने सलिल-शायी अग्नि को खोज निकाला[4]। जलों में अग्नि की उपासना करके उन्होंने अग्नि को आयु अथवा मनुष्य के आवास में स्थापित किया[5]। भृगुओं ने सुधित मित्र की भांति अग्नि का वनस्पति में निधान किया[6] अथवा चारुरयि के रूप में मनुष्यों के मध्य में उसे ला बिठाया[7]। अग्नि भृगुओं की राति अथवा दान हैं[8]। अग्नि को मथ कर भृगुओं ने उसकी स्तुति की[9]। अपने स्तोत्रों द्वारा भृगुओं ने अग्नि को समिध् में प्रभासित किया[10]। अग्नि को उन्होंने पृथिवी की नाभि में स्थित किया[11]। जब पहले-पहल अथर्वणों ने यज्ञों द्वारा कर्मकांड की स्थापना की तब भृगु लोग अपनी दक्षता से

1. दे० 1.60.1. पृ० 172.
2. दे० 3.5.10. पृ० 172.
3. दे० 10.46.9. पृ० 172.
4. इमं विधन्तो अपां सधस्थे। इच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन्। ऋ० 10.46.2.
5. इमं विधन्तो अपां सधस्थे द्वितादधुर्भृगवो विक्ष्वा३योः। ऋ० 2.4.2.
6. मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीड्यमूर्ध्वशोचिषम्। ऋ० 6.15.2.
7. दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्यः।
   होतारमग्ने अतिथिं वरेण्यं मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने॥ ऋ० 1.58.6.
8. रातिं भृगूणामुशिजं कविक्रतुमग्निं राजन्तं दिव्येन शोचिषा। ऋ० 3.2.4.
9. द्विता यदीं कीस्तासो अभिद्यवो नमस्यन्त उपवोचन्त भृगवो मथ्नन्तो दाशा भृगवः। ऋ० 1.127.7.
10. त्वां स्तोमेभिर्भृगवो विरुरुचुः। ऋ० 10.122.5.
    यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे। ऋ० 4.7.1.
11. यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना। ऋ० 1.143.4.

देवताओं के रूप में दीख पड़े[1]। उनका कौशल, जो पहले-पहल अग्नि के उत्पादन में व्यक्त हुआ था, बाद में कला-सामान्य के क्षेत्र में प्रख्यात हो गया क्योंकि उपासक लोग इन्द्र या अश्विनों के लिए उसी प्रकार स्तुति घड़ते हैं जैसेकि भृगुओं ने रथ को घड़ा था[2]।

भृगु एक प्राचीन जाति है; क्योंकि याज्ञिक लोग अपने सोम्य पितरों के रूप में अंगिरस् और अथर्वन् के साथ भृगुओं का भी नाम लेते हैं[3] और वे अग्नि का आह्वान वैसे ही करते हैं जैसेकि भृगुओं, अंगिरसों और मनु ने पहले कभी किया था[4]। इन्द्र से प्रार्थना की जाती है कि वे हमारी स्तुतियों को वैसे ही सुनें जैसे उन्होंने यतियों और भृगुओं की स्तुति को सुना था[5]। वे हमारी उसी प्रकार सहायता करें जैसे उन्होंने यति, भृगु और प्रस्कण्व की सहायता की थी[6]। द्रुह्यु और तुर्वश के साथ भृगुओं का उल्लेख राजा सुदास् के शत्रु के रूप में किया गया है[7]। ऋग्वेद 7.18 के अन्तिम तीन मन्त्रों में उनका नाम किसी वर्ग-विशेष का बोधक होने के रूप में ऐतिहासिक जान पड़ता है। भृगुओं का आह्वान सोम-पान के निमित्त 33 देवताओं के साथ मरुतों, जलों, अश्विनों, उषा और सूर्य के साथ हुआ है[8]। उनकी तुलना सूर्यों के साथ की गई है और कहा गया है कि उन्होंने अपनी सारी ही इच्छाएं पूरी कर ली थीं[9]। एक मन्त्र[10] में उनका संबन्ध एक अज्ञात गाथा के साथ बंधता है जहां उपासक लोग यह मांग करते हैं कि वे पणियों को उसी प्रकार अपसारित कर दें जैसे भृगुओं ने दानव (मखम्) को अपसारित किया था।

---

1. यज्ञैरथर्वा प्रथमो वि धारयद् देवा दक्षैर्भृगवः सं चिकित्रिरे। ऋ० 10.92.10.
2. एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णे ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम्। ऋ० 4.16.20.
   एतं वां स्तोममश्विनावकर्मातक्षाम भृगवो न रथम्। ऋ० 10.39.14.
3. तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम। ऋ० 10.14.6.
4. दे० 8.43.13. पृ० 235.
5. य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। ममेदुग्र श्रुधी हवम्। ऋ० 8.6.18.
6. येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ। ऋ० 8.3.9.
7. पुरोळा इत् तुर्वशो यक्षुरासीद् राये मत्स्यासो निशिता अपीव।
   श्रुष्टिं चक्रुर्भृगवो द्रुह्यवश्च सखा सखायमतरत् विषूचोः॥ ऋ० 7.18.6.
8. विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैरिहाऽद्भिर्मरुद्भिर्भृगुभिः सचाभुवा।
   सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना॥ ऋ० 8.35.3.
9. कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद् धीतमानशुः। ऋ० 8.3.16.
10. प्र सुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः।
    अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः॥ ऋ० 9.101.13.

इस प्रकार भृगवः पद से ऋग्वेद में कभी भी वास्तविक विद्यमान पुरोहितों का बोध नहीं होता, प्रत्युत इस पद से प्राचीन याज्ञिकों और पुरखाओं के वर्ग का बोध होता है, जिसके भृगु नेता रहे थे, वैसे ही जैसेकि अंगिरा अंगिराओं के अथवा वसिष्ठ वसिष्ठों के।

अग्नि के अवतार का और इसके मनुष्यों तक पहुंचने का मुख्यतः मातरिश्वा और भृगुओं के साथ संबन्ध रहा है। किंतु जहां मातरिश्वा इसे विद्युत् के रूप में स्वर्ग से लाते हैं वहां भृगु इसे लाते नहीं, प्रत्युत वे इसे पृथिवी पर यज्ञ की स्थापना और प्रसार के निमित्त समिद्ध करते दीख पड़ते हैं।

बाद के वैदिक साहित्य में भृगु एक वर्ग-विशेष के प्रतिनिधिभूत ऋषि के रूप में आते हैं[1]। वे प्रजापति के वीर्य से स्फुलिंग की भांति उद्भूत होते हैं और वरुण द्वारा अपनाये जाने के नाते वारुणि इस पैतृक नाम को पाते हैं[2]। उन्हें स्पष्ट शब्दों में वरुण का पुत्र बताया भी गया है[3]।

भृगु शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'प्रकाशमान्'; क्योंकि यह √भ्राज् (प्रकाशित होना) इस धातु से निष्पन्न होता है। बेर्गेन के मत में भृगु मूलतः अग्नि का एक नाम था। कुह्न और बार्थ इस बात से सहमत हैं कि अग्नि के जिस रूप का भृगु प्रतिरूप है वह वास्तव में विद्युत् है। कुह्न और वेबर अग्निपूजक होने के नाते भृगुओं को ग्रीक फ्लेगुअइ (Phleguai) का तदात्म बताते हैं।

अथर्वन् (§ 52)—

अथर्वा नाम ऋग्वेद में 14 बार आता है (3 बार बहुवचन में)। अथर्ववेद में भी अनेक बार यह नाम आया है। साधारणतया अथर्वा एक प्राचीन पुरोहित के रूप में आते हैं। उन्होंने अग्नि को मथकर पुष्कर से निकाला[4] और पुरोहित लोग अथर्वा की तरह अग्नि को मथकर विभासित करते हैं[5]। अथर्वा द्वारा आवि-

1. भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन्। अथ० 5.19.1.
   याश्चेमाः पूर्वेद्युर्वसतीवर्यो गृह्यन्ते याश्च प्रातरेकधनास्ता भृगुरपश्यत्।
   ऐ० ब्रा० 2.20.7.
2. यद्द्वितीयमासीत्तद्भृगुरभवत्तं वरुणो न्यगृह्णीत तस्मात्स भृगुर्वारुणिः।
   ऐ० ब्रा० 3.34.1.
   वरुणस्य वै सुषुवाणस्य भर्गोऽपाक्रामत्स त्रेधाऽपतद् भृगुस्तृतीयमभवच्छ्रायन्तीयं तृतीयमपस्तृतीयं प्राविशत्। पञ्च० ब्रा० 18.9.1.
3. भृगुर्ह वै वारुणिः। वरुणं पितरं विद्ययातिमेने॥ श.त० ब्रा० 11.6.1.1.
4. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥ ऋ० 6.16.13.
5. इममुत्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधसः। ऋ० 6.15.17.

भूत अग्नि विवस्वान् का दूत बनता है[1]। अथर्वा ने यज्ञों द्वारा सबसे पहले कर्मकांड को स्थापित किया, जबकि भृगु लोग अपने कौशल द्वारा देवों के रूप में दीख पड़े[2]। यज्ञों द्वारा अथर्वा ने पहले-पहल पथ का विस्तार किया, तदुपरान्त सूर्य का आविर्भाव हुआ[3]। पिता मनु और दध्यञ्च् के साथ अथर्वा ने मन्त्रों का ताना बुना[4]। इन्द्र ने अथर्वा (आथर्वण दध्यञ्च्) का शिरोहरण किया और उसने कूप में गिरे त्रित की और मातरिश्वा के पुत्र दध्यञ्च् की सहायता की[5]। अथर्वा की न्याईं अज्ञानी को भस्म करने के लिए रक्षोहा अग्नि का आह्वान किया गया है[6]। अथर्ववेद में पहुंचकर अथर्वा में कुछ नवीन विशेषताएं जुड़ जाती हैं। अथर्वा इन्द्र के लिए एक चमस सोम लाते हैं[7]। वरुण उन्हें एक आश्चर्यमयी धेनु देते हैं[8]। अथर्वा देवों के सचाविद् हैं, वे उनके साथ संबद्ध हैं और वे स्वर्ग में निवास करते हैं[9]। शतपथ ब्राह्मण[10] में अथर्वा का वर्णन एक प्राचीन अध्यापक के रूप में भी आता है।

बहुवचन में अथर्वणों की गणना अंगिराओं, नवग्वों और भृगुओं के साथ पितरों में की गई है[11]। वे स्वर्ग में निवास करते और देवता कहाते हैं[12]। वे राक्षसों का ध्वंस करते हैं[13]।

---

1. अ॒ग्निर्जा॒तो अथ॑र्वणा वि॒दद्विश्वा॑नि॒ काव्या॑ । भुव॑द्दू॒तो वि॒वस्व॑तः ॥
ऋ० 10.21.5.
2. दे० 10.92.10. पृ० 363.
3. य॒ज्ञैरथ॑र्वा प्रथ॒मः प॒थस्त॑ते॒ ततः॒ सूर्यो॑ व्रत॒पा वे॒न आज॑नि । ऋ० 1.83.5.
4. दे० 1.80.16. पृ० 360.
5. दे० 10.48.2. पृ० 173.
6. तद॑ग्ने॒ चक्षुः॒ प्रति॑ धेहि रे॒भे श॑फा॒रुजं॒ येन॒ पश्य॑सि यातु॒धान॑म् ।
अ॒थ॒र्व॒वज्ज्योति॑षा॒ दैव्ये॑न स॒त्यं धूर्व॑न्तम॒चितं॒ न्यो॑ष ॥ ऋ० 10.87.12.
7. अथ॑र्वा पू॒र्णं च॑म॒सं यमिन्द्रा॒याबि॑भ॒र्वाजिनी॑वते । अथ० 18.3.54.
8. पृश्नि॑ वरुण॒ दक्षि॑णां द॒दावा॒न्पुन॑र्मघ॒ त्वं मन॑साचिकित्सीः । अथ० 5.11.1.
कः पृश्नि॑ धे॒नुं वरु॑णेन द॒त्ताम॒थर्व॑णे सु॒दुघां॒ नित्य॑वत्साम् । ऋ० 7.104.1.
9. यो ऽथ॑र्वाणं पि॒तरं॑ दे॒वब॑न्धुं बृह॒स्पतिं॒ नम॒साव॑ च॒ गच्छा॑त् । ऋ० 4.1.7.
10. दधी॒च आथर्व॒णाद् दध्य॒ङ्ङाथर्व॒णोऽथर्वणो दै॒वादथर्वा । शत० ब्रा० 14.5.5.22.
11. दे० 10.14.6. पृ० 363.
12. आ॒दि॒त्या रु॒द्रा वस॑वो दि॒वि दे॒वा अथ॑र्वाणः ।
अङ्गि॑रसो मनी॒षिण॒स्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ अथ० 11.6.13.
13. त्वया॒ पूर्व॒मथ॑र्वाणो ज॒घ्नू रक्षां॒स्योषधे ।
त्वया॑ जघान क॒श्यप॒स्त्वया॒ कण्वो॑ अ॒गस्त्यः॑ ॥ अथ० 4 37.1.

ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में अथर्वा शब्द का अर्थ 'पुरोहित' दीख पड़ता है। एक स्थान पर अथर्वा शब्द एक सूक्त के रचयिता बृहद्दिव का विशेषण है [1]। उस मन्त्र में यह अग्नि का विशेषण प्रतीत होता है, जिसमें कि एक ऋषि अथर्वा के ऊपर हविष् गिराता दीख पड़ता है[2]। उन संदर्भों में अथर्वा का अर्थ 'पुरोहित' भी ठीक बैठता है जहां यह आता है कि अथर्वा सोम-मिश्रण करते हैं अथवा एक आश्रयदाता उन्हें 100 गौएं दान देता है[3]। अवेस्तिक आथ्रवन् शब्द का अर्थ है—'अग्नि-पुरोहित' यही अर्थ इस शब्द की व्युत्पत्ति से भी निकलता है, क्योंकि आतर् (आथर्) शब्द वैदिक अथर् का समानार्थक है, जोकि अथर्-यु 'ज्वाला-युक्त' (अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है)[4]—शब्द में भी आता है। यह प्राचीन नाम किसी अर्ध-दिव्य स्वरूप वाली प्राचीन पुरोहित जाति का बोधक रहा होगा जो जाति आगे चलकर अपने नेता अथर्वा के नाम से ख्यापित हुई।

दध्यञ्च् (§ 53)—

अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् का ऋग्वेद में 9 बार उल्लेख हुआ है और एक अपवाद को छोड़कर यह उल्लेख सदा नवम, दशम और प्रथम मंडल में हुआ है। दध्यञ्च् एक ऋषि हैं, जिन्होंने अग्नि को समिद्ध किया था[5]। उनका उल्लेख अथर्वन्, अंगिरस्, मनु और अन्य प्राचीन याज्ञिकों के साथ आता है[6]।

अश्विनों ने अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् को अश्व-शिर का दान दिया, तब दध्यञ्च् ने उनके संमुख त्वष्टा के मधु (के स्थान) को प्रकट किया[7]। अश्व्य-शिर ने उनके संमुख मधु को प्रकट किया[8]। अथर्वन्-पुत्र दध्यञ्च् ने अश्व्य-शिर के द्वारा

---

1. इमा ब्रह्म बृहद्दिवो विवक्तीन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः। ऋ० 10.120.8.
   एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वाऽवोचत् स्वां तन्वमिन्द्रमेव। ऋ० 10.120.9.
2. आ नूनमश्विनोर्ऋषिः स्तोमं चिकेत वामया।
   आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि॥ ऋ० 8.9.7.
3. दश रथान् प्रष्टिमतः शतं गा अथर्वभ्यः। अश्वथः पायवेऽदात्। ऋ० 6.47.24.
4. ददृशे गृहपतिमथर्युम्। ऋ० 7.1.1.
5. तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः। ऋ० 6.16.14.
   दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच। ऋ० 1.116.12.
   दे० 1.117.22. पृ० 305.
6. दे० 1.80.16. पृ० 360.
   दे० 1.139.9. पृ० 360.
7. दे० 1.117.22. पृ० 305.
8. युवं दधीचो मन आ विवासथोऽथा शिरः प्रति वामश्व्यं वदत्। ऋ० 1.119.9.

अश्विनों को मधु-विद्या बताई[1]। अश्विनों ने दध्यञ्च् के मन को पा लेने की इच्छा की। इस गाथा के साथ इन्द्र का भी संबन्ध है, क्योंकि कहा गया है कि पर्वतों में अपश्रित दध्यञ्च् के अश्व्य-शिर को ढूंढते-ढूंढते इन्द्र ने उसे 'कुरुक्षेत्रस्थ' शर्यणावत् सर में पाया और तब उसने दध्यञ्च् की शिरोऽस्थियों द्वारा 99 वृत्रों का वध किया[2]। इन्द्र ने त्रित के लिए अहि के यहां से गौएं निकालने के साथ-साथ दध्यञ्च् (और) मातरिश्वा को गोत्र (गो-व्रज) दिये[3]। संभवतः ये वही गोत्र हैं जिन्हें दध्यञ्च् सोम के द्वारा उद्घाटित करते हैं[4]। यह उल्लेखनीय है कि उस प्राचीनतर मन्त्र में, जिसमें कि दध्यञ्च् का नाम आया है, वह पुराण यज्ञ-पुरोहित अथर्वा के पुत्र हैं और स्वयं भी अग्नि का समिन्धन करते हैं[5]। नहीं तो उनका संबन्ध मुख्यतया सोम के गुह्य पद के साथ और गौओं को मुक्ति देते हुए इन्द्र के साथ आता है। अपने अश्व्य-शीर्ष और दध्यञ्च् इस नाम के कारण वे दधिक्रा नामक अश्व से पूर्णतया पृथक् नहीं हो पाये। दध्यञ्च् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'दधि की ओर जाने वाला', 'दधि वाला' अथवा 'दधि का इच्छुक'। बेर्गेन के मत में दध्यञ्च् मूलतः सोम से अभिन्न हैं। किंतु दध्यञ्च् के विषय में किसी निश्चित निर्णय तक पहुंचने के लिए पर्याप्त साधन नहीं मिलता। फिर भी कल्पना की जा सकती है कि दध्यञ्च् मूलतः अग्नि के वैद्युत रूप के प्रतिरूप रहे होंगे। अश्व्य-शीर्ष इनकी गति की क्षिप्रता का बोधक रहा होगा, और इनकी वाणी स्तनयित्नु रही होगी और इनकी हड्डियों से वज्र अभिप्रेत रहा होगा। सोम के गुप्त आवास के साथ उनका संबन्ध वैसा ही रहा होगा जैसाकि श्येन का दिव्य सोम से है। दध्यञ्च् इस नाम से भी विद्युत् का प्रमन्थनरूप कार्य लक्षित होता है। वेदोत्तरकालीन साहित्य में यह नाम साधारणतया दधीच् के रूप में आता है और महाभारत में कहा गया है कि वृत्र-वध के लिए उपयुक्त वज्र दधीचि की अस्थियों का बना था।

अंगिरस् (§ 54)—

यह नाम ऋग्वेद में लगभग 60 बार आता है। इनमें से दो-तिहाई बार इसका प्रयोग बहुवचन में हुआ है। अंगिरस् के साथ या उससे निष्पन्न शब्द भी

---

1. दे० 1.116.12. पृ० 366.
2. इन्द्रो॑ दधी॒चो अ॒स्थभि॑र्वृ॒त्राण्यप्र॑तिष्कुतः। ज॒घान॑ नव॒तीर्नव॑॥ ऋ० 1.84.13.
   इ॒च्छन्नश्व॑स्य॒ यच्छिरः॒ पर्व॑ते॒ष्वप॑श्रितम्। तद् वि॑दच्छर्य॒णाव॑ति। ऋ० 1.84.14.
3. दे० 10.48.2. पृ० 173.
4. येना॒ नव॑ग्वो द॒ध्यङ्ङ॑पोर्णु॒ते येन॒ विप्रा॑स आपि॒रे। ऋ० 9.108.4.
5. दे० 6.16.14. पृ० 366.

लगभग 30 बार आते हैं। एक सकल सूक्त[1] भी अंगिरो-वर्ग की स्तुति में आया है।

अंगिरस् स्वर्ग के सूनु हैं[2]। वे ऋषि हैं, जो देवों के पुत्र हैं[3]। एक अंगिरस् को उनका पूर्वज माना जाता है, फलतः उन्हें अंगिरः-पुत्र भी कहा गया है[4]। कवि उन्हें पिता[5], हमारे पिता[6] अथवा हमारे पूर्व्य पिता[7] कहकर पुकारते हैं। पितरों के रूप में उनका उल्लेख एक बार अथर्वा और भृगुओं के साथ हुआ है[8] और विशेष रूप से उनका संबन्ध यम के साथ है[9]। आम तौर से उनका संबन्ध अन्य देव-गणों के साथ भी है, जैसेकि आदित्य, वसु, मरुत्[10] अथवा आदित्य, रुद्र, वसु और अथर्वा के साथ[11]। उन्हें सोम प्रदान किया जाता है[12] और देवों की तरह उनका

---

1. ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ऋ० 10.62.1.
2. इमे भोजा आङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः। ऋ० 3.53 7.
ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ ऋ० 10.67.2.
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाऽद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः। ऋ० 4.2.15.
3. अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ऋ० 10.62.4.
4. विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते आङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥ ऋ० 10.62.5.
5. य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्। ऋ० 10.62.2.
6. वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः ॥ ऋ० 1.71.2.
7. येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन्। ऋ० 1.62.2.
8. अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। ऋ० 10.14.6.
9. मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। ऋ० 10.14.3.
इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। ऋ० 10.14.4.
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व। ऋ० 10.14.5.
10. दधिक्रावा प्रथमो वाज्यर्वाऽग्रे रथानां भवति प्रजानन्।
संविदान उषसा सूर्येणाऽऽदित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ॥ ऋ० 7.44.4.
अङ्गिरस्वन्ता उत विष्णुवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम्।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाऽऽदित्यैर्यातमश्विना ॥ ऋ० 8.35.14.
11. आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः।
अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ अथ० 11.6.13.
12. त्वमिन्द्रो परि स्रव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः। ऋ० 9.62.9.

आह्वान भी किया जाता है[1]। वे ब्रह्मा नाम के पुरोहित हैं[2]। उन्होंने वनस्पति में निहित 'शीर' अग्नि को पाया है[3], और ऋत की प्रशंसा में गीत गाते हुए, ऋजु मार्ग पर चलकर यज्ञ के प्रथम धामन् पर मनन किया है[4]। यज्ञ ही के द्वारा उन्होंने अमृतत्व का लाभ किया और यज्ञ ही के द्वारा उन्हें इन्द्र की मित्रता प्राप्त हुई[5]।

इन्द्र के साथ अंगिराओं का निकट संबन्ध है। उनके लिए इन्द्र ने गौएं अपावृत की थीं[6]। उनके लिए ही इन्द्र ने गोत्र (व्रज) अनावृत किये थे[7]। उनके लिए ही इन्द्र ने गुप्त गौओं को बाहर निकाला था और वल को मार गिराया था[8]। अंगिराओं के साथ इन्द्र ने वल का भेदन किया था[9] और गौओं को बाहर निकाला था[10]। अंगिराओं का नेता होने के नाते इन्द्र को दो बार अंगिरस्तम भी कहा गया है[11]। सोम ने भी अंगिराओं के लिए गोत्र का उद्घाटन किया था[12]। गौओं के घेर खोलने के प्रसंग में अंगिराओं का नाम ख़ास तौर से लिया जाता है। उनके द्वारा प्रशंसित होकर इन्द्र ने वल का भेदन किया[13], गोत्र को तोड़ गिराया[14], वल का वध किया और उसके पुरों को तोड़ गिराया[15] अथवा अन्धकार का निरास किया, पृथिवी को विस्तृत बनाया और स्वर्ग के निचले लोक को स्थापित

1. दे० 3.53.7. पृ० 368., 10.62.1. पृ० 368. पूर्ण सूक्त।
2. प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षन्त प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु। ऋ० 7.42.1.
3. त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने॥ ऋ० 5.11.6.
4. दे० 10.67.2. पृ० 368.
5. दे० 10.62.1 पृ० 368.
6. स विद्वाँ अङ्गिरोभ्य इन्द्रो गा अवृणोदप। स्तुषे तदस्य पौंस्यम्॥ ऋ० 8.63.3.
7. त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरपोतात्रये शतदुरेषु गातुवित्। ऋ० 1.51.3.
8. उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः।
   अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्॥ ऋ० 8.14.8.
9. भिनद् वलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान्। ऋ० 2.11.20.
10. और्णोर्दुर उस्रियाभ्यो वि दृळ्होदूर्वाद् गा असृजो अङ्गिरस्वान्। ऋ० 6.17.6.
11. सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद् वृषा वृषभिः सखिभिः सखा सन्। ऋ० 1.100.4.
    व्रजं वज्री गवामिव सिषासन्नङ्गिरस्तमः। ऋ० 1.130.3.
12. सोमं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरप। ऋ० 9.86.23.
13. भिनद्वलमङ्गिरोभिर्गृणानः। ऋ० 2.15.8.
14. स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः। ऋ० 4.16.8.
15. तन्नः प्रत्नं सख्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभिः।
    हन्नच्युतच्युद् दस्मेषयन्तमृणोः पुरो वि दुरो अस्य विश्वाः॥ ऋ० 6.18.5.

किया[1]। उनका गान अपना निराला है, और इस दृष्टि से विविध रागों वाले मरुतों की तुलना अंगिरसों से की गई है[2], और अंगिरसों के गीतों द्वारा देवों का यज्ञ में आह्वान किया गया है[3]। यथार्थ पुरोहितों द्वारा इन्द्र के निमित्त कहे गये सूक्तों की तुलना अंगिरसों के सूक्तों से की गई है[4]। गौ-संबन्धी गाथा में तो इन्द्र तक को अंगिरसों की अपेक्षा कम महत्त्व का स्थान मिला है। उदाहरण के लिए, कहा गया है कि अंगिरसों ने इन्द्र को अपना साथी बनाकर गौओं और अश्वों से भरे घेर को खाली किया था[5]। ऐसे प्रसंगों में इन्द्र को भुला-सा दिया जाता है और उनके वीर कृत्यों का निक्षेप अंगिरसों पर हो जाता है। ऋत के सहारे उन्होंने गौओं को बाहर निकाला और वल का भेदन किया[6]। ऋत के द्वारा ही उन्होंने सूर्य को आकाश में आरूढ किया और माता पृथिवी को प्रथित बनाया[7]। ऋत के द्वारा उन्होंने अद्रि का भेदन किया और गौओं के साथ आनन्द की ध्वनि की[8]। गाते हुए उन्होंने गौएं प्राप्त कीं[9]। उन्होंने अपने उक्थों के बल से परिवृढ अद्रि का भेदन किया, हमारे लिए आकाश-मार्ग का निर्माण किया, और दिन के प्रकाश को एवं गौओं को प्राप्त किया[10]। अंगिराओं का संबन्ध इन्द्र के साथ उस प्रसंग में फिर आता है. जहां इन्द्र के कहने पर सरमा गौओं की खोज में पणियों की खोहों में पहुंचती है[11]। वहां सरमा गौओं का पता चलाने में इन्द्र और अंगिराओं की

---

1. गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म वि वरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः।
   वि भूम्या अप्रथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरमस्तभायः॥ ऋ० 1.62.5.
2. आपो न निम्नैरुदभिर्जिगत्नवो विश्वरूपा अङ्गिरसो न सामभिः। ऋ० 10.78.5.
3. उप नो देवा अवसा गमन्त्वङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानाः। ऋ० 1.107.2.
4. प्र मन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं गिर्वणसे अङ्गिरस्वत्। ऋ० 1.62.1.
5. इन्द्रेण युजा निः सृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्। ऋ० 10.62.7.
6. य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्। ऋ० 10.62.2.
7. य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन्पृथिवीं मातरं वि। ऋ० 10.62.3.
8. ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिदन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः। ऋ० 4.3.11.
9. प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम।
   येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन्॥ ऋ० 1.62.2.
10. वीळु चिद् दृळहा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।
    चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः॥ ऋ० 1.71.2.
11. एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।
    त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित्॥ ऋ० 10.108.8.
    नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
    गोकामा मे अच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीयः॥ ऋ० 10.108.10

सहायता करती है[1]। अकेले अंगिराओं के लिए भी कहा गया है कि उन्होंने पणि से गौएं और अश्व छीन लिये[2]। उसी गाथा के संबन्ध में बृहस्पति के लिए भी—जब कि वे अद्रि का भेदन करते, गौओं को पकड़ते अथवा भग की तरह गौओं का दान करते हैं—अंगिरस् शब्द का विशेषण की तरह प्रयोग आया है[3]।

जब बृहस्पति गौओं को छुड़ाते और इन्द्र के साथ सलिलों को प्रवाहित करते हैं, तब उन्हें भी अंगिरस् कहकर पुकारा गया है[4]। किंतु एकवचन में प्रयुक्त अंगिरस् शब्द प्राय: सर्वत्र अग्नि का प्ररोचक है। अग्नि पहले अंगिरस् ऋषि हैं[5], वे पूर्व्य अंगिरस् हैं[6], वे अंगिरसों में अधिक प्राचीन एवं प्रेरणा-संपन्न हैं[7]। अग्नि को अनेक बार अंगिरस्तम अर्थात् प्रधान अंगिरस् भी बताया गया है[8]। यह पद एक या दो बार इन्द्र, उषस् और सोम के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी अंगिरस् शब्द एक प्राचीन पुरोहित का बोधक होता है और ऐसे स्थलों पर अग्नि का संबन्ध नहीं रहता। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद[9] में आई पूर्वजों की गणना में पूर्व अंगिरस् का उल्लेख हुआ है अथवा उन स्थलों पर भी अंगिरस् से अग्नि का बोध नहीं होता जहां संदर्भ से यह प्रकट होता है कि अंगिरस्वत् पद से 'अंगिरस् की तरह' इतना मात्र अभिप्रेत है[10]। एक मन्त्र में कवि प्रार्थना करता है कि 'हे

1. इन्द्रस्याङ्गिरसां चेष्टौ विदत्सरमा तनयाय धासिम्। ऋ० 1.62.3.
   विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट्। ऋ० 1.72.8.
2. आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
   सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः॥ ऋ० 1.83.4.
3. बृहस्पतिर्वं उभया न मृळात्। ऋ० 10.108.6.
   बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हा सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः। ऋ० 10.108.11.
   यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्। ऋ० 6.73.1.
   सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमणं निनाय। ऋ० 10.68.2.
4. गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः। ऋ० 2.23.18.
5. त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः। ऋ० 1.31.1.
6. रेभदत्र जनुषा पूर्वो अङ्गिराः। ऋ० 10.92.15.
7. यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र मन्मभिः। ऋ० 1.127.2.
   वेपिष्ठो अङ्गिरसां यद्ध विप्रः। ऋ० 6.11.3.
8. अधा ते अङ्गिरस्तमाग्ने वेधस्तम प्रियम्। वोचेम ब्रह्म सानसि। ऋ० 1.75.2.
9. दध्यङ् ह मे जनुषं पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वे मनुर्विदुः। ऋ० 1.139.9.
10. प्रियमेधवदत्रिवज् जातवेदो विरूपवत्।
    अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥ ऋ० 1.45.3.

शुचि अग्नि ! तू हमारे सदन में पधार, जैसे तू हे अंगिरः, मनुओं और अंगिराओं के सदनों में आया करता था[1] ।' ऋग्वेद-अनुक्रमणी में प्राप्त परंपरा के अनुसार, हो सकता है कि अंगिरसों को यथार्थ पुरोहित-कुल का माना जाता रहा हो; क्योंकि नवम मंडल की रचना इसी कुल के ऋषियों द्वारा की गई है । अथर्वांगिरस् समास में भी पुरोहित-कुल से ही तात्पर्य प्रतीत होता है । अथर्वांगिरस् पद को अथर्ववेद के नाम के रूप में स्वयं उसी वेद में[2] और बाद के साहित्य में[3] अपना लिया गया है ।

इन सब बातों पर दृष्टि डालते हुए कहा जा सकता है कि अंगिरस् मूलतः देवताओं और मनुष्यों के बीच की कोई अभिजात जाति रही होगी । अंगिरा अग्नि के परिचर रहे होंगे[4] और उनका पुरोहित-रूप में परिवर्तन उनके परवर्ती विकास का परिणाम रहा होगा । संभवतः वे स्वर्ग की दूत—अग्नि-ज्वालाओं के मानवीकरण रहे हों । यही निष्कर्ष अंगिरस् शब्द की निष्पत्ति से भी झलकता है, जिसका कि दूतवाचक ग्रीक शब्द अङ्गेलोस के साथ तादात्म्य प्रत्यक्ष है ; किंतु वेबर के मत में अंगिरस् मूलतः भारत-ईरानी काल के पुरोहित थे ।

विरूप (§ 55)—

अंगिरसों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते 'विरूप' हैं । विरूप का बहुवचन में 3 बार उल्लेख हुआ है । अंगिरा और विरूप स्वर्ग के पुत्र हैं[5] । विरूपा गभीरवेपस् विप्र हैं, वे अंगिरस् के तनय हैं और असुर के वीर हैं । वे स्वर्ग से और अग्नि से उत्पन्न हुए हैं[6] । विरूप शब्द का प्रयोग एक बार एक व्यक्ति-विशेष के नाम की तरह भी आया है, जो ऋग्वेद के अष्टम मंडल के 75वें सूक्त में अग्नि की गुण-गरिमा

---

1. मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत् सदने पूर्ववच्छुचे ।
   अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम् ॥ ऋ० 1.31.17.
2. सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।
   अथ० 10.7.20.
3. य एवं विद्वानथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते । शत० ब्रा० 11 5.6.7.
4. अच्छा द्यामरुषो धूम एति सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान् । ऋ० 7.3.3.
5. इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
   विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः ॥ ऋ० 3 53 7.
6. सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः । ऋ० 10 62.4.
   विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ।
   ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥ ऋ० 10.62.5.
   ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि ।
   नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥ ऋ० 10.62.6.

का वर्णन करता हुआ छठे मन्त्र में अभिद्यु एवं वृषन् अग्नि[1] का स्तवन करता है। 'विरूपवत्' इस क्रिया-विशेषण में विरूप शब्द एकवचनार्थक लिया जा सकता है, जैसा कि उसी मन्त्र में अंगिरस्वत् के साथ-साथ प्रियमेधवत्, अत्रिवत् इन प्रयोगों से सूचित होता है[2]। एक बार एक मन्त्र में[3] यम को अंगिरसों के साथ न्यौता गया है; उसी मन्त्र में विरूप शब्द का पैतृक रूप 'वैरूप' भी आया है। बहुसंख्यक प्रयोगों में इस शब्द का अर्थ होता है 'विविध रूपों वाला'। उस अवस्था में इसका एक विशेषण की तरह प्रयोग होता है। किंतु जब यह नाम के रूप में आता है तब इसका हमेशा ही 'अंगिरस्' इस पद के साथ प्रयोग होता है। फलतः संभव है कि मूलतः विरूप पद अंगिरस् का ही विशेषण रहा हो।

नवग्व—

नवग्वों का नाम ऋग्वेद में कुल मिलाकर 14 बार आता है। उनमें से 6 बार यह अंगिरसों के साथ आता है। नवग्वों को अंगिरसों, अथर्वणों और भृगुओं के साथ 'हमारे पूर्व्य पिता'[4] या 'हमारे पिता' कहा गया है[5]। अंगिरसों की भांति इनका भी इन्द्र, सरमा, पणि और गौओं की गाथा से संबन्ध जुड़ा हुआ है[6]। इन्द्र ने नवग्वों को सखा के रूप में साथ लेकर गौओं को खोजा[7]। सुत-सोम-नवग्व अपने भजनों द्वारा इन्द्र को सराहते हुए कठोर श्रम करके गौओं के घेर को अपावृत करते हैं[8]। एक सूक्त[9] में कहा गया है कि वे सवन-पाषाणों से उठने

1. तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्। ऋ० 8.75.6.
2. प्रियमेधवदत्रिवज् जातवेदो विरूपवत्।
   अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥ ऋ० 1.45.3.
3. अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
   विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ऋ० 10.14.5.
4. तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभिवाजयन्तः। ऋ० 6.22.2.
5. दे० 10.14.6. पृ० 363.
6. दे० 1.62.3. पृ० 371., 1.62.4. पृ० 374.
   अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन्येन दश मासो नवग्वाः। ऋ० 5.45.7.
   दे० 10.108.8. पृ० 370.
7. सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
   सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥ ऋ० 3.39.5.
8. नवग्वासः सुतसोमास इन्द्रं दशग्वासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
   गव्यं चिदूर्वमपिधानवन्तं तं चिन्नरः शशमाना अप व्रन्॥ ऋ० 5.29.12.
9. दे० 5.45.7. ऊपर।

वाली तालयुक्त ध्वनि के रूप में दस महीने तक स्तवन करते रहे। इसी मन्त्र पर नवग्व की व्याख्या करते हुए सायरण लिखते हैं : 'नव मास पर्यन्त, गौओं के लिए अनुष्ठान करने वाले अथवा नौ गौओं वाले'। बहुवचन में आये प्रयोगों में से दो स्थलों पर नवग्व शब्द विशेषण बनकर आया है। इनमें से एक स्थल पर यह अग्नि की भाम अर्थात् रश्मियों का विशेषण है। जहां सायरण के अनुसार इसका अर्थ 'नूतन-गमना:'[1] यह है। 3 बार इसका प्रयोग एकवचन में हुआ है। जहां यह अंगिरस्[2] एवं दध्यञ्च्[3] का विशेषण प्रतीत होता है। इसका प्रतीयमान अर्थ है—नव (के समूह) में जानेवाला। बहुवचन में संभवतः यह प्राचीन नव पुरोहितों के वृन्द का वाचक रहा हो।

दशग्व—

'दशग्व' शब्द ऋग्वेद में 7 बार आया है। इनमें से 3 बार यह एकवचन में आया है और केवल 2 बार नवग्व के बिना आया है। दशग्व लोग याज्ञिकों में प्रथम थे[4]। इन्द्र ने अपने सखा नवग्वों के साथ गौएं ढूंढीं और 10 दशग्वों के साथ अन्धकार में परिविष्ट सूर्य को प्राप्त किया[5]। नवग्वों और दशग्वों के साथ इन्द्र ने मन्त्रों द्वारा अद्रि और वल का भेदन किया[6]। नवग्व और दशग्व इन्द्र की वन्दना करते और गौओं के घेरे को अपावृत करते हैं[7]। उषाएं नवग्व अंगिरा पर और सप्तास्य दशग्व पर धन-संपन्न होकर खिलती हैं[8]। नवग्व के साथ उल्लिखित दशग्व को एक बार अंगिरस्तम अर्थात् अंगिरसों का प्रधान बताया

धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षां ययातरन् दश मासो नवग्वाः। ऋ० 5.45.11.

1. वि ते विष्वग् वातजूतासो अग्ने भामासः शुचे शुचयश्चरन्ति।
   तुविम्रक्षासो दिव्या नवग्वा वना वनन्ति धृषता रुजन्तः॥ ऋ० 6.6.3.
2. येना नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये रेवती रेवदूष। ऋ० 4.51.4.
   ये अग्नेः परिजज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
   नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते॥ ऋ० 10.62.6.
3. येना नवग्वो दध्यङ्ङपोर्णुते येन विप्रास आपिरे। ऋ० 9.108.4.
4. ते दशग्वाः प्रथमा यज्ञमूहिरे। ऋ० 2.34.12.
5. सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
   सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥ ऋ० 3.39.5.
6. स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः स्वरेणाद्रिं स्वर्यो३ नवग्वैः।
   सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः॥ ऋ० 1.62.4.
7. दे० 5.29.12. पृ० 373.
8. दे० 4.51.4. ऊपर।

गया है[1] । एक स्थान पर आया है कि इन्द्र ने दशग्व अध्रिगु की, अन्धकार को कंपाने वाले सूर्य की, और समुद्र की सहायता की थी[2] । नवग्व और दशग्व में संख्या की दृष्टि से केवल एक अंक का भेद है । फलतः प्रतीत होता है कि दशग्व का निर्माण नवग्व ही के ढांचे पर हुआ होगा ।

सप्तर्षि—

वेद में पुराण-ऋषियों का उल्लेख एक निर्धारित संख्या के वर्ग में सप्तर्षि के रूप में किया गया है । ऋग्वेद में इनका उल्लेख केवल 4 बार आया है । एक कवि उन्हें 'नः पितरः सप्त ऋषयः' बताता है[3] । वे दिव्य हैं[4] । एक मन्त्र[5] में 'पूर्वे सप्त ऋषयः' के रूप में वे देवताओं के साथ ब्रह्मजाया (जुहू) के विषय में विचार करते हैं और कहते हैं कि उसकी तपस्या का बल उसे परम व्योम में टिकाये हुए है । 7—यह संख्या ऋग्वेद के द्वितीय मंडल के प्रथम सूक्त के द्वितीय मन्त्र में[6] गिनाये 7 पुरोहितों की संख्या के अनुकरण पर अपना ली गई होगी । शतपथ ब्राह्मण में इनमें से प्रत्येक के लिए व्यक्तिगत नाम दिया गया है, और इस प्रकार वहां इनका व्यक्तित्व निखर आया है[7] । उसी ब्राह्मण में[8] उन्हें ऋक्ष-नक्षत्र-मंडल के तारे बताया गया है और कहा गया है कि मूलतः वे ऋक्ष थे । यह तादात्म्य अंशतः दोनों की संख्या में ऐक्य के कारण और अंशतः ऋषि और ऋक्ष इन शब्दों में ध्वनि-साम्य के कारण उद्भूत हुआ प्रतीत होता है । ऋक्ष शब्द के ऋग्वेद में तारा[9] और भालू[10] ये दोनों अर्थ होते हैं । संभवतः वहां भी इन्हीं प्राचीन याज्ञिकों की ओर इशारा रहा

---

1. दे० 10.62.6. पृ० 372.
2. येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम् । येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ ऋ० 8.12.2.
3. अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने । ऋ० 4.42.8.
4. सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः । ऋ० 10.130.7.
5. देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः ।
   भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ ऋ० 10.109.4.
6. तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः ।
   तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥ ऋ० 2.1.2.
7. इमावेव गोतम भरद्वाजौ । अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजइमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः ॥ शत० ब्रा० 14.5.2.6.
8. सप्तर्षीं नु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते । शत० ब्रा० 2.1.2.4.
9. अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः । ऋ० 1.24.10.
10. ऋक्षो न वो मरुतः शिमीवाँ अमो दुध्रो गौरिव भीमयुः । ऋ० 5.56.3.

हो, जहां 7 विप्र नवग्वों के साथ शविष्ठ की स्तुति करते हैं[1] और यही बात लागू होती है वहां भी जहां 7 होताओं के साथ समिद्धाग्नि मनु ने देवताओं के लिए सर्वप्रथम हविष् प्रदान किया था[2]। इसी प्रकार 'दिव्या होतारा' भी—जिनका ऋग्वेद में लगभग 12 बार उल्लेख आता है—दो पुरोहितों के दिव्य रूप प्रतीत होते हैं।

अत्रि (§ 56)—

ऋग्वेद में प्रायशः उल्लिखित प्राचीन ऋषियों में से एक अत्रि हैं। यह नाम वेद में लगभग 40 बार एकवचन में आता है और अत्रि के वंशजों का बोधक बनकर बहुवचन में 6 बार आया है। अत्रि को पाञ्चजन्य ऋषि बताया गया है[3]; और इनका उल्लेख दध्यञ्च्, अंगिरस्, प्रियमेध, कण्व, एवं मनु के साथ हुआ है, जिनके विषय में दिवोदास पुत्र परुच्छेप कहता है कि वे सब उसके जनुष् अर्थात् जन्म के विषय में जानकारी रखते हैं[4]। अग्नि ने अत्रि की, प्रियमेध की, विरूप की, अंगिरस् की, एवं प्रस्कण्व की पुकार को सुना[5] और भरद्वाज, गविष्ठिर, कण्व, त्रसदस्यु और अत्रि की आहव में सहायता की[6]। इन्द्र तक ने कर्मिष्ठ अत्रि की स्तुति को सुना[7], अंगिरस् के लिए गौओं के घेर को अनावृत किया और शतद्वार यन्त्र में फंसे अत्रि के लिए बचने का मार्ग बनाया[8]। इतना होते हुए भी अत्रि मुख्यतः अश्विनों के आश्रित प्रतीत होते हैं और उनकी अपनी गाथाओं का संबन्ध अश्विनों के साथ जुड़ा हुआ है। अश्विनों ने ही अत्रि को गाढ़ अन्धकार

---

1. तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्तः।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम्॥ ऋ० 6.22.2.
वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचा हिन्वन् मनसा सप्त विप्राः। ऋ० 3.31.5.
अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्। ऋ० 4.2.15.
2. दे० 10.63.7. पृ० 359.
3. ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन।
मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता॥ ऋ० 1.117.3.
4. दे० 1.139.9. पृ० 371.
5. दे० 1.45.3. पृ० 371.
6. अग्निरत्रिं भरद्वाजं गविष्ठिरं प्रावन्नः कण्वं त्रसदस्युमाहवे।
अग्निं वसिष्ठो हवते पुरोहितो मृळीकाय पुरोहितः॥ ऋ० 10.150.5
7. श्यावाश्वस्य सुन्वतस्तथा शृणु यथाशृणोरत्रेः कर्माणि कृण्वतः। ऋ० 8.36.7.
8. त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरपोतात्रये शतदुरेषु गातुवित्।
ससेन चिद् विमदायावहो वस्वाजावद्रिं वावसानस्य नर्तयन्॥ ऋ० 1.51.3.

में से निकाला था[1]। पाञ्चजन्य अत्रि को उन्होंने उसके अनुयायियों समेत गर्त में से उभारा था[2] और पापात्मा दस्यु की माया को ध्वस्त किया था[3]। जिस गर्त में से अश्विनों ने अत्रि को उभारा था, वह अग्नि से भभक रहा था। उन्होंने उसकी भभक को शान्त किया और अत्रि को जीवट ऊर्ज (पेय) प्रदान किया[4]। उन्होंने भभकते ऋबीस अथवा अग्नि-कुंड को अत्रि के लिए उसकी रक्षा करनेवाला बना दिया[5]। वे मधुर स्तुति करनेवाले अत्रि के लिए अग्नि की तपिश को शान्त करते हैं[6]। उन्होंने गर्मी से कुम्हलाये अत्रि को राहत दी[7]। उन्होंने अत्रि के लिए आग को ठंडा किया[8] और ज्वलन्त घर्म को उनके लिए सेव्य बना दिया[9]। एक स्थान पर कहा गया है कि उन्होंने ऋतजूर्, अर्थात् यज्ञादि करते-करते जीर्ण हुए अत्रि को फिर से नव बना दिया[10]।

एक सूक्त में आता है कि अत्रि ने स्वर्भानु नामक दैत्य की माया को नष्ट किया और व्रत-विरोधी अन्धकार में फंसे सूर्य को प्राप्त किया, और जगत् के इस नेत्र को द्युलोक में स्थापित किया[11]। इसी मन्त्र के ठीक बाद आये नवम

---

1. अत्रिं न महस्तमसोऽमुमुक्तम्। ऋ० 6.50.10.
निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रिम्। ऋ० 7.71.5.
2. अत्रिर्यद्वामवरोहन्नृबीसम्। ऋ० 5.78.4.
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति। ऋ० 1.116.8.
3. दे० 1.117.3. पृ० 376.
4. हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्। ऋ० 1.116.8.
युवमत्रयेऽवनीताय तप्तमूर्जमोमानमश्विनावधत्तम्।
युवं कण्वायापिरिप्ताय चक्षुः प्रत्यधत्तं सुष्टुतिं जुजुषाणा॥ ऋ० 1.118.7.
5. युवं ह रेभं वृषणा गुहा हितमुदैरयतं ममृवांसमश्विना।
युवमृबीसमुत तप्तमत्रय ओमन्वन्तं चक्रथुः सप्तवध्रये॥ ऋ० 10.39.9.
अवन्तमत्रये गृहं कृणुतं युवमश्विना। अन्ति षद् भूतु वामवः। ऋ० 8.73.7.
6. वरेथे अग्निमातपो वदते वल्ग्वत्रये। ऋ० 8.73.8.
7. अग्निरत्रिं घर्म उरुष्यदन्तः। ऋ० 10.80.3.
8. युवं रेभं परिषूतेरुरुष्यथो हिमेन घर्मं परितप्तमत्रये। ऋ० 1.119.6.
उप स्तृणीतमत्रये हिमेन घर्ममश्विना। ऋ० 8.73.3.
9. याभिः शुचन्तिं धनसां सुषंसदं तप्तं घर्ममोम्यावन्तमत्रये। ऋ० 1.112.7.
10. त्यं चिदत्रिमृतजुरमर्थमश्वं न यातवे।
कक्षीवन्तं यदी पुना रथं न कृणुथो नवम्॥ ऋ० 10.143.1.
त्यं चिदश्वं न वाजिनमरेणवो यमत्नत।
दृळ्हं ग्रन्थिं न वि ष्यतमत्रिं यविष्ठमा रजः॥ ऋ० 10.143.2.
11. स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।

मन्त्र[1] में कहा गया है कि इस महान् कार्य को अत्रियों ने ही पूरा किया था। अथर्ववेद में भी अत्रि द्वारा सूर्य की प्राप्ति और उसकी आकाश में स्थापना का उल्लेख मिलता है[2]। शतपथ ब्राह्मण[3] में अत्रि एक पुरोहित हैं, जिन्होंने अन्धकार को दूर किया था और जो स्वयं वाक् से उत्पन्न हुए थे[4]। वाक् के साथ अत्रि के तादात्म्य का भी उल्लेख मिलता है[5]।

अत्रि का बहुवचन-रूप नियमतः ऋग्वेद के एक सूक्त के अन्तिम मन्त्रों में अथवा अन्त के किसी मन्त्र में आता है। ऐसे स्थलों पर 'अत्रयः' पद से सूक्त के निर्माता ऋषियों के कुल का बोध होता है[6]। ऋग्वेद के समग्र पञ्चम मण्डल को अत्रि-कुलोत्पन्न ऋषियों की रचना माना जाता है। एकवचन या बहुवचन में आनेवाले अत्रि शब्द के समस्त प्रयोगों में से 1.4 का प्रयोग उसी मण्डल में मिलता है।

अत्रि शब्द की संभवतः भक्षणार्थक √अद् धातु से निष्पत्ति हुई है, क्योंकि इसका सधातुक 'अत्रिन्' शब्द राक्षसों का विशेषण बनकर संभवतः इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। स्वयं अत्रि शब्द का भी एक बार संभवतः इसी 'भक्षण' अर्थ में अग्नि के विशेषण की तरह प्रयोग हुआ है[7]। बेर्गेन के मत में यद्यपि अत्रि नाम के एक पुरोहित हो गुजरे हैं, तथापि मूलतः वे अग्नि के रूप-विशेष के ही एक प्रतिरूप थे। ऋग्वेद में 4 बार अत्रि नाम के साथ सप्तवध्रि यह शब्द आता है। सप्तवध्रि अश्विनों के आश्रित हैं; और अश्विनों से प्रार्थना की गई है कि वे सप्तवध्रि को बन्धन

गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥ ऋ० 5.40.6.
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अघुक्षत्। ऋ० 5.40.8.

1. यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्यन्ये अशक्नुवन् ॥ ऋ० 5.40.9.
2. विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः।
स्रुताद्यमत्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परि यान्तमाजिम् ॥ अथ० 13.2.4.
दिवि त्वात्रिरधारयत्सूर्या मासाय कर्तवे। अथ० 13.2.12.
उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम्।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ अथ० 13.2.36.
3. अत्रिर्वा ऋषीणां होता साऽथैतत्सदोऽसुरतमसमभि पुप्रुवे त ऋषयोऽत्रिमब्रुवन्नेहि प्रत्यङ्ङिदं तमोऽपजहीति स एतत्तमोऽपाहन्। शत० ब्रा० 4.3.4.21.
4. अत्रैव त्या३दिति ततोऽत्रिः संबभूव तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्वेतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूताः। शत० ब्रा० 1.4.5.13.
5. वागेवात्रिः। शत० ब्रा० 14.5.2.6.
6. तस्मा उ ब्रह्मवाहसे गिरो वर्धन्त्यत्रयो गिरः शुम्भन्त्यत्रयः। ऋ० 5.39.5.
7. अत्रिमनु स्वराज्यमग्निमुक्थानि वावृधुः। ऋ० 2.8.5.

से छुड़ावें[1] । साथ ही यह भी आया है कि सप्तवध्रि ने अग्नि की लपटों को अपनी स्तुति से प्रदीप्त किया था[2] । अत्रि और सप्त-वध्रि के लिए अश्विनों ने ज्वलन्त गर्त को सह्य बनाया था[3] । फलतः ये दोनों ऋषि संभवतः एक थे ।

कण्व आदि (§ 57)—

एक प्राचीन ऋषि-विशेष एवं कण्वकुल के अर्थ में 'कण्व' शब्द ऋग्वेद में लगभग 60 बार आता है। इसके एकवचन और बहुवचन के रूप लगभग समान-संख्यक है। कण्व को नृषद् का पुत्र बताया गया है[4] और इनका पैतृक नाम नार्षद मिलता है[5]। एक बार इनका उल्लेख मनु और अंगिरस् जैसे प्राचीन पुरखाओं के साथ भी आया है[6] । देवताओं ने मनु के लिए अग्नि का आधान किया और मेध्यातिथि कण्व ने धनस्पृत् अग्नि का आधान किया । कण्व ने ऋत से अग्नि को समिद्ध किया और तब अग्नि ने कण्व को सौख्य प्रदान किया[7] । अग्नि ने कण्व तथा अत्रि, त्रसदस्यु और अन्यों की युद्ध में सहायता की । अग्नि को कण्वों का मित्र और उनका प्रमुख बताया गया है[8] । इन्द्र ने कण्व, त्रसदस्यु और अन्यों को स्वर्ण और पशु प्रदान किये[9] । मरुतों ने तुर्वश यदु, और धनस्पृत् कण्व की, संपत्ति देकर

1. श्रुतं मे अश्विना हवं सप्तवध्रिं च मुञ्चतम् । ऋ० 5.78.5.
   भीताय नाधमानाय ऋषये सप्तवध्रये ।
   मायाभिरश्विना युवं वृक्षं सं च वि चाचथः ॥ ऋ० 5.78.6.
2. प्र सप्तवध्रिराशसा धारामग्नेरशायत । ऋ० 8.73.9.
3. दे० 10.39.9. पृ० 377.
4. उत कण्वं नृषदः पुत्रमाहुः । ऋ० 10.31.11.
5. युवं श्यावाय रुशतीमदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय ।
   प्रवाच्यं तद् वृषणा कृतं वां यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम् ॥ ऋ० 1.117.8.
   ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन । अथ० 4 19.2.
6. दे० 1.139.9. पृ० 371.
7. यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन ।
   यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः ॥ ऋ० 1.36.10.
   यमग्निं मेध्यातिथिः कण्व ईध ऋतादधि ।
   तस्य प्रेषो दीदियुस्तमिमा ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि ॥ ऋ० 1.36.11.
   अग्निर्वव्ने सुवीर्यमग्निः कण्वाय सौभगम् ।
   अग्निः प्रावन् मित्रोत मेध्यातिथिमग्निः साता उपस्तुतम् ॥ ऋ० 1.36.17.
8. स इदग्निः कण्वतमः कण्वसखा । ऋ० 10.115.5.
9. यथा कण्वे मघवन् त्रसदस्यवि यथा पक्थे दशव्रजे ।

सहायता की थी[1]। यह भी बार-बार आता है कि अश्विनों ने अभिष्टियों से कण्व की सहायता की थी[2]। हर्म्य में बाधित कण्व की अश्विनों ने सहायता की[3] और अन्धा हो जाने पर उन्होंने उसे दृष्टि प्रदान की[4]।

ऋग्वेद के अष्टम मंडल के अधिकांश सूक्तों के रचयिता कण्व ऋषि बताये जाते हैं और उस मंडल के कवि बहुधा अपने को 'कण्वाः' कहकर पुकारते हैं। फलतः कुल का बोधक होने के नाते 'कण्व' नाम ऐतिहासिक प्रतीत होता है। किंतु उस पूर्वज का, जिसके नाम पर यह कुल चला होगा, ऋग्वेद में कुल समान-कालीन व्यक्ति के रूप में नाम नहीं आता। रॉथ के मत में अंगिरसों की भांति कण्वों का मूल भी गाथिक है, किंतु बेर्गेन के अनुसार अन्ध-कण्व रात्रि के सूर्य के प्रतिरूप हैं अथवा वे गुप्त अग्नि या सोम के विग्रहवान् रूप हैं। मेध्यातिथि कण्व के वंशज हैं, क्योंकि उनका पैतृक नाम काण्व है[5]। इनका उल्लेख ऋग्वेद में 9 बार आया है। पूर्वजों की गणना में इनका नाम यथावसर कण्व के साथ आता है[6]। मेध्यातिथि का अर्थ है 'वह जिसके याज्ञिक अतिथि हों (अर्थात् अग्नि)'। प्रियमेध, जिनका नाम 4 या 5 बार आता है, और वह भी सदा कण्व के साथ[7], भूतकाल के ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और उनके वंशज अपने-आपको 'प्रियमेधाः' इस नाम से पुकारते हैं।

कुत्स (§ 58)—

युयुत्सु कुत्स का संबन्ध इन्द्र-गाथा के साथ अखंड है और इनका उल्लेख

यथा गोशर्ये असनो ऋजिश्वनीन्द्र गोमद्धि हिरण्यवत् ॥ वा० खि० 1.10.
यथा कण्वे मघवन्मेधे अध्वरे दीर्घनीथे दमूनसि।
यथा गोशर्ये असिषासो अद्रिवो मयि गोत्रं हरिश्रियम् ॥ वा० खि० 2.10.

1. येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम्। राये सु तस्य धीमहि ॥ ऋ० 8.7.18.
2. याभिः कण्वमभिष्टिभिः प्रावतं युवमश्विना। ऋ० 1.47.5.
   याभिः कण्वं प्र सिषासन्तमावतम्। ऋ० 1.112.5.
   यथा चित्कण्वमावतं प्रियमेधमुपस्तुतम्। अत्रिं शिञ्जारमश्विना ॥ ऋ० 8.5.25.
   याभिः कण्वं मेधातिथिं याभिर्वशं दशव्रजम्।
   याभिः गोशर्यमावतं ताभिर्नोऽवतं नरा ॥ ऋ० 8.8.20.
3. युवं कण्वाय नासत्यापिरिप्ताय हर्म्ये। शश्वदूतीर्दशस्यथः ॥ ऋ० 8.5.23.
4. दे० 1.118.7. पृ० 377.
5. इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम्। मेषो भूतोऽभि यन्नयः ॥ ऋ० 8.2.40.
6. दे० 1.36.10. पृ० 379., 1.36.11. तथा 17. पृ० 379.
7. दे० 8.5.25. ऊपर।

ऋग्वेद में लगभग 40 बार आया है। बहुवचन में यह शब्द केवल एक बार आया है, और वहां यह इन्द्र की स्तुति में एक सूक्त को गानेवाले[1] गायकों के कुल का बोधक दीख पड़ता है। कुत्स को 4 बार उनके पैतृक नाम आर्जुनेय (अर्जुन का पुत्र) से बुलाया गया है[2]। उनके एक पुत्र का उल्लेख आता है, जिसकी इन्द्र ने एक दस्यु के साथ युद्ध करते समय सहायता की थी[3]। कुत्स युवा और द्युतिमान् हैं[4]। वे एक ऋषि हैं, जिन्होंने गढ़े में गिर जाने पर सहायता के लिए इन्द्र को पुकारा था[5]। कुत्स उसी रथ पर बैठते हैं जिसपर कि स्वयं इन्द्र[6]। इन्द्र उन्हें अपना सारथि बनाते हैं[7]। कुत्स इन्द्र के सदृश हैं[8] और इन्द्र के साथ देवता-द्वन्द्व में इनका आह्वान भी हुआ है। इन्द्रा-कुत्स से प्रार्थना की गई है कि वे अपने रथ पर बैठकर दर्शन दें[9]।

कुत्स अपने शत्रु शुष्ण से जूझते हैं; और इन्द्र उनके लिए शुष्ण को मार गिराते हैं[10]। शुष्ण के विरोध में कुत्स की इन्द्र सहायता करते हैं[11], वे शुष्ण को

---

1. कुत्सा एते हर्यश्वाय शूषमिन्द्रे सहो देवजूतमियानाः। ऋ० 7.25.5.
2. याभिः कुत्समार्जुनेयं शतक्रतू प्र तुर्वीतिं प्र च दभीतिमावतम्। ऋ० 1.112.23.
3. आवो यद्दस्युहत्ये कुत्सपुत्रं प्रावो यद् दस्युहत्ये कुत्सवत्सम्। ऋ० 10.105.11.
4. त्वं शुष्णं वृजने पृक्ष आणौ यूने कुत्साय द्युमते सचाहन्। ऋ० 1.63.3.
5. इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निबाल्ह ऋषिरह्वदूतये। ऋ० 1.106 6.
6. यासि कुत्सेन सरथमवस्युः। ऋ० 4.16.11.
   उशना यत्सहस्यैरयातं गृहमिन्द्र जूजुवानेभिरश्वैः।
   वन्वानो अत्र सरथं ययाथ कुत्सेन देवैरवनोर्ह शुष्णम्॥ ऋ० 5.29.9.
   त्वमपो यदवे तुर्वशायाऽरमयः सुदुघाः पार इन्द्र।
   उग्रमयातमवहो ह कुत्सं सं ह यद् वामुशनारन्त देवाः॥ ऋ० 5.31.8.
7. स रन्धयत्सदिवः सारथये शुष्णमशुषं कुयवं कुत्साय।
   दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्रः पुरो व्यैरच्छम्बरस्य॥ ऋ० 2.19.6.
   उरु ष सरथं सारथये करिन्द्रः कुत्साय सूर्यस्य सातौ। ऋ० 6.20.5.
8. आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्तं भुवत्ते कुत्सः सख्ये निकामः।
   स्वे योनौ नि षदतं सरूपा वि वां चिकित्सदृतचिद्ध नारी॥ ऋ० 4.16.10.
9. इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेनाऽवामत्या अपि कर्णे वहन्तु। ऋ० 5.31.9.
10. कुत्साय यत्र पुरुहूत वन्वञ्छुष्णमनन्तैः परियासि वधैः। ऋ० 1.121.9.
    कुत्साय शुष्णमशुषं नि बर्हिः प्रपित्वे अह्नः कुयवं सहस्रा।
    सद्यो दस्यून् प्र मृण कुत्स्येन प्र सूरश्चक्रं वृहतादभीके॥ ऋ० 4.16.12.
    त्वं कुत्साय शुष्णं दाशुषे वर्क्॥ ऋ० 6.26.3.   दे० 1.63.3. ऊपर।
11. त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।
    महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे॥ ऋ० 1 51.6.

कुत्स के अधीन करते हैं[1], या कुत्स और देवताओं के साथ सहयोग करके वे शुष्ण का पराभव करते हैं[2]। शुष्ण के विरोध में युद्ध करने के लिए कुत्स के साथ इन्द्र का आह्वान किया गया है[3]; अथवा शुष्ण के घातक के रूप में कुत्स को लाने के लिए उनका आह्वान किया गया है[4]। उसके लिए वे देवताओं के साथ भी युद्ध करते हैं[5], यहां तक कि वे गंधर्वों से भी लोहा लेते हैं[6]। शुष्ण के साथ किया गया द्वन्द्व सूर्य-चक्र की चोरी के रूप में परिणत हो जाता है[7]। शत्रुओं के द्वारा सताये गए कुत्स के लिए इन्द्र सूर्य-चक्र को ढक देते हैं[8]। कुत्स के हितार्थ वे सूर्य-चक्रों को पृथक् करके एक से उसके लिए धन पैदा करते और दूसरे से उसकी अभिवृद्धि के लिए नकटे दस्युओं और फूटी ज़बानवाले अनार्यों का संहार करते हैं[9]। सूर्य को स्थगित करने की क्रिया से संबद्ध[10] उनका यह अचरज-भरा कार्य मानव-हितार्थ सूर्य की प्राप्ति वाली गाथा का अर्ध-ऐतिहासिक युद्ध में वर्णन करता है। जब शुष्ण पर वज्र गिरा तब उसका अन्त हुआ और तब इन्द्र ने अपने सारथि कुत्स के लिए सूर्य को पाकर विस्तृत अवकाश बनाया[11]। कुत्स के हितार्थ इन्द्र शुष्ण को मारते और कुयव का संहार करते हैं; और उनसे मांग की जाती है कि वे दस्युओं को कुचल दें और सूर्य-चक्र को फिर से बृहत् करें[7]। एक मन्त्र में आता है कि इन्द्र ने कुत्स के सहायतार्थ वेतसु जनपदों को और तुग्र एवं स्मदिभ को नतमस्तक किया[12]।

1. त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
   दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्॥ ऋ० 7.19.2.
2. दे० 5.29.9. पृ० 381.
3. त्वं कुत्सेनाभि शुष्णमिन्द्राऽशुषं युध्य कुयवं गविष्टौ।
   दश प्रपित्वे अध सूर्यस्य मुषायश्चक्रमविवे रपांसि॥ ऋ० 6.31.3.
4. मुषाय सूर्यं कवे चक्रमीशान ओजसा।
   वह शुष्णाय वधं कुत्सं वातस्याश्वैः॥ ऋ० 1.175.4.
5. विश्वे चनेदना त्वा देवास इन्द्र युयुधुः। यदहा नक्तमातिरः॥ ऋ० 4.30.3.
   यत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते। मुषाय इन्द्र सूर्यम्॥ ऋ० 4.30.4.
   यत्र देवाँ ऋघायतो विश्वाँ अयुध्य एक इत्। त्वमिन्द्र वनूँरहन्॥ ऋ० 4.30.5.
6. दे० 8.1.11. पृ० 355.
7. दे० 6.31.3. व 1.175.4. ऊपर।
8. दे० 4.30.4. ऊपर।
9. प्रान्यच्चक्रमवृहः सूर्यस्य कुत्सायान्यद् वरिवो यातवेऽकः॥ ऋ० 5.29.10.
10. पुरा यत्सूरस्तमसो अपीतेस्तमद्रिवः फलिगं हेतिमस्य॥ ऋ० 1.121.10.
    वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवः। ऋ० 10.138.5.
11. दे० 6.20.5. पृ० 381.
12. अहं पितेव वेतसूँरभिष्टये तुग्रं कुत्साय स्मदिभं च रन्धयम्। ऋ० 10.49.4.

कुत्स—जिन्हें इन्द्र ने सहायता और स्नेह दिया,[1] कभी-कभी इन्द्र के साथ झगड़ा करते भी दीख पड़ते हैं। एक मन्त्र में[2] आता है कि इन्द्र ने कुत्स, आयु एवं अतिथिग्व के वीरों का संहार किया, जहां कि सायण के अनुसार इन्द्र इन लोगों के शत्रुओं का संहार करते हैं। एक मन्त्र में इन्द्र तूर्वयाण राजा के लिए (सायण, सुश्रवस् के लिए) कुत्स, अतिथिग्व एवं आयु को वश में करते हैं[3] अथवा उसके हितार्थ वे उन्हें पृथिवी पर बिछा देते हैं[4]। (सायण का अर्थ भिन्न है)। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि कुत्स एक ऐतिहासिक व्यक्ति था, क्योंकि वैदिक कवियों ने प्रकाश-देव को अपना मित्र और अन्धकार-दानव को अपना सहज शत्रु माना हुआ था। परंपरा के अनुसार भी नवम और प्रथम मंडल के बहुत से सूक्तों के ऋषि अंगिरस् परिवार के कुत्स हैं। किंतु बेर्गेन के मत में कुत्स एक विशुद्ध गाथिक कल्पना है जो मूलतः अग्नि या सोम का एक रूप रहा होगा और हो सकता है—कभी-कभी सूर्य का भी बोधक रहा हो। निघण्टु में कुत्स को वज्र का एक पर्याय माना गया है।

काव्य उशना—

पुराण ऋषि उशना का उल्लेख ऋग्वेद में 11 बार मिलता है। 2 बार उन्हें कवि कहकर पुकारा गया है और 5 बार उनके लिए 'काव्य' इस विशेषण का प्रयोग हुआ है। उनका वैशिष्ट्य उनकी बुद्धिमत्ता है, क्योंकि बुद्धिमत्ता का काव्य बोलने वाले सोम की (सायण : वृषगण) तुलना उशना से की गई है[5], और बुद्धि की अथवा काव्य की दृष्टि से ही उसका तादात्म्य उशना के साथ किया गया है[6]। काव्य (कवि-पुत्र) उशना मनु के हितार्थ जातवेदस् को होता के रूप में स्थापित करते हैं[7]। जिस मन्त्र में कहा गया है कि यज्ञ-संस्थापक अथर्वा ने सूर्य के लिए पथ रचा, उसी में उल्लेख आता है कि कविपुत्र उशना ने गौओं को यज्ञ

---

1. आवः कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन्। ऋ० 1.33.14.
2. कुत्सस्यायोरतिथिग्वस्य वीरान् न्यावृणग् भरता सोममस्मै। ऋ० 2.14.7.
   य आयुं कुत्समतिथिग्वमर्दयो वावृधानो दिवेदिवे। वा० खि० 5.2.
3. त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम्।
   त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः॥ ऋ० 1.53.10.
4. प्र तत्ते अद्या करणं कृतं भूत् कुत्सं यदायुमतिथिग्वमस्मै।
   पुरू सहस्रा नि शिशा अभि क्षामुत् तूर्वयाणं धृषता निनेथ॥ ऋ० 6.18.13.
5. दे० 9.97.7. पृ० 287.
6. ऋषिर्विप्रः पुर एता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन। ऋ० 9.87.3.
7. दे० 8.23.17. पृ० 360.

की ओर प्रेरित किया[1]। इन्द्र कविपुत्र उशना की अभिवृद्धि करते हैं[2]। वे उनके साथ आनन्दित होते[3], और अपना तादात्म्य उशना कवि और कुत्स के साथ स्थापित करते हैं[4]। जब इन्द्र ने कुत्स की सहायता से शुष्ण का दमन किया तब उशना उनके साथ उसी रथ में विद्यमान थे[5]। उशना ने इन्द्र के लिए वृत्र के वधार्थ वज्र का निर्माण किया था[6]।

स—ऐतिहासिक एवं अर्ध-ऐतिहासिक स्वरूप वाले अनेक अन्य ऋषियों का भी ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है। ये हैं—गोतम, विश्वामित्र, वामदेव, भरद्वाज और वसिष्ठ। इन्हें अथवा इनके वंशजों को क्रमशः द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम मंडल का ऋषि माना जाता है। अगस्त्य ऋषि का भी ऋग्वेद में अनेक बार उल्लेख हुआ है। कुछ ऐतिहासिक-से योद्धा हैं : राजा सुदास्, पुरुकुत्स एवं उनके पुत्र त्रसदस्यु और दिवोदास अतिथिग्व।

इस प्रकरण में जिन व्यक्तियों का विवरण आया है उनमें से सुतरां गाथिक व्यक्ति भी अतीत काल में कभी सचमुच के मानव रहे होंगे ; इन्हें ही बाद के काल में पीछे की ओर हटाकर मनुष्य के प्रथम पूर्वजों के रूप में आदिकाल में रख दिया गया है। उनके वर्णित कार्य अंशतः ऐतिहासिक स्मृतियां हैं और अंशतः गाथात्मक एवं काव्यात्मक कल्पनाएं हैं। देवताओं की सहचारिता के कारण वे सूर्य-विजय जैसे गाथात्मक कार्यों में भी प्रवेश पा गये हैं।

पुरोहित पूर्वजों के विषय में जो कुछ कहा गया है उसमें से अधिकांश के पीछे उद्देश्य रहा है : यज्ञ-कला और यज्ञ-शक्ति के लिए प्रमाण प्रस्तुत करना। अतः ये अतिप्राकृतिक समझे जाते हैं। यह संभव नहीं प्रतीत होता कि वे प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिरूप थे अथवा पृथिवी पर निपतित हुए हतप्रभ देवता हैं।

पशु और अचेतन पदार्थ

सामान्य विशेषताएं (§ 59)—

वेद की गाथेय रचनाओं में पशुओं को ख़ासा भाग मिला है। वेद में उस

1. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
   आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥ ऋ० 1.83.5.
2. त्वं वृध इन्द्र पूर्व्यो भूर्वरिवस्यन्नुशने काव्याय। ऋ० 6.20.11.
3. मन्दिष्ट यदुशने काव्ये सचाँ इन्द्रो वङ्क्‌ वङ्क्‌तराधि तिष्ठति। ऋ० 1.51.11.
4. अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा। ऋ० 4.26.1.
5. दे० 5.29.9. पृ० 381.
6. यं ते काव्य उशना मन्दिनं दाद् वृत्रहणं पार्यं ततक्ष वज्रम्। ऋ० 1.121.12.
   यदी मृगाय हन्तवे महावधः सहस्रभृष्टिमुशना वधं यमत्। ऋ० 5.34.2.
   तक्षद् यत् त उशना सहसा सहो वि रोदसी मज्मना बाधते शवः। ऋ० 1.51.10

सुदूर प्राचीन काल के कुछ अवशेष भी मिल जाते हैं, जब मनुष्यों और पशुओं के बीच की विभाजक रेखा पूरी तरह नहीं उभर पाई थी और देवताओं को पशु-आकार का भी समझा जा सकता था। ऊंचे वैदिक देवता मानवीय आकार के हैं; इसके विपरीत वे प्राणी, जो पशुओं के आकार के हैं, निम्न कोटि के हैं। वे अपने और पशु के मिश्रित स्वभाव के अनुसार अर्ध-देव या दानव कहाये हैं। साथ ही जिस प्रकार मानव ने अपना संबन्ध लाभदायक पशुओं के साथ जोड़ा है उसी प्रकार मानवीय आकार के ऊंचे देवों ने भी दिव्य पशु-जगत् के साथ अपना नाता जोड़ा था। साथ ही, असली पशु भी तो यज्ञ में देवताओं के गाथेय स्वरूपों के साथ संबद्ध मिलते ही हैं। वे देवताओं के प्रतीक हैं और विशेष अवसरों पर उन देवताओं को, जो किसी दृष्टि से पशुओं के समान हैं, प्रभावित करते हैं। प्रतीकवादी दृष्टिकोण संभवतः उस प्राचीनकाल का अवशेष है, जब देवताओं का तादात्म्य दृश्यमान पदार्थों के साथ स्थापित किया जाता था। किंतु इन पाशव प्रतीकों को वेद में अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है, क्योंकि देवताओं के लिए पशु-प्रतीकों का प्रयोग करना उन भद्र धारणाओं के अनुकूल न पड़ता था जिनके अनुसार देवता स्वर्ग में रहते हैं और गुप्त रूप में यज्ञ में संमिलित होनेवाले शक्तिशाली मानव हैं।

अश्व (§ 60)— (दधिक्रा)

देव-रथों को खींचने वाले दिव्य अश्वों के अतिरिक्त कुछ अन्य अश्व भी वैदिक गाथाओं में मिलते हैं। इनमें से प्रमुख अश्वों में एक दधिक्रा है, जिसका गुणगान ऋग्वेद के 4 बाद के बने सूक्तों में आता है[1]। दधिक्रा नाम का उल्लेख 12 बार हुआ है; अपने बृंहित रूप दधिक्रावन् के साथ बदलकर भी इसका उल्लेख आता है। दधिक्रावन् का उल्लेख 10 बार हुआ है। यह नाम अन्य वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलता। दधिक्रा साफ़ तौर से अश्व स्वरूप का है और इसे निघण्टु में अश्व का पर्यायवाची बताया गया है। वह जव-शील है[2] और रथों में सबसे आगे

1. उतो हि वां दात्रा सन्ति पूर्वा या पूरुभ्यस्त्रसदस्युर्नितोशे।
क्षेत्रासां ददथुरुर्वरासां घनं दस्युभ्यो अभिभूतिमुग्रम्॥ ऋ० 4 38.1. आदि
आशुं दधिक्रां तमु नु ष्टवाम दिवस्पृथिव्या उत चर्किराम।
उच्छन्तीर्मामुषसः सूदयन्त्वति विश्वानि दुरितानि पर्षन्॥ ऋ० 4 39.1. आदि
दधिक्राव्ण इदु नु चर्किराम विश्वा इन्मामुषसः सूदयन्तु।
अपामग्नेरुषसः सूर्यस्य बृहस्पतेराङ्गिरसस्य जिष्णोः॥ ऋ० 4.40.1. आदि
दधिक्रां वः प्रथममश्विनोषसमग्निं समिद्धं भगमूतये हुवे।
इन्द्रं विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिमादित्यान् द्यावापृथिवी अपः स्वः॥ ऋ० 7.44.1. आ.
2. उत वाजिनं पुरुनिष्षिध्वानं दधिक्रामु ददथुर्विश्वकृष्टिम्।

जुड़ता है[1]। वह रथ को हवा की न्याईं भगा ले जाता है और स्वयं वायु-वेग से धड़धड़ाता दौड़ता है[2]। मनुष्य उसकी हवाई दौड़ की दाद देते हैं। जब वह टापें भरता है तब प्रतीत होता है कि मानों ढालू भूमि पर बह रहा हो[3]। वह पथों के मोड़ों पर छलांगें भरता हुआ मुड़ जाता है[4]। उसे परों वाला और पक्षी-जैसा भी कहा गया है। उसके परों की तुलना प्रजवी श्येन के परों से की गई है[5]। उसकी उपमा आक्रामक श्येन से भी दी गई है; और उसे साफ़ शब्दों में श्येन कहा भी गया है[6]। एक मन्त्र[7] में उसे प्रभास से सुहाने वाला हंस, अन्तरिक्षसद् वसु, वेदिषद् पुरोहित और गृहागत अतिथि बताया गया है—ये सभी विशेषण अग्नि के विभिन्न रूपों पर सही उतरते हैं।

दधिक्रा बहादुर है और दस्युओं पर वार करता है। वह विजयशील है[8]। जब वह हज़ार जवानों से लोहा लेता है तब प्रतिद्वन्द्वी उससे उसी प्रकार थरथराते

ऋजिप्यं श्येनं प्रुषितप्सुमाशुं चर्कृत्यमर्यो नृपतिं न शूरम् ॥ ऋ० 4.38.2.
उत स्मास्य पनयन्ति जना जूतिं कृष्टिप्रो अभिभूतिमाशोः ।
उतैनमाहुः समिथे वियन्तः परा दधिक्रा असरत् सहस्रैः ॥ ऋ० 4.38.9.
दे० 4.39.1. पृ० 385.

1. दे० 7.44.4. पृ०
2. यं सीमनु प्रवतेव द्रवन्तं विश्वः पूरुर्मदति हर्षमाणः ।
पड्भिर्गृध्यन्तं मेधयुं न शूरं रथतुरं वातमिव ध्रजन्तम् ॥ ऋ० 4.38.3.
3. दे० 4.38.9, 3. ऊपर ।
4. उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि ।
क्रतुं दधिक्रा अनु संतवीत्वत् पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत् ॥ ऋ० 4.40.4.
5. स त्वा भरिषो गविषो दुवन्यसच्छ्रवस्यादिष उषसस्तुरण्यसत् ।
सत्यो द्रवो प्रवरः पतङ्गरो दधिक्रावेषमूर्जं स्वर्जनत् ॥ ऋ० 4.40.2.
उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न वेरनु वाति प्रगर्धिनः ।
श्येनस्येव ध्रजतो अङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः ॥ ऋ० 4.40.3.
6. उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु ।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम् ॥ ऋ० 4.38.5.
दे० 4.38.2. ऊपर ।
7. हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् ॥ ऋ० 4.40 5.
8. दे० 4.38. 1. पृ० 385. दे० 4.38.3. ऊपर ।
उतस्य वाजी सहुरिर्ऋतावा शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये ।
तुरं यतीषु तुरयन्नृजिप्योऽधि भ्रुवोः किरते रेणुमृञ्जन् ॥ ऋ० 4.38.7.

हैं जैसे आसमान की बिजली से। युद्धों में वह लूट के माल को हथिया लेता है और विभिन्न जातियां सांमुख्य आ पड़ने पर उसे याद करती हैं[1]। गले में माला पहरे हुए शुभ्वा जन्य की न्याईं वह धूल उड़ाता हुआ और लगाम को चबाता हुआ टापें भरता है[2]। वह सभी जातियों से संबद्ध है। पंचजनों में वह अपनी शक्ति से व्यापे हुए है, जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सलिलों में व्यापे हुए है[3]। मित्रा-वरुण ने अग्नि के समान द्युतिमान् उस विजयशील अश्व को पुरुओं को दिया था[4]। अग्नि ने हमें भी तो दधिक्रा अश्व दिया है।

दधिक्रा की स्तुति पौ फटते ही अग्नि को समिद्ध करके की जाती है[5]। उसका आह्वान उषाओं के साथ होता है[6]। उषाओं से प्रार्थना की गई है कि वे दधिक्रावन् की भांति यज्ञ में खिलखिलाती पधारें[7]। दधिक्रा का विशेष रूप से आह्वान उषाओं के साथ किया गया है, लगभग उतने ही बार अग्नि के साथ, अपेक्षाकृत कम बार अश्विनों और सूर्य के साथ, और कभी-कभी अन्य देवों के

1. उत स्मास्य तन्यतोरिव द्योर्ऋघायतो अभियुजो भयन्ते।
   यदा सहस्रमभि षीमयोधीद् दुर्वर्तुः स्मा भवति भीम ऋञ्जन्॥ ऋ० 4.38.8.
   दे० 4.38.5. पृ० 386.
   यः स्मारुन्धानो गध्या समत्सु सनुतरश्चरति गोषु गच्छन्।
   आविर्ऋजीको विदथा निचिक्यत् तिरो अरतिं पर्याप आयोः॥ ऋ० 4.38.4.
2. उत स्मासु प्रथमः सरिष्यन् नि वेवेति श्रेणिभी रथानाम्।
   स्रजं कृण्वानो जन्यो न शुभ्वा रेणु रेरिहत्किरणं ददश्वान्॥ ऋ० 4.38.6.,
   व 4.38.7. पृ० 386.
3. दे० 4.38.2. पृ० 386.
   आ दधिक्राः शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।
   सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि॥ ऋ० 4.38.10.
   दे० 4.38.4. ऊपर।
4. महश्चर्कर्म्यर्वतः क्रतुप्रा दधिक्राव्णः पुरुवारस्य वृष्णः।
   यं पूरुभ्यो दीदिवांसं नाग्निं ददथुर्मित्रावरुणा ततुरिम्॥ ऋ० 4.39.2.
   दे० 4.38.1. पृ० 385. तथा 2 पृ० 386.
5. यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत् समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ।
   अनागसं तमदितिः कृणोतु स मित्रेण वरुणेना सजोषाः॥ ऋ० 4.39.3.
6. दे० 4.39.1 एवं 4.40.1. पृ० 385.
7. समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
   अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु॥
   ऋ० 7.41.6.

साथ भी उसका नाम आ जाता है[1] किंतु दधिक्रा का आह्वान होता सदा सबसे पहले है[2]।

दधिक्रा शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में संदेह है; फलतः इसके मौलिक स्वरूप के विषय में निश्चय के साथ कुछ भी कहना कठिन है। इस पद का दूसरा अंश विकिरणार्थक √कृ धातु से बना प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में दधिक्रा का अर्थ होगा—"दधि बखेरनेवाला", और यह नाम रॉथ और ग्रासमन के अनुसार सूर्योदय-कालीन ओस अथवा कुहरे का बोधक है। इन दोनों विद्वानों के मत में दधिक्रा घूमते हुए सूर्य-बिम्ब का प्रतिरूप है। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि दधिक्रा का संबन्ध देवताओं में उषस् के साथ सबसे घनिष्ठ है; और याद रहे कि सूर्य को भी बार-बार अश्व या पक्षी के रूप में देखा गया है; और कभी-कभी उसे कलह-प्रिय भी बताया गया है। इस कथन का कि दधिक्रा को मित्र और वरुण ने दिया था—उस भावना के साथ संबन्ध बैठ जाता है जिसके अनुसार सूर्य मित्र और वरुण की चक्षु है। बेर्गेन के अनुसार यद्यपि 'दधिक्रा' शब्द से विद्युत् की ओर निर्देश मिलता है, तथापि दधिक्रा अग्नि-सामान्य का प्रतिरूप है, जिसमें सौर और वैद्युत दोनों प्रकार की अग्नि संवलित है। किंतु लुडविग, पिशल, ब्रेक और ओल्डेनबेर्ग के अनुसार दधिक्रा कोई देवता न होकर दौड़ों में भाग लेने वाला एक प्रसिद्ध अश्व था, जिसे उसके अप्रतिम जव के कारण दिव्य प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी।

पहले कह आये हैं कि दध्यञ्च् नाम का दधिक्रा के साथ संबन्ध है और संभवतः स्वरूप में भी इन दोनों का पारस्परिक संबन्ध रहा हो, क्योंकि दध्यञ्च् को भी अश्व-शीर्ष बताया गया है।

तार्क्ष्य—

दधिक्रा के साथ निकटतः-संबद्ध तार्क्ष्य है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में 2 बार आया है[3]। 3 मन्त्रों के एक सूक्त में उसका गुणगान आया है। वहां उसे

---

1. अ॒ग्निमु॒षस॑म॒श्विना॑ द॒धि॒क्रां व्यु॑ष्टिषु हवते॒ वह्नि॑रु॒क्थैः ॥ ऋ० 3.20.1.
   द॒धि॒क्राम॒ग्निमु॒षसं॑ च दे॒वीं बृह॒स्पति॑ सवि॒तारं॑ च दे॒वम् ।
   अ॒श्विना॑ मि॒त्रावरु॑णा॒ भगं॑ च॒ वसू॑न् रु॒द्राँ आ॑दि॒त्याँ इ॒ह हु॑वे ॥ ऋ० 3.20.5.
   दे० 7.44.1. पृ० 385, 7.44.2. पृ० 324., 7.44.4. पृ० 368.
   द॒धि॒क्राम॒ग्निमु॒षसं॑ च दे॒वीमिन्द्रा॒व॒तोऽव॑से॒ नि ह्व॑ये वः । ऋ० 10.101.1.
2. दे० 7.44.1. पृ० 385.
3. स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॒ अरि॑ष्टनेमिः । ऋ० 1.89.6.
   त्यमू॒ षु वा॒जिनं॑ दे॒वजू॑तं स॒हावा॑नं तरु॒तारं॒ रथा॑नाम् ।
   अरि॑ष्टनेमिं पृत॒नाज॑मा॒शुं स्व॒स्तये॒ तार्क्ष्य॑मि॒हा हु॑वेम ॥ ऋ० 10.178.1. आदि

देव-प्रचोदित वाजी, रथों का बाधक[1], तीव्र, और युद्धों की ओर बढ़ने वाला बताया गया है। वह इन्द्र के दान-रूप में आहूत हुआ है। दधिक्रा के लिए प्रयुक्त हुए[2] शब्दों में कहा गया है कि तार्क्ष्य ने अपनी शक्ति से पंचजनों को उसी प्रकार व्याप्त कर रखा है, जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सलिलों को व्याप्त किये रहता है। मूलतः उसकी कल्पना अश्व के रूप में की गई थी, इस बात की पुष्टि उसके 'अरिष्टनेमि' (अनष्ट नेमिवाला) इस विशेषण से हो जाती है[3]। वाजसनेयि संहिता 3 में अरिष्टनेमि विशेषण तार्क्ष्य और गरुड दोनों के साथ स्वतन्त्र नाम की तरह आता है। निघंटु (1.14) ने तार्क्ष्य को अश्व के पर्यायों में रखा है। एक या दो बाद के वैदिक ग्रन्थों में तार्क्ष्य का उल्लेख पक्षी के रूप में भी हुआ है। महाकाव्यों में उसका विष्णु के वाहन गरुड के साथ तादात्म्य हो गया है। यह संभव है कि मूलतः तार्क्ष्य दिव्य अश्व-रूप सूर्य का प्रतिरूप रहा हो। तार्क्ष्य की निष्पत्ति 'तृक्षि' से हुई प्रतीत होती है; 'तृक्षि' एक मनुष्य का नाम है जो पैतृक नाम त्रासदस्यव के साथ ऋग्वेद में एक बार आया है[4]। इस व्युत्पत्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि तार्क्ष्य एक अश्व था, जो प्रतियोगिताओं में भाग लेता था और जिसका संबन्ध त्रसदस्यु कुलोत्पन्न तृक्षि के साथ था।

पैद्व—

एक और भी गाथेय अश्व है, जिसे अश्विन् लोग पेदु के लिए लाये थे[5]; और इसीलिए जिसका पैद्व नाम पड़ गया है[6]। इस दान का उद्देश्य एक अड़ियल घोड़े की जगह सधा घोड़ा देना था, क्योंकि पेदु अघाश्व अथवा 'पापी घोड़ेवाला' व्यक्ति था। पैद्व अश्व श्वेत है। वह स्तुत्य है[7] और मनुष्यों के लिए भग की

---

1. त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम्।
   इन्द्रं विश्वासाहं नरं मंहिष्ठं विश्वचर्षणिम्॥ ऋ० 6.44.4.
2. आ दधिक्राः शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।
   सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि॥ ऋ० 4.38.10.
3. तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानी ग्रामण्यौ॥ वा० सं० 15.18.
4. येभिस्तृक्षिं वृषणा त्रासदस्यवं महे क्षत्राय जिन्वथः। ऋ० 8.22.7.
5. युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः।
   शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्॥ ऋ० 1.119.10.
   नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्। ऋ० 7.71.5.
6. यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।
   तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः॥ ऋ० 1.116.6.
7. दे० 1.119.10. ऊपर।

भांति ग्राह्वान-योग्य है[1]। उसकी तुलना इन्द्र के साथ की गई है[2] और उसके लिए 'अहिहन्' यह विशेषण भी आया है[3]। जोकि खास तौर से इन्द्र के लिए ही आता है। वह युद्धों में अदम्य विजयी है, और स्वर्ग-प्राप्ति के लिए सतत सचेष्ट रहता है। उक्त उद्धरणों से यही प्रतीत होता है कि पैद्व अश्व सूर्य का प्रतीक है।

एतश—

एतश शब्द, जोकि 'तीव्र' इस अर्थवाले विशेषण के रूप में आता है, कुछेक बार ऋग्वेद में 'अश्व' के अर्थ में भी आया है। बहुवचन में यह सूर्य के अश्वों का बोधक है[4]। लगभग 12 बार यह एकवचन में व्यक्ति-वाचक संज्ञा के रूप में आया है और हमेशा इसका संबन्ध सूर्य के साथ बना रहता है। सविता एतश है; उन्होंने पार्थिव लोकों को मापा है[5]। तीव्र एतश देव सूर्य के द्युतिमान् रूप को खींचते हैं[6]। रथ की फड़ों में जुत कर एतश सूर्य-चक्र को प्रवर्तित करते हैं[7]। वे सूर्य के चक्र को लाये[8]। इन्द्र ने सूर्य के अश्व 'एतश' को प्रचोदित किया[9]। सूर्य के साथ प्रति-

---

युवं श्वेतं पेदवेऽश्विनाश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम्।
चर्कृत्यं ददथुर्द्रावयत्सखं भगं न नृभ्यो हव्यं मयोभुवम्॥ ऋ० 10 39.10.
दे० 4.38.2. पृ० 386.

1. दे० 1.116.6. पृ० 389., 10.39.10. ऊपर।
2. दे० 1.119.10. पृ० 389.
3. पुरू वर्पांस्यश्विना दधाना नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्।
   सहस्रसां वाजिनमप्रतीतमहिहनं श्रवस्यं तरुत्रम्॥ ऋ० 1.117.9.
   युवं श्वेतं पेदव इन्द्रजूतमहिहनमश्विनादत्तमश्वम्। ऋ० 1.118.9.
   पैद्वो न हि त्वमहिनाम्नां हन्ता विश्वस्यासि सोम दस्योः। ऋ० 9.88.4.
   दे० 1.119.10. पृ० 389.
4. स सूर्य प्रति पुरो न उद् गा एभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः। ऋ० 7.62.2.
   न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरैरथर्यसि।
   प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य॥ ऋ० 10.37.3.
   अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा। ऋ० 10.49.7.
5. यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना। ऋ० 5.81.3.
6. यदीमाशुर्वहति देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे अरम्। ऋ० 7.66.14.
7. समानं चक्रं पर्याविवृत्सन् यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः। ऋ० 7.63.2.
8. त्वं सूरो हरितो रामयो नृन् भरच्चक्रमेतशो नायमिन्द्र। ऋ० 1.121.13.
   सूरश्चिद् रथं परितक्म्यायाम्। भरच्चक्रमेतशः सं रिणाति॥ ऋ० 5.31.11.
9. यत् तुदत्सूर एतशं वङ्कू वातस्य पर्णिना। ऋ० 8.1.11.

योगिता में दौड़नेवाले एतश की इन्द्र ने सहायता की[1]। गाथेय प्रतियोगिता के बिखरे हुए संकेतों से इतनी बात लक्षित होती है: एतश पहले-पहल पीछे रहता रहा होगा, बाद में वह सूर्य के खोये हुए चक्र को पकड़ता है और उसे सूर्य के रथ में ठोक देता है। परिणामस्वरूप सूर्य एतश को अपने रथ के आगे महत्त्वपूर्ण स्थान देना स्वीकार कर लेते हैं। इस गाथा की सन्तोषप्रद व्याख्या प्रस्तुत करना कठिन है। फिर भी इतना निश्चित है कि 'एतश' सूर्य के अश्व का प्रतिरूप है।

सूर्य और अग्नि का प्रतीक अश्व—

अश्व भी सूर्य का ही एक प्रतीक है—यह बात ऋग्वेद के उस मन्त्र से ध्वनित होती है, जिसमें कहा गया है कि उषा एक श्वेत अश्व को ले चलती है[2]। एक दूसरे मन्त्र में भी ऐसी ही बात आई है[3]। उसमें कहा गया है कि वसुओं ने 'यज्ञिय' अश्व को सूर् 'सूर्य' से बनाया। सोम-याग की एक विधा में अश्व भी सूर्य का प्रतीक बनकर आता है।

उछलती लपटों वाले अग्निदेव को भी अश्व कहा गया है। यज्ञ में अश्व अग्नि का प्रतीक है। वहां एक अश्व को इस प्रयोजन से बांधा जाता है कि वह मन्थन द्वारा अग्नि-उत्पादन के स्थान को देखता रहे। जब अग्नि को पूर्व दिशा में ले जाया जाता है तब इसे आगे चलने वाले अश्व के रास्ते में टेक दिया जाता है। वेदि-निर्माण के समय अश्व के निमित्त यह मन्त्र पढ़ा जाता है—'स्वर्ग में तेरा सर्वोच्च जन्म है, अन्तरिक्ष में तेरी नाभि है और पृथिवी पर तेरा आवास है[4]। इस अनुष्ठान का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में यों दिया गया है: 'अपने साथ अग्नि लाना'। वही ब्राह्मण विद्युत् को अश्व कहता है जो जलों या मेघों से अवतीर्ण हुआ है[5]।

वृषभ (§ 61)—

इन्द्र को ऋग्वेद में बराबर वृषभ कहा गया है। अग्नि के लिए इस शब्द का अपेक्षाकृत कम बार प्रयोग हुआ है। कभी-कभी वृषभ शब्द द्यौस् जैसे अन्य

अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि। अन्तरिक्षेण यातवे॥ ऋ० 9.63.8.

1. प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः। ऋ० 1.61.15.
2. देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्। ऋ० 7.77.3.
3. यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एनं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
   गंधर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ ऋ० 1.163.2.
4. दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्। वा० सं० 11.12.
5. अद्भ्यो ह वा अग्रेऽश्वः सम्बभूव। शत० ब्रा० 5.1.4.5.
   अप्सुजा उ वा अश्वः। शत० ब्रा० 7.5.2.18.

महान् देवों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद[1] में एक वृषभ को इन्द्र के रूप में बुलाया गया है और शतपथ ब्राह्मण[2] में वृषभ को इन्द्र का एक रूप बताया गया है। अवेस्तिक वृषभ को इन्द्र वेरेथ्रघ्न का एक अवतार बताया जाता है। एक वैदिक यज्ञ में रुद्र का प्रतिनिधित्व वृषभ करता है। संदिग्धाशय मुद्गल—मुद्गलानी की गाथा में एक वृषभ भी संमिलित है[3]।

गौ—

अपनी अनुपम उपयोगिता के कारण गौ को वैदिक गाथा में आदर का स्थान मिला है। उषा की किरणों का विग्रहवत्त्व गौओं के रूप में संपन्न हुआ है, जो उसके रथ को खींचती हैं। मेघ का विग्रहवत्त्व गौ के रूप में हुआ है, जो विद्युद्रूप वत्स की माता है। इस मेघ-धेनु का व्यंजन मरुतों की माता पृश्नि के रूप में भी हुआ है[4]। उसके दुग्ध[5] और ऊधस् का अनेक बार वर्णन आता है। दानशील मेघ चित्रवर्ण गौओं के प्रतिरूप हैं, जो गौएं भाग्यवानों के लिए स्वर्ग में कामदुघा हैं[6]। वेदोत्तर-कालीन साहित्य में बहुधा उल्लिखित कामधुक् गौओं की ये गौएं पूर्वरूप हैं। दुग्ध-घृतरूप हविष् के विग्रह-रूप इळा को गौ मानने की प्रवृत्ति पाई जाती है। अदिति को भी यत्र-तत्र धेनु कहा गया है। देवताओं को कभी-कभी 'गो-जाताः' बताया गया है। फिर भी गौओं का सबसे अधिक उपयोग इन्द्र द्वारा अद्रि में गौओं को उन्मुक्त करनेवाली गाथा में हुआ है।

ऋग्वेद ही में पार्थिव गौ को पवित्र माना जा चुका है। क्योंकि उसे अदिति और देवी का पद दिया गया है, और ऋषि लोग अपने श्रोताओं पर गौ को अघ्न्या बताकर उसकी अहिंस्यता का भाव जमाते देखे जाते हैं[7]। गौ के लिए 'अघ्न्या'

---

1. दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः।
   सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ अथ० 9.4.9.
2. एतद्वा इन्द्रस्य रूपं यदृषभः। शत० ब्रा० 2.5.3.18.
3. न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन् वृषभं मध्य आजेः।
   तेन सूभर्वं शतवत् सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय॥ ऋ० 10.102.5.
4. व्यन्तु वयोक्तं रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ। वा०सं०2.16.
5. पृश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानुजायते। ऋ० 6.48.22. दे० 8.101.15. पृ० 315.
   देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः। ऋ० 8.101.16.
6. विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु। अथ० 4.34.8.
7. चिदसि मनासि धीरासि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियादितिरस्युभयतःशीर्ष्णी।
   सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय॥
   वा० सं० 4.19.

शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 16 बार आता है। इसके पुंल्लिग रूप अघ्न्य का केवल 3 बार प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में तो गौ की एक पवित्र पशु के रूप में पूजा तक प्रचलित हो चुकी है[1]। शतपथ ब्राह्मण[2] में कहा गया है कि मांस-भक्षक व्यक्ति कुख्यात बनकर पृथिवी पर फिर जन्म लेता है। हां, अतिथियों के लिए मांस-पाक का विधान भी कतिपय स्थलों पर मिल जाता है[3]।

अज आदि (§ 62.)—

अथर्ववेद में अज का संबन्ध पूषा के साथ है, जिसके रथ को अज खींचता है। अज एकपाद् के रूप में वहां दिव्य प्राणी बनकर उभरता है। उत्तर-वैदिक साहित्य में अनेक बार अज का अग्नि के साथ तादात्म्य दिखाया गया है।

वैदिक गाथा में गधा अश्विनों के रथ को खींचता है।

यम के दो गाथेय श्वानों के रूप में कुत्ता भी वेद में मिल जाता है। इन्हें सारमेय कहा गया है। सारमेय नाम से सूचित होता है कि ये सरमा के वंशज थे। इस बात के लिए प्रमाण नहीं मिलता कि ऋग्वेद में सरमा को कुतिया माना जाता था, यद्यपि उत्तर-वैदिक साहित्य में यह नाम कुतिया का पड़ गया है। यास्क[4] सरमा को देवशुनी बताते हैं।

ऋग्वेद में वराह का प्रयोग रुद्र, मरुत् और वृत्र के आलंकारिक अभिधान की तरह आया है। तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में वराह सर्ग के प्रवर्तक बनकर आते हैं; क्योंकि जब प्रजापति ने पृथिवी को जलों में से उभारा था तब उन्होंने वराह का रूप धारण किया था। परवर्ती साहित्य में मिलनेवाला विष्णु का वराह-अवतार इसी बात का विकास है।

बाद की संहिताओं में कच्छप को अर्ध-दिव्य माना गया है और उसे सलिलों

अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः।
सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमं रुद्रस्त्वावर्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि॥

वा० सं० 4.20.

1. पदोरस्या अधिष्ठानाद्विक्लिन्दुर्नाम विन्दति।
   अनामनात्सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति॥ अथ० 12.4.5.
2. अन्तगतिरिव तं हाऽद्भुतमभिजनितोर्जायायै गर्भं निरवधीदिति पापमकदिति पापी कीर्तिस्तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाऽश्नीयात्। शत० 3.1.2.2.
3. राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्तदह मानुषं हविर्देवानामेवमस्मा एतदातिथ्यं करोति। शत०ब्रा० 3.4.1.21.
4. सरमा सरणात्। देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूदे।

   नि० 11.25.

का स्वामी बताया गया है[1]। अथर्ववेद में कश्यप प्रजापति के साथ अथवा उनका तदात्म बनकर आता है और उसे 'स्वयंभू' यह विशेषण भी मिल जाता है[2]। ऐतरेय ब्राह्मण[3] कहता है कि विश्व-कर्मा ने पृथिवी का कश्यप के लिए संकल्प किया था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने अपने-आपको कच्छप के रूप में परिवर्तित कर लिया था[4] और इस रूप में उन्होंने सब प्राणियों की रचना की थी। विष्णु का कच्छप-अवतार प्रजापति के इसी कच्छप-रूप का विकास प्रतीत होता है। तैत्तिरीय संहिता[5] में पुरोडाश को कच्छप बताया गया है।

ऋग्वेद के एक बाद में बने सूक्त[6] में एक बन्दर इन्द्र का प्रेम-भाजन बनकर आता है, जिसे इन्द्राणी उसके चंचल स्वभाव के कारण भगा देती हैं, किंतु बाद में वही बन्दर इन्द्राणी का प्रेम-पात्र बन जाता है।

वर्षा से अनुप्राणित हुए मंडूक ऋग्वेद[7] में प्रहसन के विषय हैं। ये हमें गौएं और दीर्घ जीवन प्रदान करते हैं। प्रतीत होता है कि मेंढकों को वर्षा पड़ते ही जाग जाने के कारण जादूवाला समझा जाता था। किंतु मैक्समूलर ने इस सूक्त को ब्राह्मणों के ऊपर एक व्यंग्यमात्र माना है। बेर्गेन मंडूकों से वायुमंडल को लेते हैं।

पक्षी (§ 63)

वैदिक देवशास्त्र में पक्षियों को भी चोखा स्थान मिला है। सोम की तो

---

1. त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत्स्वर्गानपांपतिर्वृषभऽइष्टकानाम्। वा० सं० 13.31.
2. स्वयम्भूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत ॥ अथ० 19.53.10.
3. एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण कश्यपो विश्वकर्माणं भौवनमभिषिषेच तस्मादु विश्वकर्मा भौवनः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन्परीयाय।···भूमिर्ह जगावित्युदाहरन्ति······न मां मर्त्यः कश्चन दातुमर्हति विश्वकर्मन्भौवन मां दिदासिथ। निमङ्क्ष्येऽहं सलिलस्य मध्ये मोघस्त एष कश्यपायाऽऽस संगर इति ॥
   ऐ० ब्रा० 8.21.10.
4. स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत् तद्यदकरोत्तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति।
   शत० ब्रा० 7.5.1.5.
5. तेऽपश्यन् पुरोडाशं कूर्मं भूतं सर्पन्तं तमब्रुवन्। तै० सं० 2.6.3.3.
6. वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।
   यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ऋ० 10.86.1. आदि
7. संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
   वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ ऋ० 7.103.1.

बार-बार पक्षी के साथ तुलना की गई है, और उसे पक्षी कहकर पुकारा भी गया है। अग्नि की उपमा खास तौर से पक्षी से दी गई है, और उसे पक्षी कहा भी गया है। एक बार उसे आकाश का श्येन बताया गया है। सूर्य को भी कभी-कभी पक्षी समझा गया है और दो बार उसे 'गरुत्मत्' संज्ञा भी मिली है। वेदोत्तर-कालीन साहित्य में, जो गरुड़ को विष्णु का वाहन माना गया है, उसका आधार संभवतः इसी वैदिक भावना में निहित हो। वेद में पक्षी का प्रयोग मुख्य रूप से श्येन के लिए हुआ है, जो इन्द्र के लिए सोम को उठा लाता है और जो विद्युत् का प्रतिरूप मालूम होता है। किंतु काठक संहिता में इन्द्र ही श्येन के रूप में सोम या अमृत को पकड़ते हैं। अवेस्ता में भी वेरेथ्रघ्न वारघ्न का रूप धारण करते हैं, जो पक्षियों में सबसे अधिक तेज़ हैं। जर्मन गाथा में ओधिन देव अपने को श्येन के रूप में परिवर्तित करके मधु के साथ देवलोक में उड़ते हैं। अपशकुन के पशु-पक्षियों का भी यत्र-तत्र देवताओं के साथ ज़िक्र आ गया है, और माना जाता है कि इन्हें देवता लोग भेजते हैं। ऋग्वेद में उलूक और कपोत को यम का दूत कहा गया है। किंतु सूत्रों में उलूक 'दुरात्माओं का दूत' है। शोणित-स्नात पशु और गृध्र यम के दूत कहे जाते हैं। ऋग्वेद के द्वितीय मंडल के 42-43 सूक्तों में कपिजल को कर्णधार की तरह वाणी का प्रेरक एवं मङ्गल-संपन्न माना गया है[1]।

हिंस्र पशु (§ 64)—

वेद में हिंस्र पशु सामान्यतया दानव रूप में आते दीखते हैं; अथवा यह कहिए कि वे दानवीय प्रवृत्तियां प्रदर्शित करते हैं। दानवों को ऋग्वेद में कभी-कभी उनके जातिवाचक 'मृग' शब्द से भी सूचित किया गया है[2]। 'और्णवाभ' दानव का 3 बार उल्लेख आया है[3]। उशरण नाम का एक और भी दानव है

1. कनिक्रदज्जनुषं प्र ब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
   सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभि भा विश्व्या विदत्॥ ऋ० 2.42.1.
   प्रदक्षिणिदभि गृणन्ति कारवो वयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तयः।
   उभे वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानु राजति॥ ऋ० 2.43.1. आदि
2. इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्।
   यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीः॥ ऋ० 1.80.7.
   दे० 5.29.4. पृ० 151.
   त्यस्य चिन्महतो निर्मृगस्य वधर्जघान तविषीभिरिन्द्रः। ऋ० 5.32.3.
3. दे० 2.11.18. पृ० 412.
   अहन् वृत्रमृचीषम और्णवाभमहीशुवम्। ऋ० 8.32.26.
   आदौ शवस्य ब्रवीदौर्णवाभमहीशुवम्। ते पुत्र सन्तु निष्टुरः॥ ऋ० 8.77.2

जिसका उल्लेख केवल 1 बार हुआ है[1]।

किंतु ऋग्वेद में सब से अधिक बार सर्प (अहि, अवेस्ता अज़्हि) का ज़िक्र आया है। साधारणतया यह वृत्र का ही एक अभिधान है। वृत्र का यह नाम संभवतः इसलिए पड़ा हो कि वह मानव जाति का दुर्दान्त शत्रु बनकर अपने शिकार को वृत्ताकार सर्प की भांति परिवेष्टित कर लेता है। वृत्रघ्न इन्द्र—जिन्हें अहि-हन्ता भी कहा गया है—अहि का वध करते हैं[2]। ऐसे स्थलों पर वृत्र और अहि का तादात्म्य सुव्यक्त हो जाता है जहां ये दोनों पद परस्पर परिवर्तनीय बन कर आते हैं[3]। 'प्रथमजा अहीनां' तो 'वृत्रो वृत्रतमः' को व्यक्त करने का ही दूसरा तरीका है। अनेक मन्त्रों में ये दोनों शब्द समानाधिकरण हैं और उनकी व्याख्या की जा सकती है—'सर्प-वृत्र'। जिन स्थलों पर अहि का अकेले ही उल्लेख आया है वहां भी युद्ध का परिणाम वही होता है जोकि वृत्र-युद्ध का, अर्थात् इन्द्र देव जलों को प्रवाहित करते, सातों सिन्धुओं को उन्मुक्त करते और गौओं को जीतते हैं। जलों को भी अहि परिवेष्टित करता है, और उसके इस व्यापार को परि+√धा आदि धातुओं के साथ√वृ धातु द्वारा भी व्यक्त किया गया है[4]। इसी प्रकार सिन्धुओं के विषय में भी कहा गया है कि उन्हें अहि ने ग्रस्त कर लिया था[5]। इस अहि के आयुध हैं :—विद्युत्, तन्यतु अर्थात् गर्जन, कुहरा और ह्रादुनि[6] (कड़क)। वह द्युतिमान् है, क्योंकि मरुतों को अहिभानवः अर्थात् अहि-जैसी प्रभा वाले बताया गया है[7]। अग्नि के लिए भी अहि (आगत्य हन्ता-सायण)

---

1. अध्वर्यवो य उरणं जघान नव चख्वांसं नवतिं च बाहून्।
   यो अर्बुदमव नीचा बबाधे तमिन्द्रं सोमस्य भृथे हिनोत ॥ ऋ० 2.14.4.
2. दे० 8.93.2. पृ० 414.
   त्वं वृत्रं शवसा जघन्वान्त्सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानान्। ऋ० 4.17.1.
3. दे० 1.32.1. पृ० 142. दे० 1.32.7. पृ० 140.
   दे० 1.32.10, 11, 13. पृ० 413, 410, 412 क्रमशः ॥
   अपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्। ऋ० 3.33.6.
4. अहिमिन्द्रो अर्णोवृतं वि वृश्चत्। ऋ० 2.19.2.
   स माहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्।
   अजनयत्सूर्यं विदद्गा अक्तुनाह्नां वयुनानि साधत् ॥ ऋ० 2.19.3.
5. त्वं वृत्रं शवसा जघन्वान्त्सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानान्। ऋ० 4.17.1.
   सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानान्। ऋ० 10.111.9.
6. नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद् ध्रादुनिं च।
   इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥ ऋ० 1.32.13.
7. मरुतो अहिभानवः। ऋ० 1.172.1.

पद का प्रयोग हुआ है[1]। सोम से एक बार प्रार्थना की गई है कि वह हमारे उपक्षयिता शत्रुओं को अहि के यहां भेज दें[2]। अहि का बहुवचन-रूप एक दानव जाति या अहि जाति का बोधक हो सकता है जिनके विषय में सोम से प्रार्थना की गई है कि वह उन्हें इस प्रकार मार दें जैसे पैद्व 'अश्व' अपने शत्रुओं को पैरों तले रौंद देता है[3]। हो सकता है इसी अहि जाति का 'प्रथमजा' अहि रहा हो[4]।

किंतु अहि-बुध्न्य के रूप में अहि देवता बनकर भी वेद में आता है। तब यह अहि वृत्र के शिव-पक्ष का प्रतिनिधान करते प्रतीत होते हैं।

बाद की संहिताओं में सांपों को गन्धर्व-जैसी अर्ध-दिव्य जाति माना जाने लगा है और उनका आवास पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में बताया गया है[5]। अथर्ववेद में उनका उल्लेख बहुत बार आया है। अथर्ववेद के एक सूक्त को सर्प-देवताओं का आह्वान माना गया है। सूत्रों में पृथिवी, वायु और द्युलोकस्थ सर्पों के लिए हविष्-दान का विधान मिलता है[6]। सर्पों की देवों, वनस्पतियों और दानवों आदि के साथ मिन्नत की जाती है[7], और उनके लिए शोणित गिराया गया है,

---

1. हिर॑ण्यकेशो॒ रज॑सो विसा॒रेऽहि॒र्धुनि॒र्वात॑ इव॒ ध्रजी॑मान्। ऋ० 1.79.1.
2. ये पा॑कशंसं वि॒हर॑न्त॒ एवै॒र्ये वा॑ भ॒द्रं दू॒षय॑न्ति स्व॒धाभि॑:।
   अह॑ये वा॒ तान्प्र॒ददा॑तु॒ सोम॒ आ वा॑ दधातु॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्थे॑ ॥ ऋ० 7.104.9.
3. इन्द्रो॒ न यो म॒हा कर्मा॑णि॒ चक्रि॑र्ह॒न्ता वृ॒त्राणा॑मसि सोम पू॒र्भित्।
   पै॒द्वो न हि त्वमहि॑नाम्नां ह॒न्ता विश्व॑स्यासि सोम॒ दस्यो॑: ॥

   ऋ० 9.88.4.

   इन्द्रो॒ दक्षं॒ परि॑ जानाद॒हीना॑म्। ऋ० 10.139.6
4. अह॑न्नेनं प्रथम॒जामही॑नाम्। ऋ० 1.32.3.
   यदि॒न्द्राह॑न्प्रथम॒जामही॑नामान्मा॒यिना॒ममि॑ना॒: प्रोत मा॒याः। ऋ० 1.32.4.
5. नमो॑ऽस्तु स॒र्पेभ्यो॒ ये के च॑ पृथि॒वीमनु॑।
   ये अ॒न्तरि॑क्षे ये दि॒वि तेभ्य॑: स॒र्पेभ्यो॒ नम॑: ॥ वा० सं० 13.6.
   ये अ॒न्तरि॑क्षं पृथि॒वीं क्षि॒यन्ति। ते न॑: स॒र्पासो॒ ह॒वमाग॑मिष्ठाः। ये रो॑च॒ने सूर्य॒स्यापि॑ स॒र्पाः। ये दिवं॑ दे॒वीमनु॑सं॒चरन्ति। येषा॑माश्रे॒षा अ॑नु॒यन्ति॒ काम॑म्। तेभ्य॑: स॒र्पेभ्यो॒ मधु॑मज्जुहोमि। तै० ब्रा० 3.1.1.6.
6. ये सर्पाः पार्थिवा य आन्तरिक्ष्या ये दिव्या ये दिश्यास्तेभ्य इमं बलिमाहार्षं तेभ्य इमं बलिमुपाकरोमीति। आ० गृ० सू० 2.1.9.
   आग्नेय पाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा। श्वेतवायवान्तरिक्षाणां सर्पाणामधिपतये स्वाहा। अभिभूः सौर्यं दिव्यानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा।

   पा० गृ० सू० 2.14.9.
7. वेदाः। देवाः। ऋषयः। सर्वाणि च छन्दांसि। ओङ्कारः। वषट्कारः। महाव्या-

इस कोटि की उपासना में सर्प को दानवीय स्वभाव का माना गया है; क्योंकि इस रूप में वह हिंस्र बनकर हमारे सामने आता है। कुछ ऐसे ही भाव से चींटियों के लिए भी कभी-कभी बलि का विधान किया गया है।

प्रागैतिहासिक धारणाओं के अवशेष (§ 65)—

आदि-काल में इस प्रकार की धारणा आम थी कि मनुष्य और पशु में तात्त्विक भेद नहीं है। इस धारणा के कारण ही मनुष्य मानव-वृक जैसे प्राणी की सत्ता में विश्वास रखते थे। मानव-वृक की कोटि के ही एक प्राणी हैं नर सिंह[1]! सच पूछिए तो नागों को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। नाग स्वरूप में तो मानव हैं किंतु प्रकृत्या सर्प हैं, जिनका सर्प नाम से पहली बार उल्लेख सूत्रों में आता है[2]। इस बात की संभावना कम प्रतीत होती है कि अर्वाचीन सर्प-पूजा का उद्भव वृत्र-अहि गाथा में था; उल्टे प्रतीत तो यह होता है कि सर्प-पूजा का विकास भारत के आदिम-वासियों की विश्वास-परम्परा से हुआ है। क्योंकि एक ओर जहां ऋग्वेद में सर्प-पूजा का नाम के लिए भी संकेत नहीं मिलता, वहां दूसरी ओर अनार्य भारतीयों में इसका व्यापक रूप से चलन पाया जाता है; और हो सकता है कि भारत पहुंचने पर आर्यों को इस देश में रहनेवाले आदिवासियों में सर्प-पूजा का चलन आम मिला हो।

ऋग्वेद में संभवत: पशु-प्रतीकवादी धारणा (totemism) के अवशेष भी मिलते हैं। पशु-प्रतीकवाद से तात्पर्य उस धारणा से है जिसके अनुसार मानव-जाति के वर्ग-विशेषों या कुल विशेषों को पशु-विशेषों या वनस्पति-विशेषों से उत्पन्न

हृतयः। सावित्री। यज्ञाः। द्यावापृथिवी। नक्षत्राणि। अन्तरिक्षम्। अहोरात्राणि। संख्या। संध्या। समुद्राः। नद्यः। गिरयः। क्षेत्रौषधिवनस्पतिगन्धर्वाप्सरसः। नागाः। वयांसि सिद्धाः। साध्याः। विप्राः। यक्षाः। रक्षांसि। भूतान्येवमन्तानि तृप्यन्तु। शां० गृ० सू० 4.9.3.

दिव्यानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा दिव्येभ्यः सर्पेभ्यः स्वाहा। शां०गृ०सू० 4.15.4.

देवा ऋषयः सर्वाणि छन्दांस्योंकारो वषट्कारो व्याहृतयः सावित्री यज्ञा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षमहोरात्राणि सांख्याः सिद्धाः समुद्रा नद्यो गिरयः क्षेत्रौषधिवनस्पतिगन्धर्वाप्सरसो नागा वयांसि गावः साध्या विप्रा यक्षा रक्षांसि भूतान्येवमन्तानि। आ० गृ० सू० 3 4.1.

1. पुरुषव्याघ्राय दुर्मदम्। वा० सं० 30 8.
   ऋक्षीकाः पुरुषव्याघ्रा परिमोषिण आव्याधिन्यस्तस्करा अरण्येष्वाजायेरन्।
   शत० ब्रा० 13.2.4.2.

2. दे० आ० गृ० सू० 3.4.1. ऊपर।

हुआ माना जाता है। कश्यप (कच्छप) एक ऋषि[1] का एवं एक पुरोहित-कुल[2] का नाम है। यह नाम अथर्ववेद और परवर्ती वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है, जहां इसे सर्ग-शक्ति-संपन्न माना गया है और स्रष्टा प्रजापति के नाम से याद किया गया है। शतपथ ब्राह्मण[3] में प्रजापति कूर्म के रूप में उभरते हैं। शतपथ यह भी कहता है कि चूंकि कूर्म का कश्यप के साथ तादात्म्य है इसलिए मनुष्य कहते हैं : सभी प्राणी कश्यप के अपत्य हैं। ऋग्वेद[4] में कतिपय वर्गों के नाम ये हैं : मत्स्य (सायण के अर्थ भिन्न हैं)। अज, शिग्रु, वेद में आये पुरोहित-कुलों के नाम हैं : गोतम (बैल), वत्स (बछड़ा), शुनक (कुत्ता), कौशिक (उलूक), और मांडूकेय (मेंढक का अपत्य)। संवरण के पिता ऋक्ष का भी ऋग्वेद[5] में प्रसंग आता है; कुरुओं की उत्पत्ति इन्हीं से बताई जाती है। बाद के संस्कृत साहित्य में ऋक्ष रीछ मात्र का वाचक रह गया है। यह सब-कुछ होने पर भी हॉप्किन्स को इस बात के विषय में संदेह है कि ऋग्वेद में पशुओं के नाम पशु-प्रतीकवाद की ओर निर्देश करते हैं या नहीं ?

दिव्यीकृत पार्थिव पदार्थ (§ 66)—

प्रकृति के दृश्यों और शक्तियों के साथ-साथ, जोकि बहुधा अन्तरिक्ष-स्थानीय एवं द्युस्थानीय हैं, पृथिवी और पृथिवी की सतह पर के विविध प्राकृतिक एवं कृत्रिम पदार्थ भी ऋग्वेद में देवता माने गये हैं और इन अचेतन पदार्थों की मिन्नत-समाजत को मनुष्यों के लिए विशेष-रूप से उपयोगी बताया गया है। वैदिक मानव की इस प्रवृत्ति को हम सर्वदेववादी धारणा नहीं कह सकते, क्योंकि इस धारणा के अनुसार प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् देवता माना जाता है ; अलबत्ता इसे हम देवाश्रयात्मक (Fetishistic) कह सकते हैं।

नदियों का वर्णन—जिनकी विग्रहवत्ता देवियों के रूप में हुई है—पहले किया जा चुका है।

ऋग्वेद के आर्य को पर्वतों में एक ख़ास प्रकार की चेतना दीख पड़ती थी।

---

1. ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः। ऋ० 9.114.2.
2. असितमृगाः कश्यपानां सोमपीथमभिजिग्युः। ऐ० ब्रा० 7.27.
3. दे० शत० ब्रा० 7.5.1.5. पृ० 394.
4. पुरोळा इत्तुर्वशो यक्षुरासीद् राये मत्स्यासो निशिता अपीव। ऋ० 7.18.6.
आ पक्थासो भलानसो भनन्तालिनासो विषाणिनः शिवासः। ऋ० 7.18.7.
आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत्।
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि॥ ऋ० 7.18.19.
5. ऋज्राविन्द्रोत आ ददे हरी ऋक्षस्य सूनवि। अश्वमेधस्य रोहिता। ऋ० 8 68.15.

देवता के रूप में लगभग 4 बार एकवचन में और 20 बार बहुवचन में पर्वतों का प्रयोग आया है। देव-रूप में वे कभी भी अकेले नहीं आते ; अपितु अन्य प्राकृतिक पदार्थों के साथ आते हैं : जैसे कि जल, नदी, वनस्पति, वीरुध् और द्यावा-पृथिवी[1] अथवा सविता, इन्द्र एवं कुछ अन्य देवता[2]। वे वीर्य-संपन्न वृष हैं, अचल आवास वाले हैं और खाद्य सामग्री में मानव की तरह वे भी आनन्द लेते हैं[3]। पर्वत का 3 बार इन्द्र के साथ देवता-द्वन्द्व में भी आह्वान हुआ है—इन्द्रा-पर्वता[4]। यह देवताद्वयी एक विपुलाकार रथ पर बैठकर चलती है। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमें पुत्र-पौत्रोपेत वननीय भोज्य प्रदान करें[5]। यह पर्वत अद्रि-देव जैसे प्रतीत होते हैं, जिन्हें मानव-आकार में इन्द्र का साथी दिखाया गया है।

ओषधियों को भी दिव्य विग्रहवत्ता की दृष्टि से सराहा गया है। ऋग्वेद का एक सकल विशाल सूक्त[6] उनकी स्तुति में, विशेषतया उनकी भैषज्यमयी शक्ति को लक्ष्य करके, कहा गया है। ओषधियों को माताएं और देवियां बताया गया है और सोम को उनका राजा। एक अन्य ग्रन्थ में भेषज के रूप में बरती जानेवाली ओषधियों को पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाली देवियां तक कहा गया है[7]। अपत्य की प्राप्ति में वनस्पतियों का हाथ रहता है और इस निमित्त उन्हें पशु-बलि तक प्रदान की जाती है[8]।

वनस्पतियों का भी कुछेक बार देव-रूप में, एकवचन या बहुवचन में, मुख्यतः सलिलों एवं पर्वतों के साथ आह्वान हुआ है[9]। परवर्ती ग्रन्थों में विवाह-अवसर

---

1. तन्नो रायः पर्वतास्तन्न आपस्तद् रातिषाच ओषधीरुत द्यौः।
   वनस्पतिभिः पृथिवी सजोषा उभे रोदसी परि पासतो नः॥ ऋ० 7.34 23.
2. तन्नोऽहिर्बुध्न्यो अद्भिरर्कैस्तत्पर्वतस्तत्सविता च नो धात्।
   तदोषधीभिरभि रातिषाचो भगः पुरंधिर्जिन्वतु प्र राये॥ ऋ० 6.49.14.
3. शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः। ऋ० 3 54.20.
4. शिशीतमिन्द्रापर्वता युवं नः। ऋ० 1.122.3.
   युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा ये नः पृतन्यादप तंतमिद्धतम्। ऋ० 1.132 6.
5. इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः।
   वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिळया मदन्ता॥ ऋ० 3.53.1.
6. या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
   मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ ऋ० 10.97.1. आदि पूर्णसूक्त
7. देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे। अथ० 6.136.1.
8. ओषधीभ्यो वेहत तमालभेत प्रजाकाम ओषधयो वा एतं प्रजायै परि बाधन्ते।
   तै० सं० 2 1.5.3.
9. वनस्पतिभिः पृथिवी सजोषा उभे रोदसी परि पासतो नः। ऋ० 7.34.23.

पर विशाल वृक्षों के लिए पूजा-अर्पण का विधान आता है।

वन-देवी को अरण्यानी के नाम से ऋग्वेद के दशम मण्डल के 146वें सूक्त में बुलाया गया है। यहां उसे मृगों की माता कहा गया है जो अकृष्टा होकर भी शस्य-संपन्न है, और उसकी घनघोर निर्जनता में सुनाई पड़नेवाले शब्दों का फड़कते शब्दों में चित्रण किया गया है[1]। इतना होने पर भी ओषधियों, वृक्षों और वन-देवों को न केवल ऋग्वेद में अपितु अथर्ववेद में एवं निम्नतर कोटि के गृह्य कर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिल पाया है। अलबत्ता बौद्ध साहित्य में मानव-जीवन के साथ उनका संबन्ध निम्न कोटि के दूसरे देवताओं की अपेक्षा कहीं बढ़ कर सामने आता है।

उपकरण—

कुछेक अचेतन पदार्थों की भी विग्रहवत्ता करके उपासना की गई है। इन पदार्थों में यज्ञ के विविध उपकरण संमिलित हैं। इनकी विग्रहवत्ता को बार्थ महाशय ने भ्रामक शब्दों में 'याज्ञिक सर्व-देववाद' कह दिया है। उपकरणों में सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण है—यज्ञ-यूप, जिसकी वनस्पति या स्वरु इस नाम से ऋग्वेद के तृतीय मंडल के अष्टम सूक्त में विग्रहवत्ता उभारी गई है। यूप का यहां कुल्हाड़ी से सुकृत्त एवं यतस्रुक् पुरोहितों द्वारा निर्मित, अर्थात् पुरोहितों द्वारा अच्छी तरह ठुके हुए रूप में वर्णन करके उससे प्रार्थना की गई है कि वह हविष् को देवताओं तक पहुंचा देवे[2]। गाड़े गये यूपों के विषय में कहा गया है कि वे देवता

त्रिःसप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वताँ अग्निमूतये। ऋ० 10.64.8.
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।
आपो वातः पर्वतासो वनस्पतिः शृणोतु पृथिवी हवम्। वा० खि० 6.4.

1. अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती३ँ॥ ऋ० 10.146.1.
वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते॥ ऋ० 10.146.2.
आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥ ऋ० 10.146.6.

2. अञ्जन्ति त्वामध्वरे त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन।
यदूर्ध्वस् तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद् यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे॥ ऋ० 3.8.1.
ये वृक्णासो अधि क्षमि निमितासो यतस्रुचः।
ते नो व्यन्तु वार्यं देवत्रा क्षेत्रसाधसः॥ ऋ० 3.8.7.
हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः।

हैं और मंडराते हंसों की श्रेणियों की तरह हमारे पास आये हैं और कवियों द्वारा उन्नीयमान होने पर ये देवता, देवताओं के पथ पर अग्रसर हो जाते हैं[1]। आप्री सूक्त के दशम या एकादश मन्त्र में यूप का वर्णन आता है कि उसे घी द्वारा तीन बार मार्जित किया जाता है और उससे प्रार्थना की जाती है कि वह हविष् को देवताओं के पास पहुँचने दे। उन्हीं सूक्तों के अन्य मन्त्रों में बर्हि को 2 बार[2] देवता कहा गया है और यज्ञशाला के द्वार को अनेक बार 'देवीः द्वारः' बताया गया है[3]।

ग्रावन् या अद्रि का 3 सूक्तों में विग्रहवत्त्व संपन्न हुआ है[4]। उन्हें अमर्त्य, अजर और स्वर्ग से भी बलवत्तर बताया गया है। सवन करते समय वे अश्व या वृषभ की तरह दीखते हैं और उस समय की उनकी ध्वनि स्वर्ग तक जा पहुंचती है। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे दानवों और निर्ऋति का अपसारण करके हमें धन और अपत्य प्रदान करें। ऋग्वेद के दो मन्त्रों[5] में मुसल-उलूखल से प्रार्थना की गई है कि वे द्युमत्तम ध्वनि उत्पन्न करें और इन्द्र के लिए सोम-सवन करें।

अथर्ववेद के एकादश काण्ड के 27 मन्त्रों वाले सप्तम सूक्त में उच्छिष्ट 'यज्ञावशेष' को एवं विविध यज्ञ-स्रुवाओं को दिव्य-शक्ति-संपन्न बताते हुए उन्हीं में अशेष जगती का प्रतिष्ठान दिखाया गया है।

उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद्देवा देवानामपि यन्ति पाथः ॥ ऋ० 3.8.9.

1. यान् वो नरो देवयन्तो निमिम्युर्वनस्पते स्वधितिर्वा ततक्ष।
   ते देवासः स्वरवस्तस्थिवांसः प्रजावदस्मे दिधिषन्तु रत्नम् ॥ ऋ० 3.8.6.
   हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः।
   उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद् देवानामपि यन्ति पाथः ॥ ऋ० 3.8.9.
2. देवं बर्हिर्वर्धमानं सुवीरं स्तीर्णं राये सुभरं वेद्यस्याम्। ऋ० 2.3.4.
   वनस्पतिरवसृजन्नुप स्थाद्। ऋ० 2.3.10.
   अहेळता मनसा देव बर्हिरिन्द्रज्येष्ठाँ उशतो यक्षि देवान्। ऋ० 10.70.4.
3. देवीर्द्वारो वि श्रयध्वं सुप्रायणा न ऊतये। प्रप्र यज्ञं पृणीतन। ऋ० 5.5.5.
4. आ व ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिष्विन्द्रं मरुतो रोदसी अनक्तन। ऋ० 10.76.1. आदि
   प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः। ऋ० 10.94.1. आदि
   प्र वो ग्रावाणः सविता देवः सुवतु धर्मणा। धूर्षु युज्यध्वं सुनुत। ऋ० 10.175.1.
5. यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे।
   इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ ऋ० 1.28.5.
   उत स्म ते वनस्पते वातो वि वात्यग्रमित्।
   अथो इन्द्राय पातवे सुनु सोममुलूखल ॥ ऋ० 1.28.6.
   उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।

शुन और सीर नाम के कृषि-संबन्धी देवताओं का भी ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों[1] में आह्वान हुआ है और उनके लिए यज्ञ[2] में पुरोडाश अर्पण करने का विधान मिलता है।

अन्ततः आयुधों का भी कभी-कभी दिव्यीकरण संपन्न हुआ है। ऋग्वेद का एक सकल सूक्त[3] विविध आयुधों की प्रशंसा में कहा गया है : जैसे कवच, धनुष्, बाण और तूणीर। देवता के रूप में बाण की प्रशंसा की गई है और उससे कहा गया है कि वह हमारी शत्रुओं के मध्य सुरक्षा करें। दुन्दुभि का आह्वान आपदों और दानवों का अपसारण करने के लिए किया गया है और अथर्ववेद में एक सकल सूक्त[4] दुन्दुभि की प्रशंसा में आया है।

प्रतीक—

उत्तर वैदिक-कालीन साहित्य में भौतिक पदार्थों का उल्लेख कभी-कभी देवताओं के प्रतीक के रूप में हुआ है; और हो सकता है कि ऐसे स्थलों पर प्रतिमा से तात्पर्य रहा हो। उदाहरण के लिए जहां ऋग्वेद में एक कवि कहता है : 'कौन मेरे इस इन्द्र को दश गौएं देकर ख़रीदेगा ? जब मेरा इन्द्र उसके शत्रुओं का वध कर चुकेगा तब वह क्रेता मेरे इन्द्र को मुझे लौटा देगा[5]। ब्राह्मणों के प्रक्षिप्तांशों और सूत्रों में तो प्रतिमा के संकेत साफ़ झलकते हैं।

उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ अथ० 11.7.1 आदि पू० सू०

1. शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्।

ऋ० 4.57.5.

दे० 4 57.6. एवं 7 पृ० 359.

2. अथ शुनासीर्यो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति। शत० ब्रा० 2 6.3.5.
3. जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद् वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वं स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु ॥ ऋ० 6.75.1. आदि पू०
सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥ ऋ० 6.75.11.
आलाक्ता या रुरुशीर्ण्यथो यस्या अयो मुखम्।
इदं पर्जन्यरेतस इष्वै देव्यै बृहन्नमः ॥ ऋ० 6.75 15.
4. उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन्वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः। अथ० 5.20 1.
5. क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत् ॥ ऋ० 4.24.10.
महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥ ऋ० 8.1.5.

विविध यज्ञ-कार्यों में सूर्य की गति और उसके आकार का बोधक होने के कारण चक्र सूर्य का प्रतीक बनकर आता है। उदाहरणार्थ वाजपेय यज्ञ में इसका उपयोग अग्नि-संस्थापन के अवसर पर होता है। वेदोत्तरकालीन साहित्य में यह चक्र विष्णु का एक प्रधान आयुध बन गया है।

अस्ताचल को जाते समय जल को खींचने वाले सूर्य का प्रतीक सुवर्ण अथवा अंगार को बनाया जाता था[1]; और जब यज्ञाग्नि को सूर्यास्त से पूर्व समिद्ध न करके बाद में समिद्ध किया जाता था तब सूर्य का प्रतीक सवर्ण को बनाकर रखा जाता था[2]। अग्नि-वेदि का चयन करते समय भी स्वर्ण-चक्र का उपयोग सूर्य के प्रतीक रूप में किया जाता था[3]।

ऋग्वेद के दो मन्त्रों में 'शिश्नदेवाः' पद आता है। इससे झलक सकता है कि प्राचीन वैदिक काल में भी लिंग-पूजा का प्रचार रहा होगा और उसके लिए किसी प्रतीक-विशेष का भी चलन रहा होगा। किंतु इस प्रकार की उपासना ऋग्वेदीय धार्मिक धारणाओं के विपरीत प्रतीत होती है, क्योंकि इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वे शिश्न-देवों को ऋत अर्थात् यज्ञ के समीप न फटकने दें[4] और साथ ही यह भी आता है कि सौ फाटकों वाले दुर्ग को दलते समय इन्द्र ने शिश्न-देवों का वध किया था[5]। वेदोत्तर काल में लिंग को शिव की उत्पादक शक्ति का प्रतीक माना जाने लगा और इसकी पूजा भारत में सब जगह फैल गई।

असुर और राक्षस

असुर (§ 67)—

सौख्यदायी देवों के साथ-साथ कुटिल स्वभाव वाले प्राणी भी ऋग्वेद में आते हैं, जिन्हें विविध नामों से पुकारा जाता है। संपूर्ण वैदिक साहित्य में इस प्रकार के द्युःस्थ दानवों को असुर कहा गया है, जो गाथेय युद्धों में देवों के अथक

---

1. उल्कुषीमेवादायोपपरेयात्तामुपर्युपरि धारयन् गृह्णीयाद्धिरण्यं वोपर्युपरि धारयन् गृह्णीयात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति। शत० ब्रा० 3.9.2.9.
2. हरितं हिरण्यं दर्भे प्रबध्य पश्चाद्धर्तवै ब्रूयात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति। शत० ब्रा० 12.4.4.6.
3. अथ रुक्ममुपदधाति। असौ वा आदित्य एष रुक्म एष हीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते रोचो ह वै तं रुक्म इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति स हिरण्मयो भवति परिमण्डलः। शत० ब्रा० 7 4.1.10.
4. मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः। ऋ० 7.21.5.
5. अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत्। ऋ० 10.99.3.

प्रतिद्वन्द्वी रहते आये थे और जो शायद ही कहीं पर मानव-शत्रु के रूप में आये हों[1]। किंतु ऋग्वेद में ही 'असुर' शब्द का प्रयोग 'राक्षस' अर्थ में कुछ बार आ जाता है। इनमें से बहुवचन में केवल 4 बार यह शब्द 'अदेव' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र से कहा गया है कि वह अदेव असुरों का अपनोदन कर दें[2]। अन्यथा देवों के प्रतिद्वन्द्वि-रूप में असुरों का केवल दशम मंडल में उल्लेख मिलता है। देवों ने असुरों का वध किया[3]। तब अग्नि प्रतिज्ञा करते हैं कि वे एक ऐसा महत्व-शाली सूक्त रचेंगे जिसके द्वारा देवता लोग असुरों को पराभूत कर देंगे[4]। यहां तक कहा गया है कि देवों ने उद्गूर्ण-बल असुरों के प्रति श्रद्धा धारण की[5]। असुर शब्द 3 बार दैत्य-विशेष का अभिधान बनकर आता है। बृहस्पति से प्रार्थना की गई है कि वे प्रतप्त पाषाण (सायण 'अशिन'; वरिणा=वरिम्णा) द्वारा वृकद्वरस् के वीरों का संहार कर दें[6]। ऋजिश्वा के साथ मैत्री करके इन्द्र ने मायावी पिप्रु असुर के दृढ़ किलों को भेद दिया[7]। इन्द्रा-विष्णू ने शम्बर के 99 किले तोड़ डाले और वर्चिन् के 100000 बहादुरों को धराशायी किया[8]। 'असुरहन्' इस पद में भी असुर शब्द का अशिव अर्थ संनिहित है और यह 3 बार आता है: एक बार इन्द्र के लिए[9], एक बार अग्नि के लिए और एक बार सूर्य के लिए[10]। पुरानी वैदिक धारणा के अनुसार एक देवता का एक ही राक्षस के साथ युद्ध होना उचित था जैसाकि इन्द्र और वृत्र का। किंतु बाद में यह धारणा देव-सामान्य और असुर-सामान्य के पारस्परिक युद्ध में परिवर्तित

---

1. यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः।
   अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥ अथ० 8.6.5.
2. अनायुधासो असुरा अदेवाश्चक्रेण ताँ अप वप ऋजीषिन्। ऋ० 8.96.9.
3. हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः। ऋ० 10.157.4.
4. तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
   ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम् ॥ ऋ० 10.53 4.
5. यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
   एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ऋ० 10.151.3.
6. बृहस्पते तपुषाश्नेव विध्य वृकद्वरसो असुरस्य वीरान्। ऋ० 2.30.4.
7. दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना। ऋ० 10.138.3.
8. इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।
   शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥ ऋ० 7.99.5.
9. पुरुहूत पुरुवसोऽसुरघ्नः। ऋ० 6.22.4.
10. प्राग्नये विश्वशुचे धियंधेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम् ॥ ऋ० 7.13.1.
    ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा। ऋ० 10.170.2.

हो गई और इसमें देवों और असुरों को दो प्रतिद्वन्द्वी दलों में एक-दूसरे के प्रतिकूल खड़ा कर दिया गया। ब्राह्मणों की धारणा कुछ ऐसी ही है। इन ग्रन्थों में आनेवाले देवासुर-युद्धों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें आरम्भ में देवताओं की पराजय होती है किंतु वे तरह-तरह की चालें चलकर बाद में विजय प्राप्त कर लेते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमें विष्णु-गाथा में मिलता है; जिसमें विष्णु देवों की ओर से वामन बनकर 3 क्रमण करते हैं और बाद के कथा-साहित्य में ऐसा करके बलि को पाताल में पठाते हैं।

ब्राह्मणों में असुरों का संबन्ध अन्धकार के साथ है[1]; दिन का संबन्ध देवों के साथ है और रात्रि का असुरों से[2]। फिर भी असुरों को सदा प्रजापति की संतान बताया गया है, और कहा गया है कि प्रारंभ में असुर भी देवों-जैसे ही थे। संभवतः इसी कारण दैत्य स्वभाव वाले प्राणियों को भी कभी-कभी 'देव' कह कर बुलाया गया है[3]।

अथर्ववेद और उससे बाद के साहित्य में असुर शब्द का अर्थ निरा राक्षस रह गया है। किंतु अवेस्ता में 'अहुर्' सर्वोच्च देवता का नाम है। इससे यह बात व्यक्त होती है कि असुर शब्द का पुराना असली अर्थ 'देव' है, जैसाकि रुद्र को 'असुर देव'[4] कहने से ज्ञात होता है। 'देव' अर्थ से हटकर 'असुर' अर्थ में परिवर्तन होने का कारण उस राष्ट्रिय संघर्ष को बताया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वैदिकेतर आर्यों के असुर 'देवता' वैदिक आर्यों के लिए 'दैत्य' बन गये थे। किंतु ऐसा मानने के लिए परंपरा-संबन्धी प्रमाण नहीं मिलते। सच पूछो तो इस परिवर्तन का समाधान स्वयं वेद के ही निम्न-लिखित विकास में मिल जाता है। 'देव' शब्द के अर्थ में और 'असुर' शब्द के प्राचीन अर्थ में एक विशेषता है। वेद में 'असुर' शब्द का प्रयोग खासतौर से वरुण अथवा मित्र-वरुण के लिए किया गया है, जिनकी माया में 'गंभीर मानसिक शक्ति' का सविशेष निधान है। किंतु इसी माया शब्द का प्रतिद्वन्द्वियों के हस्तलाघव के लिए भी प्रयोग हुआ है और इस प्रकार

---

1. अथ हैनं शश्वदप्यसुरा उपसेदुरित्याहुः।
तेभ्यस्तमश्च मायां च प्रददौ॥ शत० ब्रा० 2 4.2 5.
2. अहर्देवानामासीद्रात्रिरसुराणाम्। तै० सं० 1.5.9.2.
3. ये देवा यज्ञहनो यज्ञमुषः पृथिव्यामध्यासते। अग्निर्मा तेभ्यो रक्षतु गच्छेम सुकृतो वयम्।
यज्ञहनो वै देवा यज्ञमुषः सन्ति। तै० सं० 3.5.4.1.
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध।
अथ० 3.15.5.
4. यक्ष्वा महे सौमनसाय नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य। ऋ० 5.42.11.

'असुर' शब्द शनैः-शनैः 'अभद्र' अर्थ के साथ जा लगा है[1]। हो न हो वैदिक कवियों के लिए 'असुर' शब्द का अर्थ 'गंभीर मानसिक शक्ति वाला' यह रहा था और ऐसी अवस्था में इसका प्रयोग देवताओं के प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी होता रहा होगा। ऋग्वेद के एक सूक्त[2] में तो दोनों अर्थों की प्रतीति स्पष्ट हो जाती है। ऋग्वेद-काल के अन्तिम चरण में 'असुर' शब्द का देवताओं के लिए व्यवहार बन्द होने लगा। इस प्रवृत्ति को इस बात से और भी बल मिल गया कि ऊंची कोटि के दैत्यों का बोध कराने के लिए किसी अच्छे शब्द के न मिलने पर उस समय के व्युत्पत्तिकारों ने 'असुर' शब्द को नकारात्मक मान लिया और इसके एक भाग 'सुर' को देवता के अर्थ में बरतना आरम्भ कर दिया। 'सुर' शब्द का सर्व-प्रथम प्रयोग उपनिषदों में मिलता है।

पणि—

अन्तरिक्ष के तुंगतर पटल में रहनेवाला दैत्यों का एक वर्ग 'पणि' है, जो प्रारम्भ में इन्द्र का शत्रु था[3] और बाद में इन्द्र के सहकारी सोम, अग्नि, बृहस्पति और अंगिरस् सभी का समान शत्रु बन गया। लगभग उन सभी मन्त्रों[4] में, जिनमें पणियों का उल्लेख आता है, इनकी गौओं का निर्देश इनकी संपत्ति के रूप में मिलता है[5]। इसी प्रकार का एक संकेत वहां भी मिलता है जहां अग्नि पणियों के द्वार को खोलते हैं[6]। एक मंत्र में आता है कि देवों ने पणियों द्वारा गौ में निगूढ़ घृत

---

1. निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन् त्वं च मा वरुण कामयासे। ऋ० 10.124.5.
   दृळहानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना। ऋ० 10.138.3.
2. इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्। ऋ० 10.124.1. आदि पू०
   अदेवाद्देवः प्रचता गुहा यन् प्रपश्यमानो अमृतत्वमेमि।
   शिवं यत् सन्तमशिवो जहामि स्वात् सख्यादरणीं नाभिमेमि॥ ऋ० 10.124.2.
   देखो विशेषतः 10.124.3.5.
3. शतैरपद्रन् पणय इन्द्रात्र दशोणये कवयेऽर्कसातौ।
   वधैः शुष्णस्याशुषस्य मायाः पित्वो नारिरेचीत् किं चन प्र॥ ऋ० 6.20.4.
   अयमुशानः पर्यद्रिमुस्रा ऋतधीतिभिर्ऋतयुग्युजानः।
   रुजदरुग्णं वि वलस्य सानुं पणीँर्वचोभिरभि योधदिन्द्रः॥ ऋ० 6.39.2.
4. किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः। ऋ० 10.108.1. आदि
   दे० 6.39.2. ऊपर।
5. निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्। ऋ० 2.24.6.
   त्वं त्यत्पणीनां विदो वसु। ऋ० 9.111.2.
6. स सुक्रतुर्यो विदुरः पणीनां पुनानो अर्कं पुरुभोजसं नः। ऋ० 7.9.2.

को ढूंढ़ लिया[1]। पणियों के विषय में कहा गया है कि उन्हें सौ सिर पटकने पर भी मित्र-वरुण की महत्ता नहीं मिल सकी[2]।

ऋग्वेद में 'पणि' शब्द बहुवचन में लगभग 16 बार आया है, किंतु समुदाय के अर्थ में एकवचन में भी इसका 4 बार प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए; वर्णन आता है कि इन्द्र (या अग्नि-सोम) ने दुधारू धेनुओं के परिधाता वल को रव के साथ मारकर उसकी गौएं लूट लीं[3]। एक जगह सोम से कहा गया है कि हे सोम ! तुम भसकनेवाले पणि को नष्ट कर दो, क्योंकि वह तो सवा सोलह आने वृक है[4]। दक्षिणा देने में कृपणता बरतनेवालों का बोधक बनकर 'पणि' शब्द बार-बार आता है और तब इसका प्रयोग बहुतायत से एकवचन में होता है। उसका 'कृपण' यह अर्थ गाथात्मक विकास के द्वारा उन दैत्यों पर जा पड़ा जो स्वर्ग की स्वर्णराशि को आवृत किये रहते हैं।

दास या इसके पर्याय 'दस्यु' शब्द का भी अन्तरिक्षस्थ दैत्यों के अर्थ में प्रयोग आया है। दास का इतिहास 'वृत्र' के इतिहास से भिन्न प्रकार का है। हो सकता है कि 'दास' शब्द मूलतः आर्यों के शत्रु भारतीय आदिवासियों के लिए आता रहा हो ; किंतु ऋग्वेद में इससे कभी-कभी गाथेय प्राणियों के वर्ग का भी बोध होता है। क्योंकि ऋग्वेद में ऐतिहासिक और गाथेय तत्त्वों के बीच की रेखा कुछ धुंधली-सी पड़ गई है। यह बात विशेष रूप से दास व्यक्तियों के विषय में अधिक चरितार्थ होती है। इनमें से कुछ नामों का गाथात्मक ढंग से व्याख्यान किया जाता है, जैसेकि शुष्ण का; किंतु दूसरे नाम तो अनार्यमात्र के बोधक समझे जा सकते हैं, जैसेकि 'इलीविश'।

'दस्यु' शब्द के एकवचन[5] और बहुवचन[6] दोनों तरह के रूप इन्द्र द्वारा पराभूत हुए शत्रुओं का अभिधान बनकर आते हैं। कभी-कभी ये रूप वृत्र-हत्या के

1. त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्। ऋ० 4.58.4.
2. न वां द्यावोऽहभिर्नोत सिन्धवो न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम्।
ऋ० 1.151.9.
3. इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत्पणिमा गा अमुष्णात्॥ ऋ० 10.67.6.
अग्नीषोमा चेति तद् वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।
अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः॥ ऋ० 1.93.4.
4. ग्रावाणः सोम नो हि कं सखित्वनाय वावशुः।
जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः॥ ऋ० 6.51.14.
5. यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः। ऋ० 2.12.10.
6. इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरत्। ऋ० 1.101.5.

प्रसंग में भी आते हैं[1]। फलतः इन्द्र को कभी-कभी 'उग्र दस्युहा' भी कहा गया है[2]। दभीति के हितार्थ इन्द्र ने अपनी माया से 30,000 दासों को धराशायी किया[3] और दभीति के लिए ही उन्होंने एक हजार दस्युओं को रस्सी के बिना ही फांसी देकर मार डाला[4]। इन्द्र ने दध्यञ्च् (और) मातरिश्वा के लिए दस्युओं से गो-व्रज जीत कर धन प्राप्त किया[5]। जिन स्थलों पर आर्य और दस्यु अथवा दास दोनों ही प्रकार के शत्रुओं के विरोध में इन्द्र से सहायता[6] मांगी गई है अथवा जहां यह आता है कि इन्द्र आर्यों और दस्युओं अथवा दासों के भेद को पहचानते हैं[7] वहां निःसंदेह दास और दस्यु का तात्पर्य लौकिक शत्रुओं से रहता है। और हो सकता है कि जहां इन्द्र आर्यों की तरफ़ से दस्युओं के साथ युद्ध करते हैं वहां भी तात्पर्य इन्हीं शत्रुओं से रहा हो[8]। बहुधा विजेता आर्य दासों को अपना बन्दी बना लेते थे, इस कारण ऋग्वेद में दो-तीन बार यह शब्द 'बन्दी' अर्थात् 'किंकर' के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, जो उत्तर-वैदिक काल में इस शब्द का साधारण अर्थ बन गया है[9]। दूसरी ओर वे दस्यु, जो अपनी माया के बल से द्युलोक में पहुंचना चाहते हैं और जिन्हें इन्द्र नीचे धकेल देता है[10], जिन रोतों हुओं को वह स्वर्ग से नीचे फेंक

1. अरंन्धयः शर्धत इन्द्र दस्यून्। ऋ० 6.23.2.
2. स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः। ऋ० 1.100.12.
   दे० 1.51.6. पृ० 410.
3. अस्वापयद् दभीतये सहस्रा त्रिंशतं हथैः। दासानामिन्द्रो मायया। ऋ० 4.30.21.
4. अरज्जौ दस्यून्त्समुनब्दभीतये सुप्राव्यो अभवः सास्युक्थ्यः। ऋ० 2.13.9.
5. अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने।
   ऋ० 10.48.2.
6. यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुताऽदेव इन्द्र युधये चिकेतति।
   अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान् वनुयाम संगमे। ऋ० 10.38.3.
7. वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवः। ऋ० 1.51.8.
   अयमेमि वि चाकशद् वि चिन्वन् दासमार्यम्। ऋ० 10.86.19.
8. त्वं ह नु त्यददमायो दस्यूँरेकः कृष्टीरवनोरार्याय। ऋ० 6.18.3.
   यद्वा दक्षस्य बिभ्युषो अबिभ्यदरन्धयः शर्धत इन्द्र दस्यून्। ऋ० 6.23.2.
   आभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीरार्याय विशोऽव तारीर्दासीः। ऋ० 6.25.2.
9. अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः। ऋ० 7.86.7.
   शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनाम्।
   शतं दासाँ अति स्रजः॥ वा० खि० 8.3.
10. मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः। अव दस्यूँरधूनुथाः॥ ऋ० 8.14.14.
    यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥ ऋ० 2.12.12.

कर भस्म कर डालता है[1], जिन्हें वह चुटकी भर में अपने पैरों तले रौंद डालता है[2], या जिनके विरोध में वह दासों के ओज को चकनाचूर करके देवों की सहायता करता है[3], ये सभी सचमुच दानव रहे होंगे। और हो सकता है कि यही तात्पर्य वहां भी रहा हो जहां कुहरा और अन्धकार को फैलाते हुए (नष्ट कर दिया—सायण) इन्द्र दस्यु पर धावा बोलते हैं[4], अथवा दस्युओं और शिम्युओं (सायण—वधकारिणः) को मारने के उपरांत वे श्वेतवर्ण सखाओं के साथ क्षेत्र को, वृत्र द्वारा तिरोहित सूर्य को, और जलों को प्राप्त करते हैं[5], अथवा जहां देवता लोग पृतनाषाट् अग्नि के द्वारा दस्युओं को पराभूत करते हैं[6]। संभवतः 'जलों के स्वामी' दास से भी दैत्य ही अभिप्रेत रहा हो[7]। दासों के 7 दुर्ग, जिन्हें वृत्र-पुर की भांति 'शारद' बताया गया है[8], निःसंदेह अन्तरिक्ष से संबन्ध रखते हैं।

दास और दस्यु इन दोनों शब्दों का मौलिक अर्थ है—'दासक (घातक) शत्रु', और गौण अर्थ है—'दानव'। अनेक बार ये दोनों शब्द दानव व्यक्तियों के नाम के साथ जाति-बोधक बनकर भी आते हैं। दानवों के ऐसे नाम हैं—नमुचि[9], शंवर, शुष्ण, पिप्रु, चुमुरि और धुनि, वर्चिन्, नववास्त्व, त्वाष्ट्र और अहि।

---

1. अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा ॥ ऋ० 1.33.7.
2. त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।
   महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे ॥ ऋ० 1.51.6.
   समित्तान्वृत्रहाखिदत्खे अराँ इव खेदया। प्रवृद्धो दस्युहाऽभवत्। ऋ० 8.77.3.
3. प्रावो देवाँ आतिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र। ऋ० 10 54.1.
4. आभिर्हि माया उप दस्युमागान्मिहः प्र तम्रा अवपत् तमांसि। ऋ० 10 73.5.
5. दस्यूञ्छिम्यूँश्च पुरुहूत एवैर्हत्वा पृथिव्यां शर्वा नि बर्हीत्।
   सनत् क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत्सूर्यं सनदपः सुवज्रः ॥ ऋ० 1.100 18.
6. अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून्। ऋ० 3 29.9.
7. दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। ऋ० 1.32.11.
   दे० 5.30.5. पृ० 134.
   त्वमपो अजयो दासपत्नीः। ऋ० 8.96.18.
   वृषा न क्रुद्धः पतयद् रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः। ऋ० 10.43.8.
8. दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त्।
   ऋणोरपो अनवद्यार्णा यूने वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः ॥ ऋ० 1.174.2.
   सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्द्धन् दासीः पुरुकुत्साय शिक्षन्। ऋ० 6.20.10.
   संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम्। ऋ० 7.103.9.
9. वि पू मृधो जनुषा दानमिन्वन्नहन् गवा मघवन् संचकानः।
   अत्रा दासस्य नमुचेः शिरो यदवर्तयो मनवे गातुमिच्छन्॥ ऋ० 5.30.7.

वृत्र (§ 68)—

अन्तरिक्षस्थ दानवों में सबसे बढ़े-चढ़े और सब की अपेक्षा अधिक बार उल्लिखित हैं वृत्र, जो इन्द्र के सहज शत्रु हैं, और जिनके वध के लिए इन्द्र जन्म लेते और अपूर्व्य रूप में बढ़ते हैं[1]। फलतः इन्द्र का अपना विशेषण 'वृत्रहा' है। इस संयुक्त पद का विच्छेद ऋग्वेद के दो मन्त्रों में आता है : 'वृत्रहन् वृत्र का हनन करे'[2] और 'वृत्रहन्! वृत्रों का हनन कर'[3]। इन्द्र और वृत्र के युद्ध का उल्लेख अनेक बार 'वृत्रहत्य' और कभी-कभी 'वृत्रतूर्य' पदों द्वारा भी किया गया है।

पहले कहा जा चुका है कि वैदिक कवि वृत्र को सर्पाकार अर्थात् कुंडली भर कर पड़ा हुआ मानते हैं। फलतः वृत्र अपाद् और अहस्त है[4]; और द्यावा-

---

युजं हि मामकृथा आदिदिन्द्र शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन्।
अश्मानं चित्स्वर्यं वर्तमानं प्र चक्रियेव रोदसी मरुद्भ्यः॥ ऋ० 5.30.8.
स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः।
अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोप प्रैद् युधये दस्युमिन्द्रः॥ ऋ० 5.30.9.
उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम्॥ ऋ० 4.30.14.
दे० 7.19.2. पृ० 382.
यः सृबिन्दमनर्शनिं पिप्रुं दासमहीशुवम्। वधीदुग्रो रिणन्नपः॥ ऋ० 8.32.2.
दे० 10.138.3. पृ० 405.
स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्र दभीतिमावः॥ ऋ० 2.15.9.
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चाऽस्वापयो दभीतये सुहन्तु। ऋ० 7.19.4.
उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः। अधि पञ्च प्रधींरिव॥ ऋ० 4.30.15.
अहन्दासा वृषभो वस्नयन्तोदव्रजे वर्चिनं शम्बरं च। ऋ० 6.47.21.
अहं स यो नववास्त्वं बृहद्रथं सं वृत्रेव दासं वृत्रहारुजम्। ऋ० 10.49.6.
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक् कृषे दासं कृत्व्यं हथैः। ऋ० 10.49.7.
सनेम ये त ऊतिभिस्तरन्तो विश्वा स्पृध आर्येण दस्यून्।
अस्मभ्यं तत् त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयः साख्यस्य त्रिताय॥ ऋ० 2.11.19.
सृजो महीरिन्द्र या अपिन्वः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः।
अमर्त्यं चिद् दासं मन्यमानमवाभिनदुक्थैर्वावृधानः॥ ऋ० 2.11.2.

1. यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय। ऋ० 8.89.5.
   एभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद् वृत्रहत्याय वज्री॥ ऋ० 10.55.7.
2. वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा। ऋ० 8.89.3.
3. इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा। वृत्राणि वृत्रहञ्जहि॥ ऋ० 8.17.9.
4. अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान। ऋ० 1.32.7.

पृथिवी को ढक कर पड़े हुए वृत्र के सिर को इन्द्र काट डालते हैं[1] और अमित प्रसार वाले वृत्र के जबड़ों को वे अपने वज्र से दरड़ डालते हैं[2]। वृत्र की फुंकार के अनेक बार संकेत आते हैं[3]। वृत्र के पास स्तनयित्नु है[4], विद्युत्, तन्यतु (गर्जन), कुहरा (वर्षा) और हिम (अशनि) हैं[5]।

वृत्र की माता का नाम दानु है और उसकी तुलना धेनु के साथ की गई है[6]। इस दानु शब्द का उस दानु शब्द के साथ तादात्म्य प्रतीत होता है जो अनेक बार नपुंसकलिंग में 'सरित्' अर्थ में, और एक बार स्त्रीलिंग में दिव्य जलों के लिए प्रयुक्त हुआ है। उसी शब्द का पुंल्लिग में, मातृ-नाम की तरह, वृत्र या अहि[7], और्णवाभ और इन्द्र के द्वारा मथे गये वृत्र, एवं नमुचि, और कुयव आदि दानवों[8] के लिए प्रयोग हुआ है।

मातृक 'दानव' शब्द का इन्द्र द्वारा परास्त किये गये एक राक्षस के लिए 5 बार प्रयोग हुआ है। इन्द्र ने सुत सोम को पीकर मायावी दानव की माया को धूल में मिला दिया[9]। उन्होंने फुंकारते हुए दानव को कुचल डाला और यह सब कुछ

अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादिन्द्र तवसा जघन्थ। ऋ० 3.30.8.

1. वृत्रस्य यद्बद्बधानस्य रोदसी मदे सुतस्य शवसाभिनच्छिरः। ऋ० 1.52.10.
   वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा। शिरो बिभेद वृष्णिना॥
   ऋ० 8.6.6.
   अयमिन्द्रो मरुत्सखा वि वृत्रस्याभिनच्छिरः। वज्रेण शतपर्वणा॥ ऋ० 8.76.2.
2. वृत्रस्य यत् प्रवणे दुर्गृभिश्वनो निजघन्थ हन्वोरिन्द्र तन्यतुम्॥ ऋ० 1.52.6.
3. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः। ऋ० 8 96.7.
   जिगर्तिमिन्द्रो अपजर्गुराणः प्रति श्वसन्तमव दानवं हन्॥ ऋ० 5.29.4.
   दे० 1.52.10. ऊपर।
   अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्रः। ऋ० 1.61.10.
   निकाममरमणसं येन नवन्तमहिं सं पिणगृजीषिन्। ऋ० 6.17.10.
4. न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो वि बीभयत्। ऋ० 1.80.12.
5. नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद् ध्रादुनिं च। ऋ० 1.32 13.
6. दानुः शये सहवत्सा न धेनुः। ऋ० 1.32.9.
7. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
   ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥ ऋ० 2.12.11.
   किमादुतासि वृत्रहन् मघवन्मन्युमत्तमः। अत्राह दानुमातिरः॥ ऋ० 4 30.7.
   धिष्वा शवः शूर येन वृत्रमवाभिनद् दानुमौर्णवाभम्। ऋ० 2.11.18.
8. आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि। ऋ० 10.120.6.
9. नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत् पपिवान्त्सुतस्य। ऋ० 2.11.10.

इन्द्र ने किया था अर्णव जलों को निर्बाध बहाने के लिए[1] ।

वृत्र का अपना एक गुप्त (निण्य) आवास है, जहां से इन्द्र द्वारा उन्मुक्त की जाने पर 'आप:' वेग के साथ बह निकलती हैं[2] । वृत्र जल पर सोता है[3] या रजस् (अन्तरिक्ष) के बुध्न में जलों को घेरे हुए पड़ा रहता है[4] । जब इन्द्र ने जलों को प्रवाहित किया[5] तब वृत्र (पर्वत की) चोटी पर था और इन्द्र ने उसे वहां से गिराकर पहाड़ के भीतर घिरी गौओं को स्वतन्त्र किया था[6] । वृत्र के अपने पुर हैं, जिन्हें इन्द्र तोड़ डालते हैं । ये किले 99 हैं[7] ।

कहना न होगा कि वृत्र शब्द आवरणार्थक √वृ धातु से निष्पन्न हुआ है । कवि अनेक बार वृत्र के बारे में कहते हैं कि वह जलों को परिवेष्टित किये पड़ा हुआ था । उसने जलों को घेर रखा था[8] अथवा वह उन्हें 'वृत्वी'[9] अर्थात् रोक कर पड़ा हुआ था अथवा वह नदियों का—वृत् अर्थात् आवरक था[10] । ये सभी बातें साफ़ तौर से इस नाम की व्युत्पत्ति की ओर संकेत करती हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति दिखाने के साथ-साथ यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने वृत्र को वरण किया 'वृत्रम्

1. अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः ।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद् वः सृजो वि धारा अव दानवं हन् ॥ ऋ० 5.32.1.
2. वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः । ऋ० 1.32.10.
3. त्वं वृत्रमाशयानं सिरासु महो वज्रेण सिष्वपो वराहुम् । ऋ० 1.121.11.
इन्द्रो महां सिन्धुमाशयानं मायाविनं वृत्रमस्फुरन्निः । ऋ० 2.11.9.
4. अपो वृत्वी रजसो बुध्नमाशयत् । ऋ० 1.52.6.
5. इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः ।
अभिक्रम्याव जिघ्नतेऽपः समीय चोदयन् ॥ ऋ० 1.80.5.
6. निरिन्द्र बृहतीभ्यो वृत्रं धनुभ्यो अस्फुरः ।
निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिनः निः पर्वतस्य गा आजः ॥ ऋ० 8.3.19.
जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून् । ऋ० 10.89.7.
7. तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत्पुरो नवतिं च सद्यः ।
निवेशने शततमाविवेषीरहञ्च वृत्रं नमुचिमुताहन् ॥ ऋ० 7.19.5.
नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा । अहिं च वृत्रहावधीत् ॥ ऋ० 8.93.2.
8. अध्वर्यवो यो अपो वव्रिवांसं वृत्रं जघानाशन्येव वृक्षम् ॥ ऋ० 2.14.2.
9. अपो वृत्वी रजसो बुध्नमाशयत् ॥ ऋ० 1.52.6.
इन्द्रो यद् वृत्रमवधीन्नदीवृतमुब्जन्नर्णांसि जर्हृषाणो अन्धसा । ऋ० 1.52.2.
10. यदा वृत्रं नदीवृतं शवसा वज्रिन्नवधीः । ऋ० 8.12.26.
अहन्नहिं परि शयानमर्णोऽवासृजो अपो अच्छा समुद्रम् । ऋ० 6.30.4.
त्वमिन्द्र स्रवितवा अपस्कः परिष्ठिताः अहिना शूर पूर्वीः । ऋ० 7.21.3.

अवृणोत्' अथवा वृत्र का वध करते हुए उन्होंने जलों की परिधि को अनावृत कर दिया—'अपावृणोत्'[1]। एक अन्य मन्त्र में भी ऐसा ही अर्थ छिपा हुआ है, जहां यह कहा गया है कि मेघ-पर्वत वृत्र के जठर में है, और इन्द्र आवरण (वव्रि) में बंद हुई सरिताओं को नीचे की ओर प्रवाहित करते हैं[2]। वृत्र को जलों की 'परिधि' भी बताया गया है[3]।

ऊपर संकेत आ चुका है कि वृत्रहन् विशेषण से कवि 'वृत्र का हन्ता' इतना ही नहीं, अपितु 'वृत्रों का हन्ता' यह अर्थ भी लेते हैं। वृत्र का बहुवचन, जो ऋग्वेद में कई बार आया है और जिसका प्रयोग सदा नपुंसक लिंग में होता है, कभी-कभी राक्षसों की गणना के प्रसंग में भी आता है[4]। इन्द्र-वृत्र संग्राम का परिणाम है : जलों का उन्मुक्त प्रवाह[5], अथवा नदियों का बेरोक प्रवाह[6], जोकि आवृत है[7]। उत्पन्न होते ही ओजिष्ठ इन्द्र को वृत्र एवं अन्य दस्युओं का संहार करना है[8] और वृत्रों के मथन के लिए ही देवता लोग इन्द्र का आविर्भाव मनाते हैं[9]। दध्यञ्च् की अस्थियों से इन्द्र ने 99 वृत्रों का वध किया[10]। इन्द्र बात-की-बात में वृत्र के 99 किलों को तोड़ डालते हैं[11]।

वृत्र शब्द, जिसका अव्यतिरिक्त रूप से √हन् धातु के साथ प्रयोग हुआ है, मानव के शत्रुओं का सूचक भी रहा है; उदाहरण के लिए : आर्य और दास ये दो प्रकार के वृत्र हैं[12]। इसके अतिरिक्त और भी अनेक मन्त्र हैं जिनमें वृत्र शब्द मानव शत्रुओं के लिए उसी प्रकार प्रयुक्त हुआ है जैसेकि दिव्य शत्रुओं के लिए। फलतः

---

1. अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार। ऋ० 1.32 11.
   त्वमपामपिधानावृणोरपाधारयः पर्वते दानुमद् वसु। ऋ० 1.51.4.
2. दे० 1.57.6. पृ० 141.
3. इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुरपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्। ऋ० 3.33.6.
4. दे० 7.19.4. पृ० 411. दे० 10.49.6. पृ० 411.
5. आपश्चिदस्मै पिन्वन्त पृथ्वीर्वृत्रेषु शूरा मंसन्त उग्राः। ऋ० 7.34.3.
6. त्वं सिन्धूँरसृजस्तस्तभानान् त्वमपो अजयो दासपत्नीः। ऋ० 8.96.18.
7. त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून्। ऋ० 4.42.7.
8. एवा हि जातो असमात्योजाः पुरू च वृत्रा हनति नि दस्यून्। ऋ० 6.29.6.
9. यं सुक्रतुं धिषणे विभ्वतष्टं घनं वृत्राणां जनयन्त देवाः। ऋ० 3.49.1.
10. दे० 1 84.13. पृ० 367.
11. दे० 7.19.5. पृ० 413.
12. यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन् सुतुका नाहुषाणि। ऋ० 6.22.10.
    त्वं ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर।
    वधीर्वनेव सुधितेभिरत्कैरा पृत्सु दर्षि नृणां नृतम॥ ऋ० 6 33.3.

वृत्र शब्द का सीधा अर्थ 'शत्रु' नहीं है। शत्रु के अर्थ में 'अमित्र' और 'शत्रु' इन दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है[1]। वृत्र शब्द में 'दानवता' की भावना सदा निहित रहती है। वृत्र के अर्थ का यह विकास दास या दस्यु के अर्थ-विकास से भिन्न है, जिस शब्द का प्राथमिक अर्थ है 'शत्रु' और उत्तरकालीन अर्थ है 'दानव'। वृत्र शब्द का बहुवचन, जो सदा नपुंसक लिंग में आता है, व्यक्तिवाचक नाम के साधारणीकरण से हाथ नहीं लगता ; प्रत्युत यह पहले अपने प्राचीनतर अर्थ 'बाधा' में आया था और उसके बाद 'बाधक' इस अर्थ में। अवेस्ता में वेरेथ्र का अर्थ है 'विजय', जो वस्तुत: 'बाधा' का ही विकसित हुआ अर्थान्तर है।

ब्राह्मणों में वृत्र से 'चन्द्रमा' को लिया गया है जिसे सूर्य का आत्मभूत इन्द्र निगल लेता है।

वल—

'वल' शब्द ऋग्वेद में लगभग 24 बार आता है, और इसका संबन्ध इन्द्र या उसके सहायकों—विशेषतया अंगिरसों—द्वारा गौओं के उन्मोचन के साथ बना रहता है। वल गौओं को हेरनेवाला है, जिसे इन्द्र पणियों से गौएं छीनते समय विदीर्ण कर डालते हैं[2]। जब बृहस्पति पणियों से गौएं छीन लेते हैं तब वल का दिल बुच जाता है[3]। वल के अपने दुर्ग हैं जिन्हें अंगिराओं की सहायता से इन्द्र खोल देता है[4]। वह वल की किसी से भी न टूटी, चोटी को तोड़ गिराता है[5]। तैत्तिरीय संहिता[6] में इन्द्र वल के विल को अनावृत करते और उसमें परिवेष्टित श्रेष्ठ पशुओं को बाहर निकाल देते हैं। किंतु बहुत से मन्त्रों में वल शब्द अब भी अमानवीकृत अवस्था का परिचायक है। ऐसे स्थलों पर इसका मौलिक अर्थ 'आवरण' अथवा 'गुहा' यह (√वृ आवरणे) प्रतीत होता है। इस प्रकार वल

---

1. जयञ्छत्रूँरमित्रान्पृत्सु साहन्। ऋ० 6.73.2.
2. इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण। ऋ० 10.67.6.
   दे० 6.39.2. नीचे।
3. हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः। ऋ० 10.68.10.
   दे० 10.67.6. ऊपर।
   इन्द्रो यद् वज्री धृषमाणो अन्धसा भिनद्वलस्य परिधीँरिव त्रितः। ऋ० 1.52.5.
4. तन्नः प्रत्नं सख्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभिः।
   हन्नच्युतच्युद्दस्मेषयन्तमृणोः पुरो वि दुरो अस्य विश्वाः॥ ऋ० 6.18.5.
5. रुजदरुग्णं वि वलस्य सानुम्। ऋ० 6.39.2.
6. इन्द्रो वलस्य विलमपौर्णोत् स य उत्तमः पशुरासीत्तं पृष्ठं प्रतिसंगृह्योदक्खिदत्
   तं सहस्रं पशवोऽनूदायन्। तै० सं० 2.1.5.1.

शब्द दो बार[1] फलिग का समानाधिकरण बनकर आया है। फलिग का अर्थ है—परिग, अर्थात् घेरा, जिसमें जल घिरे हुए हैं[2]। दूसरे शब्दों में हम इसे 'अन्तरिक्षस्थ जलों का आश्रय' कह सकते हैं। निघण्टु इसे मेघ के पर्यायों में रखता है। इन्द्र गौओं को निकालते और वल को अपावृत करते हैं[3]। वे वल के उस विल[4] को अपावृत करते हैं जिसमें गौएं सहमी खड़ी थीं[5]। पंचविंश ब्राह्मण[6] के अनुसार असुरों का वल (गुहा) एक पाषाण-खंड से पिहित है। बहुत से मन्त्रों में इस शब्द का मौलिक अर्थ भी लिया जा सकता है[7]। इसके मानवीकरण का मूल संभवतः इन्द्र के 'वलंरुज्' इस विशेषण में निहित है, जोकि 'वृत्रखाद' इस शब्द के ठीक बाद आता है[8]। इसका मानवीकरण की ओर रुझान उस मन्त्र में लक्षित होता है[9] जहां वल को गो-व्रज बताया गया है, जो इन्द्र का वज्र पड़ने से पहले ही खुल जाता है। वल का मानवीकरण सुव्यक्त नहीं बन पाया है, इस बात की सूचना इस तथ्य से मिलती है कि जब इन्द्र अथवा और कोई देवता वल पर आक्रमण करते हैं तब उसके वर्णन के लिए √भिद्, √दृ या √रुज् धातुओं का प्रयोग किया जाता है न कि √हन् का, जैसाकि वृत्र के विषय में बहुधा आता है। √भिद् क्रिया का वल के साथ संवन्ध वलभिद् इस पद में अवशिष्ट है, जोकि वेदोत्तर-कालीन साहित्य में इन्द्र का विशेषण बन गया है। यहां वल को वृत्र का भाई समझा गया है और दोनों का इन्द्र के वल-वृत्र-हन् इस विशेषण में मिलन हो गया है।

---

1. स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः स्वरेणाद्रिं स्वर्यो३ नवग्वैः।
   सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः॥ ऋ० 1.62.4.
   स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण। ऋ० 4.50.5.
2. य उद्नः फलिगं भिनन्न्य१क् सिन्धूँरवासृजत्।
   यो गोषु पक्वं धारयत्॥ ऋ० 8.32.25.
3. अध्वर्यवो यो दभीकं जघान यो गा उदाजदप हि वलं वः। ऋ० 2.14.3.
4. दे० 1.32.11. पृ० 414.
5. त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्। ऋ० 1.11.5.
6. असुराणां वै वलस्तमसा प्रावृतोऽश्मापिधानश्चासीत्। पञ्च० ब्रा० 2i.7.1.
7. दे० 1.52.5. पृ० 415.
   यो गा उदाजदपधा वलस्य। ऋ० 2.12.3.
   बिभेद वलं नुनुदे वि वाचोऽथाभवद्दमिताभि क्रतूनाम्। ऋ० 3.34.10.
8. वृत्रखादो वलंरुजः पुरां दर्मो अपामजः। ऋ० 3.45.2.
   दे० 2.12.3. ऊपर
9. अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार। ऋ० 3.30.10.

इन्द्र के अन्य दानव शत्रु—

अर्बुद ऋग्वेद में इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी बनकर 5 बार आया है। वह एक मायी मृगय (पशु) है, जिसकी गौओं को इन्द्र बाहर निकालते हैं[1]। इन्द्र उसे धराशायी कर देते हैं[2]। वह उसे मूंधे-मुंह गिराकर पीस देते और अपने पैरों से उसका भेजा निकाल डालते हैं[3]। वे अर्बुद के विष्टप को बींध देते और उसके मूर्धा को काट डालते हैं[4]। दो या तीन बार उसका उल्लेख वल के साथ भी आया है और स्वभाव में वह वल का सजातीय प्रतीत होता है।

त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप एक त्रिशीर्ष दानव है। इसे त्रित और इन्द्र मार देते और उसकी गौओं को खोल लाते हैं[5]। दो या तीन मन्त्रों में उसका उल्लेख उसके पैतृक नाम त्वाष्ट्र के द्वारा भी हुआ है और कहा गया है कि वह गौओं और घोड़ों से परिवृत है[6]। इन्द्र उसे त्रित के हाथों सौंप देता है[7]। तैत्तिरीय संहिता में विश्वरूप को असुरों के साथ संबद्ध होने पर भी देवों का पुरोहित बताया गया है। महाभारत में त्वष्टा और वृत्र का त्रिशीर्ष पुत्र एक ही है।

स्वर्भानु एक असुर है। ऋग्वेद के एक सूक्त[8] में इसका चार बार उल्लेख

---

1. दे० 8.3.19. पृ० 413.
2. अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः। ऋ० 2.11.20.
   अध्वर्यवो य उरणं जघान नव चख्वांसं नवतिं च बाहून्।
   यो अर्बुदमव नीचा बबाधे तमिन्द्रं सोमस्य भृथे हिनोत॥ ऋ० 2.14.4.
   न्यर्बुदस्य विष्टपं वर्ष्माणं बृहतस्तिर। कृषे तदिन्द्र पौंस्यम्। ऋ० 8.32.3.
3. दे० 1.51.6. पृ० 410.
4. इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य। ऋ० 10.67.12.
5. दे० 10.8.8. पृ० 161.
   भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्तमोजोऽवाभिनत् सत्पतिर्मन्यमानम्।
   त्वाष्ट्रस्य चिद् विश्वरूपस्य गोनामाचक्राणस्त्रीणि शीर्षा परा वर्क्॥ ऋ० 10.8.9.
6. गोअर्णसि त्वाष्ट्रे अश्वनिर्णिजि प्रेमध्वरेष्वध्वराँ अशिश्रयुः। ऋ० 10.76.3.
7. दे० 2.11.19. पृ० 411.
   विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीत् स्वस्रीयोऽसुराणाम्। तै०सं० 2.5.1.1.
8. यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
   अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥ ऋ० 5.40.5.
   स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
   गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः॥ ऋ० 5.40.6.
   अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अघुक्षत्। ऋ० 5.40.8.

आया है। कहा गया है कि स्वर्भानु अंधेरा करके सूर्य को ग्रस लेता है। इन्द्र ने उसकी माया से लोहा लिया और अत्रि ने सूर्य-रूपी नेत्र को फिर से आकाश में बिठाया। स्वर्भानु असुर का ब्राह्मणों में भी अनेक बार उल्लेख मिलता है। वेदोत्तरकालीन गाथा में उसका स्थान राहु ने ले लिया है। इस शब्द का अर्थ 'सूर्य-प्रकाश को रोकनेवाला' मालूम पड़ता है।

उरण नामक असुर के 99 हाथ थे। इसकी भी इन्द्र ने ही हत्या की थी। इसका उल्लेख केवल एक बार आया है[1]।

दास व्यक्ति (§ 69.)—शुष्ण।

शुष्ण का ऋग्वेद में लगभग 40 बार उल्लेख मिलता है। यह कुत्स का प्रमुख शत्रु है। कुत्स के लिए अथवा कुत्स को साथ लेकर इन्द्र उसका वध करते हैं[2]। उसके सींग हैं[3]; और उसके अंडों (अंडकोशों) को इन्द्र मसल देता है[4]। इससे प्रतीत होता है कि शुष्ण सर्पजाति का था। उसकी फुंकार का भी निर्देश आता है[5] (सायण का अर्थ और है)। 6 बार उसे अशुष भी कहा गया है। अशुष शब्द का अन्यत्र प्रयोग केवल एक बार अग्नि के लिए आया है और इसका अर्थ है 'निगलने वाला'। शुष्ण के किले मज़बूत है[6]। वे चरिष्णु अथवा सफरी हैं[7]। शुष्ण के किलों

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्यन्ये अशक्नुवन्॥ ऋ० 5.40.9.

1. दे० 2.14.4. पृ० 417.
2. दे० 4.16.12. पृ० 381.
   कुत्सेन देवैरवनोर्ह शुष्णम्। ऋ० 5.29.9.
3. न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः। ऋ० 1.33.12.
4. तं शिशीता सुवृक्तिभिस्त्वेषं सत्वानमृग्मियम्।
   उतो नु चिद् य ओजसा शुष्णस्याण्डानि भेदति जेषत्स्वर्वतीरपः॥
   ऋ० 8.40 10.
   उतो नु चिद् य ओहत आण्डा शुष्णस्य भेदति। ऋ० 8.40.11.
   मक्षू ता त इन्द्र दानाप्नस आक्षाणे शूर वज्रिवः।
   यद्ध शुष्णस्य दम्भयो जातं विश्वं सयावभिः॥ ऋ० 10.22.11.
5. नि यद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुवद्वना॥
   ऋ० 1.54.5.
6. उग्रो ययिं निरपः स्रोतसासृजद् वि शुष्णस्य दृंहिता ऐरयत् पुरः। ऋ० 1.51.11.
7. उत शुष्णस्य धृष्णुया प्र मृक्षो अभि वेदनम्। पुरो यदस्य संपिणक्। ऋ० 4.30.13.
   त्वं पुरं चरिष्ण्वं वधैः शुष्णस्य सं पिणक्। ऋ० 8.1.28.

को तोड़कर इन्द्र जलों को प्रवाहित करते[1] और जलों के स्रोत 'क्रिवि' को पा लेते हैं[2]। वे शुष्ण के अंडों को फोड़कर चमचमाते जलों को प्राप्त करते हैं[3]। 'शुष्ण' इस नाम के साथ 4 बार' 'कुयव' यह विशेषण आता है, जिसका अर्थ है 'दुष्ट अन्न वाला'। दो मन्त्रों में, जहां कि यह नाम दानव का अभिधान बनकर आया है, यह शुष्ण का बोधक हो सकता है[4]। इन्द्र-शुष्ण-युद्ध का परिणाम हमेशा जल-प्रवाह ही नहीं, अपितु गौओं की उन्मुक्ति और सूर्य की प्राप्ति भी है[5]। इन्द्र के साथ युद्ध करते समय शुष्ण अन्धकार में छिप जाता है। वह 'मिहो नपात्' है और दानव का भाम अर्थात् क्रोध है[6]। काठक संहिता के अनुसार शुष्ण-दानव के पास अमृत भी है। उक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि शुष्ण आरम्भ में अनावृष्टि का दानव था, न कि कोई ऐतिहासिक मानवीय शत्रु। इस मत की इस शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ से भी पुष्टि होती है, और यह अर्थ है : 'फ़ूत्कार करने वाला' (√श्वस्) अथवा 'शुष्क या भस्म करने वाला' (√शुष्)। 'दानवस्य भामम्' का सायण ने कुछ ऐसा ही अर्थ किया है।

शम्बर—

दस्यु शम्बर का नाम ऋग्वेद में लगभग 20 बार आया है। उसका उल्लेख मुख्यतः शुष्ण, पिप्रु और वर्चिन् इन दस्युओं के साथ हुआ है[7]। अहि और शम्बर के साथ युद्ध करते समय इन्द्र का मरुतों ने हौंसला बढ़ाया था[8]। जब इन्द्र ने

---

1. दे० 1.51.11. पृ० 418.
2. प्र यो ननक्षे अभ्योजसा क्रिविं वधैः शुष्णं निघोषयन्। वा० खि० 3.8.
3. दे० 8.40.10. पृ० 418.
4. शुष्णं पिप्रुं कुयवं वृत्रमिन्द्र यदावधीर्वि पुरः शम्बरस्य ॥ ऋ० 1.103.8.
   क्षीरेण स्नातः कुयवस्य योषे हते ते स्यातां प्रवणे शिफायाः। ऋ० 1.104.3.
5. त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्दः। ऋ० 8.96.17.
6. त्यं चिदेषां स्वधया मदन्तं मिहो नपातं सुवृधं तमोगाम्।
   वृषप्रभर्मा दानवस्य भामं वज्रेण वज्री नि जघान शुष्णम् ॥ ऋ० 5.32.4.
7. यो व्यंसं जाहृषाणेन मन्युना यः शम्बरं यो अहन् पिप्रुमव्रतम्।
   इन्द्रो यः शुष्णमशुषं न्यावृणङ् मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥ ऋ० 1.101.2.
   दे० 1.103.8. ऊपर।   दे० 2.19.6. पृ० 381.
   स यो न मुहे न मिथू जनो भूत्सुमन्तुनामा चुमुरिं धुनिं च।
   वृणक् पिप्रुं शम्बरं शुष्णमिन्द्रः पुरां च्यौत्नाय शयथाय नू चित् ॥ ऋ० 6.18.8.
8. ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्धन् ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
   ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमं सगणो मरुद्भिः ॥ ऋ० 3.47.4.

शम्बर के टुकड़े-टुकड़े किये तब विपुल 'पर्वत' का सानु हिल उठा[1]। इन्द्र ने शम्बर को चालीसवीं सरदी में पर्वतों पर रहते हुए पाया[2] और अतिथिग्व के लिए उसे पहाड़ पर से धकेल मारा[3]। उन्होंने कुलितर के पुत्र दास शम्बर को ऊंचे पर्वत पर से धकेल मारा[4]। उन्होंने विशाल 'पर्वत' पर से शम्बर को मार गिराया[5]। शम्बर के दुर्गों की संख्या है : 90[6], 99[7] और 100[8]। शम्बर शब्द एक बार नपुं० बहुवचन में आता है जहां इसका अर्थ, है 'शम्बर के पुर'। बृहस्पति ने शम्बरों को तितर-बितर करके वसु-संपन्न पर्वत पर डेरा डाला[9]। इन्द्र शम्बर को अतिथिग्व के संमुख नत-मस्तक करते हैं[10], किंतु कभी-कभी वे दिवोदास[11] या अतिथिग्व और दिवोदास दोनों के निमित्त शम्बर का पराभव करते हैं[12]। ये दोनों नाम साधारणत: एक ही व्यक्ति के माने गये हैं, किंतु बेर्गन को इस ऐक्य में संदेह है।

पिप्रु—

दास पिप्रु का ऋग्वेद में 11 बार उल्लेख मिलता है। यह इन्द्र द्वारा संरक्षित वैदथिन ऋजिश्वा का सहज शत्रु है[13], जोकि इन्द्र के लिए सोम प्रदान करता है

---

1. त्वं दिवो बृहतः सानु कोपयोऽव त्मना धृषता शम्बरं भिनत्। ऋ० 1.54.4.
2. दे० 2.12.11. पृ० 412.
3. अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत्। ऋ० 1.130.7.
   अव गिरेर्दासं शम्बरं हन्। ऋ० 6.26.5.
4. दे० 4.30.14. पृ० 411.
5. देवकं चिन्मान्यमानं जघन्थाव त्मना बृहतः शम्बरं भेत्। ऋ० 7.18.20.
6. भिनत्पुरो नवतिमिन्द्र पूरवे दिवोदासाय महि दाशुषे नृतो वज्रेण दाशुषे नृतो।
   अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत्॥ ऋ० 1.130.7.
7. दे० 2.19.6. पृ० 381.
8. अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
   यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रमपावपद् भरता सोममस्मै॥ ऋ० 2.14.6.
9. यो नन्त्वान्यनमन्न्योजसोतादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि।
   प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद् वसुमन्तं वि पर्वतम्॥ ऋ० 2.24.2.
10. दे० 1.51.6. पृ० 410.
11. दे० 2.19.6. पृ० 381.
12. दे० 1.130.7. ऊपर।
    अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
    शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम्॥ ऋ० 4.26.3.
13. दे० वा० खि० 1.10. पृ० 380.

और उसके बदले उनसे युद्ध में सहायता प्राप्त करता है[1]। इन्द्र ऋजिश्वा[2] के साथ अथवा वैदथिन ऋजिश्वा के लिए[3] पिप्रु को जीतते हैं। यह दास अहि की मायाओं का खिलाड़ी है ; इसके पास किले हैं, जिन्हें इन्द्र तोड़ देता है और इस प्रकार ऋजिश्वा की सहायता करता है[4]। इन्द्र ने दास पिप्रु को एवं सृबिन्द, अनर्शनि और अहीशु को मारकर जलों को मुक्ति दिलाई[5]। जब सूर्य ने मध्याकाश में अपने रथ को छोड़ दिया और जब आर्य को दास का प्रतिद्वन्द्वी मिल गया तब इन्द्र ने ऋजिश्वा के साथ मायावी असुर पिप्रु के मज़बूत किलों को तोड़ डाला[6]। उन्होंने मृगय (वन्य-पशु) पिप्रु को ऋजिश्वा के संमुख नतमस्तक कर दिया; 500 और 1000=(50000) कृष्णवर्णों को पराभूत किया और उसके किलों को चकनाचूर कर डाला।[7]। ऋजिश्वा के सहयोग से उन्होंने काले अण्डकोश वालों को मार गिराया[8]। क्योंकि पिप्रु को असुर और दास इन दोनों शब्दों से बोधित किया गया है, अतः इस बात में संदेह है कि पिप्रु कोई ऐतिहासिक मानव-शत्रु है अथवा कोई प्राकृतिक असुर। पिप्रु शब्द संस्कृत का प्रतीत होता है और इसकी निष्पत्ति√पृ धातु के अभ्यस्तरूप से हुई प्रतीत होती है, जैसे कि सिष्णु की√सन् से। पिप्रु शब्द का अर्थ संभवतः 'भरने वाला' अथवा 'खादड़ पशु' है।

नमुचि—

नमुचि का उल्लेख ऋग्वेद में 9 बार और वाजसनेयि संहिता, तैत्तिरीय

---

1. स्तोमासस्त्वा गौरिवीतेरवर्धन्नरन्धयो वैदथिनाय पिप्रुम्।
   आ त्वामृजिश्वा सख्याय चक्रे पचन्पक्तीरपिबः सोममस्य ॥ ऋ० 5.29.11.
   अस्य स्तोमेभिरौशिज ऋजिश्वा व्रजं दरयद् वृषभेण पिप्रोः। ऋ० 10.99.11.
2. प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना। ऋ० 1.101.1.
   दे० 1.101.2. पृ० 419. दे० 10.138.3. पृ० 405.
3. त्वं पिप्रुं मृगयं शूशुवांसमृजिश्वने वैदथिनाय रन्धीः।
   पञ्चाशत्कृष्णा नि वपः सहस्राऽत्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः ॥ ऋ० 4.16.13.
   वि पिप्रोरहिमायस्य दृळहा पुरो वज्रिञ्छवसा न दर्दः।
   सुदामन् तद् रेक्णो अप्रमृष्यमृजिश्वने दात्रं दाशुषे दाः ॥ ऋ० 6.20.7.
4. त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ। ऋ० 1.51.5.
   दे० 6.20.7. ऊपर।
5. दे० 8.32.2. पृ० 411.
6. दे० 10.138.3. पृ० 405.
7. दे० 4.16 13.. ऊपर।
8. दे० 1.101.1 ऊपर।

ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में कई बार हुआ है। ऋग्वेद में उसे एक बार 'आसुर' नमुचि कहा गया है[1]। परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में उसे असुर कहा गया है। ऋग्वेद के तीन-चार मन्त्रों में वह दास कहाया है[2] और एक बार मायी भी[3] (माया वाला)। नमुचि का पराभव करते समय इन्द्र एक बार अपने सखा नमी के साथ और दूसरी बार नमी साप्य के साथ संयुक्त हुए हैं[4]। अश्न, शुष्ण, अशुष, व्यंस और पिप्रु की भांति नमुचि को भी इन्द्र धराशायी करते हैं[5]। वृत्र और नमुचि को मारते समय इन्द्र ने 99 किलों को ढाया था[6]। इस युद्ध में इन्द्र नमुचि दास के सिर को मथते हैं[7] जबकि वृत्र को मारते समय वे उसका भेदन करते हैं। एक जगह इन्द्र नमुचि के सिर को मरोड़ते बताये गये हैं[8] अथवा जल-फेन द्वारा वे इसे तोड़ मरोड़ डालते हैं[9]। ब्राह्मणों में उल्लेख आता है कि इन्द्र ने नमुचि के सिर को जल-फेन द्वारा नष्ट कर दिया था। ऋग्वेद के एक मन्त्र[10] में आता है कि अश्विनों ने आसुर नमुचि के वध के लिए सुरा-पान करके इन्द्र की सहायता की और तब इन्द्र ने भी सुराम (सुरा या हवि) का पान किया और तब सरस्वती ने उसका उपचार किया। पाणिनि के अनुसार नमुचि का व्युत्पत्त्यर्थ है 'न छोड़ने वाला'। फलतः नमुचि शब्द का अर्थ होगा—'जलों को रोकनेवाला राक्षस'।

---

1. युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
   विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम्॥ ऋ० 10.131.4.
   नमुचिर्नवासुरेण सह चचार॥ शत० ब्रा० 12.7.1.10.
2. दे० 5.30.7. पृ० 410. तथा 8 पृ० 411.
3. नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम्। ऋ० 1.53.7.
4. दे० 1.53.7. ऊपर। दे० 6.20.6. पृ० 273.
5. अध्वर्यवो यः स्वश्नं जघान यः शुष्णमशुषं यो व्यंसम्।
   यः पिप्रुं नमुचिं यो रुधिक्रां तस्मा इन्द्रायान्धसो जुहोत॥ ऋ० 2.14.5.
6. दे० 7.19.5. पृ० 413.
   दे० 1.53.7. ऊपर।
   दे० 7.19 5. पृ० 413.
7. दे० 5.30.8. पृ० 411. दे० 6.20.6. पृ० 273.
8. दे० 5.30.7. पृ० 410.
9. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजयः स्पृधः॥
   ऋ० 8.14.13.
10. दे० 10.131.4. ऊपर। दे० 10.131.5. पृ० 221.
11. नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या।
   अष्टा० 6.3.75.

धुनि और चुमुरि—

चुमुरि दास का उल्लेख 6 बार हुआ है; और एक स्थल को छोड़कर और सब जगह वह धुनि के साथ आया है। एक बार इन दोनों दासों के नामों का द्वन्द्व-समास बनता है, जिससे इनके संबन्ध की निकटता खिल उठती है। इन्द्र ने चुमुरि और धुनि को नींद में डालकर मार दिया[1]। मस्त हुए इन्द्र ने दभीति के हितार्थ अकेले चुमुरि को सुला दिया[2]। शम्बर, पिप्रु, शुष्ण के साथ ही साथ इन्द्र चुमुरि और धुनि को नष्ट कर देता, और उनके दुर्गों को ढा देता है[3]। दभीति के निमित्त इन्द्र ने धुनि और चुमुरि को धूल में मिला दिया[4], क्योंकि दभीति ने इन्द्र के लिए सोम का सवन किया था और देवताओं ने उसके संमुख अपनी श्रद्धा अर्पित की थी[5]। इन दोनों असुरों का नाम न लेकर भी कहा गया है कि इन्द्र ने दभीति के लिए 30,000 दासों को धराशायी कर दिया[6] और उसके हितार्थ रस्सी के बिना भी दस्युओं को फांसी देकर मार दिया[7]।

धुनि का अर्थ है—'ध्वनि करने वाला' (√ध्वन्), और ऋग्वेद में इस शब्द का अनेक बार इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। किंतु चुमुरि शब्द आदिवासियों से उधार लिया प्रतीत होता है।

वर्चिन् एवं अन्य असुर—

वर्चिन् का उल्लेख 4 बार हुआ है और वह भी सदा शम्बर के साथ। वह असुर है[8], साथ ही वह और शम्बर दोनों दास भी हैं[9]। इन्द्र ने शम्बर के 100 किलों को तोड़ डाला और दास वर्चिन् के 100,000 योद्धाओं को मार गिराया[10]।

---

1. त्वं ह त्यदिन्द्र विश्वमाजौ सस्तो धुनी चुमुरी या ह सिष्वप्।
   दीदयदित् तुभ्यं सोमेभिः सुन्वन् दभीतिरिध्मभृतिः पक्थ्य१र्कैः ॥ ऋ० 6.20.13.
   दे० 2.15.9. पृ० 411. दे० 7.19.4. पृ० 411.
2. त्वं श्रद्धाभिर्मन्दसानः सोमैर्दभीतये चुमुरिमिन्द्र सिष्वप् ॥ ऋ० 6.26.6
3. दे० 6.18..8. पृ० 419.
4. इन्द्रो धुनिं च चुमुरिं च दम्भयञ्छ्रद्धामनस्या शृणुते दभीतये। ऋ० 10.113.9.
   दे० 6.20.13. ऊपर।
5. दे० 6.26.6. ऊपर।
6. दे० 4.30.21. पृ० 409.
7. दे० 2.13.9. पृ० 409.
8. दे० 7.99.5. पृ० 405.
9. दे० 6.47.21. पृ० 411.
10. दे० 2.14.6. पृ० 420. दे० 4.30.15. पृ० 411.

र्वाचन् का अर्थ है—'द्युतिमान्' और इसकी निष्पत्ति √वर्च् से हुई है, जिससे कि वर्चस् (तेजस्) शब्द बनता है।

वल, शुष्ण, नमुचि आदि दासों के अलावा और भी कुछ दास हैं, जिनका इन्द्र दमन करते हैं। ये हैं—दृभीक, रुधिक्रा[1], अनर्शनि, सृबिन्द[2] और इलीबिश[3]। ये सब मानवीय शत्रुओं के ऐतिहासिक स्मृति-अवशेष हो सकते हैं। अन्त के दोनों नाम अनार्य प्रतीत होते हैं।

रक्षस् (§ 70)—

मनुष्यों के सहज-शत्रु दानवों और यातुधानों के लिए ऋग्वेद में सबसे अधिक प्रचलित जाति-वाचक नाम है राक्षस। इसका उल्लेख (50 बार से अधिक) एकवचन और बहुवचन में हुआ है। राक्षसों का नाम सदा देवताओं के साथ आता है, जहांकि या तो देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि वे राक्षसों को नष्ट कर दें अथवा राक्षसों का नाश कर चुकने पर देवताओं की प्रशंसा की जाती है। ऋग्वेद के दो सूक्तों[4] में अपेक्षाकृत कम प्रचलित यातु या यातुधान शब्द भी राक्षस शब्द के स्थान पर आता है और एक ही मन्त्र में यह भी राक्षस के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यातुधान शब्द दुरात्मा का बोधक है। रक्षस् शब्द जाति का बोधक है और यातु शब्द जाति के अवान्तर भेद का।

राक्षस लोग कुत्ते, श्येन, उलूक, शुशुलूक, श्वयातु, कोकयातु, सुपर्णयातु एवं गृध्रयातु आदि अनेक आकार-प्रकार के हैं[5]। पक्षी के रूप में वे रात को इधर-उधर उड़ते हैं। भाई, पति या जार का रूप धारण करके वे स्त्रियों के साथ सांठगांठ

---

1. दे० 2.14.3. पृ० 416. दे० 2.14.5. पृ० 422.
2. दे० 8.32.2. पृ० 411.
3. दे० 1.33.12. पृ० 418.
4. इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः।
   परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः॥ ऋ० 7.104.1.
   रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म।
   शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्॥ ऋ० 10.87.1.
5. एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्।
   शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः॥ ऋ० 7.104.20.
   अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः।
   ऋ० 7.104.21.

   उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
   सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥ ऋ० 7.104.22.

करते हैं और उनके नन्हों को नष्ट करने की चेष्टा करते हैं[1] । कुत्ते या कपि के रूप में भी वे स्त्रियों की ताक में रहते हैं[2] । गर्भ-धारण एवं जन्म के समय उनसे हानि की संभावना रहती है[3] । अथर्ववेद में राक्षसों के स्वरूप का विशद वर्णन मिलता है । वे प्रायः मानव आकार के हैं । उनके सिर, नेत्र, हृदय आदि अवयवों का उल्लेख आता है; किंतु अनेक स्थलों पर उनमें दानवीय विकृतियां भी आती दिखाई गई हैं । उनके तीन सिर, दो मुख, ऋक्ष-सी गर्दन, चार नेत्र, बिना अंगुलियों के पांच पैर, पीछे की ओर मुड़े हुए पब्बे और हाथों पर सींग होते हैं । नीले, पीले या हरे राक्षसों का भी उल्लेख आता है[4] । राक्षसों में पुरुष और स्त्री का भी भेद किया गया है । उनके कुल एवं राजा तक हैं और वे सब मरण-धर्मा हैं ।

यातुधान मनुष्यों और अश्वों के मांस को खाते और गौओं का दूध पी जाते हैं[5] । अपनी मांस-शोणित की ललक को मिटाने के लिए राक्षस मनुष्यों में प्रविष्ट होकर, उन पर आक्रमण करते हैं । अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह राक्षसों को उपासकों के भीतर न प्रविष्ट होने दे[6] ; और अथर्ववेद में एक रोग के रक्षस् का वर्णन आता है जो पक्षी की तरह इधर-उधर मंडराता है और मनुष्यों के भीतर प्रविष्ट हो जाता है[7] । ये राक्षस बहुधा मुख के द्वार से भीतर प्रविष्ट होते माने जाते थे, किंतु अन्य द्वारों से भी उनका प्रवेश संभव था[8] । जब एक बार ये भीतर चले जाते हैं तब मनुष्य का मांस चाट जाते, उसे सड़ा डालते और उसके

1. यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते ।
   प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ ऋ० 10.162.5.
2. श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
   प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियः ।
   तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ अथ० 4.37.11.
3. यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ ।
   दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ॥ अथ० 8.6.1. आदि पूर्ण सूक्त ।
4. नीलनखेभ्यः स्वाहा ॥ अथ० 19.22.4. ॥ हरितेभ्यः स्वाहा ॥ अथ० 19.22.5.
5. यः पौरुषेयेग क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
   यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ ऋ० 10.87.16.
   संवत्सरीणं पय उस्रियायास्तस्य माशीद्यातुधानो नृचक्षः ।
   पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मन् ॥ ऋ० 10.87.17.
6. मा नो रक्ष आ वेशीदाघृणीवसो मा यातुर्यातुमावताम् । ऋ० 8.60.20.
7. पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् । अथ० 7.76.4.
8. आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ ।
   तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ अथ० 5.29.6

शरीर में भांति-भांति के रोग उत्पन्न कर देते हैं[1]। रक्षस् मनुष्य को उन्मत्त बना देते हैं और उसकी वाक्-शक्ति को हर लेते हैं[2]। मानवीय आवासों पर भी वे छापे मारते हैं। कुछ रक्षसों के विषय में कहा गया है कि वे घरों के चहुं ओर नाचते, खच्चर की तरह हींचते, वन में शोर करते, अट्टहास या ठट्ठे मारते और कपाल-पात्र से पीते हैं[3]। रक्षस् लोग पक्षी बनकर रात में उड़ते हैं[4]। पूर्व दिशा में उनकी एक नहीं चलती, क्योंकि उदीयमान सूर्य उन्हें ध्वस्त कर देता है[5]। टूटता हुआ तारा रक्षस् बन जाता है। अमावस्या का अन्धकारमय समय मृतात्माओं की भांति अत्रियों, अर्थात् खा जानेवालों का अपना खास समय होता है[6]।

यज्ञों पर रक्षस् विशेष रूप से आक्रमण करते हैं। ऋग्वेद में ऐसे रक्षसों का उल्लेख आता है जो देव-यज्ञ को दूषित करते हैं और ऐसे यातुओं का भी जो हविष

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये३ यः।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥ अथ० 5.29.7.
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥ अथ० 5.29.8.
मा संवृतो मोप सृप ऊरू माव सृपोऽन्तरा। अथ० 8.6.3.

1. यदस्य हृतं विहृतं यत्पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः।
तदग्ने विद्वान् पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥ अथ० 5.29.5.
क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः। अथ० 5.29.10.

2. देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि।
कृणोमि विद्वान्भेषजं यदानुन्मदितोऽसति ॥ अथ० 6.111.3.

3. ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः। अथ० 8.6.10.
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि। अथ० 8.6.11.
ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः।
आपाकेष्ठाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥
अथ० 8.6.14.

4. वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्विच्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन।
वयो ये भूत्वी पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥ ऋ० 7.104.18.

5. रक्षसामनन्ववचाराय न पुरस्तात्परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्ति। तै० सं० 2.6.6.3.

6. ये मावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ अथ० 1.16.1.
य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशेऽमावास्ये।
क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वांस्तान्सहसा सहे ॥ अथ० 4.36.3.

का मथन कर देते हैं[1]। वे ब्रह्मद्विट् हैं अर्थात् ये प्रार्थना से भागते हैं[2]। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह यज्ञ को अभिशाप से बचाने के लिए रक्षसों को भस्म कर डाले[3]। अथर्ववेद में एक जगह यातुधानों, निर्ऋति एवं रक्षसों से मांग की गई है कि वे शत्रु के सत्य को अनृत से कील दें और उसके आज्य को मथ डालें[4]। ये दस्यु पितरों में घुसकर, ज्ञाति-मुख बनकर यज्ञ में विक्षेप डालते हैं। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह इन्हें यज्ञ से दूर भगा दे[5]। वेदोत्तरकालीन साहित्य में तो रक्षसों का काम ही यज्ञ विध्वंस करना बन गया है और वहां रक्षसों का ही दूसरा नाम राक्षस है।

अग्नि का काम है—अन्धकार का विनाश और यज्ञ का संचालन। अतः वे रक्षसों के घोर विरोधी हैं और अग्नि को बार-बार इसलिए बुलाया गया है कि वे रक्षसों को भस्म कर दें, उन्हें जूड़ दें और विनष्ट कर दें[6]। इसीलिए अग्नि को रक्षोहा भी कहा गया है।

ये दुरात्मा न केवल अपनी इच्छा से, अपितु दूसरों की प्रेरणा से भी मनुष्य को ठेस पहुंचाते हैं। ऋग्वेद[7] में ऐसा करनेवाले पापियों को रक्षोयुज् कहा गया है[8]। जादूगरों के यातु अर्थात् जादू का उल्लेख मिलता है[9]। विरोधियों के जादू-टोने से सताया गया व्यक्ति यविष्ठ अग्नि को पुरोडाश प्रदान करके राक्षसों को अपसारित करता है[10] और अथर्ववेद में असुरों से कहा गया है कि वे जिसके हैं उसे ही खा जायं।

---

1. दे० 7.104.18. पृ० 426.
   इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्याऽऽविवासताम्। ऋ० 7.104.21.
2. तपुर्मूर्धा तपतु रक्षसो ये ब्रह्मद्विषः शरवे हन्तवा उ। ऋ० 10.182.3.
3. प्र सु विश्वान् रक्षसो धक्ष्यग्ने भवा यज्ञानामभिशस्तिपावा। ऋ० 1.76.3.
4. यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम्। अथ० 7.70.2.
5. दे० अथ० 18.2.28. पृ० 447.
   अपहताऽअसुरा रक्षांसि वेदिषदः। वा० सं० 2.29.
6. उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रा हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
   उतान्तरिक्षे परि याहि राजञ्जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान्॥ ऋ० 10.87.3.
   यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस् तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम्।
   यद्वान्तरिक्षे पथिभिः पतन्तं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः॥ ऋ० 10.87.6.
7. तदादित्या वसवो रुद्रियासो रक्षोयुजे तपुरघं दधात। ऋ० 6.62.8.
8. मा नो रक्षो अभि नड् यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना। ऋ० 7.104.23.
9. दे० 8.60.20. पृ० 425.
10. अग्नये यविष्ठाय पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदभिचर्यमाणोऽग्निमेव यविष्ठं स्वेन भागधेयेनोप धावति स एवास्माद्रक्षांसि यवयति। तै० सं० 2.2.3.2.

दानव के अर्थ में रक्षस् का प्रयोग पुंल्लिग और नपुंसक लिंग दोनों में आया है। नपुंसक में इसका अर्थ 'क्षति' भी है। इसकी व्युत्पत्ति √रक्ष् 'क्षति पहुंचाना' इस धातु से संभव है, जो क्रियापद के रूप में केवल एक बार अथर्ववेद में आता है। (तुलना कीजिए ऋक्ष 'नाशक')। किंतु संभव यह भी है कि इसका संबन्ध रक्षार्थक √रक्ष् धातु के साथ रहा हो। इस अवस्था में रक्षस् का मौलिक अर्थ होगा—'वह जिससे बचना चाहिए।' किंतु बेर्गेन के अनुसार रक्षस् का मौलिक अर्थ है—'दिव्य धन का संरक्षक'।

पिशाच—

दानवों का तीसरा वर्ग 'पिशाच' है। यह शब्द ऋग्वेद में केवल एक बार पिशाचि के एकवचन रूप में आता है[1]। इस मन्त्र में इन्द्र से कहा गया है कि पीत-शृंग (पिशङ्गभृष्टिम्), महान् (अम्भृणम्) पिशाचि को कुचल डालो और सब रक्षसों को मार दो। तैत्तिरीय संहिता[2] में असुर, रक्षस् और पिशाचों का देवताओं और पितरों के साथ विरोध दिखाया गया है। हो सकता है कि आरम्भ में पिशाचों का संबन्ध मृतकों से रहा हो। उन्हें अनेक बार क्रव्याद् भी कहा गया है[3]। यह शब्द पिशाच (पिशाद्य, पिशाज्ज, पिशाच) का पर्याय माना जा सकता है। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह रुग्ण व्यक्ति के जिस मांस को पिशाच कुतर गये हैं उसे फिर से रोगी को दे दे[4]। पिशाचों के लिए यह भी कहा गया है कि वे अन्तरिक्ष और द्युलोक में उड़ते-फिरते हैं[5] और ग्रामों में घुस जाते हैं।

ऋग्वेद में 12 बार उल्लिखित अराति नाम का एक और दानव-वर्ग है, जो अदान (अ-राति) का मानवीकरण है और सदा स्त्रीलिंग में आता है। ऋग्वेद में 'द्रुहों' का वर्ग भी पुंलिंग, स्त्रीलिंग दोनों में 12 बार आता है। ये असुर भारत-ईरानी हैं, क्यों कि अवेस्ता में ये द्रुज् इस रूप में आये हैं।

यस्य स्थ तमत्त। अथ० 2.24.1. आदि।

1. पिशङ्गभृष्टिमम्भृणं पिशाचिमिन्द्र सं मृण। सर्वं रक्षो नि बर्हय॥ ऋ० 1.133.5.
2. देवा मनुष्याः पितरस्तेऽन्यत आसन्नसुरा रक्षांसि पिशाचास्तेऽन्यतः॥ तै० सं० 2.4.1.1.
3. दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने श्यानम्। अथ० 5.29.9.
4. दे० अथ० 5.29.5. पृ० 426.
5. अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान्।
   पिशाचान्सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च॥ अथ० 4.37.10.
6. यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम।
   पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुपजानते॥ अथ० 4.36.8.

विभिन्न प्रकार के दानवों की टोलियां मानी जाती हैं, किंतु कभी-कभी कुछ दानव युग्मों में भी आ जाते हैं। इन युग्म-रूपों का एक वर्ग किमीदिन् है जिसका ऋग्वेद में उल्लेख आ चुका है[1]।

मनुष्य को आये-दिन घेर लेने वाले दानवों का स्वभाव है—मनुष्य को क्षति पहुंचाना और उनके वर्ग-विशेषों का स्वभाव है—विशेष प्रकार की क्षति पहुंचाना जो कि उनके नामों ही से व्यक्त हो जाती हैं। साधारणतया दानवों का प्रकृति के दृश्यों और शक्तियों के साथ संबन्ध नहीं है, और हो सकता है कि अंशतः वे मृत शत्रुओं की आत्मा से लिये गये हों। ऊपर निर्दिष्ट दानवों की अपेक्षा कुछ कम मात्रा में मानवीकृत शक्तियां हैं—रोग-तत्त्व, वंध्यापन, एवं अपराध आदि, जो वायु में उड़ते फिरते हैं और संक्रामक हैं ; इन्हें शत्रु की ओर पठा देना जादूगरों का एक प्रमुख काम है।

यह सब-कुछ होते हुए भी इन आत्माओं में से कुछ आत्माएं हानिकारक नहीं हैं; उलटी वे अन्न उपजाने में सहायक होती हैं और वधू को दीर्घजीवन प्रदान करनेवाली हैं। साथ ही अर्बुदि के नेतृत्व में कुछ अन्य आत्माएं युद्ध-भूमि में शत्रु के दिल में भय पैदा करके हमारी सहायता करती हैं[2]।

7. मृत्यु-विषयक सिद्धान्त

अन्त्येष्टि (§ 71)—

वेद में मृत्यु का उल्लेख नहीं के बराबर आया है। जब कभी ऋषि इसका उल्लेख करते भी हैं, तब वे आम तौर से यह इच्छा प्रकट करते हैं कि मृत्यु उनके शत्रुओं पर टूटे और उनके अपने जीवन को वह दीर्घ बनावे। हां, केवल अन्त्येष्टि के अवसर ने अथवा भविष्य की झांकी ने ऋषि के ध्यान को आकृष्ट किया है। कह सकते हैं कि वेद में शव को गाड़ने और जलाने की दोनों प्रथाएं प्रचलित थीं। ऋग्वेद के एक सूक्त[3] में दाह के द्वारा और एक दूसरे सूक्तांश में गाड़ने के द्वारा शव-संस्कार का

---

1. दे० 7.104.23. पृ० 427.
   प्रत्यग्ने मिथुना दह यातुधाना किमीदिना। ऋ० 10.87.24.
2. दे० 3.25.1. पृ० 313.
   या अकृन्तन्नवयन्याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त।
   तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः॥ अथ० 14.1.45.
   उद्वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज।
   उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान्न्यर्बुदे॥ अथ० 11.9.12.
3. मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
   यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः॥ ऋ० 10.16.1.

विधान किया गया है[1]। 'मृन्मयं गृहम्' का भी एक बार उल्लेख आया है[2]। अग्नि-दग्ध और अनग्नि-दग्ध पितरों का उल्लेख मिलता है[3]। फिर भी मृतात्मा को लोकान्तर में पहुंचाने के लिए दाह-पद्धति को ही अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था। परवर्ती कर्मकांड ने इसी पद्धति को श्रेयस्कर समझा है। इस प्रथा में युवकों की अस्थियां और राख गाड़ी जाती थी जबकि शिशुओं और संन्यासियों को समूचा गाड़ दिया जाता था।

फलतः दाह संस्कार के साथ भावी जीवन से संबन्ध रखनेवाली विविध गाथाओं का जुड़ जाना स्वाभाविक था; परिणाम-स्वरूप ऐसी उक्तियां आम पाई जाती हैं जिनमें आता है कि अग्नि शव को पितरों और देवों के लोक में ले जाते हैं[4]। वे मर्त्य को उच्चतम अमृत में प्रतिष्ठित करते हैं[5]। दिव्य पक्षी अग्नि ही मानव को सूर्य के

---

1. उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात्॥ ऋ० 10.18.10.
उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥ ऋ० 10.18.11.
उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र॥ ऋ० 10.18.12.
उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥ ऋ० 10.18.13.
2. मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। ऋ० 7.89.1.
3. ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व॥ ऋ० 10.15.14.
ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥ अथ० 18.2.34.
4. दे० 10.16.1. पृ० 429.
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात्पितृभ्यः।
यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति॥ ऋ० 10.16.2.
सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥ ऋ० 10.16.3.
अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥ ऋ० 10.16.4.
पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ ऋ० 10.17.3.
5. त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये॥ ऋ० 1.31.7.

द्युतिमान् पद पर, 'सर्वोच्च' स्वर्ग में, सत्यवानों के लोक में, जहां पुराण, पूर्व्य ऋषि पहुंच चुके हैं, उस स्थल पर पहुंचाते हैं[1]। अग्नि मृत व्यक्ति के शरीर को भस्म करते और तदुपरान्त उसे सत्यवानों के लोक में प्रतिष्ठित करते हैं[2]। क्रव्याद् अग्नि को हव्यवाट् अग्नि से विविक्त दिखाया गया है[3]। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह शव को सुकृतों के लोक में पहुंचा दें और उसके 'अज' भाग को तपिश से तपावें और अपनी लपटों से जला डालें[4]। एक बकरे को प्रेरित किया गया है कि वह पूषा का प्रथम अंश बनकर यज्ञाश्व के आगे-आगे चले और यज्ञ को देवताओं के प्रति ख्यापित करे[5]। सूत्रों[6] में शव को काले बकरे के चर्म पर लिटाया जाता है और तब गौ या बकरे की बलि दी जाती है। दाह के समय अग्नि और सोम से प्रार्थना की जाती है कि वे कृष्ण पक्षी (काक), श्वापद, चींटी या सर्प के द्वारा तुन्न किये विकलांग को फिर से सकल एवं नीरुज बना दें[7]।

---

1. अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम्।
   तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम्॥ वा० सं० 18.51.
   इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने।
   ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥ वा० सं० 18.52.
   यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम।
   अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्॥ अथ० 6.120.1.
2. आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद् धरो अस्तु ते।
   शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके॥ अथ० 18.3.71.
3. क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
   इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ ऋ० 10.16.9.
4. दे० 10 16.4. पृ० 430.
5. यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति।
   सुप्राङजो मेम्यद् विश्वरूप इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः॥ ऋ० 1.162.2.
   यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
   अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः॥ ऋ० 1 162.4.
   उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः।
   अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यन्ति रेभाः॥ ऋ० 1.163.12.
   उप प्रागात्परमं यत्सधस्थमर्वाँ अच्छा पितरं मातरं च।
   अद्या देवाञ्जुष्टतमो हि गम्या अथा शास्ते दाशुषे वार्याणि॥ ऋ० 1.163.13.
6. अनुस्तरणीम्। गाम्। अजां वैककर्णाम्। कृष्णामेके। आ०गृ०सू० 4.2.(4 5.6.7.)
   केशादि निखाय सर्पिरन्तरक्त्वा चिता एनमादधाति कृष्णाजिनमास्तीर्य
   प्राक्शिरसम्। का० श्रौ० सू० 25.7.19.
7. यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः।

यह धारणा आम थी कि मृत मनुष्य धूम्र के साथ-साथ स्वर्ग-लोक में जाता है[1]। उधर जानेवाला पथ लम्बा है, और इस पर पूषा मृतात्मा की रखवाली करते हैं और सविता, जहां सुकृत् लोग जाते और रहते हैं[2] वहां उसका आधान करते हैं। अज के लिए मांग की गई है कि वह घन-अन्धकार को पार करके स्वर्ग के तृतीय नाक पर जा पहुंचे[3]।

दूसरे लोक में उपयोग के लिए मृत व्यक्ति को आभूषण और वस्त्र प्रदान किये जाते थे, जिन्हें वह यम के दरबार में पहरा करता था[4]। इस प्रथा की स्मृति के भी अवशेष मिलते हैं[5] कि मृत मनुष्य की विधवा को और उसके अस्त्र-शस्त्रों को भी उसके साथ जला दिया जाता था। मृत व्यक्ति के शव में कूची (=कूदी) बांध दी जाती थी, जिससे मृतात्मा की यात्रा की लीक मिटती जाय और मृत्यु को फिर से जीवितों के लोक में लौटने के लिए रास्ता न मिल सके[6]।

आत्मा (§ 72)—

वैदिक आर्यों का विश्वास था कि अग्नि और भू-समाधि केवल शरीर को

अग्निष्टद् विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ ऋ० 10.16.6.

1. स एवं विदा दह्यमानः सहैव धूमेन स्वर्गं लोकमेतीति ह विज्ञायते ।
आ० गृ० सू० 4.4.7.

2. आयुर्विश्वायुः परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ ऋ० 10.17.4.

3. आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ अथ० 9.5.1.
प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ अथ० 9.5.3.

4. एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ अथ० 18.4.31.

5. उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ ऋ० 10.18.8.
धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम ॥ ऋ० 10.18.9.
यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम् ।
तद्वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ अथ० 5.19.12.
मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥ ऋ० 10.18.2.

नष्ट करते हैं और मृतक के वास्तविक व्यक्तित्व पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता। इस धारणा का मूल उस आदिम विश्वास में निहित है जिसके अनुसार आत्मा शरीर से पृथक् हो जाती है और शरीर के नष्ट हो जाने के उपरान्त भी उसका अस्तित्व बना रहता है। फलतः एक सकल सूक्त[1] में मृतक की आत्मा से प्रार्थना की गई है कि वह सुदूर स्थान से, जहां कि वह भ्रमण कर रही है, लौट आवे। वेदों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का निर्देश नहीं के बराबर है; किंतु ब्राह्मण में कहा गया है कि जो व्यक्ति यज्ञानुष्ठान को ज्ञान-पूर्वक संपादित नहीं करते, वे मृत्यु के उपरान्त फिर जन्म लेते और बार-बार मृत्यु की यातना को भोगते हैं। 'प्राण' और 'आत्मन्' के अतिरिक्त चैतन्य के बोधक अन्य शब्द भी हैं, जैसे 'असु' जो शारीरिक जीवनी-शक्ति का सूचक है[2]। पशुओं की भी जीवनी-शक्ति का संकेत मिलता है; और मन को, जिसे कि भावना और संवेग का संस्थान माना जाता था, ऋग्वेद में हृदय में अधिष्ठित माना गया है। बहुत से उद्धरणों से, (विशेषतया अथर्ववेद के) यह दीख पड़ता है कि जीवन और मरण असु अथवा मनस् के प्रवर्तन एवं निवर्तन पर निर्भर थे; और 'असु-नीति' आदि शब्द अग्नि के द्वारा मृतात्माओं के इहलोक एवं परलोक के मध्यवर्ती मार्ग पर ले जाए जाने की ओर संकेत करते हैं[3]। मृतक की अन्त्येष्टि में उसके असु और मनस् का आह्वान नहीं किया जाता; अपितु वहां पिता, पितामह आदि के रूप में स्वयं व्यक्ति ही का आह्वान किया जाता है। फलतः समझा जाता था कि आत्मा प्रतिबिम्ब-मात्र न होकर अपनी वैयक्तिकता को मरणोपरान्त भी बनाये रखती है। यद्यपि मनुष्य शरीर त्यागते ही अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं[4] तथापि शव का भावी जीवन के साथ संबद्ध गाथा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। निश्चय ही भावी जीवन को शरीर-संपन्न माना जाता था; क्योंकि वैदिक विश्वास के अनुसार परलोकीय जीवन में भी शरीर का भाग बना रहता है[5]। सभी प्रकार की अपूर्णताओं से अस्पृष्ट शरीर

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्बीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥ ऋ० 10.97.16.

1. यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ऋ० 10.58.1. आदि पूर्ण सूक्त

2. उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति। ऋ० 1.113.16.
तासां जरां प्रमुञ्चन्नेति नानददसुं परं जनयञ्जीवमस्तृतम्। ऋ० 1.140.8.

3. दे० 10.16.2. पृ० 430.

4. अथ व्यावृत्य शरीरेणामृतोऽसत्। शत० ब्रा० 10.4.3.9.

5. अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥ ऋ० 10.16.5.

को[1] कोरा स्थूल भौतिक शरीर नहीं समझा जाता रहा होगा। अपितु उसे अग्नि की प्रखर शक्ति के द्वारा कुन्दन बनाया हुआ समझा जाता रहा होगा[2], जो बाद में (दर्शनों द्वारा) उद्भावित शरीर जैसा रहा होगा। भावी जीवन में भी शव का महत्त्व बना रहता था—इस बात की सूचना इतने से मिल जाती है कि मृत मनुष्य की अस्थियों को खो देने पर मृतक के संबन्धियों को कठोर दंड देने का विधान था[3]। ऋग्वेद के एक मन्त्र[4] में मृत मनुष्य के नेत्र से कहा गया है कि वह सूर्य में जाय और उसके प्राण को (आत्मा) कहा गया है कि वह वायु में जाय; किंतु यह भावना, जो उन मन्त्रों में आती है, जिसमें कि अग्नि को परलोक के पथ पर नेता के रूप में देखा गया है, प्रासंगिक कल्पनामात्र हो सकती है, और इसका आधार संभवतः पुरुष-विषयक वह विचार हो सकता है[5] जिसके अनुसार पुरुष की चक्षु सूर्य बन जाती है और उसका श्वास वायु बन जाता है। उसी मन्त्र[6] में आत्मा के विषय में यह भी कहा गया है कि वह जलों या ओषधियों में चली जाती है। पश्चवैदिक युग के पुनर्जन्म-सिद्धान्त का बीज इसी प्रकार की धारणाओं में संनिहित दीख पड़ता है।

जिस पथ से पितर गये थे उसी पथ पर बढ़ती हुई[7] मृतक की आत्मा शाश्वत प्रकाश के लोक में जा पहुंचती है[8] और तब वह देवताओं-जैसी दीप्ति से भासित

यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः।
तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद्घासं पुनरा वेशयन्तु ॥ अथ० 18.2.26.

1. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ अथ० 6.120.3.
2. दे० 10.16.6. पृ० 432.
3. स होवाच। अनतिप्रश्न्यां मा देवतामत्यप्राक्षीः पुरेतिथ्यै मरिष्यसि न तेऽस्थीनि चन गृहान्प्राप्स्यन्तीति स ह तथैव ममार तस्य हाऽप्यन्यन्मन्यमानाः परिमोषिणोऽस्थीन्यपजहुस्तस्मान्नोपवादी स्यात्। शत० ब्रा० 11.6.3.11.
तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा विपपात तस्य हाऽप्यन्यन्मन्यमानाः परिमोषिणोऽस्थीन्यपजहुः। शत० ब्रा० 14.6.9.28.
4. दे० 10.16.3. पृ० 430.
5. चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ ऋ० 10.90.13.
6. यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम्। ऋ० 10.58.7.
7. प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ऋ० 10.14.7.
8. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।

हो उठती है[1]। वह रथ पर बैठकर अथवा परों पर उड़ कर जाती है[2]। वह उन परों पर जाती है, जिनसे कि अग्नि रक्षसों का संहार करते हैं[3]। मरुतों के द्वारा ऊपर उठाई जाकर, मन्द वायु से वीज्यमान होती हुई, जल-बूंदों द्वारा सहलाई जाती हुई वह अपने पुराने शरीर को सकल आकार में प्राप्त कर लेती है[4] और वैभव-संपन्न होकर अपने पितरों से जा मिलती है, जो सर्वोच्च स्वर्ग में यम के साथ आनन्द ले रहे होते हैं[5]। और तब यम इस मृत व्यक्ति को अपना मानने लगता है और रहने के लिए इसे स्थान देता है। शतपथ ब्राह्मण में आता है कि मृतक इस संसार को छोड़ने के बाद दो अग्नियों के बीच से गुज़रता है जो क्रूरों को जला डालते हैं, किंतु ऋजुओं को आगे चलने देते हैं। द्वितीय कोटि के पथिक पितृमार्ग या सूर्य-मार्ग से जाते हैं[6]। उपनिषदों में ब्रह्मवेत्ताओं के लिए दो मार्ग बताये गये हैं: एक मार्ग ब्रह्म तक पहुंचाता है (यह पूर्ण ज्ञान का परिणाम है)। दूसरा स्वर्ग-लोक को जाता है, जहां से पुण्यों के क्षीण हो चुकने पर आत्मा पृथिवी पर पुनर्जन्म के लिए लौट आती है। किंतु अनात्मज्ञानी अभागे तो अन्ध-लोक में पड़ते और पृथिवी पर क्रूरों की तरह फिर से जन्म लेते हैं।

तस्मिन्मां धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ऋ० 9.113.7.

1. येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम्।
   तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ अथ० 11.1.37.
2. रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति। अथ० 4.34.4.
3. इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने।
   ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥ वा० सं० 18.52
4. ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान्गृहाँ उप जुजुषाण एहि।
   सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः ॥ अथ० 18.2.21.
5. सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
   हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥ ऋ० 10.14.8.
   अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति। ऋ० 10.14.10.
   ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
   पितॄन् तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ऋ० 10.154.4.
   सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
   ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ ऋ० 10.154.5.
   दे० 10.14.8. ऊपर।
   यमो ददात्यवसानमस्मै। ऋ० 10.14.9.
   ददाम्यस्मा अवसानमेतद्य एष आगन्मम चेदभूदिह। अथ० 18.2.37.
6. स एष देवयानो वा पितृयाणो वा पन्थाः। तदुभयतोऽग्निशिखे समोषन्त्यौ तिष्ठतः

स्वर्ग (§ 73)—

वह आवास, जहां पितर और यम निवास करते हैं, रजस् के मध्य में स्थित है[1]। वह सर्वोच्च आकाश में है[2], तृतीय स्वर्ग में है और आकाश के अन्तरतम में है, जहां कि शाश्वत प्रकाश खिला रहता है[3]। अथर्ववेद भी इसे सर्वोच्च[4] दीप्तिमान् लोक[5], त्रिनाक, त्रिदिव, नाक का पृष्ठ[6] और तीसरी प्रद्यौ[7] इन शब्दों द्वारा संकेतित करता है। मैत्रायणी संहिता[8] में पितरों का आवास तृतीय लोक में बताया गया है। ऋग्वेद[9] में भी पितरों का आवास सूर्य का उच्चतम पद है, जहां अजस्र ज्योति है और जहां प्रकाश खिला रहता है। अश्वों के दाता पितर् सूर्य के साथ रहते हैं[10]। सहस्रनयन कवि सूर्य की रक्षा करते हैं[11]। सूर्य-रश्मियों के द्वारा पितर् लोग सपित्व अर्थात् सह-प्राप्तव्य स्थान को जाते हैं[12]। सततं भरपूर दक्षिणा

प्रति तमोषतो यः प्रत्युष्योऽत्युतं सृजेते योऽतिसृज्यः शान्तिरापस्तदेतमेवैतत्पन्थानं शमयति। शत० ब्रा० 1.9.3.2.

1. ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
   तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व॥ ऋ० 10.15.14.
2. दे० 10.14.8. पृ० 435.
3. दे० 9.113.7. पृ० 435.
   लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि। ऋ० 9.113.9.
4. प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्। अथ० 11.4.11.
   अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्। अथ० 4.34.2.
5. ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः। अथ० 18.2.47.
6. दे० 9.5.1. पृ० 432.
   ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व। अथ० 9 5.8.
   तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व। अथ० 18.4.3.
7. तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते। अथ० 18.2.48.
8. तृतीये हि लोके पितरः। मैत्रा० सं० 1.10.18. तथा 2.3.9.
9. यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
   लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि॥ ऋ० 9.113.9.
10. उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
    हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः॥ ऋ० 10.107.2.
11. सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्। ऋ० 10.154.5.
12. इमे नु ते रश्मयः सूर्यस्य येभिः सपित्वं पितरो न आसन्। ऋ० 1.109.7.
    अथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत्परं भाः

देने वालों के लिए द्युलोक में अनेकानेक सूर्य चमकते हैं[1]। पितरों का विष्णु-पद के साथ भी संबन्ध बना रहता है[2]। और देवभक्त मनुष्य प्रिय धाम में, विष्णु के उच्चतम पद पर, जहां कि मधु का स्रोत प्रवाहित रहता है, आनन्द लेते हैं[3]। जैसे विष्णु ने तीन पद क्रमण किये थे वहां जहां कि देवता आनन्द लेते हैं, वैसे ही सूर्य उषस् का अनुगमन करते हैं, वहां जहां भक्त देवयु मनुष्य यज्ञों में रत रहते हैं।

आकाश में चमकनेवाले तारे असल में पुनीत मानवों ही के प्रकाश-बिन्दु हैं[4]। और यह भी माना जाता था कि पुराण पुरुष, खास तौर से सप्तर्षि, अत्रि और अगस्त्य तारे बनकर आकाश में उभरे हुए हैं[5]।

ऋग्वेद में आता है कि सुपलाश वृक्ष के नीचे यम देवों के साथ पान करते हैं[6]। अथर्ववेद[7] के अनुसार वह पीपल का वृक्ष है, जहां देवता तृतीय स्वर्ग में निवास करते हैं (यम का यहां उल्लेख नहीं हुआ है)।

स्वर्गीय सुख (§ 74)—

भावी जीवन के विषय में सबसे स्पष्ट उल्लेख तो ऋग्वेद के नवम और दशम मंडल में आते हैं; किंतु प्रथम मंडल में भी इसके संकेत मिल जाते हैं। स्वर्ग ऐसे मनुष्यों को मिलता है जो तप में अजेय हैं, और जो ज्वलन्त तप में रत रहते हैं, या जो वीर युद्धों में लड़ते-लड़ते शरीर त्यागते हैं[8]। किंतु यह पुरस्कार इन

प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकस्तद्देवमिमाँल्लोकान्त्समारुह्याऽथैतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति। शत० 1.9.3.10.

1. दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः। ऋ० 1.125.6.
2. आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। ऋ० 10.15.3.
3. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति। उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥ ऋ० 1.154.5.
4. सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि तान्येवाप्नोति। तै० सं० 5.4.1.3.1. नक्षत्राणि वै जनयो ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि ज्योतींषि। शत० ब्रा० 6.5.4.8.
5. असतः सद्ये ततक्षुः। ऋषयः सप्तात्रिश्च यत्। सर्वेऽत्रयो अगस्त्यश्च। नक्षत्रैः शंकृतोऽवसन्। तै० आ० 1.11.1.2.
6. यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः। अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥ ऋ० 10.135.1.
7. अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ अथ० 5.4.3.
8. तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।

सबसे बढ़कर उनको मिलता है, जो खुले दिल से यज्ञ करते हैं। वे नाक के पृष्ठ पर निवास करते हैं, द्युलोक में उन्हें ऊंचा स्थान मिलता है, और वे हिरण्य आदि से संपन्न हो जाते हैं[1]। याज्ञिकों को प्राप्त होनेवाले आनन्दों का ऋग्वेद में बार-बार वर्णन आता है।

इष्टापूर्त के द्वारा परम व्योम में प्रेतात्मा पितरों और यम से संगत होती है, और वहां उसे नवीन चोले का लाभ होता है[2]। स्वर्ग में मृतात्मा एक ऐसे प्रसादमय जीवन में प्रवेश करते हैं, जहां सकल इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं[3] और जो देवताओं के बीच में विशेषतया यम और वरुण[4]—इन देवताओं के समक्ष बिताया जाता है। अव्यथी स्तोतृवृन्द अन्तरिक्ष को पार कर जाते हैं[5]। वैभव-संपन्न शरीर से युक्त होकर वे देवता और पितरों के प्रेम-भाजन बन जाते हैं[6]। वहां स्वच्छ आत्मा

तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ऋ० 10.154.2.
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ऋ० 10.154.3.
ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।
पितॄन् तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ऋ० 10.154.4.
दे० 10.154.3. ऊपर

1. नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति । ऋ० 1.125.5.
   दे० 10.107.2. पृ० 436.
2. दे० 10.14.8. पृ० 435.
   तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व । ऋ० 10.15.14.
   दे० 10.16.2. पृ० 430.
   अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः ।
   आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः ॥ ऋ० 10.16.5.
3. दे० 9.113.9. पृ० 436.
   यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
   कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ॥ ऋ० 9.113.11.
4. यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
   स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ ऋ० 10.14.14.
   दे० 10.14.7. पृ० 434.
5. तदव्यथी जरिमाणस्तरन्ति । ऋ० 10.27.21.
6. दे० 10.14.8. पृ० 435. 10.16 5. ऊपर।
   इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व ।
   संवेशने तन्वश्चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥ ऋ० 10.56.1.

वाले सुकृत् लोग शारीरिक व्यथाओं से स्वतन्त्र हो आनन्द करते ; वहीं प्रेतात्मा अपने पिता, माता और पुत्रों से जा मिलते हैं[1] और वहां वे अपने स्त्री-पुत्रों को फिर से देखते हैं[2]। उधर के जीवन में शारीरिक अपूर्णता और दुर्बलता नहीं रहती[3]। वहां पहुंचने पर व्याधियां जाती रहती हैं और शरीरावयवों की ऊनताएं दूर हो जाती हैं[4]। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में आता है कि परलोक में मृतकों के अंग-प्रत्यंग पूर्ण बने रहते हैं।

ऋग्वेद कहता है कि स्वर्ग में मृतक आनन्द लेते हैं ; अथवा यों कहिये कि उन्हें आनन्द दिया जाता है[5]। स्वर्गीय जीवन के आनन्द का सबसे अधिक प्ररोचक वर्णन ऋग्वेद[6] में आता है। वहां अजस्र ज्योति चमकती है और वहां वेगयुक्त सलिल प्रवाहित रहते हैं। वहां स्वेच्छा से घूमना-फिरना होता है और वहां आलोक है, वहां स्वधा है, तृप्ति है, संतुष्टि है। वहां आनन्द है, मोद है, उल्लास है, प्रमोद है और वहां सभी कामनाओं की भरपेट पूर्ति है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में बताया गया है कि ये सब आनन्द प्रेम के आनन्द हैं[6]; और अथर्ववेद[7] कहता है कि वहां पहुंचने पर शरीर में हड्डियां नहीं रहतीं और पवन से शोधे गये परिपूत व्यक्ति शुचिलोक में पहुंच जाते हैं, जहां (काम—) अग्नि शिश्न को नहीं जलाती और सब प्रकार का स्त्री-भोग अखंड बना रहता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पुनीतों का सुख

---

1. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
   अश्लोणा अङ्गैरह्रुता स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ अथ० 6.120.3.
2. स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम ।
   अथ० 12.3.17.
3. दे० 10.14.8. पृ० 435.
   दे० अथ० 6.120.3. पृ० 434.
4. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः । अथ० 3.28.5.
5. अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
   अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ऋ० 10.14.10.
   दे० 10.15.14. पृ० 430.
6. दे० 9.113.7. एवं 8. पृ० 286.
   दे० 9.113.9. पृ० 436. 9.113.11. पृ० 438.
   कामस्य तृप्तिमानन्दः । तस्याग्ने भाजयेह मा । मोदः प्रमोद आनन्दः ।
   मुष्कयोर्निहितः सपः । सृत्वेव कामस्य तृप्याणि । तै० ब्रा० 2.4.6. 5-6
   आ मैथुनात्सर्वं हास्य तत्स्वर्गं लोकमभि संभवति । शत० ब्रा० 10.4.4.4.
7. अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
   नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥ अथ० 4.34.2.

पार्थिव सुखों की अपेक्षा सौ गुना है[1]। ऋग्वेद कहता है कि पुनीतों के देव-निर्मित स्वर्ग में वीरता और गायन की मंजुल ध्वनि उठती रहती है[2]। पूत व्यक्तियों के लिए वहां सोम, घृत और मधु बहते रहते हैं[3]। वहां घृत से लबालब भरे ह्रद हैं, मधु की कूल हैं, सुरा के स्रोत हैं, और दूध की नदियां बहती हैं[4]। वहां चमकती हुई विश्वरूप कामदुघा धेनुएं हैं[5]। उस नाक पर निर्बलों को सबलों के हाथों शुल्क नहीं देना पड़ता[6]। संहिताओं और ब्राह्मणों के दिव्य सुख के समान उपनिषदों के भी अपने स्वर्ग्य सुख हैं, जिन्हें भोग चुकने पर एक व्यक्ति इस धरती पर लौट आता और पुनर्जन्म लेता है। ब्रह्म में तो वे ही विलीन होते और वे ही अमृतत्व एवं अनन्त शान्ति के अविकार्य आनन्द को पाते हैं जो सत्य को देख लेते हैं। इस प्रकार पुनीतों का स्वर्गीय जीवन मस्ती और भौतिक आनन्द का जीवन माना जाता था, जिसमें सभी प्रकार की दुर्बलताओं एवं अशक्तताओं से उन्मुक्त होकर वे देवताओं का सांनिध्य प्राप्त करते हैं और ऐन्द्रिय सुख में लीन रहते हैं, जैसाकि स्वयं देवता लोग करते हैं और जैसाकि इन्द्र के लिए आया है कि तुम सोम पिओ और घर जाओ जहांकि कल्याणी जाया तुम्हारी बाट जोहती है और जहां गीत और वाद्य की ध्वनि उठती रहती है[7]।

क्षत्रियों की नहीं, अपितु पुरोहितों की कल्पना के अनुसार स्वर्ग भौतिक

1. अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः। स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः।
शत० ब्रा० 14.7.1.33.
सयो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवति। अन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैः कामैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः। शत० ब्रा० 14.7.1.32.
2. इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः॥ ऋ० 10.135.7.
3. सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ ऋ० 10.154.1.
4. आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥
अथ० 4.34.5.
घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। अथ० 4.34.6.
घृतकुल्या मधुकुल्याः पितॄन्त्स्वधा अभि वहन्ति। शत० ब्रा० 11.5.6.4.
5. विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु। अथ० 4.34.8.
6. स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे।
अथ० 3.29.3.
7. अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। ऋ० 3.53.6.

आनन्द का एक संपन्न लोक है। यह सुकृतों का लोक है[1], जहां पुनीत एवं दैव्य नर ऋत को पहचानते हुए आनन्द में चैन की बंसी बजाते हैं। वहां उनके इष्टापूर्त फलते हैं और वे पुरोहितों के लिए दी गई दक्षिणा के वल्गुफल भोगते हैं[2]। ब्राह्मणों में कहा गया है कि जो सुचारु विधि से यज्ञ करते हैं वे सबके ऊपर आदित्य, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, बृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मा का पद और इनका तादात्म्य प्राप्त करते हैं[3]। एक ऋषि के लिए वर्णन आता है कि वे ज्ञान द्वारा स्वर्णिम हंस बनकर स्वर्ग में गये और वहां उन्होंने सूर्य का सांनिध्य प्राप्त किया[4]। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार यज्ञ-विशेष का अनुष्ठान करके मनुष्य जीवित

---

1. ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्। ऋ० 10.16.4.
2. दे० 10.154.3. पृ० 438.
3. स यद्वैश्वदेवेन यजते। अग्निरेव तर्हि भवत्यग्नेरेव सायुज्यं सलोकतां जयत्यथ यद्वरुणप्रघासैर्यजते वरुण एव तर्हि भवति वरुणस्यैव सायुज्यं सलोकतां जयत्यथ यत्साकमेधैर्यजत इन्द्र एव तर्हि भवतीन्द्रस्यैव सायुज्यं सलोकतां जयति।
   शत० ब्रा० 2.6.4.8.
   षड् ढ वै ब्रह्मणो द्वारोऽग्निर्वायुरापश्चन्द्रमा विद्युदादित्यः। स य उपदग्धेन हविषा यजते। अग्निना ह स ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्यते सोऽग्निना ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्य ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां जयति। शत० ब्रा० 11.4.4. 1-2
   आदित्यो वै घर्मस्तं सायमग्नौ जुहोम्यग्निर्वै घर्मस्तं प्रातरादित्ये जुहोमीति किं स भवति य एवं जुहोत्यजस्र एव श्रिया यशसा भवत्येतयोश्च देवतयोः सायुज्यं सलोकतां जयतीति। शत० ब्रा० 11.6.2 2.
   आदित्यो वै तेजस्तं सायमग्नौ जुहोम्यग्निर्वै तेजस्तं प्रातरादित्ये जुहोमीति किं स भवति य एवं जुहोतीति तेजस्वी यशस्व्यन्नादो भवत्येतयोश्च देवतयोः सायुज्यं सलोकतां जयतीति। शत० ब्रा० 11.6.2.3.
   अग्नेर्वा एतानि नामधेयानि। अग्नेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
   वायोर्वा एतानि नामधेयानि। वायोरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
   इन्द्रस्य वा एतानि नामधेयानि। इन्द्रस्यैव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
   बृहस्पतेर्वा एतानि नामधेयानि। बृहस्पतेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
   प्रजापतेर्वा एतानि नामधेयानि। प्रजापतेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
   ब्रह्मणो वा एतानि नामधेयानि। ब्रह्मण एव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
   तै० ब्रा० 3.10.11. 6-7
4. अहीना हाऽऽश्वथ्यः। सावित्रं विदाञ्चकार। स ह हंसो हिरण्मयो भूत्वा स्वर्गं लोकमियाय। आदित्यस्य सायुज्यम्। तै० ब्रा० 3.10.9.11.
   किं तद् यज्ञे यजमानः कुरुते येन जीवन्त्सुवर्गं लोकमेतीति जीवग्रहो वा एष

अवस्था में ही स्वर्ग में पहुंच जाता है।

जो व्यक्ति वेद को उचित ढंग से पढ़ता है वह मृत्यु से छूट जाता है और ब्रह्मा का सायुज्य प्राप्त कर लेता है। किसी गुह्य विद्या-विशेष को जानने के परिणाम-स्वरूप मनुष्य इस लोक में फिर जन्म लेता है[1]। कह सकते हैं कि शतपथ ब्राह्मण में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आरम्भ होता है। यह सिद्धान्त (नरक-सिद्धान्त के साथ-साथ) न केवल प्राचीनतम सूत्रों में अपितु उत्तर-ब्राह्मण काल में, अर्थात् छान्दोग्य, बृहदारण्यक और विशेषतया कठ उपनिषद् में पूर्णतया विकसित हो जाता है। कठोपनिषद् में नाचिकेतस की कहानी आती है। वह मृत्युदेव के लोक में जाता है। वहां मृत्यु उसे बताते हैं कि जिन व्यक्तियों ने स्वर्ग और अमृतत्त्व के लिए अपेक्षित पुण्य अर्जित नहीं कर लिये वे पुनः-पुनः मृत्यु के पाश में फंसते हैं और संसार-चक्र में भ्रमते रहते हैं; वे चर या अचर रूप में बार-बार जन्मते-मरते हैं। इसके विपरीत जो सन्त आत्म-संयम बरतते हैं वे विष्णु के परम पद को प्राप्त कर लेते हैं।

नरक (§ 75)—

यदि ऋग्वेदिक कवियों की दृष्टि में पुनीत व्यक्ति भावी जीवन में पुण्य-फल का उपभोग करते थे तो उनके लिए स्वाभाविक था कि पापियों के पाप-फल-भोग के लिए भी किसी स्थान की कल्पना करते, जैसा कि अवेस्ता के विषय में पाया जाता है। जहां तक अथर्ववेद और कठोपनिषद् का संबन्ध है हम कह सकते हैं कि वे नरक में विश्वास करते हैं। अथर्ववेद[2] में एक जगह अधो-गृह का निर्देश आया है। वहां डायनें रहती हैं और जादूगर बसते हैं। 'नारक लोक' यही है और यह यम के दिव्य लोक के ठीक विपरीत है[3]। हत्यारा इसी लोक में जाता है[4]। अथर्ववेद में अनेक बार इसे 'अधम तमस्'[5], 'कृष्ण तमस्' और 'अन्ध तमस्'[6] कहा

यददाभ्योऽनभिषुतस्य गृह्णाति। जीवन्तमेवैनं सुवर्गं लोकं गमयति।

तै० सं० 6.6.9. 2-3.

1. पुनर्ह वा अस्मिँल्लोके भवति य एवमेतद्वेद। शत० ब्रा० 1.5.3.14.
2. असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः।
   तत्र सेदिन्र्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः॥ अथ० 2.14.3.
3. सर्वान्कामान्यमराज्ये वशा प्र ददुषे दुहे।
   अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्॥ अथ० 12.4.36.
4. नारकाय वीरहणम्। वा० सं० 30.5.
5. नो यन्त्यधमं तमः। अथ० 8.2.24.
6. अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते।

गया है। नरक की यातनाओं का भी अथर्ववेद[1] में एक बार और शतपथ ब्राह्मण[2] में विस्तार के साथ वर्णन आता है; क्योंकि ब्राह्मणों में पहुंच कर ही भावी दण्ड-विषयक धारणाएं पूरे रूप से विकसित हुई प्रतीत होती हैं। शतपथ ब्राह्मण आगे चलकर कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को मृत्यु के उपरान्त पुनः जन्म लेना पड़ता है और उसे तराजू में तौला जाता है। अपने सुकृत या दुरितों के अनुसार वह पुरस्कार या दंड का भागी बनता है[3]। इसी प्रकार के विचार ईरान में भी पाये जाते हैं। रॉथ के मत में ऋग्वेदिक आर्यों को नरक का ज्ञान नहीं था, क्योंकि इस वेद में पापियों को मृत्यु के साथ सर्वदा के लिए विनष्ट हो चुका माना जाता है। किंतु निश्चय ही ऋग्वेद में भी नरक के संकेत मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए कहा गया है कि इस गंभीर पद को पापी, ऋत-विरोधी एवं असत्यात्मा व्यक्तियों ने बताया है[4]। इन्द्र सोम से प्रार्थना की गई है कि वे पापाचारों को गर्त में (वव्रे), बिना सहारे के घने तमस् में धकेल दें, जिससे कि उनमें से एक भी न बचने पावे[5]। और कवि प्रार्थना करता है कि उलूक की तरह अपने को छिपा कर जो डायनें रात में इधर-उधर भटकती फिरती हैं भगवान् करे कि वे अतल गर्त में जा गिरें[6]। राक्षस उस गढ़े में लुढ़क जायं जो तीनों पृथिवियों के बीच बना है[7]। किंतु इस प्रकार के निर्देश कम हैं और इन से केवल इतना सिद्ध होता है कि नरक पृथिवी के नीचे है और

उदेहि मृत्योर्गम्भीरात्कृष्णाच्चित्तमसस्परि ॥ अथ० 5.30.11.
अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत् । अथ० 18.3.3.

1. अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।
   भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ अथ० 5 19.1. आदि पूर्णसूक्त
2. शत० ब्रा० 11.6.1. पूर्ण निर्दिष्ट
3. तुलायां ह वा अमुष्मिंल्लोक आदधति यतरद्यंस्यति तदन्वेष्यति यदि साधु वासाधु वेत्यथ य एवं वेद । शत० ब्रा० 11.2.7.33.
   एतस्माद्वै यज्ञात्पुरुषो जायते । स यद्ध वा अस्मिँल्लोके पुरुषोऽन्नमत्ति तदेनममुष्मिँल्लोके प्रत्यत्ति । शत० ब्रा० 12 9.1.1.
4. अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः ।
   पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् ॥ ऋ० 4 5.5.
5. इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् ।
   यथा नातः पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥ ऋ० 7.104.3.
6. प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहा तन्वं गूहमाना ।
   वव्राँ अनन्ताँ अव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥ ऋ० 7.104.17.
7. परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
   प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ऋ० 7.104.11.

वहां अन्धकार छाया रहता है। इस पृथिवी पर ही कणेहत्य सुख पानेवाले कवियों की दृष्टि शायद ही पारलौकिक सुखों की ओर झुकती हो फिर परलोक की यातनाओं की ओर का तो कहना ही क्या ? ब्राह्मणों के अनुसार मृत्यु के उपरान्त पुण्यात्मा और पापात्मा दोनों ही परलोक में जन्मते और यथाकर्म फल भोगते हैं[1]। किंतु पुरस्कार या दंड के आनन्त्य के विषय में यहां कुछ भी नहीं कहा गया है। ब्राह्मणों में यह धारणा भी उभर चुकी है कि जो व्यक्ति यज्ञ-कर्म की प्रक्रिया को यथाविधि नहीं समझते और फिर भी उसे करते हैं, वे पार्थिव जीवन की अवधि के समाप्त होने से पहले ही परलोक चले जाते हैं।

उस अन्तिम दिन के निर्णय का, जिसका सांमुख्य हर मृतक को करना पड़ता है, वैदिक काल में नहीं के बराबर ज्ञान दीख पड़ता है। ऋग्वेद के वे एक-दो मन्त्र[2], जिनमें इस धारणा के संकेत खोजे गये हैं इतने अधिक संदिग्धार्थ हैं कि इनसे इस बात का निर्णय होना कठिन है। तैत्तिरीय आरण्यक[3] में आता है कि यम के समक्ष सत्याचार और मिथ्याचार विविक्त किये जाते हैं। किंतु उस अवसर पर यम न्यायाधीश जैसा व्यवहार करते हैं इस बात का इस कथन से निश्चय नहीं हो पाता। नरक-संबन्धी विश्वास भायोरपीय काल ही में उभर आया था। इस निर्णय पर वेबर महाशय भृगु का ग्रीक फ्रेगुअई के साथ साम्य करके पहुंचते हैं। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख आता है कि भृगु को उनके पिता ने दर्प के कारण नारकीय यातनाओं का आभास लेने के लिए नरक में भेजा था। और दूसरी ओर फ्रेगुअई को भी दर्प के कारण नारकीय यातनाएं भोगने का अभिशाप मिला था। किंतु संभवतः इन दोनों गाथाओं की समानता नितरां आकस्मिक है ; और हो सकता है कि नारकीय यातना-संबन्धी धारणा बाद में पैदा हुआ एक विविक्त भारतीय विचार हो।

पितर (§ 76)—

तृतीय स्वर्ग में रहने वाले पुण्यात्मा मृतकों को पितृ कहते हैं। पितृ शब्द

---

1. अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैत्येवंक्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभि संभवति। शत० ब्रा० 11.6.3.1.
   यद्दीक्षितो भवति तं कृतं लोकमभि जायते—
   तस्मादाहुः कृतं लोकपुरुषोऽभिजायत इति। शत० ब्रा० 6.2.2.27.
2. विवेष यन्मा धिषणा जजान स्तवै पुरा पार्यादिन्द्रमह्नः।
   अंहसो यत्र पीपरद् यथा नो नावेव यान्तमुभये हवन्ते॥ ऋ० 3.32.14.
3. वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः।
   ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः॥ तै० आ० 6.5.3.

से सामान्यतया आदिम या प्रथम पूर्वज लिये जाते हैं[1], जिन्होंने प्रथम मार्ग का अनुगमन किया है, वे ऋषि जिन्होंने उस पथ का निर्माण किया था, जिससे होकर आज के मृतक उनके यहां पहुंचते हैं[2]। पितर लोग विष्णु के विक्रमण के साथ संबद्ध हैं[3]। उनकी स्तुति में ऋग्वेद में दो सूक्त कहे गये हैं[4]।

पितरों की विविध जातियां हैं—नवग्व, विरूप, अंगिरस्, अथर्वन्, भृगु और वसिष्ठ[5]। अन्तिम चार नाम उन पुरोहित-कुलों के हैं जो परम्परा के अनुसार अथर्ववेद और ऋग्वेद के द्वितीय से लेकर सप्तम मंडल तक के निर्माता हैं। इनमें से अंगिरसों का यम के साथ निकट संबन्ध है[6]। पितरों को अवर, पर, और मध्यम तथा पूर्व और उपर अर्थात् परवर्ती कहा गया है। यद्यपि इन सब का उनके वंशजों को ज्ञान नहीं है तथापि अग्नि उन सभी को जानते हैं[7]। अथर्ववेद में अन्तरिक्ष,

---

1. ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ऋ० 10.15.8.
ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ० 10.15.10.
2. यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः॥ ऋ० 10.14.2.
दे० 10.14.7. पृ० 434.
यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥ ऋ० 10.14.15.
3. दे० 10.15.3. पृ० 437. 1.154.5. पृ० 437.
4. दे० 10.14.1. आदि नीचे पूर्ण सूक्त। दे० 10.15.1. आदि नीचे पूर्ण सूक्त।
5. इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व॥ ऋ० 10.14.4.
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ऋ० 10.14.5.
दे० 10.14.6. पृ० 363. 10.15.8. ऊपर।
6. मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति॥ ऋ० 10.14.3.
दे० 10.14 5. ऊपर।
परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ ऋ० 10.14.1.
7. उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ऋ० 10.15.1.

पृथिवी और द्युलोक में रहने वाले पितरों का उल्लेख आता है[1]। स्वयं पूर्व पितर वसिष्ठों ने एक बार पितरों को सोम-पेय दिया था[2]। पितर लोग यम के साथ सधमाद, अर्थात् नर्म-गोष्ठी का आनन्द भोगते[3] और देवों के साथ भोजन करते हैं[4]। वे ऋतावा हैं, पूर्व्य कवि हैं और उन्होंने गूढ़ ज्योति को पा लिया है। वे सत्यमन्त्र हैं और उषा को उन्होंने उत्पन्न किया है। देवताओं की-सी जीवन-यात्रा करते हुए वे अलौकिक प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। वे उसी रथ पर सवार होते हैं जिस पर कि इन्द्र और अन्य देवता[5]; वे सोम के प्रेमी हैं[6], और दक्षिण की ओर बर्हि पर बैठकर सोम-पान करते हैं[7]। पृथिवी पर अपने निमित्त अभिषुत सवन के लिए वे लालायित रहते हैं। उन्हें न्यौता गया है कि वे अपने पिता यम, और अग्नि के साथ आवें और यम के साथ हविष् ग्रहण करें[8]। सहस्रों की संख्या में

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ ऋ० 10 15.2.
यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा ॥ ऋ० 10.16.13.
ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ ऋ० 10.15.13.

1. ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्।
   य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ अथ० 18 2.49.
   दे० 10.15.2. ऊपर।
2. दे० 10.15.8. पृ० 445.
   यत्र देवैः सधमादं मदन्ति। अथ० 18.4.10.
3. दे० 10.14.10. पृ० 439. 10.135.1. पृ० 437.
4. त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः।
   गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥ ऋ० 7.76.4.
5. दे० 10.15.10. पृ० 445.
6. दे० 10.15.1. पृ० 445.
7. उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
   त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ऋ० 10.15.5.
   आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
   मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ऋ० 10.15.6.
8. दे० 10.15.8. पृ० 445.
   ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः।
   आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ऋ० 10.15.9.

पधार कर वे यज्ञभूमि पर चौकड़ी लगाकर बैठ जाते हैं[1]। अथर्ववेद[2] के अनुसार जब पितर यज्ञ में आते हैं तब दस्यु लोग कभी-कभी मित्र के वेष में उनके मध्य प्रविष्ट हो जाते हैं—उन्हें निकाल देने की अग्नि से प्रार्थना की गई है।

पितरों का भोज्य हविष् है, जिसे एक मन्त्र[3] में देवों के निमित्त दिये जाने वाले 'स्वाहा' से भिन्न 'स्वधा' पद से बोधित किया गया है। इसी प्रकार परवर्ती कर्मकांड में देवों के दैनिक सवन को पितरों के सवन से पृथक् दिखाया गया है। पितरों की उपासना होती है, उनसे कहा जाता है कि वे उपासकों की पुकार को सुनें, अपने भक्तों पर दया करें, उनकी रक्षा करें, और अपने वंशजों को अपने प्रति किये गये अपराधों के कारण क्षति न पहुंचावें[4]। इस कृपा के लिए उनका आह्वान उषा, सरित्, पर्वत, द्यावा-पृथिवी, पूषा, वसु और ऋभुओं के साथ किया गया है[5]। प्रार्थना की गई है कि उषाओं के उपस्थ में बैठे हुए पितर अपने पुत्रों को धन, अपत्य और दीर्घ जीवन प्रदान करें[6], जो उनकी कृपा के लिए तरस रहे

दे० 10.15.10. पृ० 445.
अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ऋ० 10.15.11.
दे० 10.14.4. तथा 5 पृ० 445.

1. दे० 10.15.10. एवं 11 पृ० 445.
2. ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति।
   परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात्प्र धमाति यज्ञात्॥ अथ० 18.2.28.
3. दे० 10.14.3. पृ० 445.
4. दे० 10.15.2. पृ. 446. 10.15.5. एवं 6 पृ० 446.
   अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः। ऋ० 7.86.5.
   मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः॥ ऋ० 3 55.2.
5. अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा सिन्धवः पिन्वमानाः।
   अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ॥ ऋ० 6.52.4.
   ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा।
   पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत॥ ऋ० 6.75.10
   शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु। ऋ० 7.35.12.
   अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा। ऋ० 1.106.3.
6. आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
   पुत्रेभ्य पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥ ऋ० 10.15.7.
   दे० 10.15.11. ऊपर।
   परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः।

हैं[1]। वरुण से प्रार्थना की गई है कि वह हमें अपने पितरों से आये द्रोहों से बचावें। वसिष्ठों का आह्वान अपने वंशजों की सहायता के निमित्त किया गया है[2] और अग्नि के साथ तुर्वश, यदु और उग्रदेव-जैसे पितरों को बुलाया गया है[3]।

पितर अमर्त्य हैं[4] और उनकी गरिमा देवों-जैसी है[5]। (अंगिरस् और इसके समान अन्य वर्गों में दिव्य चरित्र पूर्व्य पुरोहितों के चरित्र के साथ मिश्रित है) देवताओं के समान पितरों को भी कभी-कभी जगत् के महान् कार्य करते दिखाया गया है। उदाहरण के लिए, कहा गया है कि पितरों ने तारों के गजरों से आकाश को सजाया है, और रात्रि में अन्धकार का तथा दिन में द्युति का उन्हीं ने निधान किया है[6]। उन्होंने गूढ़ प्रकाश को प्राप्त किया, उषस् को जना[7] और सोम के सहयोग से आकाश-पृथिवी को प्रथित किया है[8]।

जिस प्रकार क्रव्याद् अग्नि को हव्यवाट् अग्नि से विविक्त किया गया है[9] उसी प्रकार पितृयान को देवयान से अलग दिखाया गया है[10]। शतपथ ब्राह्मण में

दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ अथ० 18.3.14.
आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ अथ० 18.4.62.

1. दे० 10.14.6. पृ० 363.
2. श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियंजिन्वासो अभि हि प्रमन्दुः।
उत्तिष्ठन् वोचे परि बर्हिषो नॄन् न मे दूरादवितवे वसिष्ठाः ॥ ऋ० 7.33.1.
दे० 10.15.8. पृ० 445.
3. अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः ॥ ऋ० 1.36.18.
4. अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वम्। अथ० 6.41.3.
5. महिम्न एषां पितरश्चनेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम्। ऋ० 10.56.4.
6. अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् ॥ ऋ० 10.68.11.
7. दे० 7.76.4. पृ० 446. मही ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागात्। ऋ० 10.107.1.
8. त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ। ऋ० 8.48.13.
9. क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ ऋ० 10.16.9.
10. पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणम्। ऋ० 10.2.7.
परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्। ऋ० 10.18.1.
द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ऋ० 10.88.15.

स्वर्गलोक को पितृलोक से भिन्न दिखाया गया है; क्योंकि स्वर्गलोक का द्वार पूर्वोत्तर की ओर है[1], जबकि पितृलोक का द्वार है पूर्व-दक्षिण की ओर[2]। पितरों को मनुष्यों से भिन्न वर्ग का बताया गया है, क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार इनकी रचना मनुष्यों की रचना से पृथक् हुई थी[3]।

यम (§ 77)—

पुण्यात्मा मृतकों में यम प्रमुख हैं। ऋग्वैदिक कवि भावी जीवन के विषय में कम चिन्तन करते थे, फलतः ऋग्वेद में यम के लिए केवल तीन सूक्त कहे गए हैं[4]। इनके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त भी है[5] जिसमें यम और उनकी बहन यमी का कथोपकथन दिखाया गया है। यम का नाम ऋग्वेद में लगभग 50 बार आता है, किंतु सब से अधिक बार वह दशम और प्रथम मण्डल में ही आता है।

यम देवताओं के साथ आनन्द का उपभोग करते हैं[6]। यम के साथ उल्लिखित देवता हैं : वरुण[7], बृहस्पति[8] और विशेष रूप से अग्नि, जो मृतकों के नेता होने के नाते स्वभावतः यम के संनिकट हैं। अग्नि यम के प्रेम-भाजन हैं[9] (सायण का अर्थ भिन्न है[10])। एक देवता[11] ने जो कि वस्तुतः यम है—जलों के उल्व से परि-

1. यद्वेवोदङ् प्राङ् तिष्ठन्। एतस्यां ह दिशि स्वर्गस्य लोकस्य द्वारम्। शत०ब्रा०6.6.2.4
2. उभे दिशावन्तरेण विदधाति प्राचीं च दक्षिणां चैतस्य ह दिशि पितृलोकस्य द्वारम्। शत० ब्रा० 13.8.1.5.
3. तदनु पितॄनसृजत। तत्पितॄणां पितृत्वम्। स पितॄन्त्सृष्ट्वाऽमनस्यत्। तदनु मनुष्यानसृजत। तै० ब्रा० 2.3.8.2.
4. दे० 10.14.1. आदि पृ० 445; पूर्णसूक्त दे० 10.135.1. आदि पृ० 437 पर पूर्णसूक्त दे० 10.154.1. आदि पृ० 440 पर पूर्णसूक्त।
5. ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्। पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ ऋ० 10.10.1. आदि।
6. दे० 7.76.4. पृ० 446. 10.135.1. पृ० 437.
7. दे० 10.14.7. पृ० 434.
8. देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत। बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् ॥ ऋ० 10.13.4. दे० 10.14.3. पृ० 445.
9. अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या। भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे ॥ ऋ० 10.21.5.
10. अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत् समञ्जन्ति देवाः। ऋ० 10.52.3.
11. विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः। ऋ० 10.5.11.

वेष्टित अग्नि के विविध रूपों को निहारा था। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम और मातरिश्वा का उल्लेख एक सत् के रूप में एक ही स्थान पर हुआ है[1]। नराशंस पूषा, अगोह्य अग्नि, सूर्य-चन्द्रमा, त्रित (=इन्द्र), वात, उषस् और अश्विनों के साथ भी यम का नाम लिया गया है[2]।

उक्त उद्धरणों से व्यक्त होता है कि यम भी एक देवता-विशेष हैं। फिर भी उन्हें स्पष्ट शब्दों में देवता न कहकर मृतकों का राजा बताया गया है[3]। यम और वरुण इन दोनों राजाओं को मृतक व्यक्ति स्वर्ग में पहुंचने पर देखते हैं[4]। उनकी स्तुति में बने एक सूक्त[5] में उनका नाम पितरों, विशेषतया अंगिरसों के साथ लिया गया है। उनके साथ वे यज्ञ में आते हैं जहां उन्हें मद अर्पित किया जाता है। परवर्ती ग्रन्थों[6] में यम के अश्वों का उल्लेख आता है, जिन्हें हिरण्याक्ष और आयस-खुर बताया गया है। यम मनुष्यों का संगमन करते हैं, मृतकों को अवसान अर्थात् आश्रय अथवा दहन-स्थान प्रदान करते हैं[7]; और संभवतः वे उन्हें सदन भी देते हैं[8]। यम का आवास आकाश की सुदूर गुहा में है, जहां कि नव-नव सलिल प्रवाहित रहते हैं[9]।

ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेदः प्रविष्टमग्ने अप्स्वोषधीषु।
तं त्वा यमो अचिकेच्चित्रभानो दशान्तरुष्यादतिरोचमानम्॥ ऋ० 10.51.3.

1. दे० 1.164.46. पृ० 171.
2. दे० 10.64.3. पृ० 164.
   ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः।
   देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे॥ ऋ० 10.92.11.
3. दे० 9.113.8. पृ० 286.
   दे० 10.14.1. आदि पृ० 445. पूर्ण सूक्त में सर्वत्र।
   दे० 10.16.9. पृ० 448.
4. दे० 10.14.7. पृ० 434.
5. दे० 10.14.3. तथा 5. पृ० 445.
   दे० 10.14.3. तथा 4 पृ० 445.
   दे० 10.15.8. पृ० 445.
6. हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान्।
   अश्वाननश्यतो दानं यमो राजाऽभितिष्ठति॥ तै० आ० 6.5.2.
7. यमो ददात्यवसानमस्मै। ऋ० 10.14.9.
   ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन्मम चेद्भूदिह।
   यमश्चिकित्वान्प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठतामिह॥ अथ० 18.2.37.
8. एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥ ऋ० 10.18.13.
9. दे० 9.113.8. पृ० 286.

तीन द्युलोकों में से दो सविता के हैं और एक यम का है[1], यही तृतीय लोक सबसे ऊंचा है। वाजसनेयि संहिता[2] में आता है कि यमी के साथ यम सर्वोच्च स्वर्ग में रहते हैं। यम का सदन यहीं हैं, देवताओं का आवास यहीं पर है, और यम का यह सदन वीणा की झंकार और गीतों की तानों से मुखरित रहता है[3]।

यम के लिए सोम-सवन होता है, और उन्हें हविष् दिया जाता है[4]। प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ में आवें और अपने प्रस्तर पर पधारें[5]। उनसे मिन्नत की गई है कि वे हमें देवताओं तक पहुंचा दें और हमें दीर्घायु बनावें[6]।

यम के पिता विवस्वान् हैं[7], जिनके साथ सरण्यू का उल्लेख यम की माता की तरह हुआ है[8]। अनेक बार उन्हें उनका पैतृक नाम वैवस्वत लेकर भी बुलाया गया है[9]। यह पैतृक नाम भारत-ईरानी काल का है; क्योंकि अवेस्ता में आता है कि वीवङ्ह्वन्त ने, जो कि मानवों में प्रथम सोम-सोता थे, उपहार में यिम पुत्र को प्राप्त किया था। अथर्ववेद[10] में यम को विवस्वान् से बढ़कर बताया गया है।

ऋग्वेद[11] में आनेवाले कथोपकथन में यम और यमी अपने-आपको गंधर्व

---

1. तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्। ऋ० 1.35.6.
2. दे० 10.123.6. पृ० 353.
नमः सुते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाकेऽ अधिरोहयैनम्॥ वा० सं० 12.63.
3. दे० 10.135.7. पृ० 440.
4. यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ ऋ० 10.14.13.
दे० 10.14.14. पृ० 438.
5. दे० 10.14.4. पृ० 445.
6. दे० 10.14.14. पृ० 438.
7. दे० 10.14.5. पृ० 435.
8. यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश। ऋ० 10.17.1.
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामदधुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ ऋ० 10.17.2.
9. दे० 10.14.1. पृ० 445.
10. यमः परोऽवरो विवस्वान्ततः परं नाति पश्यामि किं चन। अथ० 18.2.32.
विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः। अथ० 18.3.61.
विवस्वान्नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मोष्वेषामसवो यमं गुः॥ अथ० 18.3.62.
11. दे० 10.10.4. पृ० 349.

और 'अप्या योषा' का अपत्य बताते हैं। साथ ही यमी यम को 'मर्त्य का एक त्यजस् अर्थात् पुत्र[1] भी कहती है। एक अन्य सूक्त में आता है कि यम ने देवताओं के लिए मृत्यु को वरा और प्रजा के लिए अमृत का वरण नहीं किया[2] (सायण का अर्थ भिन्न है)। यम अनेकों को गातु अर्थात् मार्ग दिखाते हैं जिस पर कि पूर्व पितर चले थे[3]। मर्त्यों में मरनेवाले यम सबसे पहले थे[4]। यहां मर्त्य शब्द से मनुष्य ही लिये जा सकते हैं, यद्यपि बाद में देवों को भी मर्त्य कहा गया है। मृतकों में प्रथम और प्राचीनतम होने के नाते यम को उनके अनुगामी मृतकों का नेता माना गया है। यम विशस्पति अर्थात् बस्तियों के स्वामी हैं और हमारे पिता हैं[5]। परवर्ती ग्रन्थों में मनुष्यों को विवस्वान् आदित्य के वंशज बताया गया है[6]। ऋग्वेद में भी यम का सूर्य के साथ संबन्ध उभर चुका है, क्योंकि यम-प्रदत्त दिव्य अश्व का, जिसे कि वसुओं ने आदित्य से रचा था, संभवतः तात्पर्य उस सौर पद से है जो कि अमर बन जाने वालों को प्रदान किया जाता है[7]।

यम का पथ मृत्यु-पथ है[8] और मरुतों से प्रार्थना की गई है कि उनका स्तोता कभी उस रास्ते पर न जाय[9]। एक बार यम का ताद्रूप्य मृत्यु के साथ भी किया गया प्रतीत होता है। ओषधियों से प्रार्थना की गई है कि वे हमें वरुण के पाशों से स्वतन्त्र करावें, वे हमें यम की बेड़ियों से आज़ाद करावें[10]। निश्चय ही इन उपकरणों और ऐसी विशेषताओं वाले यम अपने निशित दूतों के कारण ऋग्वैदिक आर्यों के लिए भय का कारण रहे होंगे; किंतु अथर्ववेद में और परवर्ती

---

1. उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य। ऋ० 10.10.3.
2. दे० 10.13.4. पृ० 449.
3. दे० 10.14.1. तथा 2. पृ० 445.
4. यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
   वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥ अथ० 18.3.13.
5. दे० 10.135.1. पृ० 437.
6. ततो विवस्वानादित्योऽजायत तस्य वा इयं प्रजा यन्मनुष्याः। तै० सं० 6.5.6.2.
   स विवस्वानादित्यस्तस्येमाः प्रजाः। शत० ब्रा० 3.1.3.4.
7. दे० 1.163.2. पृ० 164.
   दे० 1.83.5. पृ० 384.
8. पथा यमस्य गादुप। ऋ० 1.38.5.
9. तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे। अथ० 6.28.3.
   यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथः। अथ० 6.93.1.
10. मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत।
    अथो यमस्य पड्बीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥ ऋ० 10.97.16.

गाथाओं में यम का यह भय और भी भयंकर बनता गया, यहां तक कि अन्त में उन्हें स्वयं मृत्यु का देवता समझा जाने लगा। बाद की संहिताओं में यम का उल्लेख अन्तक, मृत्यु[1], और निर्ऋति के साथ हुआ है। मृत्यु यम का दूत है[2]। अथर्ववेद में कहा गया है कि मृत्यु मनुष्यों के स्वामी हैं और यम पितरों के[3]। निद्रा को यम के लोक से आनेवाली बताया गया है[4]।

यम शब्द का एक अर्थ 'युग्म' भी है और अपने इस अर्थ में भी यह शब्द ऋग्वेद में कई बार आया है (साधारणतया द्विवचन पुं० या स्त्रीलिंग में) किंतु पूर्वोदात्त यम शब्द का अर्थ—'बागडोर' या 'नेता' है। यम और यमी का ऋग्वेद[5] में युग्म बनता है। अवेस्तिक यिम शब्द का भी 'युग्म' अर्थ है। अवेस्ता में न सही तो परवर्ती साहित्य में तो निश्चय ही यिम की बहन यिमेह् अपने भाई के साथ प्रथम मानव दंपती उत्पन्न करती है। भारतीय साहित्य के परवर्ती काल में, जब यम को पापियों का यन्ता मृत्युदेव समझा जाने लगा था, तब इस शब्द की व्युत्पत्ति नियन्त्रणार्थक √यम् धातु से मानी जाती थी, किंतु यम-विषयक वैदिक धारणा के साथ इस व्युत्पत्ति की संगति नहीं बैठती है।

मृत्यु के तद्रूप यम का दूत उलूक या कपोत पक्षी है[6]। फलतः यम और मृत्यु का दूत समान ही प्रतीत होता है[7]। किंतु यम के सहज दूत तो दो कुत्ते हैं[8], वे

---

1. यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। वा० सं० 39.13.
   मृत्युर्वै यमः। मै० सं० 2.5.6.
2. नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति।
   उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधेऽस्मा अरिष्टतातये॥ अथ० 5.30.12.
   मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेताः। अथ० 18.2.27.
3. मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु। अथ० 5.24.13.
   यमः पितृणामधिपतिः स मावतु। अथ० 5.24.14.
4. यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्र युनक्षि धीरः।
   एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ॥ अथ० 19.56.1.
5. ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
   पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः॥ ऋ० 10.10.1. आदि०
6. यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति।
   यस्य दूतः प्रहित एष एतत् तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ऋ० 10.165.4.
   दे० 10.123.6. पृ० 353.
7. नयतामून्मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत। अथ० 8.8.11
8. दे० 10.14.10. आदि 12 तक पृ० 439.
   दे० 10.14.11. पृ० 454.

चतुरक्ष हैं, फैली नाक वाले हैं, शबल हैं और सरमा के पुत्र हैं। वे पथ के चौकीदार हैं[1] और रास्ते पर बैठते हैं[2]। मृतक से कहा गया है कि वह फुरती से इन कुत्तों को पार करके पितरों में मिल जाय जो यम के साथ बैठे आनन्द ले रहे हैं[3]। यम से प्रार्थना की गई है कि वे मृतक को पितरों के पास सौंप दें और रोगों से उन्मुक्त करके उसका कल्याण करें। जीवन में आनन्द लेने वाले (असुतृपौ) ये दोनों सारमेय मनुष्यों की रखवाली करते हैं और यम के दूत बनकर जनों के मध्य विचरण करते हैं। प्रार्थना की गई है कि वे हमें सूर्य-ज्योति का आनन्द लेने दें। फलतः मरणासन्न व्यक्तियों की खोज करना और यम-लोक में प्रविष्ट हुए व्यक्तियों की देखभाल करना, यह दो इन सारमेयों के मुख्य कार्य हैं। अवेस्ता में भी एक चतुरक्ष, पीतकर्ण कुत्ता चिन्वत सेतु के सिरे पर रखवाली करता है जो सेतु इहलोक से परलोक को जोड़ता है—और अपनी भौंक से दस्युओं को पूतात्माओं से दूर भगाता है, जिससे कि वे उन्हें नरक में न घसीट ले जावें। इस बात के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता कि यम के ये सारमेय दुष्टात्माओं को प्रवेश करने से रोकते थे, यद्यपि इस मान्यता की संभावना अवश्य है; और औफ्रेष्ट ऋग्वेद[4] पर व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि इन सारमेयों का प्रयोजन दुष्टात्माओं को वर्जित करना था। अथर्ववेद में यम के द्वारा मनुष्यों में भेजे गये दूत बहुवचन[5] और द्विवचन[6] दोनों में आते हैं। इन कुत्तों में एक शबल है और दूसरा श्याम[7] है। बेर्गेन के मत में ये दोनों सारमेय यम (अग्निरूप) और यमी के रूपान्तरण-मात्र हैं, और परवर्ती गाथा में उभरी यम की मृतकों को पकड़ लेने की विशेषता को वे आरम्भ में ही विकसित हो चुकी बताते हैं। ब्लूमफ़ील्ड यम के दोनों सारमेयों का तादूप्य सूर्य और चन्द्र के साथ युक्तिसंगत समझते हैं।

उक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि यम प्रेतात्माओं में से प्रमुख आत्मा के गाथेय रूप हैं। वे मानव जाति के सबसे प्रथम गाथेय पिता हैं और मरने वालों

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। ऋ० 10.14.12.

1. यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ऋ० 10.14.11.
2. यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा। अथ० 18 2.12.
3. दे० 10.14.10. पृ० 439.
4. यदर्जुन सारमेय दतः पिशङ्ग यच्छसे।
   वीव भ्राजन्त ऋष्टय उप स्रक्वेषु बप्सतो नि षु स्वप॥ ऋ० 7.55.2. से 5 तक।
5. वैवस्वतेन प्रहितान्यमदूताँश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्। अथ० 8.2.11.
   दे० अथ० 8.8.11. पृ० 453.
6. दूतौ यमस्य मानु गाः। अथ० 5.30.6.
7. श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अथ० 8.1.9.

में वे सबसे पहले हैं। मानव जाति को उत्पन्न करने वाले प्रथम युग्म, यम-यमी (यिम, यिमेह्) भारत-ईरानी काल के दीख पड़ते हैं। ऋग्वेद[1] में यमी द्वारा यम के रति-दोष-प्रक्षालन का सुझाव यह सूचित करता है कि इस प्रकार की रति को पुराने समय में हेय नहीं माना जाता था। स्वयं यम को भारत-ईरानी काल में स्वर्ण-युग का राजा माना जाता रहा होगा, क्योंकि उन्हें अवेस्ता में पार्थिव लोक का और ऋग्वेद में दिव्य सुखलोक का शासक माना गया है। यम की कल्पना आरम्भ में एक मनुष्य के रूप में की गई थी—ऐसा रॉथ एवं अन्य कुछ विद्वान् मानते हैं। ई० एच० मेयर यह कहकर कि यमी इन्द्राणी की तरह परवर्ती युग की कल्पना है, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि युग्मार्थक यम शब्द आरंभ में 'आल्तर् इगो' रूप आत्मा के प्रतिरूप थे। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार यम मूलतः प्रकृति के दृश्य-विशेष के प्रतिरूप थे। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वे अग्नि, सूर्य, अस्तप्राय दिन, अथवा अस्त होते हुए सूर्य के प्रतिरूप थे और बाद में मृत्यु के देवता बन गये थे। हिलेब्रांड्ट का मत है कि यम चन्द्रमा हैं, जिसके साथ कि जीवन-मरण का गहरा संबन्ध है। वे सूर्य के मर्त्य पुत्र हैं और पितरों के समीपी हैं। साथ ही उनका विचार है कि यम चन्द्र के देवता भारत-ईरानी काल ही में थे, और बाद में अवेस्ता और वेद में वे चन्द्र-देव रह कर पार्थिव सुख-राज्य या पुण्यात्माओं के लोक के राजा बन गए थे।

—:o:—

1. दे० 10.10.1. आदि पृ० 453.

विषय-अनुक्रमणिका

अद्रि—(=अभ्र) १८.४, कुहेफा १८७. त्साइतश्रिफ्त फ्यूर दायत्शे मीथोलोगी ३.३७८
अनर्शनि—असुर. ४२४.४, जोहन्सन, इफो. २.४५, पेरी, जअग्रोसो ११.१६६-२०५
अनुमति—३१२.१२ आगे, त्सादामौगे ७.६०८, इस्तू. ५.२२६.
अन्त्येष्टि—ऋवे १०.१६.१ में जलाना और गाड़ना दोनों संकेतित हैं ४२६.२१. रॉथ, त्सादामौगे. ८.४६७-७५, श्राडर वीत्साकुमौ ६.११२-३, होपकिंस. प्रोअग्रोसो १८६४ पृ० CLIII, कालण्ड, दी आल्तिन्दिश्शेन तोद्तन उन्द बेस्तात्तुङ्ग्स गेब्राउखे, आम्स्तर्दम १८६६. ४६-५०. परवर्ती कर्मकांड में शिशुओं और संन्यासियों को गाड़ा जाता है ४३०.५ रॉथ, त्सादामौगे ६.४७१, मैमू, वही I.LXXXII. होरिङ्‌ २७१-३. अग्नि से प्रार्थना है कि वह शव को सुकृतों के लोक में पहुंचा दे और उसके 'अज' को तपिश से तपावे ४३१.५. अज=अ-ज 'अनुत्पन्न' गौ या बकरे की बलि ४३१.६. मैमू, त्सादामौगे ६.४.५. ३०.३२. मृतात्मा धूम्र के साथ स्वर्ग जाता था ४३२.१. छान्दोग्य उप ५ १०३, बृहदारण्यक ६.१.१६. मृतात्मा के साथ उसकी पत्नी एवं अस्त्रों को जलाया जाता था ४३२.८, वेबर, इन्दिशे स्त्राइफन १.६६, हिलेब्राण्ड्ट, त्सादामौगे ४०.७११, ओरिवे ५८६-७. शव में कूदी बांध दी जाती थी ताकि वह जीव-लोक में न लौट आवे ४३२.६-१०. रॉथ, फेबो. ६८-६, ब्लूमफील्ड, अजफि ११. ३५५, १२.४१६.
अपशकुन के पक्षी—उलूक और कपोत यम के दूत ३६५.१३, त्सादामौगे ३१.३५२ आगे, ब्लूमफील्ड, सेबुई ४२.४७४. गृध्र यम के दूत ३६५.१४. ओरिवे ७६.
अपां नपात्—आशुहेमन् विशेषण तीन बार अपां नपात् के लिये और एक बार अग्नि के लिये १६६.३, विण्डिश, फेरा १४४, दिव्य अग्नि का जलों में आवास वैदिक गाथा के सुनिश्चित तथ्यों में से एक है १७०.४. द्र० ऋवे० ३.१ (गेवैस्तू १.१५७-७०) ३.८५.२, ७.४६.४, १०.६.६.—ने समुद्र की गहराई में प्रकाश को पाया था १७०.११ हिवैमि १. ३५८-८. श्पीगल के मत में अवेस्तामें अपां नपात् का आग्नेय रूप लक्षित होता है १७०.११. श्पीअपी १६२-३. दर्मस्टेटर के अनुसार अपांनपात् मेघ से उत्पन्न विद्युत् के रूप में अग्निदेव हैं १७०.१३, सेबुई ४२. LXIII, एल. अवेस्ता अनूदित २. ६३० नोट, ३.८२ (दे० ओर्मुज्द ए अह्रिमन ३४) किंतु दे० हिलेब्राण्ड्ट, त्सादामौगे ४८.४२२. श्राडर दर्मस्टेटर से सहमत १७३.१३. वित्साकुमौ ६.२२७—८. ओल्डनबर्ग के मत में अपांनपात् मूलतः जल के साधारण प्रेत थे १७०.१४, ओरिवै ११८-२०, दे० ३५७. अपांनपात् के निमित्त कहे गये दो सूक्तों में से एक का जलीय क्रियाओं से संबंध हैं १७० १७, दे० श्राडर, वित्साकुमौ १, मैकडानल, जअग्रोसो २७. ६.५—६. अपां नपात्=चन्द्रमा हिवैमि १.३६५—८०, त्सादामौगे ४८.४२२. हार्डी का मत १७०.१८. हावैब्रापी ३८. अ=सूर्य अथवा विद्युत् १७०.१६, मैमू, चिप्स ४.४१० ।
अपां नपात् पर सामान्यतः—रियाल्क, रेव्यु द लिंग ३.४६ आगे, विन्दिशमान, श्पगल के भोरास्त्रिश्शे स्तूदियन १७७—८३, श्पीगल, अवेस्ता-अनुवाद ३. XIX. LIV गेऋवे १.४५, बेरिवै २.१७—१६, ३६—७, ३.४५, मैन्युएल पूर एत्यूदिये संस्कृत वैदिक 'अपां नपात्', लुंऋवे ४.१८१, ग्रुप्प, दी ग्रीशिश कुल्त १,८६.

प्रतिरूप' ३८८. १३-१४, वेरिवै. २.४५६-७. दे. मैकडानल, जराएसो २८. ४७१, मैमू. सेबुई ४६.१८२.=एक वास्तविक ग्रश्व ३८८. १६-१७, लुऋवे. ग्रनु. ४.७६, पिवैस्तू, १.१२४. दे. हिलेब्राण्ड्ट, वेद इण्टरप्रिटेशन १७-१८ ब्राडके, त्साटामौगे ४२.४४७-६. ४६२-३, ग्रोरिवे ७१., सेबुई ४६.२८२.

अश्विन्—लालवर्ण के हैं ११५.३, पिवैस्तू १.५६-८ के अनुसार अन्य व्याख्या भी है; बेरिवै ३.३८ नोट. नासत्य=न+असत्य, अन्य व्युत्पत्तियां ११५.६, ब्रन्नहोफर, (=रक्षक, नस् से जो कि गोथिक नस्यन् में मिलता है) फोम अराल बिस त्सुर गंगा १०. ६६, बैरिवै २.४३४. अवेस्ता में एक राक्षस के नाम की तरह प्रयुक्त ११५.७. कोलिने, वेग्रोरि. ३.१६३, अश्विन् के नाम ११५.८. केऋवे नोट १७२. रुद्रवर्तनी ११५.९. पिवैस्तू १.५५, हिरण्यवर्तनि दो बार नदियों का विशेषण ११५.१२ पिवैस्तू ५६-७ में अश्विन् के सब विशेषण एकत्र किये गये हैं. अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक बार मधु से संबद्ध ११५.१३, हिवैमि. १.२३७.—की मधुकशा ११५.१६. ओल्डनबर्ग के अनुसार प्रातःकालीन ओस, दे. बैरिवै २.४३३.=घोड़ों वाले ११७.१, बोलनसेन, त्सादामौगे ४१.४९६. अश्विन् के रथ और घोड़ों पर देखो होपकिन्स १५.२६६-७१. रासभजुडे रथ में बैठकर जीते थे. ११७.७. दे होपकिन्स ऊपर.—के स्थान के विषय में जिज्ञासा ११८.६, पिवैस्तू. २.१०५. —का अविर्भाव समय उष.काल. ११८.६. ओसंटै ५.२३ -६. अश्विनों का आविर्भाव, यज्ञाग्निका समिन्धन और सूर्य का उदय सब साथ-साथ ११६.४, बेरिवै, २.६४३. सूर्योदय से सम्बन्ध ११६ १२, ओरिवे २०८. उन्हें लोहितश्वेत अज प्रदान किया जाता है ११६.१४. पूषा के पिता हैं १२०.४, इस्तू. ५.१४३.१८७. एहनि, त्सादामौगे ३३.१६८-७०.—प्रेमियों को मिलाते हैं १२१.८. वेबर, इस्तू ५, २१८, २२७, २३४.—सूर्य के विलीन प्रकाश को उभारने वाले हैं १२७. ६. श्राडर, वित्साकुमौ ६.१३१.=वृत्रघ्न १२१.१८. ओसंटै. ५.२४८-६.—ने च्यवन को युवा बनाया था, १२२.११. ओसंटै ५.२५०-३, सेबुई XXVI. २७३ आगे, बेनफे ओग्रो ३.१६०, मीरियान्थस पृ. ६३, हावैब्रापी. ११२.—भुज्यु के रक्षक १२३.१. ओसंटै. ५.२४५, सोन्न, कुत्सा १०.३३५-६, बेनफे. ओग्रो ३.१५६, मीरियान्थस १५८, हावैब्रापी ११२. रेभ के रक्षक १२३.११. ओसंटै. ५-२४६, बेनफे, ओग्रो ३.१६२.१६४, मीरियान्थस १७४, बाउनाक, त्सादामौगे ५०.२६४-६. वन्दन की रक्षा की १२३.१२, बाउनाक, वही, २६३-४. अत्रिकी रक्षा की १२३.१८. सोन्न, कुत्सा १०.३३१. (अत्रि =सूर्य), ओसंटै ५.२४७. दे. ब्राडके, सादामौगे ४५.४८२-४. बटेर की रक्षा की १२३.१६. मैमू, लैसालै, २.५२५-६, ओसंटै. ५.२४८, मीरियान्थस ७८-८१. विश्पलाको लोहे की टांगदी १२४. १-२, ओसंटै ५.२४५, मीरियान्थस १००-१२, पिवैस्तू १.१७१-३ (विश्पला=भागने वाली घोड़ी का नाम). घोड़े के सुम से सुरा निकाली १२४-८. मीरियान्थस १८६ आगे, केऋवे नोट १८५. दध्यञ्च् के ऊपर घोड़े का सिर रखा १२४.१२, बेनफे, ओग्रो २.२४५, मीरियान्थस १४२-३, हावैब्रापी ११३. अश्विनों के आश्चर्यमय कार्य सौर दृश्य हैं १२५-४, ओसंटै ५.२४८. हावैब्रापी. ११२. अश्विन्=

देवता मरणधर्मा थे जैसे इन्द्र, अग्नि और प्रजापति ३२.१७, म्यूर, जराएसो २०.४१-४५, ओसंटै ४.५४-८, ५.१४-७, द्र० अ. वे. ३. २२. ३, ४. १४. १. शब्रा. १. ७.३१, ऐब्रा. ६.२०.८, तैसं. १.७.१३, ६.५.३१, १८९; देवताओं के शारीरिक अवयव उनके प्राकृतिक आधार के पक्ष-विशेषों के प्रतिरूप हैं ३४.२, निरुक्त ७.६.७.—आपस में प्रेम से रहते हैं ३४.३४ ओरिवे ९३, पुरोहित लोग देवताओं के लिए सूक्तों का पाठ करते हैं ३५.१५, ओरिवे २३८.—सच्चे हैं ३५.१६, बेरिवे ३.११९.—ओं द्वारा निर्धारित अवधि के बाद कोई नहीं जी सकता ३६.६, ओसंटै ५.१८-२०, ओरिवे ९७-१ १, २८१-७, २९३-३०१. —केवल तीन हैं ३७.१३, कात्यायन, सर्वानुक्रमणी भूमिका २.८, ऋ.वे. १.१३९.११, पर सायण. सुदूर अतीत में देवता मानवीभाव की प्राथमिक अवस्था तक सीमित थे ४२.१८ ब्राद्यौम्र १२.१४.

देवताद्वन्द्व—दोनों पद द्विवचन में, विभाज्य एवं उदात्त रहते हैं ३२६.१७, कुहेफा १६१, मैमू, ओग्रोरि २९७, हिवैमि १.९८.

देवशास्त्र—का प्राचीनतम स्तर इतना अधिक आदिकालीन नहीं है जितना कि इसे समझा जाता था, २.२३, पीवो, ब्राडके, द्यौस् असुर, हालग्र १८८५, २—११; रसादामौगे ४०.६७०. —भारतीय ७.३२, पिवैस्तू XXVI—VIII

देवानां पत्नी:—ब्राह्मणकालीन उपासना में उनका स्थान ३२६.१३; विस्तार के लिए होपकिन्स, प्रोअग्रोसो १८८९ पृ० CLXII.

देवाश्रयात्मक—३९९.१८-२१, होरिइ १३५ १६६.

द्यावापृथिवी—देवताद्वन्द्वों की रचना द्यावापृथिवी के आधार पर ३२६.२८, श्पीअपी १५९, ओरिवे ९३.२४०.—के पतिपत्नीभाव की गाथाएं आदिक जनों में प्राप्त ३२६.३०, टेलर, प्रिमिटिव कल्चर ३२२.८. ऐब्रा में इनके विवाह का उल्लेख ३२७.१५, हॉग, ऐब्रा २.२.३०८. विश्वकर्मा ने उन्हें बनाया ३२८.८, दे. हॉग, ऐब्रा २.२९९. इन दोनों में कौन-सा पहले बना? ३२८.११, निरुक्त ३.२२, मैमू, लैसालै २.६०६.

द्यावापृथिव्यौ—माता-पिता के रूप में मिश्र तक के देवशास्त्र में मिलते हैं. १२.८. टेलर, प्रिमिटिव कल्चर १.३२६, लैंग, माइथोनजी, इंसाक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, ब्रूम, वैदिक कंसेप्शन आफ दि अर्थ, जराएसो १८६२ पृ० ३२१ आगे, बेरिवै १.१-३, वाको (लंडन १८८७) १११-१७.

द्युलोक—त्रिकुटी में से एक १२.१५, द्र. श्पीअपी १२२, केऋवे. ३४. नोट ११८.

द्यौस्—इसका ५० बार प्रयोग दिन के अर्थ में हुआ है, ४०.१७ श्रोडर, वित्साकुमौ ८.१२६-७. द्यौः=ज्योतिमय आकाश ४२.१, पिवैस्तू १.१११, सेबुई ४६.२०५, माता पृथिवी के साथ निर्देश ४२.५. द्यौः=असुर. ४२.११ ब्राद्यौग्र ८६,११९-२३. द्यौः स्त्रीलिंग ४२.१२; द्र. जी.डब्ल्यू 'दिव्', ओस्टोफ, इंफो ५.२८६.—का संबन्ध देव शब्द से है ४२.२८; दे. कुत्सा २७.१८७, बेवाइ १५.१७, इंफो ३.३०१.

धिषणा—प्रभूतता की देवी. ३२८.२. पिवैस्तु. २.८२ आगे, ओल्डनबर्ग, सेबुई. ४६.१२०-२.

धुनि+चुमुरि—४२३.१. बेरिवै. २.३५०, ओरिवे. १५७. चुमुरि (ऋणशब्द) आदिवासियों

से लिया हुआ ४२३.१५. वाकरनागल, आल्तिन्द ग्रा. १.२२.

नदियां—सरस्वती पर्वतों से निकलती और दिव्य समुद्र से प्रवाहित होती है २१८.१०. दे. बेरिवै १.३२६. वह सरिताओं की प्रसविनी है. २१९.१. बेर्गेन्य के अनुसार "दिव्य समुद्र है माता जिसकी ऐसी. —विद्युत् की पुत्री २१९.२ रॉथ, निरुक्त १६५ आगे, पीवो, बेरिवै. १.३२७. मरुत् सरस्वती के सखा हैं २२१.४. दे. मरुद्वृधा एक नदी का नाम-सरस्वती ने वाणी द्वारा इन्द्र को बढ़ावा दिया २२१.८ दे. शब्रा १२.७ ३.१, औसंटै ५.६४ नोट. सरस्वती और दृषद्वती के तटों पर यज्ञ होते थे २२२.१, मानवधर्मशास्त्र II १७ आगे, ओल्डनबर्ग, बुद्ध ४१३ आगे. भारती आप्री का यज्ञों में सरस्वती के साथ स्थान २२२.४. ओरिवै. २४३. ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती २२२.१० त्सादामौगे १.८४, २७.७०५. सरस्वती=हरक्वैती (अफगानिस्तान की) २२२.१५. श्पीअपी १०५. सरस्वती मूलतः एक बड़ी नदी थी २२२.१५-१७. नाखरिश्तन देस ऋवे उण्ड अवे उबर जियोग्रफी इत्यादि, प्राग १८७५-६ पृ० १३, दे. पिवैस्तू २.८६. मैमू के अनुसार सरस्वती एक छोटी-सी सरित् थी २२२.२१. वैदिकहिम्स, सेबुई ३२.६०. शुतुद्री की सहायक नदी सरस्वती २२२.२४. जराएसौ २५.४९-७६. शुतुद्री=सतलज २२२.२५. ओसंटै. २.३४५. सारस्वत=अग्निपक्षी. २२३.५. बेरिवै १.१४४, २.४७. सारस्वत=अपांनपात्=चन्द्रमा २२३.८. हिवैमि. १.३८०-२.

सामान्यतः—ओसंटै. ५.३३७-४२, बेरिवै. १.३२५-८, बोलनसेन त्सादामौगे ४१.४९९, हिवैमि. १.३८२-३ (स्वर्गीय सरस्वती=आकाशगंगा) हावैब्रापी. ९८, ओरिवे. २४३.

नमुचि—असुर नमुचि ४२२.२. लुऋवे ५.१४५ बेरिवै २.३४५.—७. लानमान, जएसोबे. ५८. २४-३०, संस्कृत रीडर ३७५b, ब्लूमफील्ड, जअओसो १५. १४३-६३, ओल्डनबर्ग, गोटिङ्गेर नाखरिश्तन १८९३. ३४२-९, ओरिवे. १६१. इन्द्र जल-फेन द्वारा नमुचि के सिर को मरोड़ते हैं ४२२.९. ब्लूमफ़ील्ड, जअओसो. १५. १५९-६.=न+मुचि=जलों को रोकने वाला राक्षस ४२२.१५. कुह्न, कुत्सा. ८.८०.

नरक—पाप-फल भोगने के लिये कल्पित आवास ४४२.१६ त्सिमर और शेरमान, किंतु होपकिंस इससे असहमत जैसा कि अवेस्ता में है ४४२.१७. रॉथ, जअओसो ३.३४५, गेल्डनर (फेवे २२) के मत में ऋवे. १०.१०.६ नरक की ओर संकेत करता है 'वीचि' के द्वारा. नारक लोक ४४२-१९-२०, ह्विटनी, जअओसो १३.Civ. नरक की यातनाओं का ब्यौरा ४४३. १-२. वेबर, त्सादामौगे ९. २४०. ब्राह्मणों में भावी दण्ड—विषयक धारणाएं परिपक्व ४४३.३५ होरिइ १७५. शतपथ के अनुसार हर व्यक्ति को मृत्यु के उपरांत जन्म लेना पड़ता है और उसे तोला जाता है ४४३. ४-५ वेबर, त्सादामौगे ९. २३८, ओसंटै ५. ३१४-५. ऐसी धारणाएं ईरान में भी विद्यमान ४४३.९. जेकसन ट्रांसे आफदि १०म. ओरि. का. २. ६०-७३. राथ के मत में ऋग्वेदिक आर्यों को नरक का ज्ञान नहीं था ४४३.७ राथ, जअओसो ३.३२९-४७, दे. वेबर, त्सादामौगे ९.२३८. ऋग्वेदिक कवि पारलौकिक सुख की ओर नहीं झुकता था ४४४.१-२. त्सिमर, आइले ४१८, शेरमान, रोमानिश्शे फोर्शुङ्गन ५.५६९, शेविलि, १२२, केंऋवे २८ e, ओरिवे ५३८, होरिइ १४७.

पितृलोक का द्वार पूर्व-दक्षिण की ओर है ४४६.२. दक्षिण सामान्यतया पितरों की दिशा है (शब्रा १.२.५.१७) यह भावना इंडो-ईरानी है; देखो केर्न, बुद्धिस्मुस १.३५६, कालण्ड, आल्तिन्दिशेर आहनेनकुल्त, लाइडन, १८९३. पृ० १७८., १८०. ओरिवे ३४२, त्सादामौगे ४६.४७१, होरिइ १६०.

पिप्रु—असुर और दास, कोई ऐतिहासिक मानव-शत्रु अथवा कोई प्राकृतिक असुर ४२१. १२. लुऋवे. ३.१४६. ब्राडके; द्यौस् असुर. ६५, ओरिवे. १५५. √पृ० अभ्यस्त से ४२१.१४, वेरिवै. २.३४६. 'भरने वाला' इस अर्थ में.

पिशाच=क्रव्याद् ४२८.१५. ओरिवे २६४ नोट

पुरंधि—बाहुल्य की देवी. ३२३.१८. पिवैस्तु. २,२०२-१६, ब्लूमफील्ड, जअओसो १६,१६, ओरिवे. ६३. —का उल्लेख भग के साथ है ३२३.१६. दे ओल्डनबर्ग, सेबुई ४६.१६० पारेन्दि=धनधान्य की देवी. ३२३.२१. दार्मस्टेटर, ओर्मज्द ए अह्रिमन् २५, सेबुई ४.LXX; २३.११, मिल्स, सेबुई ३१.२५, पिवैस्तु. १.२०२, श्पीगल, अपी० २०७-६, कोलिने. वेओरि. २.२४५; ४.१२१; ट्राओका १८९२.१. ३६६-४२०—सक्रियताकी देवी. हिलेब्राण्ड्ट ३२४.१. वीत्साकुमौ. ३.१८८-६४, २५६-७३; दे० वी हैनरी, वेदिका, प्रथम सीरीज, पृ० १. आगे, मेम्वायर द ला सोसिएते द लिंग ६.

पूषन्—के रथ को अजाश्व खींचते हैं ७६. १६, केऋवे नोट १२० —से प्रार्थना है कि वे वैवाहिक जीवन को सुखमय बनावें ७७.८ इस्तू ५.१८६, १६०.—सूर्य के दूत हैं ७७.१०, गोगेआ १८८६. पृ. ८ —विमुचोनपात् (मुक्तिपुत्र) ७८.११, ओसंटै ५.१७५, ग्रावो. लुऋवे ४.४४४, हावैब्रापी ३४ और बेरिवै, रॉथ. पी. वो. और ओरिवे. २३२. दे. ऋवे. १.४२.१ पर सायण और ग्रिफिथ.—बुद्धिमान् और उदार हैं ८१.३. हिले ब्राण्ड्ट के अनुसार पुरंधि वित्साकुमो ३. १६२. ६३)='क्रियाशील'=करम्भाद् ८२.८ अवेस्तिक मिश्र पशुओं के वर्धक और पथभ्रष्टों को राह पर ले आनेवाले हैं ८३.१४ श्पीअपी १८४

पूषन् पर सामान्य—ह्विटनी, जअओसो ३.३२५, ओसंटै. ५.१७१—८०, गुबर्नाटिस, लेटर्स ८२, बेरिवै २. ४२०—३०, केऋवे ५५, पिवैस्तू १.११, हिवैमि १.४५६, हावैब्रापी ३४, ओरिवे २३०—३, पेरी, व्हिस्लर मेमोरियल २४१—३

पृथ्वी—सामान्यतः ब्रूस जराएसो १८६२ प. ३२१, ओसंटै ५.२१—२२, वेरिवै १.४—५, व्राद्यौअ ४८, बेलनसेन, त्सादामौगे ४१. ४६४—५, हावैब्रापी २५—६ थुर्नाइसन ४.८४

पृश्नि—चित्रवर्ण तूफान-मेघ का प्रतिरूप ३२५. १३, दे रॉथ, निरुक्त १०.३६ पृ. १४५.

पैद्व—सूर्य का प्रतिरूप ३६०.४, बेरिवै. २. ५१—२

प्रजापति—हिरण्यगर्भ का नाम है. २४.१ शेफिहि २६.—सूर्य का विशेषण २४.३ ओरि २६५, वाको ५०—१, वह देवताओं को पैदा करता है; उसे देवता पैदा करते हैं. २५.१८, ओसंटै. ४२० आगे

प्रतिमा—ब्राह्मणों और सूत्रों में संकेत स्पष्ट हैं ४०३.१५, ऋवे १.१४५. ४—५ में अग्नि की प्रतिमा का संकेत (बोलंसीन त्सादामौगे ४७. ५८६) अनिश्चित है, वेबर, ओमिना

रॉथ, जअग्रोसो. ३.३३५, दार्मस्टेटर, ओर्मज्द ए अह्रिमन् १०६. यम अवस्ता में पार्थिव सुख लोक का राजा ४५५.५ रॉथ, त्सादामौगे ४.४२०. अवेस्ता में यिम प्रथम मनुष्य. शेविलि १४८. यम आरम्भ में एक मानव था ४५५.७. रॉथ, त्सादामौगे ४.४२५, इस्तू. १४.३९२, शेरमान, फेस्टश्रिफ्ट फ्यूर के होफमान, एरलाङ्गन १८९०. पृ. ५७३ आगे, होपकिन्स, प्रोअग्रोसो. मे १८८१.'यम = आल्तर् इगो' ४५५.६. इन्दोजर्मानिश्शे मिथन १.२२९.२३२. यम = अग्नि, सूर्य, अस्तंगामी दिन या सूर्य के प्रतिरूप ४५५.११-१२, कुहेफा. २०८, बेरिवै १.८९, देखो वेबर, राजसूय १५. नो. १, यास्क, निरुक्त. १२.१०, शैविलि. १३२. नो २, एहनी. दी उस्प्रुंगलिशे गोत्त. दे. वैदिकयम पृ. २६. वेवैबाइ. १८९४ पृ. १. (यम = मृत्युदेव, ४५५.१२. मैमू, लैसालै २.६३४-७, इंडिया २२४, ऐरि. २९७-८, बेर्गेन्य, मुन्यूएल वैदिक २८३. यम = चन्द्रमा हिलेब्रांड्ट) ४५५.१३, हिवैमा १.३९४ आगे, इ. फु. १.७

सामान्यतया—रॉथ, त्सादामोगे. ४.४१७-३३, जअग्रोसो. ३४८-५, ह्विटनी, जअग्रोसो. ३.३२७-८, १३.CII-VIII, ओलिस्ट. १.४६.६३, वेस्टरगआर्ड, इस्तू. ३.४०२-४०, ओसंटै. ५.२८४-३३५, दोन्नर्, पिंडपितृयज्ञ १०-१४.२८, आइले. ४०८-२२, बेरिवै. १.८५-९४. २.९६, केऋत्वे ६९-७१, श्पीअपी. २४३-५६, लानमान, संस्कृत रीडर ३७७-८५, शेविलि. १२२-६१, हिवैमि. १.४८९-५१३, त्सादामौगे. ४८.४२१, एहनी देर. वेदिश्शे मिथस देस यम, स्ट्रास्सबुग १८९०, दी उस्प्रुंगलिशे गोत्तहाइत देस वेदिश्शेन यम लापत्सिग १८९६. होपकिंस प्रोअग्रोसो. १८९१. XCIV—V. होरिइ. १२८-५०. २०४-७, मैमू, साइकोलोजिकल रिलीजन १७७-२०७, ओरिबे ५२४-४३, सेबुई ४६. २९, जैकसन जअग्रोसो. १७.१८५

यातु—वैदिक और अवेस्तन दोनों में मिलता है ११.१४, श्पीगल, दी अरिश्शे पीर्योद २२५—३३, ग्रुप्पे, दी ग्रीशिश्शन कुल्त उण्ड मिथन १.८६-९७, ओरिवे २६-३३.

प—हविष् को देवताओं तक पहुंचाता है ४०१.१७, रॉथ, निरुक्त ३६. अनु ११७-८, १२१-४, मैमू, एैसंलि ४६३-६, वेबर, इस्तू १०-८९-९५, गेऋत्वे १.६, केऋत्वे नोट १२६, ओल्डनबर्ग, सेबुई ४६. ९-१०.

रक्षस्—असुरों का अत्यन्त प्रसिद्ध नाम ४२४. ९, बेरिवै २. २१६-१९, ओरिवे २६२-७३. = यातुधान ४२४, १३. यातु अवेस्ता में 'जादूगरी' और जादूगर, श्पीअपी २१८-२२. रक्षस् जाति का बोधक और यातु जाति के अवान्तर भेद का ४२४.१५-६. ओरिवे २६३ नोट १. नीले, पीले, हरे राक्षस ४२५. ७, होपकिंस, अजफि १८८३. ८१७८. ये दस्यु पितरों में घुसकर, ज्ञातिमुख बनकर यज्ञ में विक्षेप डालते हैं ४२७.५, कालण्ड, आल्तिन्दिशेर आहनेनकुल्त, लाइडन १८९३. पृ. ३-४. अग्नि से प्रार्थना है कि वह रक्षसों को भस्म कर दे ४२७.१०, हिलेब्राण्ड्ट, त्सादामौगे ३३. २४८-५१. रक्षस् √रक्ष हिंसा करना ' से संपन्न ४२८. २. पीवो, ग्रावो. √रक्ष 'रक्षार्थक' से ? ४२८. ५, वेरिवै २.२१८, ह्विटनी, संस्कृत रूट्स 'रक्ष'. मृत शत्रुओं की आत्मा से लिये गए हैं ४२९. ७, ओरिवे ६०-२. रॉथ, फेबो ९८. रोग वन्ध्यात्व आदि को शत्रुओं की ओर मोड़ देना

जादूगरों का काम है ४२६.१०, ऋवे १०-१०३.१२, कासं १४.२२, इस्तू १७.३६६.

राका—सिनीवाली, राका पूर्णचन्द्र के दिन का और सिनीवाली प्रथम अभिनव चन्द्र दिवस का मानवीकरण ३२५.-६-१०. यह संबन्ध ऋग्वेद में नहीं है इस्तु ५. २२८ आगे।

रात्रि—अपनी बहिन उषस् की भांति रात्रि भी 'दिवो दुहिता' कहलाती है ३२३.१. ओसंटै ५. १६१, होरिइ. ७६ आगे.

रुद्र—भांति-भांति के रूपों वाला निष्क पहरते हैं १७८.७, पिशल, त्सादामौगे ४०.१२०-१. मरुत्, रुद्र अथवा रुद्रिय कहाते हैं १८०.७. दे, ऋवे.१.६४.२, १२.८५.११, ५. ४२. १५, ६.५०. ४, ६६.११, ८.२०.१७.—ने रुक्मवक्षस् मरुतों को पृश्नि के शुक्ल ऊधस् से उत्पन्न किया १८०.६. कहा गया है कि वायु ने मरुतों को पैदा किया आकाश से (१.१३४.४). रुद्र शब्द विशेषण बन कर भी आता है, १८१.५, ऋ १. २७.१०, ३.२५. ४.३.१, ५.३३, ८. ६१.३.—द्युलोक के अरुष वराह हैं १८२.१०. ब्लूमफ़ील्ड, अजफि, १२.४२६, पिवैस्तू १.५७, ओरिवे ३५६ नोट ४.—द्युलोक के महान् असुर हैं १८३. २, ब्राद्यौअ ४६.५४, गेल्डनर फेवे २०.—मीढवस् हैं १८३६. ब्लूमफील्ड, अजफि १४०.२८-६. —ज्वर, खांसी, विष आदि देते हैं १८५.५, ब्लूमफ़ील्ड अवे १.१२ की व्याख्या (अजफि. ७.४६६-७२,—वेबर, इस्तू ४.४०५)—के गणों को अन्तड़ियां दी जाती हैं. १८६.२, होरिइ २५० नोट २, दे० रिवे ४८८. ३०२-३. ३३४-५. ४५८.—का आवास उत्तर में है १८६,४. ओरिवे ३३५, नोट ३.—मूलतः तूफ़ान के घातक वैद्युत पक्ष के प्रतिरूप थे १८८.६. मैकडानल, जैराएसो २७.६५७, होपकिंस, प्रोअओसो दिसं. १८६४ पृ० CLI, वेरिइ ११२, दे० केऋत्रे ३८ नो. १३३.—तूफ़ान-गर्जन के प्रतिरूप १८८.-२१, इस्तू २.१६-२२.—अग्नि अथवा इन्द्र के विशेष रूप १८८.२६. ऋवेद का अनुवाद भाग प्रथम की भूमिका १.२६-७. ३७-८. उन प्रेतात्माओं के प्रमुख जो वायु के साथ मिलकर तूफ़ान उत्पन्न करती हैं १८६.१-२, बित्साकु ६.२४८—पर्वत अथवा अरण्य के देवता १८६.३. कुह्न, हेराबकुन्फट १७७, कुत्सा २.२७८, ३.३३५, वेबर, इस्तू २.१६-२२, मैमू, ओग्रोरि २१६, ब्राडके, त्सादामौगो ४०. ३५६-६१.√रुद् से रुद्र भारतीय निष्पत्ति १८६.६. तैसं. १.५. १.१, शब्रा. ३.१. ३ १०, ऋवे. १.११४. पर सायण. √रुद् 'चमकना' से १८६.७. ग्रावो. √रुद् 'लौहित होना' से पिवैस्तू १.५७, त्सादामौगे.४०.१२०.=लोहित या 'लाल' १८६.६. हावैब्रापी ८३, रुद्र पर सामान्यतः—राथ, त्सादामौगे २.२२२, ह्विटनी, जअओसो ३. ३१८-६, ओरियंटल एण्ड लिंग्विस्टिक स्टडीज़ १८७३ पृ. ३४-५, ओसंटै ४.२६६-३६३. ४२०-३, लुऋवे ३.३२०-२, बेरिवै ३.३१-८. १५२-४, श्रॉडर, वित्साकुमौ ६.२३३-८, २४८-५२. होरिइ ६६.५७८.

रुद्राणी—उपासना में महत्त्व का भाग लेती हैं ३२६.६—१०, ओरिवे २१६.

लिंग-पूजा—भारत में प्रचलित ४०४.१०-१७. श्रॉडर, वीत्साकुमौ ६.२३७, होरिइ.१५०.

वनस्पति—विवाह के समय उनकी पूजा ४०१.१, ओरिवे २५२, दे० उदुम्बर पूजा का विधान नवदंपती के लिये : विण्टरनिट्त्स, होखत्साइट्स रिचुएल १०१-२.

वराह—रुद्र, मरुत्, वृत्र के लिये प्रयुक्त. ३६३·१६. कुहेफा. १७७-८, एण्टविकलुङ्ग्स स्ट्रुफन १३६, इस्तू, १.२७२ नोट, होपकिंस, जअग्रोसो. १७ ६७. वाराहावतार ३६३, १७-२०. मैकडानल, जराएसो २७. १७८-८६.

वरुण—शत्रा. में क्रुद्ध मनुष्य के रूप में प्रदर्शित ४४.६. वेबर, त्सादामौगे ६.२४२, १८.२६८, —के स्पश् ४६.३. ओरिवे २८६. नोट २. ईरानी मिथ्र के स्पश् ४६.७. रॉथ, त्सादौमौगे ६.७२, एगर्स, मित्र ५४-७, ओल्डनबर्ग, त्सादामौगे ५०.४८. असुर विशेषण वरुण का है ४७.६. ब्राद्यौअ. १२०-१, ओरिवे. १६३. —की माया ४७.११. बेरिवै. ३.८१, ब्राडके, त्सादामौगे. ४८.४६६-५०१, ओरिवे ३.११६ आगे, श्रॉडर, वीत्साकुमौ १६३, २६४. ब्राह्मणों में वरुण का संबन्ध रात्रि-गगन के साथ उभर आया है. ४६.१२ ओसंटै ५.७०, राथ, पीवो (वरुण), बेरिवै. ३.११६ आगे, श्रॉडर, वित्साकुमौ ६.११६. —बारह मासों को जानता है ४६-२१. द्र. वेब्राइ. १८६४. पृ० ३८. —ने रात्रि को जन्म दिया ४६.१४. द्र० तै० ब्रा० १.७.१०.१, ऋवे० १.८६.३. २.३८.८, ७.८७.१, तैसं० १.८.१६.१ पर सायण. —का आकाशस्थ मरुत् से विरोध. ५०.८. बोलनसेन, ओग्रो. २.४६७. —के मुंह में=समुद्र में. ५०.६. रॉथ, निरुक्त. ७०-१. —समुद्र को वेला में बांधे हुए है. ५०.१०. रॉथ, त्सादामौगे. ६.७३. —और मित्र वर्षा के देवता हैं ५१.११. हिलेब्राण्ड्ट, वरुण उण्ड मित्र ६७ नोट, बेर्गेन्य और हिलेब्राण्ड्ट के अनुसार वरुण के पाशों की व्याख्या. ५४. २-३. दे. होरिइ ६८. —और मित्र अदेवयु लोगों को रोग देते हैं. ५४.७. जलोदर के साथ वरुण का संबन्ध : हिलेब्राण्ड्ट, ओरिवे. २०३. इसका खण्डन : बेरिवै. ३.१५५. मित्र के साथ ऊंचेरथ में वरुण विराजते हैं ५६.८. ओल्डनबर्ग, त्सादामौगे. ५०.६१.—मूलतः चन्द्रमा के प्रतिरूप ५७.४. ओरिवै. २८५-६८.=ओउरनस. ५७.१६. श्रोडर, वित्साकुमौ ६.११६-२८, मैकडानल, जराएसो. २७. ६४७-६.=अहुरमज्दा ५७. २१ राथ, त्सादामौगे. ६.६३ आगे, ह्विटनी, जअग्रोसो. ३.३२७; किंतु विंडिशमान के अनुसार अहुरमज्दा एकान्ततः ईरानी है ; स्पीगल के अनुसार दोनों में तुल्यता नहीं है स्पीअपी १८१. — =ओउरनस २५७.२८. ब्रुगमान, ग्रुण्डरिस २.१५४, प्रेलवित्स, एटीमोलोगिश्शे वोर्टरबूख. वरुण उत्तराकालीन युग की देन है ५७.२६. श्रॉडर, वित्साकुमौ. ६.१२७. √वृ 'आवृत करना, हिलेब्राण्ड्ट ६-१४, श्राडर, वित्साकुमौ ६.११८ नोट १ ; होरिवे. ६६ नोट, सोनी, कुत्सा १२.३६४-६, त्सादामौगे ३२.७१६ आगे, बोलनसेन, त्सादामौगे. ४१.५०४ आगे, गेल्डनर, बेबाई. ११.३२६— मैक्समूलर, चिप्स ४२.२३. आगे, दे. गेवैस्तू. २.२२ नोट, ओल्डनबर्ग, त्सादामौगे. ५०.६०.—आकाश का उत्कृष्ट देवता ५८.२. मैकडानल, जराएसो. २६.६२८. रात्रि के देवता. ५६.१०. ओल्डनबर्ग के मत में वरुण का रात्रि के साथ संबन्ध पुराना है : त्सादामौगे. ६०.६४-५. —को कृष्णपशु दिया जाता है, ५६.१२. हिलेब्राण्ड्ट ६७.६०. ओरिवै. १६२ नोट.

सामान्यतः—रॉथ, त्सादामौगे. ६.७०-४, ७.६०७, जअग्रोसो ३.३४१-२, वेबर, इस्तू १७.२१२ आगे, ओसंटै. ५.५८-७५, लुऋवे. ३.३१४-१६, गेऋवे १.३४; हिले-

गिराते हैं २६४.४, विण्डिश, फेरा, १४०.—का आवास परमे व्योमन् में या तृतीय स्वर्ग में है २६४.७; दे. ६.१.६१, काठक २३.१०, इस्तू ८.३१. में, वासं. १ २११, तैब्रा १.१.३,१०, ३.२.१.१. स्वर्ग=अव्य पवित्र २६४.८, हिवैमि १.३६१ नोट ३. ब्राह्मणों के अनुसार सोम को गायत्री लाई है २६५.१०; दे. शब्रा. ३,६.४.१०, कुहेफा १३० आगे, १४४, १७२. सोमश्येन-गाथा ऋवे ४.२६-२७. में हैं, २६५.६, रॉथ, त्सादामौगे ३६. ३५३-६०, ३८४, लुडविग, मेथोड ३०.६६, कोलिकोव्स्की, रेव्यु द लिंग्विस्तिक १८.१-६, बेरिवै ३२२ आगे, पिवैस्तू १.२०७-१६, हिवैमि १.२७८-६, ब्लूमफ़ील्ड, फेरा १४६-५५, ओरिवै १८०-१, वेवैबाइ १८६४. पृ.५. सोम और अग्नि का एक साथ अवतरण २६६. ६, ब्लूमफील्ड, जअओसो १६.१-२४, ओरिवै १७६.१८०. कृशानु ने श्येनका एक पर काट दिया, २६६.११. श्पीअपी २२४. पलाश की पवित्रता. २६६. १४. कुहेफा १५६ आगे १७०, २०६, वेवैबाइ १८६४. पृ. ५. सोम राजा हैं २६७.३. देवता सोम (=चन्द्र) को पी जाते हैं २६७.११-१३. डायसन, सिस्टम देस वेदान्त ५१५ आगे. ब्राह्मणों में सोम =चन्द्रमा सामान्य है २६७.१२. वेवैबाइ १८६४, पृ. १६.—१७. देवता तथा पितृगण अमृतरूप चन्द्ररसका पान करते रहते हैं २६८.१, हिवैमि १.२६६. प्रजापति की पुत्रियां सोम की पत्नी हैं १.२६८-३, वेबर, नक्षत्र २.२७४ आगे, ओल्डनवर्ग, त्सादामौगे ४६, ४७०, याकोबी, फेरा ७१ नोट, आर ब्राउन, जूए. आकादमी ४२,४३६. ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डल में सोम=चन्द्रमा २६८.५, हिवैमि १.२३६. चन्द्रमा के साथ तादात्म्य गौण गाथात्मक विकास है २६८,७-८. बेरिवै १.१६०. सोम-सूर्या-विवाह २६-.६, वेबर इस्तू ५.१७८ आगे, वेबर, वैबाइ. (जिट्त्सुङ्सबेरिश्ते देर बर्लिनेर आकादमी) १८६४ पृ. ३५, ओसंटै ५. २३७, एहनी, त्सादामौगे ३३.१६७-८. याकोबी, त्सादामौगे ४६.२२७, ओल्डनबर्ग, त्सादामौगे ४६.४७८. ऋग्वेद का नवम मण्डल चन्द्र-स्तुति का मण्डल है २६६.५-६, ब्लूमफील्ड, अजफि. १४.४६१-३, मैमू, फोर्टनाइटली रिव्यू, अक्तू १८६३.४४३ आगे (=चिप्स ४, ३२८-६७). इन्द्र का स्थान भी चन्द्रमा के नीचे है २६६.१५, गुबर्नाटिस, मिथ देस प्लाण्टेस २.३५१. सोम लता और रस का मानवीकरण है २६६.२८, ह्विटनी, प्रोअओसो. १८६४.xcix, ओल्डनबर्ग, रि वे. ५६६-६१२. वेदव्याख्याकार सोम से चन्द्रमा को ऋग्वेद में नहीं लेते थे २६६.३१-३२, होरिइ. १७७. यदि ऋग्वेदिक सोम वृत्रघ्न है तो अवेस्तिक हओम वेरेथ्रजन है ३००.१५-१६. विवस्वान्=वीवह्वन्त, त्रित आप्त्य=थ्रित आथ्व्य, ३००.२०, यस्न ६-१०, श्पीगल, अपी., हिवैमि. १.१२१ २६५, ४५०, ओल्डनबर्ग, रिवे. १७८, मैकडानल, जराएसो २५.४८५. मधु=सोम ३००.२६, ओरिबे, १७८.

सामान्यतः—विण्डिशमान, उबेर देन सोम कुल्तुस देर अरियर, आबहाण्डलुंगन देर म्युंशनेर आकादमी १८४६ पृ. १२७ आगे, कुह्न, हेफा. १०५ आगे, ह्विटनी, जअओसो ३.२६६, वेबर, इस्तु ३.४६६, वेबर, वैबा १८६४, पृ. ३.१३-१७, हॉग, ऐब्रा. ६१-२, म्यूर, ओसंटै ५.२५८-७१, बेरिवै १.१४८-२२५, रॉथ, त्सादामौगे ३५.६८-६२,